हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास

लेखक

रामबहोरी शुक्ल

एम. ए., बी. टी., साहित्यरत्न, साहित्यमहोपाध्याय, पी. ई. एस.

प्रिंसिपल

गवर्नमेंट इंटर कालेज, फैजाबाद

और

भगीरथ मिश्र

एम. ए., पी-एच. डी.

रीडर

लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशक

हिन्दी भवन

जालंधर और इलाहाबाद

१९५६]

प्रकाशक—
इन्द्रचन्द्र नारंग
हिन्दी-भवन
३१२ रानी मंडी
इलाहाबाद ३

प्रथम संस्करण १९५६

मुद्रक—
इन्द्रचन्द्र नारंग
हिन्दी भवन मुद्रणालय
३१२ रानी मंडी
इलाहाबाद ३

आमुख

मनुष्य का गठन ही ऐसा हुआ है कि धरती में पैर रखते हुए भी वह आकाश में शिर उठा कर बैठता-चलता है। इससे विचारशील प्राणी होने के कारण वह जब कभी कुछ सोचता-विचारता है तब पृथिवी और आकाश दोनों से सम्बन्ध रखता है। उसका वही चिन्तन जब वाणी से व्यक्त होता है तब उसमें भूमि और गगन दोनों की बातें होती हैं। फिर क्या रक्त-मांस के बने मनुष्य का चिन्तन उसकी मज्जागत स्वाभाविक वृत्तियों से छुटकारा पा सकता है? इसी प्रकार, सामाजिक प्राणी होने के नाते वह दूसरों के सुख-दुःख के अनुभव से भी प्रभावित होता और तदनुसार भावना और विचार व्यक्त करने के लिए प्रेरित होता है। यहीं उसका वाग्विलास बन्द नहीं होता। प्रकृति के साहचर्य के कारण वह उसके बाह्य सौन्दर्य से आनन्द प्राप्त करता और उसके रमणीय एवं भव्य रूपों को देख कर किसी अज्ञात सत्ता के प्रति उन्मुख होता है। वह इन मानसिक स्थितियों के प्रकाशन का भी प्रयत्न करता है। ऐसे ही व्यष्टि और समष्टिगत जीवन की जितनी भी दशाएँ, स्थितियाँ आदि होती हैं वे सब उसके द्वारा अभिव्यक्त साहित्य का उपादान बनती हैं। यह साहित्य स्वान्तःसुखाय होता है और लोकरञ्जनाय भी। इससे अपने विचारों से दूसरों को प्रभावित करने का भी प्रयत्न किया जाता है। ऐसे ही अनेक अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी साहित्य का निर्माण होता है। बहुतों को व्यक्तिगत रूप से साहित्य-सर्जन की प्रेरणा होती है, किन्तु बहुतेरे दूसरों की देखादेखी भी उन्हीं के ढर्रे पर चल कर सामयिक प्रवृत्ति की परितृप्ति करते हैं। इसी प्रकार लोक के साहित्य के विविध रूप होते हैं। इन सबको धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियाँ भी अछूता नहीं रहने देतीं। अतएव साहित्य का विकास विविध प्रेरणाओं और परिस्थितियों के द्वारा होता है। साहित्य के इतिहास में इन्हीं सब का क्रम-बद्ध और पूर्वा-पर-सम्बद्ध वर्णन तथा विवेचन होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भी यही किया गया है। पूर्ववर्ती साहित्य के इतिहास के रचयिताओं में रामचन्द्र शुक्ल के दिखलाये पथ पर चलते हुए भी हमने उनकी वे सभी बातें नहीं लीं जिनसे उनके बाद के आलोचक सहमत नहीं थे। अब तक हिन्दी साहित्य के विविध अंगों के विषय में जो नयी शोध हुई है उसका भी हमने पूर्णतया उपयोग किया है। उसके आधार पर तथ्य, धारणा, निष्कर्ष

आदि के विषय में प्रचलित भ्रान्त विचारों से बचने की भी पूरी चेष्टा की है। कवियों, लेखकों, रचनाओं और युग की प्रवृत्तियों का विवरण देते समय इतिहास के द्वारा प्रमाणित सूत्रों का अधिक उपयोग किया है। इससे साहित्य के इतिहास के प्रचलित ग्रन्थों से प्रस्तुत ग्रन्थ में बहुत स्थलों पर भिन्न बातें एवं मत मिलें तो उनसे चौंकना न चाहिये। हम यह तो कह नहीं सकते कि अब तक इतिहास के समस्त उपलब्ध ज्ञान का उपयोग यहाँ कर लिया गया है किन्तु सीमित समय तथा आकार के भीतर यथासम्भव अधिक से अधिक जानकारी का समावेश किया गया है।

समयाभाव और प्रकाशन की शीघ्रता के कारण हम अपने इस प्रयास से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं हैं। अवसर मिलने पर हम इसमें अभीष्ट परिमार्जन और संवर्द्धन करने की चेष्टा करेंगे। इसमें जिन लेखकों के ग्रन्थों का उपयोग किया गया है उनका यथास्थान निर्देश कर दिया गया है। उन सबके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। ऐसे भी ग्रन्थ हैं और होंगे जिनका उपयोग किया गया है, परन्तु उल्लेख नहीं मिलेगा। उनकी सूची बहुत लम्बी है। और यह पुस्तक अनुसन्धानात्मक भी नहीं है। अतएव हम उन सबके लेखकों का भी ऋण मुक्त-कण्ठ से स्वीकार करते हैं।

देश के विभाजन के पूर्व हममें से एक ने प्रकाशक के लाहौर में रहते समय जो 'हिन्दी साहित्य का विकास' प्रस्तुत किया था वह वहीं रह और कई कारणों से अप्राप्य हो गया। उसके यथेष्ट अंश इस ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में आवश्यक सुधार कर ले लिये गये हैं।

रामबहोरी शुक्ल **भगीरथ मिश्र**

विषय-सूची

खंड १

(लेखक—रामबहोरी शुक्ल)

खंड २

(लेखक—डाक्टर भगीरथ मिश्र)

खण्ड १

भाषा

भारत की भाषाएँ

भारत गणराज्य[1] का विस्तार पूर्व से पश्चिम प्रायः १७०० मील है और उत्तर से दक्षिण लगभग २००० मील। उसका क्षेत्रफल १२,६६,६४० वर्गमील है। उसमें कोई छत्तीस करोड़ एक लाख अस्सी हजार मनुष्य[2] बसते हैं। देश में जैसे अनेक प्रकार की प्राकृतिक भूमि, जलवायु और उपज है वैसे ही नाना आकार, वर्ण तथा वंश के लोग निवास करते हैं। ये विविध नृ-वंशों के लोग बहुत दिनों से यहाँ रहते आये हैं। इनमें कुछ यहीं के आदि से ही निवासी हैं और कुछ इधर-उधर के अन्य देशों से आ-आ कर बसते गये। यह आना-बसना बहुत लम्बे समय तक चलता रहा। धीरे-धीरे ये भिन्न-भिन्न वंशों के लोग एक-दूसरे से हिल-मिल गये, शादी-ब्याह करने लगे। इस प्रकार इनके खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार आदि में लेन-देन हुआ। इसी प्रकार यहाँ जो लोग रहते थे और जो लोग समय-समय पर आते गये उनकी बोल-चाल की भाषा में भी आदान-प्रदान हुआ। आगे चल कर विचारों की भाँति उनकी भाषा के शब्द भी लोगों ने एक-दूसरे से ग्रहण किये। यह बात आज देश के व्यवहार में आनेवाली भाषाओं और बोलियों को देखने से स्पष्ट होती है। उन भाषाओं और बोलियों की अनेकता में यही एकता विद्यमान है।

---

१. इसमें अंडमान-निकोबार द्वीपों के अतिरिक्त जम्मू-कश्मीर का वह अंश सम्मिलित है जो २८ अक्टूबर १९४७ भारत में सम्मिलित हो गया है और वह नहीं जो इस समय आक्रमण-कारियों ने पाकिस्तान की अप्रत्यक्ष सहायता से अपने अधीन कर रखा है। इसमें १९६ वर्गमील का पांडेचेरी, माही और यनाम का वह क्षेत्र भी है जो १ नवंबर १९५४ को फ्रांस से हस्तान्तरित हो कर भारत का अङ्ग हो गया था, किन्तु १५३७ वर्गमील (और सन् १९४१ की गणना के अनुसार ६,२४,१७७ जन संख्या) के गोवा, दामन, दीव एवं कुछ अन्य भू-भाग सम्मिलित नहीं हैं जिनपर अभी भी पुर्तगाली शासन बना है, और जो किसी न किसी दिन अन्य विदेशी राज्यों की भाँति समाप्त हो कर ही रहेगा।

२. मार्च सन् १९५१ की गणना के अनुसार भारत की जनसंख्या ३५,६८,२९,४८५ है और जम्मू-कश्मीर की ४४,१०,००० तथा असम की आदिम जातियों की अनुमानतः ५,६०,०००।

कहने को ग्रियर्सन अपने 'भारतीय भाषाओं का पर्यवेक्षण' ग्रन्थ में बहुत पहले कह गये हैं कि भारत[१] में कुल १७९ भाषाएँ और ५४४ उपभाषाएँ प्रचलित हैं। परन्तु १९५१ की गणना में तो भारत गणराज्य में ८४५ भाषाओं और बोलियों को व्यवहार में लाने वाले लोग दिखलाये गये हैं, भले ही इनमें ६३ विदेशी भाषाओं को प्रयोग करने वाले हों। देश की ७८२ भाषाएँ तथा बोलियाँ एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। इनमें कुछ केवल थोड़े से लोगों के बीच प्रचलित हैं, कुछ केवल बोलचाल के काम आती हैं और कुछ साधारण लिखने-पढ़ने के काम तक ही सीमित हैं। कुछ थोड़ी सी भाषाएँ ही ऐसी हैं जिनका बोलने और लिखने में अधिक जन व्यवहार करते हैं और जिनका प्रभाव उनके अन्तर्गत बहुतेरी बोलियाँ ग्रहण करती हैं।

भाषाओं के वर्ग

इनमें अधिकांश एक-दूसरे से बहुत मिलती-जुलती हैं। उनमें परस्पर बहुत ही कम अन्तर रहता है। इसी मौलिक एकता के आधार पर भारत की वर्तमान भाषाओं को मुख्य रूप से चार वर्गों में बाँटा जाता है—निषाद (मुण्ड वा आग्नेय), किरात (चीन-किरात), द्राविड और आर्य। इनमें उन आदिम निवासियों की भाषाएँ नहीं आतीं जो प्रागैतिहासिक काल में अफ्रीका से आ कर देश के पश्चिम, दक्षिण और पूर्व में बस गये थे। इनकी भाषा का शुद्ध रूप केवल अन्दमान द्वीप-पुञ्ज के अल्प संख्यक (२७)[२] आदिम निवासियों की अन्दमानी बोली में मिलता है।

निषाद भाषाएँ—बिहार और पश्चिमी बंगाल की सीमा पर, झाड़खण्ड (छोटा नागपुर) और उसके समीप, मध्यप्रदेश तथा असम की खासी, जयन्तिया पहाड़ियों में सन्थाल, मुण्डा, शबर, खासी आदि आदिम जातियाँ बसती हैं। इन्हें निषाद या मुण्डा कहते हैं और इन्हीं के वंश के लोग हिन्द चीन प्रायद्वीप तथा हिन्दी (सुवर्ण) द्वीपावली में भी बसते हैं। पुरानी दुनिया के दक्षिण-पूर्वी कोने में निवास करने के कारण इन्हें आग्नेय (आस्ट्रिक) भी कहते हैं। इनकी भाषाएँ मुण्डा (कोल), खासी (खसिया) और निकोबारी—इन तीन श्रेणियों में विभाजित होती हैं। इनके बोलने वालों की संख्या १,१५,३१,८८४ है। इन

१. यह उस समय के भारत की बात है जब वह विभाजित नहीं हुआ था और उसके अङ्गच्छेद से 'पाकिस्तान' नहीं बना था।

२. यह तथा आगे भाषाओं के आगे कोष्ठक में दी हुई उनके बोलने वालों की संख्या सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार है।

भाषाओं में प्रमुख ये हैं—**सन्थाली** (२८,११,५७८)—इसके बोलने वाले बिहार के सन्थाल परगना में, उड़ीसा, पश्चिम तथा उत्तर बंगाल और असम में रहते हैं। **मुण्डारी** वा **मुण्डा** (५,८५,२११)—राँची इस भाषा के भाषियों का मुख्य स्थान है। **हो** (५,६६,८७६) और **भूमिज** (१,०१,५०८) का इन तीनों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके अतिरिक्त कुछ और प्रमुख बोलियाँ हैं—**शबर** (२,५६,२५६), **कोरकु** (१,७०,६०७), **गारो** (२,३६,८१६), **खासी** (२,३०,६८२), **लुशेई** (१,६३,६००), और **निकोबारी** (११, ७६२)।

इन भाषाओं में साहित्य का एक प्रकार से अभाव है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ईसाई धर्म के प्रचारकों ने इन पिछड़ी जातियों के बीच अपने धर्म का प्रचार आरम्भ किया। उन्होंने इनकी भाषाओं के विषय में जानकारी प्राप्त करनी आरम्भ की। इसके फल-स्वरूप उन्होंने इनमें अपने धर्म की पुस्तकों का अनुवाद किया, इन लोगों के बीच मौखिक रूप से प्रचलित लोक-कथाओं, गीतों आदि को प्रकाशित किया। सन्थाली, मुण्डारी और हो भाषाओं में इस प्रकार की रचनाएँ रोमन अक्षरों में छपी हैं।

परन्तु इन भाषाओं के बोलने वाले जिन प्रदेशों में बसते हैं उनकी प्रमुख आर्यभाषाओं को सीखते और व्यवहार करते हैं। साथ ही अपनी बोलियों में उनके शब्दों और प्रभाव को ग्रहण करते हैं। जान पड़ता है धीरे-धीरे इन निषाद वा मुण्ड भाषाओं में भी आर्यभाषाओं का वैसे ही प्रभाव बढ़ता जायगा जैसे अन्य आर्येतर भाषाओं पर पड़ा और बढ़ा है।

किरात (चीन किरात) **भाषाएँ**—इनका व्यवहार वर्तमान समय में भारत के उत्तर-पूर्व के प्रदेशों में होता है। इनका मूल तिब्बत और चीन की भाषाएँ हैं। इनके आदि पुरुष भोट-चीन (सीनो-टिबेटन) तथा मंगोल जाति के थे। ये लोग असम, उत्तरपूर्व बंगाल, नेपाल आदि में ई० पू० १००० के लगभग आ गये थे। ये जहाँ-जहाँ बसे वहीं के अधिक सभ्य और संस्कृत निवासियों का धर्म और उनकी भाषा अपनाने लगे और आजकल यह क्रिया अधिक वेग से चल रही है। **मेइतेइ वा मणिपुरी** (४,८५,७८७) मणिपुर और त्रिपुरा में प्रचलित है। इसमें थोड़ा-बहुत साहित्य भी रचा जा रहा है। **बड़ वा बडो** Bodo (१,६६,४४७) त्रिपुरा और पश्चिम असम के अतिरिक्त पूर्वी पाकिस्तान[1] अर्थात् अविभाजित भारत के बंगाल के उत्तर-पूर्व के भाग में बोली जाती है।

---

१. यहाँ इस भाषा के बोलनेवाले पूर्वी पाकिस्तान के निवासियों की संख्या अप्राप्य होने से नहीं दी जा सकी।

द्राविड भाषाएँ—इनके बोलनेवालों के पुरखे ईसा के साढ़े तीन हजार बरस पहले दक्षिण-पूर्व योरप, पश्चिम एशिया, उत्तरी अफरीका तथा लघु (माइनर) एशिया से आये थे। ये लोग पश्चिम और दक्षिण भारत में आ बसे। फिर गङ्गा के काँठे में बंगाल तक फैल गये। वहाँ के आदिम निवासी निषादों से पहले सङ्घर्ष करके धीरे-धीरे घुल-मिल गये। ये लोग सभ्यता और ज्ञान के विचार से निषादों से कहीं उन्नत थे। आगे चल कर आर्यों ने आ कर इन्हें उत्तर और मध्य भारत से हटा कर मुख्यरूप से दक्षिण भारत और सिंहल में ही सीमित कर दिया। आजकल नौकरी, व्यवसाय आदि जीविका के साधनों के कारण ही दक्षिण के बाहर द्राविड भाषाओं के भाषी कुछ लोग रहते हैं। इन द्राविड भाषाओं में मुख्य हैं—**तमिळ** (२,६५,४६, ७६४), **तेलुगु** वा **आन्ध्र** (३,२६,६६,६१६), **कन्नड** वा **कर्णाट** (१, ४४,७१,७६४) और **मलयालम** वा **केरल** (१,३३,८०,१०६)। **तमिळ** मद्रास के उत्तर से कन्याकुमारी तक बोली जाती है। भारत के बाहर सिंहल के उत्तरी और पूर्वी भागों में भी इसका व्यवहार होता है। इसके सबसे पुराने काव्य ई० पू० तीसरी शताब्दी के हैं। प्राचीन तमिळ साहित्य को प्राचीन साहित्य सङ्घ से अनुमोदित होने के कारण 'चङ्कम्' साहित्य कहते हैं। यह तमिळ 'चेन्-तमिफ्' कहलाती है। इसके काव्यों में प्रेम और युद्ध का विशेष रूप से वर्णन मिलता है। तेरहवीं शताब्दी के बाद आधुनिक तमिळ का समय चलता है। इसे 'कोडुन्-दमिफ्' कहते हैं। इसमें शैव सिद्धों और वैष्णव अळवारों का रचा आध्यात्मिक साहित्य विशिष्ट है। यद्यपि तमिळ ही ऐसी द्राविड भाषा है जिसमें धातुओं और शब्दों की मूल प्रकृति की रक्षा हुई है, फिर भी इसपर संस्कृत का प्रभाव पड़ रहा है, परन्तु अन्य द्राविड भाषाओं की अपेक्षा कम। **तेलुगु** आन्ध्र और तिलंगाना में बोली जाती है। इसमें सबसे पुराना ग्रन्थ १००० ई० में रचित नन्नय्य भट्ट का 'महाभारत' है। इससे प्रकट होता है कि इसके पूर्व ही तेलुगु में साहित्य रचना आरम्भ हो चुकी थी। इसमें संस्कृत शब्दों का बहुतायत से प्रयोग होता है जिससे संस्कृत की शब्दावली से परिचितों के लिए इसको समझना अधिक कठिन नहीं होता। कुछ लोग संस्कृत के शब्दों से रहित ठेठ 'अच्च तेलुगु' का व्यवहार अपनी रचनाओं में करते हैं। **कन्नड** बोलने वाले कुर्ग, मैसूर, हैदराबाद, मद्रास और बम्बई के कुछ भागों में निवास करते हैं इसका प्रचीनतम रूप ईसा की सातवीं शताब्दी के शिलाओं पर लिखे अनुशासनों में मिलता है। यह बोलने में तमिळ के तथा लिखने में तेलुगु के सदृश है। पुरानी ('पले' वा 'हले') कन्नड के विकसित नयी ('पोस' वा 'होस') कन्नड

में प्राचीन समय से ही संस्कृत का अधिक प्रभाव मिलता है। **मलयालम** मलाबार, तिरुअनन्तपुरम् (ट्रावनकोर), कोचीन तथा लक्ष द्वीप में प्रचलित है। यह पुरानी तमिळ से विकसित हुई। इसमें पन्द्रहवीं शताब्दी से साहित्य-रचना आरंभ हुई। इसमें कन्नड से कहीं अधिक संस्कृत का प्रभाव है। इसके जिस रूप में संस्कृत का अधिक प्रभाव है उसे 'मणिप्रवालम्' कहते हैं। परन्तु मोपले मुसलमानों में इसका ठेठ रूप ही चलता है।

उक्त सम्पन्न द्राविड भाषाओं के साथ ही देश की आदिम जातियों में कुछ और भी द्राविड भाषाएँ प्रचलित हैं। यथा **तुलु** (७,८७,६२४)—यह मद्रास, मैसूर और बंबई राज्यों में बोली जाती है। **कोडगु** (६६,६४२)—यह कुर्ग प्रदेश की भाषा है। **गोंडी** (१२,३२,८८६)—यह विन्ध्यप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार और हैदराबाद में केवल बोलचाल में चलती है। **कुइ** वा **कन्ध** (२,०६,५०६)—इसके बोलने वाले उड़ीसा में रहते हैं। **ओराँव** वा **कुंडूख** (६,४४,०४२)—इसको असम, बिहार और उड़ीसा के कुछ आदिम निवासी काम में लाते हैं। साथ ही नीलगिरि के थोड़े से जंगली जाति वालों की **तोदा** और राजमहल की पहाड़ियों में बसे लोगों की **माल्तो** भाषाएँ भी इसी वर्ग में आती है। सिन्ध और उसके पास के बलोचिस्तान प्रदेश अब पश्चिमी पाकिस्तान में चले गये हैं। वहाँ (सन् १६४१ की गणना के अनुसार दो लाख सात हजार से अधिक) **ब्राहुई** भाषा के बोलने वाले रहते हैं। यह भाषा भी इसी द्राविड भाषाओं के परिवार की है। इन द्राविड भाषाओं में ओराँव और गोंडी में ग्रामगीतों और कविताओं का संग्रह मिलता है और कुछ अन्य साहित्य भी, जो पादरियों ने रोमन लिपि में छापा था और इधर देवनागरी में भी निकल रहा है। शेष प्रायः नित्य प्रति के कामकाज में ही आती हैं, साहित्य के क्षेत्र में नहीं। इन्हें बोलने वालों को अपने क्षेत्र की किसी न किसी समृद्ध भाषा को सीखना पड़ता है जिससे उन्हें ज्ञान की प्राप्ति होती है।

आर्य भाषाएँ और उनका विकास

उक्त सभी भाषाओं से बोलने वालों की संख्या, साहित्य की सम्पन्नता तथा प्रभाव की व्यापकता के विचार से भारत में आर्यभाषाओं का विशेष महत्त्व है। योरप के भाषा तथा नृ-शास्त्र के कुछ विद्वानों ने आर्यों का आदि स्थान यूराल पर्वत, मध्य एशिया या पूर्व युरोप में बाल्टिक सागर के समीप माना है, किन्तु लोकममान्य टिळक ने उत्तरी ध्रुव के निकट का प्रदेश। कुछ विदेशी और देशी विद्वान भारत को ही आर्यों की आदि भूमि कहते हैं। वे मानते हैं

गन्धार, त्रिविष्टप (तिब्बत) अथवा सप्तसिन्धु[1] प्रदेश में वे सर्वप्रथम रहते थे और वहीं से पश्चिम की ओर ईरान होते हुए आगे बढ़े और पूर्व में मध्यदेश, काशी, कोसल, मगध, अङ्ग, बङ्ग और कामरूप में फैले और धीरे धीरे सारे भारत में छा गये। इनकी भाषा का उत्तरोत्तर विकास हुआ। जो रूप बोलचाल में व्यवहृत होता था वह साहित्य में प्रयुक्त होने पर नियमबद्ध हुआ। इससे बोली का रूप धीरे धीरे उससे भिन्न हो गया। आगे वही बोली जब साहित्य की भाषा बन गयी तब वाणी ने उसे और ही रूप दिया। इस प्रकार होते होते भारत की प्राचीनतम आर्यभाषा से वर्तमान काल की आर्यभाषाओं का विकास हुआ। विद्वानों ने सुभीते के लिए इन आर्यभाषाओं के तब से अब तक के समय के तीन युग माने हैं—**(१) प्राचीन युग**—ई० पू० २५०० से ई० पू० ५०० तक। इसमें वैदिक और लौकिक संस्कृत के वाङ्मय की रचना हुई। **(२) मध्ययुग** ई० पू० ५०० से १००० ई० तक। इसमें संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में साहित्य की सृष्टि हुई। **(३) आधुनिक युग**—१००० ई० से आज तक। इसमें आजकल प्रचलित हिन्दी, बँगला, असमिया, उड़िया, मराठी, गुजराती, पंजाबी, सिन्धी आदि भाषाओं का आरम्भ से ले कर अब तक का साहित्य निर्मित हुआ।

प्राचीन युग—भारत में रहे वा फैले आर्यों की मूल शाखाओं की भाषा का सब से पुराना साहित्यिक रूप ऋग्वेद में सुरक्षित है। उसकी ऋचाओं को पढ़ कर विद्वानों ने यह मत स्थिर किया है कि उसकी रचना किसी एक ही स्थान पर और एक ही समय में नहीं हुई। कारण, उनमें विविध स्थलों और व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है और मिलता है कुछ शब्दों का विविध रूपों में प्रयोग। इससे अटकल लगायी गयी कि ऋग्वेद की वैदिक संस्कृत में यद्यपि बोलचाल की भाषा के शब्द जहाँ तहाँ मिलते हैं फिर भी वह है लिखने-पढ़ने के काम में आ रही भाषा का ही रूप। ये वैदिक ऋचाएँ बहुत दिनों तक लोग एक-दूसरे से सुन कर ही सुरक्षित रखते रहे। इनका रूप बिगड़ने न पाये—इसलिए प्रातिशाख्यों के द्वारा ऐसे नियम निर्धारित किये गये जिनसे इनके मूल और शुद्ध पाठ का रूप स्थिर किया जा सकता था। ऋग्वेद में इन्द्र, मित्र, वरुण, उषस्, आदि देवताओं की स्तुति विषयक मन्त्र हैं। इन देवताओं को तुष्ट करने के लिए

---

[1] जिसमें अविभाजित भारत का जम्मू-कश्मीर और पंजाब का समूचा क्षेत्र सम्मिलित है, जिसका कुछ भाग आज भारत में है और कुछ पश्चिमी पाकिस्तान में।

यज्ञों का विधान होने पर कर्मकाण्ड के जो मन्त्र और गाये जाने के लिए जो सूक्त बने वे क्रमशः यजुर्वेद और सामवेद में सङ्कलित हैं। पहले ये तीन ही वेद थे। अथर्व इनके बाद वेद माना गया। आगे चल कर वैदिक कर्मकाण्ड की व्याख्या के लिए ब्राह्मण बने। इनके पश्चात् अध्यात्म सम्बन्धी गम्भीर विचार उपनिषदों में व्यक्त हुए। इस प्रकार यज्ञ के कर्मकाण्ड और अध्यात्म चिन्तन में लगे आर्य ऋषियों के ज्ञान का वह भण्डार आज हमें तत्कालीन भाषा का रूप प्रदान करता है। वेदों के संहिता ब्राह्मण और उपनिषद इन तीन विभागों में इस वैदिक संस्कृत अथवा छन्दस् का क्रमिक विकास भी देखने को मिलता है।

मध्य युग—इसी का क्रमिक विकास लौकिक संस्कृत है जिसे व्यवहार में संस्कृत कहा जाता है। संस्कृत (संस्कार की हुई, सुधारी हुई) नाम से यह ध्वनित होता है कि यह किसी नित्यप्रति के व्यवहार में आने वाली भाषा का सँवारा-सुधारा रूप है। संस्कृत के तत्कालीन प्रचलित रूप को ले कर ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की। व्याकरण के इस प्रसिद्ध ग्रन्थ में भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध के नियमों का सूक्ष्मता और ब्योरे के साथ विवरण है। लगभग तीन सौ वर्ष बाद पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में इसी की व्याख्या करके व्याकरण के नियमों को विस्तार के साथ समझाया। व्याकरण के इन्हीं नियमों के अनुसार संस्कृत में अध्यात्म और लौकिक विषयों का प्रचुर साहित्य रचा गया जिसकी समता संसार की किसी भी भाषा का प्राचीन साहित्य नहीं कर सका।

साहित्य की रचना के लिए नियमों से जकड़ी संस्कृत का प्रयोग अवश्य हुआ और अब तक उसका प्रायः वही व्यवस्थित रूप प्रयुक्त होता है। वह केवल पढ़े-लिखे पंडितों और सम्भवतः अभिजात वर्ग की ही भाषा रह गयी। किन्तु लोक-व्यवहार में सर्वसाधारण के मुँह से उसका व्यवहार संभव न था। वे उसको शुद्ध रूप से बोलने में समर्थ न थे। ई० पू० छठी शताब्दी का आरम्भ होते होते प्रान्त-भेद से सार्वजनिक प्रयोग की भाषा के विविध रूप देखने को मिलते हैं। इनके सबसे पुराने उदाहरण बुद्ध के प्रवचनों तथा जातक त्रिपिटक आदि बौद्ध और जैन साहित्य में मिलते हैं। अशोक ने बुद्ध के चलाये धर्म के सिद्धान्तों और जीवन को तदनुकूल बनाने के आदर्शों को अपने साम्राज्य के विविध भागों में शिलाओं और स्तूपों के ऊपर खोदवा दिया। देश के पूर्व, दक्षिण-पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के भागों में जो अभिलेख मिले हैं उनकी भाषा एक-सी नहीं है। ये लेख जन साधारण के समझने और मानने के उद्देश्य

से खोदाये गये थे। इससे इनमें उन स्थानों और प्रदेशों की भाषा का प्रयोग हुआ ही होगा जहाँ ये मिले हैं। सम्भव है यह वहाँ की तत्कालीन बोलचाल की भाषा हो अथवा उसके बहुत ही निकट की हो। उसी युग की साहित्यिक भाषा बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में भी मिलती है। इस भाषा को 'पालि' कहा जाता है। किसी ने इसे मगध की, तो किसी ने इसे कलिङ्ग की भाषा माना है। औरों ने इसे उज्जैन, विन्ध्य प्रदेश, कोशल और मध्यदेश की भाषा कहा है। बुद्ध के जो वचन सङ्कलित हुए हैं उनमें उक्त सभी क्षेत्रों के व्यवहृत शब्द मिलते हैं। सम्भवतः इसीसे लोगों ने इन्हें अपनी-अपनी युक्ति के अनुसार 'पालि' का मूलस्थान समझा होगा। तिब्बत, सिंहल, ब्रह्मदेश, स्याम (थाईलैंड), हिन्दचीन आदि बौद्धधर्म के अनुयायी देशों में रक्षित धार्मिक साहित्य वहाँ की लिपियों में लिखी पालि में ही रचा गया था। इसमें साहित्यिक पालि का दर्शन होता है।

जन-समाज में चलती भाषाओं के जो विविध रूप अशोक के धर्म-लेखों में मिलते हैं वही आगे चल कर प्राकृत कहलाये। प्राकृत के अनेक प्रकार हैं। मध्य एशिया में अश्वघोष (ईसा की दूसरी शताब्दी) के लिखे संस्कृत के नाटकों के कुछ अंश मिले हैं। इनमें विविध प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। परन्तु उनपर संस्कृत का बहुत प्रभाव है। मध्य एशिया के नीया नाम के स्थान में खरोष्ठी लिपि में लिखे कुछ राजकीय पत्र मिले हैं। इनमें तत्कालीन भारत के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र की भाषा का प्रयोग हुआ है, परन्तु उसपर ईरान, तुखार, मंगोल आदि की भाषाओं का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। ऐसे ही, धम्मपद भी प्राकृत में लिखा उपलब्ध हुआ है। इससे भी प्राकृत के पुराने रूप का पता चलता है। इधर देश के भीतर विविध क्षेत्रों में प्रचलित भाषा के रूप विविध प्राकृतों में मिलते हैं। इनका समय ई० पू० २०० से २०० ई० तक माना गया है। इनमें ग्रन्थ रचना हुई और संस्कृत के तत्कालीन नाटकों के पात्रों में सामान्य जनों के मुँह से इनका प्रयोग हुआ है। उन दिनों के तथा बाद के विद्वानों ने इनके व्याकरणों की रचना की, जिससे ये भी कालान्तर में संस्कृत के सदृश ही नियमों के बन्धन में जकड़ गयीं। वररुचि ने प्राकृत के चार प्रकार बतलाये हैं—महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी और इन्हीं का निरूपण किया है। हेमचन्द्र ने अपने रचे सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन (सिद्धहैम) नामक व्याकरण में जैन आगमों की आर्षी (अर्द्धमागधी) और चूलिका पैशाचिक का भी परिचय दिया है। महाराष्ट्री प्राकृत आधुनिक विदर्भ (बरार) और उसके इधर-उधर बोली जाती थी और पैशाची प्राकृत

पिशाच (आधुनिक पंजाब) प्रदेश में, मागधी दक्षिण बिहार (मगध) में तथा शौरसेनी ब्रज (शूरसेन प्रदेश) में। इस प्रकार इन प्राकृतों का नाम उन क्षेत्रों के नाम पर पड़ा है जहाँ ये बोली जाती थीं। महाराष्ट्री सबसे प्रमुख प्राकृत है। इसमें रचे काव्यों में सेतुबंध (रावणवहो वा दशमुह वहो) गउडवहो गाथा सतसई प्रसिद्ध हैं। संस्कृत नाटकों में प्राकृत के छन्द इसी में मिलते हैं। पैशाची की कोई रचना नहीं मिलती। कहते हैं गुणाढ्य की बहुकहा (बृहत्कथा) इसी प्राकृत में लिखी गई थी। शौरसेनी मध्यदेश की प्राकृत थी जो संस्कृत का क्षेत्र था। इसी से इसपर संस्कृत का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। संस्कृत के नाटकों में स्त्रियों और विदूषक के द्वारा इसका प्रयोग किया जाता था। जिस प्रकार बुद्ध ने अपने उपदेश तत्कालीन पण्डितों के द्वारा व्यवहार की गयी संस्कृत में न दे कर मध्यदेश की प्रचलित बोलियों और संस्कृत के योग से बनी 'पालि' भाषा में दिये थे उसी प्रकार जैन आचार्य महावीर ने संस्कृत और मागधी प्राकृत के योग से बनी अर्द्धमागधी प्राकृत में अपने धार्मिक उपदेशों का प्रचार किया। यह कोसल की भाषा है। इसमें पच्छिम की शौरसेनी और पूरब की मागधी प्राकृत का सम्मिश्रण है। इसमें जैन आचार्यों के लिखे ग्रन्थ मिलते हैं। इन विविध प्राकृतों का प्रयोग ईसा की पहली से पाँचवीं शताब्दी तक होने का पता चलता है।

जैसा ऊपर कह आये हैं, प्राकृत को व्याकरण के नियमों से जकड़ने की चेष्टा हुई और साहित्य में उन्हीं नियमों से बँधी विविध प्राकृतों का प्रयोग होने लगा। परन्तु बोलचाल में ये नियम उनके प्रवाह को रोक न सके। जिन व्यवहृत बोलियों के आधार पर उन्होंने साहित्यिक रूप ग्रहण किया था वे अबाध गति से चलती रहीं। प्राकृत में साहित्य-रचना होने के कारण इन भाषाओं को अपभ्रंश (बिगड़ी हुई भाषा) कहा गया। धीरे-धीरे प्राकृत भाषाओं में साहित्य-सर्जना बन्द हो गयी। तब उन्हीं से बिगड़कर चल रही अपभ्रंश भाषाओं में रचना होने लगी। बोलचाल की अपभ्रंश में उसी की मूलाधार प्राकृत के व्याकरण सम्बन्धी नियमों को लगा कर साहित्यिक अपभ्रंश का निर्माण हुआ करता। इससे प्रकट होता है कि प्रत्येक प्राकृत का अपभ्रंश रूप था, जो पहले केवल बोलचाल में प्रयुक्त होता था, पीछे कुछ परिष्कार करके साहित्य में अपना लिया गया होगा। व्याकरण-शास्त्रियों ने अपभ्रंश के विविध रूपों का उल्लेख किया है। 'प्राकृत चन्द्रिका' में देश-भेद से अपभ्रंश के सत्ताईस भेदों का उल्लेख हुआ है। कहीं-कहीं उसके तीन भेद माने गये हैं—उपनागर, आभीर और ग्राम्य। आगे यही क्रमशः नागर उपनागर और

ब्राचड कहे जाने लगे। नागर अपभ्रंश पश्चिमी भारत में राजस्थान, गुजरात, मध्यभारत आदि में प्रयुक्त होती थी। हेमचन्द्र ने माना है कि इसका विकास शौरसेनी प्राकृत से हुआ। ब्राचड सिन्ध में बोली जाती थी। उपनागर अपभ्रंश में उक्त दोनों अपभ्रंशों का मेल है। वह गुजरात और सिन्ध के मध्यवर्ती क्षेत्र अर्थात् पच्छिमी राजस्थान और दक्खिनी पञ्जाब में चलती रही होगी। इन मुख्य अपभ्रंश भाषाओं में बहुत से काव्यों और फुटकल कविताओं की रचना हुई। अपभ्रंशों का समय ईसा की छठी से दसवीं शताब्दी तक माना जाता है।

उपर्युक्त संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के सम्बन्ध में समय की सीमाएँ निर्दिष्ट की गयी हैं। इससे सम्भव है यह समझ लिया जाय कि उस अवधि के बीच भाषा विशेष में ही साहित्य-सर्जन हुआ, उसके बाद नहीं। वास्तव में ऐसा नहीं है। जिन दिनों प्राकृत और अपभ्रंश में रचना होने लगी थी उन दिनों भी संस्कृत में निरन्तर शास्त्र और दर्शन की व्याख्या होती रही, काव्य बनते रहे, इतिहास और अन्य प्रकार के विषयों का विवेचन होता रहा। इतना ही नहीं आज भी बहुत से प्राचीन ज्ञान के सम्बन्ध में संस्कृत के माध्यम से ही विमर्श हुआ करता है। अतएव संस्कृत सदैव से भारतीय विचारधारा को पुष्ट करती आ रही है और उसका प्रवाह कभी भी पूर्णतया बन्द नहीं हुआ।

आधुनिक युग—जब इन अपभ्रंश भाषाओं में साहित्य का निर्माण होने लगा तब इनमें अपने व्यावहारिक रूप से कुछ भेद होने लगा। क्रमशः देश के अलग-अलग क्षेत्र की बोलचाल की अपभ्रंश से बदलते-बदलते आजकल की भारतीय आर्यभाषाओं का जन्म होने लगा। इन आधुनिक भाषाओं ने अपने गठन के लिए अपने-अपने क्षेत्र की अपभ्रंश और प्राकृत से तो नाम, धातु, प्रत्यय आदि लिये ही, सीधे संस्कृत से भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अपना प्रचुर भाण्डार भरा और आज भी भरती जा रही हैं।

इसके अतिरिक्त इनमें अनेक ऐसे शब्द भी हैं जिनका मूल रूप अपभ्रंश, प्राकृत वा संस्कृत में नहीं मिलता और जिनकी व्युत्पत्ति इनसे नहीं हो सकती। सम्भवतः ये व्यवहार में आ रहे शब्द हैं।

शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित रूप है—हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती और पहाड़ी भाषाएँ। मागध अपभ्रंश से बिहारी, बँगला, असमिया और उड़िया का विकास हुआ तथा अर्द्धमागधी से पूरबी हिन्दी का और महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी का। ब्राचड़ अपभ्रंश सिन्धी तथा कैकय अपभ्रंश लहँदा और पंजाबी का जन्मस्रोत समझा जाता है।

आधुनिक आर्यभाषाओं का वर्गीकरण

भारत[1] की आधुनिक आर्यभाषाओं को भाषा-शास्त्रियों ने कई वर्गों में बाँटा है। इन भाषाओं में परस्पर के लगाव और साम्य को ध्यान में रख कर ग्रियर्सन ने भाषा पर्यवेक्षण में इनके ये वर्ग बनाये हैं—

(१) बहिरंग (बाहरी) समूह—इसके पश्चिम-उत्तर क्षेत्र में लहँदा और सिन्धी, दक्षिणी क्षेत्र में मराठी और पूर्वी क्षेत्र में उड़िया, बँगला, असमिया (असमी) और बिहारी हैं।

(२) मध्यवर्ती (बीच का) समूह—इसमें पूरबी हिन्दी है।

(३) अन्तरङ्ग (भीतरी) समूह—इसके अन्तर्वर्ती (केन्द्रीय वा भीतरी) क्षेत्र में पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, भीली, खानदेशी और राजस्थानी हैं तथा पहाड़ी क्षेत्र में पूरबी पहाड़ी वा नैपाली, बीच की पहाड़ी और पच्छिमी पहाड़ी हैं।

परन्तु इस वर्गीकरण में कुछ दोष दिखला कर सुनीतिकुमार चटर्जी ने इन भाषाओं को इस प्रकार विविध वर्गों में रखा है—

(१) उत्तरी वा पहाड़ी श्रेणी—इसमें पूर्वी पहाड़ी या नेपाली (४,२१,६८८), मध्य पहाड़ी अर्थात् गढ़वाली (४,८४,२६१), तथा कुमाऊँनी (५,७१,४०१), और पश्चिमी पहाड़ी अर्थात् भद्रवाही, पाडरी, चमेआली, कुलुई, क्युरठाली, सिरमौरी[2] आदि हैं।

(२) उत्तर-पश्चिमी श्रेणी—इसमें पश्चिमी पंजाबी, हिन्दकी या लहँदा (लहँदा अर्थात् पश्चिम की बोली) (८५ लाख[3]) और सिन्धी[4] तथा कच्छी (६७,३७६) हैं।

---

१. इस स्थल पर 'भारत' का तात्पर्य अविभाजित भारत लेना चाहिये, जिसमें वर्तमान भारत गणतन्त्र के साथ ही पाकिस्तान भी सम्मिलित है और पुर्तगाल के अधीन भारत का वह छोटा-सा भाग भी है जो गोवा, दामन और दीव में सीमित है।

२. चटर्जी के ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आव बंगाली लैंग्वेज में उत्तरी श्रेणी का अलग उल्लेख नहीं है। पहाड़ी भाषाओं को राजस्थानी के भीतर रखा गया है। परन्तु 'भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएँ' में उन्होंने यह श्रेणी अलग मानी है। उसी ग्रंथ के पृ० ३६-४१ से यह वर्गीकरण लिया गया है। इसमें भाषाओं के बोलने वालों की संख्या वहाँ से न ले कर १९५६ की 'हिन्दुस्तान ईयरबुक' से ली गई है।

३. ग्रियर्सन कृत लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया में इन भाषाओं के बोलने वालों की यह जन-संख्या लिखी है। सन् १९५१ की गणना के अनुसार इनकी संख्या उपलब्ध नहीं हो सकी।

४. सिन्ध अब पाकिस्तान में है। सिन्धी बोलने वाले जो लोग भारत

(३) दक्षिणी श्रेणी—इसमें मराठी (२,७०,४६,५२२) है। कोंकणी (६,३६,०२०) और हलबी (२,६४,६१२) भी इसी के अन्तर्गत हैं।

(४) पूर्वी श्रेणी—इसके अन्तर्गत हैं—उड़िया (१,३१,५३,६०६), बँगला (२,५१,२१,६७४), असमिया (४६,८८,२२६) और बिहारी[१] अर्थात् मैथिली (१ करोड़[२]), मगही (६५ लाख[२]), भोजपुरी (सदानी वा छोटा नागपुरी सहित, २ करोड़ ५ लाख[२]) हैं।

(५) पूर्व-मध्य श्रेणी—इसमें कोसली वा पूर्वी हिन्दी (२ करोड़ २५ लाख[२]) है, जिसकी उपभाषाएँ—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी (६,०२,६०८) हैं।

(६) मध्यदेशीय श्रेणी—इसके भीतर आती हैं—राजस्थानी[३] (१,०६,७८,१४२) गुजराती (१,६३,१०,७७१), पश्चिमी हिन्दी (४ करोड़ १०लाख) और पंजाबी वा पूर्वी पंजाबी (डोगरी समेत १ करोड़ ५५ लाख)। राजस्थानी की कई उपभाषाएँ हैं। इनमें मुख्य हैं—मारवाड़ी (४५,१४,७३७) जिसकी उपभाषाएँ मेवाड़ी (२०,१४,८७४) और शेखावटी हैं; जयपुरी (१५,८८,०६६) जिसकी उपभाषाएँ हैं अजमेरी और हाड़ौती, मेवाती (१,११,१८८), मालवी (८,८६,८६५) तथा भीली भाषाओं का समूह (११,६०,२६६)। सौराष्ट्री (१,२४,४८६) और गूजरी भी राजस्थानी के ही अन्तर्गत है। पश्चिमी हिन्दी (४ करोड़ १० लाख[२]) की प्रमुख उपभाषाएँ हैं—व्रजभाषा (१,७७,८४७) कन्नौजी तथा बुन्देली के अतिरिक्त खड़ी बोली वा नागरी हिन्दी। अरबी-फारसी के अधिक प्रभाव को अपनाने वाली उर्दू का आधार भी नागरी हिन्दी ही है।

के विभिन्न राज्यों में आ बसे हैं उनकी १९५१ की संख्या थी ७,४५,४३४। कच्छी की संख्या अलग नहीं मिल सकी।

१. यद्यपि भाषा शास्त्र के विचार से ग्रियर्सन, चटर्जी आदि बिहारी को बँगला, उड़िया आदि पूर्वी भाषाओं की श्रेणी में रखते हैं फिर भी बिहारी को हिन्दी के अन्तर्गत माना जाता है। १९५१ की गणना में लगभग १ लाख व्यक्तियों ने बिहारी की विविध बोलियाँ अपनी भाषा लिखायी हैं, जहाँ ३,४८,१७,१३३ ने हिन्दी को अपनी भाषा स्वीकार किया है।

२. ग्रियर्सन कृत लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया में इन भाषाओं के बोलने वालों की यह जन-संख्या लिखी गई है। सन् १९५१ की गणना के अनुसार इनकी संख्या उपलब्ध नहीं हो सकी।

३. १९५१ की गणना में ६,४५,००१ व्यक्तियों ने अपनी भाषा राजस्थानी लिखायी थी।

इनके अतिरिक्त श्रीलङ्का की भाषा सिंहली और मालद्वीप की भाषा भी उक्त आर्यभाषाओं के परिवार की हैं तथा पश्चिमी एशिया एवं युरोप के बहुत से देशों में घुमक्कड़ 'जिप्सी' जाति की जो कई भाषाएँ हैं वे भी इसी वंश की हैं। राजस्थान में कंजरी भाषा बोलने वाले (३,६२६) लोगों की गणना १६५१ में हुई थी। यह एक प्रकार की 'जिप्सी' भाषा ही है।

उक्त चार कुलों की भाषाओं के साथ ही कश्मीर में अन्य कुलों की कुछ भाषाएँ प्रचलित हैं। वहाँ की कश्मीरी भाषा (५१,०८६) दरद वा पैशाची कुल की भाषा है। पहले यह देवनागरी से मिलती-जुलती शारदा लिपि में लिखी जाती थी। अब फारसी लिपि में लिखी जाती है। इस पर संस्कृत का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। शीणा, चितराली, बशगाली और पशै इसकी कुछ उपभाषाएँ हैं। इनको थोड़े से लोग बोलते हैं। इनमें साहित्य का अभाव है। कश्मीरी में ही साहित्य-सृष्टि का कुछ प्रयत्न देखा जाता है। कश्मीर के उत्तर हुंजा नगर में प्रचलित खाजुना वा बुरुशास्की का देश के किसी भी भाषा-परिवार से सम्बन्ध नहीं है। कुछ लोग इसका आग्नेय कुल की कोल भाषा से और कुछ रूस के काकेशस पहाड़ के आसपास की भाषा से सम्बन्ध मानते हैं।

भारत की प्रमुख आर्यभाषाओं का परिचय

सिन्धी—इसका मूल प्रदेश सिन्ध है, जो अब पश्चिमी पाकिस्तान का अङ्ग है। विस्थापित सिन्धी हिन्दू भारत के विविध राज्यों में बस गये हैं। वे वहीं की भाषा को व्यवहार करते हैं, किन्तु घरों में और अपने बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा में इसका व्यवहार करते हैं। इसकी अपनी लिपि लंडा है, किन्तु यह गुरुमुखी और फारसी लिपि में लिखी जाती है। अब भारत में आ बसे सिन्धी इसे देवनागरी में लिखने लगे हैं। यह व्राचड अपभ्रंश से विकसित हुई। इसमें कुछ साहित्य भी है।

गुजराती—यह गुजरात, बड़ौदा और उनके आसपास के क्षेत्र में बोली जाती है। देवनागरी से मिलती-जुलती तथा शिरोरेखा से मुक्त लिपि में लिखी जाती है। इसमें बारहवीं शताब्दी से साहित्य-रचना होने लगी थी। इसमें नरसी और अन्य कृष्ण भक्तों का रचा पुराना साहित्य है। नवयुग में यह गान्धी की प्रेरणा और कृतियों से पुष्ट हुई है। इसका वर्तमान साहित्य उन्नतिशील है।

पूर्वी पंजाबी—यह अमृतसर और उसके आसपास के भूभाग में बोली जाती है। यह 'टक्क' अपभ्रंश से विकसित हुई है। इसकी लिपि गुरुमुखी

है। इसमें पहले सिक्खों का धार्मिक साहित्य था तथा कुछ लोक-गीत थे। पीछे कुछ आधुनिक साहित्य भी रचा गया। इस पर पहले फारसी का अधिक प्रभाव था। इधर यह संस्कृत से भी सम्पर्क स्थापित करने लगी है। इधर कुछ दिनों से इसका प्रसार अधिक हो रहा है और भाषाओं के नये आधार पर बने नये पंजाब प्रदेश के लिए यह हिन्दी के साथ प्रादेशिक भाषा स्वीकृत हो गयी है। इससे इसकी उन्नति की सम्भावना अधिक बढ़ गयी है। इसकी कई उपभाषाएँ हैं। इनमें डोगरी काँगड़ा तथा जम्मू में प्रचलित है।

उड़िया—इस भाषा का क्षेत्र उड़ीसा अथवा उत्कल प्रदेश है। यह मागधी से विकसित हुई। इस पर बँगला का बहुत प्रभाव है। इसके क्षेत्र पर मुसलमानों के अतिरिक्त तैलंगों और मराठों ने बहुत समय तक राज्य किया था। इससे उड़िया में फारसी, तेलुगु और मराठी के बहुत से शब्द चलते हैं। छत्तीसगढ़ी के क्षेत्र के सम्पर्क से इसमें बहुत से शब्द और क्रियापद अवधी से भी मिलते-जुलते हैं। बँगला में भी पूर्वी अवधी के बहुत शब्द प्रयुक्त होते हैं, किन्तु उड़िया में उससे कहीं अधिक ऐसे शब्द भी चलते हैं जो बाँदा के पूर्वी भाग तक बोले जाते हैं। संस्कृत इसकी भी प्रेरक है और यह उससे भी शब्द ग्रहण करती है। इसमें तेरहवीं शताब्दी से रचना होने लगी थी। पुराना साहित्य अधिकतर कृष्ण की भक्ति विषयक है। आधुनिक काल में इसके साहित्य की उन्नति वेग से हो रही है।

बँगला—इस भाषा का क्षेत्र पश्चिमी बंगाल और असम का कुछ भाग है। पूर्वी पाकिस्तान की भी यही भाषा है। यद्यपि नगरों और गाँवों में तथा पूरब और पश्चिम में बोली जा रही भाषा तथा उच्चारण में बहुत ही अन्तर है, फिर भी साहित्य की भाषा सर्वत्र समान है। इसकी लिपि देवनागरी का ही रूपान्तर है। इसमें संस्कृत शब्दों की प्रचुरता है। प्राचीन काल में इसमें भी अन्य भारतीय भाषाओं के सदृश धार्मिक साहित्य अधिक था, किन्तु आधुनिक काल में यह अन्य भाषाओं से कहीं पहले अंगरेजी से प्रभावित हुई। फलतः इसमें अनेक श्रेष्ठ कवि और लेखक हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं से इसे आधुनिक युग के ज्ञान और साहित्य से समृद्ध किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, वंकिमचन्द्र चटर्जी, शरत् चन्द्र चट्टोपाध्याय आदि ने आजकल की अन्य भारतीय भाषाओं के नवीन साहित्य को प्रभावित किया।

असमिया—यह असम राज्य की भाषा है। इस पर बँगला ने बहुत प्रभाव डाला है। यह कुछ परिवर्तित बँगला लिपि में ही लिखी जाती है।

इसमें पुराने साहित्य का अभाव नहीं है। इस प्राचीन साहित्य की एक विशेषता है। इसमें ऐतिहासिक विषयों में भी ग्रन्थ लिखे गये हैं।

मराठी—महाराष्ट्री अपभ्रंश से विकसित यह भाषा बम्बई के पूना मण्डल के चतुर्दिक्, हैदराबाद के मराठवाड़ा, एवं मध्यप्रदेश के बरार तथा नागपुर के आसपास के क्षेत्र में बोली जाती है। अब यह सारा क्षेत्र भाषा के आधार पर बने नये बम्बई राज्य के अन्तर्गत हो गया है। इससे मराठी के विकास को प्रोत्साहन मिलने की सम्भावनाएँ बढ़ गयी हैं। यह देवनगरी लिपि में लिखी जाती है। नित्य के प्रयोग में गोंडी लिपि आती है। यह पुराने समय की धार्मिक रचनाओं से सम्पन्न है। इसका आधुनिक साहित्य भी बहुत उन्नत है।

हिन्दी तथा उसकी बोलियाँ

ऊपर उल्लिखित कन्नड, मलयालम, तमिळ, उड़िया, बँगला, असमिया, कश्मीरी, पूर्वी पंजाबी तथा गुजराती एवं मराठी भाषाओं के राज्यों के बीच जो विस्तृत क्षेत्र है उसकी भाषा है हिन्दी। नवगठित पंजाब के दक्षिणांश के अतिरिक्त हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, मध्यभारत, उत्तर प्रदेश और बिहार में जो विविध बोलियाँ प्रचलित हैं वे सब हिन्दी के अन्तर्गत हैं। भले ही उनमें कुछ को भाषाशास्त्र के पण्डित हिन्दी की जन्मदात्री अपभ्रंशों से भिन्न अपभ्रंशों से विकसित मानते हों, किन्तु इस समस्त विशाल भूखण्ड के सामान्य व्यवहार, शिक्षण तथा समाचार-पत्रों आदि में नागरी हिन्दी (खड़ीबोली) का प्रायः सर्वमान्य रूप ही चल रहा है। हाँ, बोलचाल में अवश्य ही प्रदेश-भेद से हिन्दी के विविध रूपों का चलन है और उन प्रादेशिक रूपों में लोकगीत तो सभी में मिलते हैं। कुछ में पुराना और नया साहित्य भी उपलब्ध है। इस हिन्दी के अन्तर्गत पहाड़ी, राजस्थानी, नागरी वा खड़ीबोली, व्रज, बुन्देलखण्डी, कोसली (अवधी), बघेलखण्डी, छत्तीसगढ़ी और बिहारी का समावेश है। उर्दू वास्तव में भाषातत्त्व की दृष्टि से नागरी हिन्दी की ही शैली विशेष है, जिसमें फारसी-अरबी के शब्दों की अधिकता एवं अरबी की कुछ विभक्तियों तथा प्रत्ययों को अंगीकार करने की प्रवृत्ति है, परन्तु उसके समर्थक प्रधानतया राजनीतिक कारणों से प्रेरित हो कर धर्म विशेष के साथ उसका तथाकथित नाता जोड़ कर उसे नागरी हिन्दी से अलग बनाने और मानने को कटिबद्ध हो गये। इस हठ ने देश के विभाजन के आन्दोलन में सहायता पहुँचायी थी और इसी के कारण संविधान में उर्दू का अलग अस्तित्व स्वीकार किया गया। अन्य भाषाओं के समान

वह किसी क्षेत्र की भाषा नहीं है, किन्तु विशेषकर उत्तर-भारत के मुसलमानों और कुछ हिन्दुओं के काम-काज, लिखने-पढ़ने और समाचार-पत्रों आदि की भाषा है। सन् १६५१ की गणना में उर्दू को अपनी भाषा कहने वालों की संख्या १,०३,५२,४३६ थी। हिन्दी (जिसके अन्तर्गत हिन्दुस्तानी भी है) को १३,६२,३६,०७६ व्यक्तियों ने अपनी भाषा कहा था तथा १,७७,८४७ ने ब्रजभाषा, ४,२१,६८८ ने नेपाली, ४,८४,२६१ ने गढ़वाली, ५,७१,४०१ ने कुमाऊँनी, ६,४५,००१ ने राजस्थानी, ४५,१४,७३१ ने मारवाड़ी, २०,१४,८७४ ने मेवाड़ी, १५,८८,०६६ ने ढूँढाड़ी या जयपुरी, ४,६३,१६१ ने अजमेरी, १,११,०८३ ने मेवाती ८,१५,८५६ ने हाड़ौती, ६,२६,०२६ ने बागड़ी, ८,८६,८६५ ने मालवी तथा १,००,००० के लगभग ने बिहारी को स्व-भाषा माना था। ये हिन्दी की उपभाषाएँ एवं उसके प्रभाव-क्षेत्र की बोलियाँ हैं। अतः हिन्दी सब मिला कर १५ करोड़ २६ लाख के लगभग व्यक्तियों की भाषा है। इस प्रकार भारत के १०० में प्रायः ४३ व्यक्ति हिन्दी-भाषी हैं।

ऊपर निर्दिष्ट हिन्दी की बोलियों के कई परिवार हैं, जो उनकी मूल अपभ्रंशों के आधार पर निर्धारित किये जा सकते हैं।

राजस्थानी[1]—इस समय प्रायः सारे राजस्थान और मध्यभारत के मालवा क्षेत्र की विविध बोलियाँ राजस्थानी के अन्तर्गत हैं। कुछ विद्वान् राजस्थानी का मूल नागर अपभ्रंश में, कुछ सौराष्ट्री में, कुछ मध्यदेशीय शौरसेनी में और अन्य गुर्जर अपभ्रंश में खोजते हैं। इसकी कई उपभाषाएँ हैं। इनमें मुख्य हैं—मारवाड़ी, ढूँढाड़ी, मालवी, मेवाती और बागड़ी। इनमें प्रत्येक के बोलने वालों की संख्या ऊपर दी जा चुकी है।

मारवाड़ी—यह पश्चिमी राजस्थानी है। वर्तमान राजस्थान के जोधपुर और बीकानेर डिवीजन तथा अजमेर, किशनगढ़, पालनपुर तथा जयपुर के कुछ भागों के अतिरिक्त पंजाब के दक्षिण तथा पाकिस्तान के अन्तर्गत सिन्ध के कुछ खण्ड में बोली जाती है। इसका शुद्ध रूप जोधपुर के समीपवर्ती प्रदेश में मिलता है। इसमें प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द अधिक प्रयुक्त होते हैं परन्तु संस्कृत के शब्द भी लिये जाते हैं। इसमें ओज गुण की प्रधानता है। इसकी एक बोली मेवाड़ी है जो मेवाड़ में बोलचाल के काम आती है। मारवाड़ी और मेवाड़ी दोनों में अनेक काव्यों की रचना हुई है। इस काव्य-भाषा को डिंगल कहा जाता है। डिंगल की विशेष समृद्धि राजस्थान की चारण,

---

१. मेनारिया कृत 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' के आधार पर।

भाट, राव, मोतीसर और ढाढी जातियों के द्वारा हुई। इसमें राजपूतों की वीरता, त्याग और उनके प्रेम के आख्यान बड़े ही ओजस्वी और उमंग से पूर्ण ढंग से वर्णित हैं और पन्द्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के सङ्घर्षमय जीवन की झाँकी देखी जाती है। चरित्रनायक के नाम के साथ रासौ, प्रकास, विलास, रूपक और वचनिका को युक्त कर के काव्यों की रचना हुई है। यथा, रायमल रासौ, राजप्रकास, जगविलास, राजरूपक, अचलदास खीची री वचनिका। कुछ काव्यों के नामों में उन छन्दों का योग कर दिया जाता था जिनमें उनकी रचना होती थी। यथा, राव खंगार री नीसानी, अमरसिंह रा झूलणा, वेलि क्रिसण रुकमिणी री, ढोलामारू रा दूहा, महाराज अभैसिंघ रा कवित्त। किसी घटना को ले कर रची फुटकल 'साख री कविता' (=साक्षी की कविता) विविध छन्दों में लिखी जाती थी। डिंगल में गद्य में भी रचनाएँ हुई हैं। ख्यात, वात, विगत, पीढ़ी और वंशावली का योग दे कर इन ग्रन्थों का नाम रखा जाता था। जैसे, मुँहणोत नैणसी री ख्यात, राणै उदैसिंघ री वात, गढ़ कोटाँ री विगत, चंद्रावताँ री पीढ़ियाँ, राठौडाँ री वंशावली।

डिंगल की कविता में वीर रस की प्रमुखता है। वीरों के युद्ध, दान, धर्म एवं दया सम्बन्धी शौर्य का जीता-जागता वर्णन मिलता है। ये कवि बहुधा स्वयं भी युद्ध करने जाया करते थे। इसी से इनके वर्णन प्रायः आँखों देखे होने से सजीव होते थे। उनमें बहुधा अतिशयोक्तिपूर्ण उद्‌गार भी व्यक्त होते थे। इन कवियों ने शृङ्गार का भी आकर्षक रूप से चित्रण किया है। साथ ही अलंकृत रचना करने की भी चेष्टा की।

ढूँढाड़ी (जयपुरी)—राजस्थान के पूर्वाञ्चल अर्थात् शेखावाटी क्षेत्र के अतिरिक्त शेष जयपुर, किशनगढ-टोंक के अधिकांश एवं अजमेर के उत्तर-पूर्व के भाग में बोली जाती है। इस पर गुजराती, मारवाड़ी और ब्रज भाषाओं का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसमें गद्य एवं पद्य दोनों में रचा प्रचुर साहित्य मिलता है। सन्त कवि दादूदयाल और उनके अनुयायियों की वाणियाँ इसी भाषा में हैं। कोटा-बूँदी में प्रचलित हाड़ौती इसी भाषा की बहन है। इसमें उससे उच्चारण की रीति में कुछ अन्तर है और कुछ ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनका मूल संस्कृत, फारसी आदि में नहीं मिलता। सम्भवतः वे किसी ऐसी विदेशी जाति या जातियों के द्वारा लाये गये हैं जो यहाँ बस कर यहीं के लोगों में घुल-मिल गयी होंगी।

मालवी—यह दक्षिणी राजस्थानी नव-निर्मित मध्यप्रदेश के भीतर मालवा और निकटवर्ती क्षेत्र के अतिरिक्त मेवाड़ के कुछ भागों की बोली है।

इस पर मारवाड़ी और ढूँढाड़ी के साथ मराठी का भी प्रभाव दिखलायी पड़ता है। सुनने में मीठी और कोमल इस भाषा में कुछ साहित्य मिलता है। चन्द्र-सखी, नटनागर आदि ने अपनी कृतियों में इसका प्रयोग किया है।

मेवाती—यह उत्तरी राजस्थानी है और जयपुर डिवीजन के अलवर-भरतपुर जिलों के उत्तर-पच्छिम और दिल्ली के दक्खिन गुड़गाँव में प्रचलित है। यह व्रजभाषा से प्रभावित हुई है। इसमें कुछ साहित्य रचना भी हुई है, जिसमें चरणदास और उनकी दयाबाई और सहजोबाई नाम की शिष्याओं की कविताएँ प्रमुख हैं।

बागड़ी—यह उदयपुर डिवीजन के डूँगरपुर और बाँसवाड़ा जिलों में बोलचाल की भाषा है। इसका साहित्य अभी प्रकाश में नहीं आया।

उपर्युक्त उत्तरी, पूर्वी और दक्षिणी क्षेत्रों की राजस्थानी में बहुत कम रचनाएँ हुई हैं। आजकल ये केवल बोलचाल के काम आती हैं। पश्चिमी राजस्थानी में पुराना साहित्य प्रचुर परिमाण में है। वह अब तक पूर्णतया प्रकाशित भी नहीं हो सका। आधुनिक समय में भी इसमें कविता और नाटक की रचना करने का कुछ प्रयास हुआ है। परन्तु आजकल राजस्थान में शिष्ट व्यवहार, राजकाज, समाचार-पत्र आदि के साथ ही लेखकों और कवियों के द्वारा साहित्य के विविध क्षेत्रों में रचना कार्य भी नागरी हिन्दी (खड़ीबोली) के माध्यम से ही सम्पन्न हो रहा है और वही वहाँ के कामकाज, शिक्षण, विचार तथा विमर्श के लिए प्रयुक्त होती है।

बिहारी—समस्त बिहार और उत्तर प्रदेश के बनारस, गाजीपुर, बलिया, (किराकत तहसील को छोड़ शेष) जौनपुर, गोरखपुर, देवरिया, आजमगढ़ तथा (हरैया तहसील के अतिरिक्त शेष) बस्ती जिला इस नाम से सूचित भाषा-समूह का क्षेत्र है। इसका विकास मागधी अपभ्रंश से हुआ। इस सूत्र से बिहारी बोलियाँ बँगला, असमिया और उड़िया के गोत्र की हैं। परन्तु राजनीतिक एवं अन्य कारणों से बिहार के निवासियों ने इनको छोड़ हिन्दी से नाता जोड़ लिया है जिसकी उत्पत्ति शौरसेनी और अर्द्धमागधी अपभ्रंश से हुई है। इसकी तीन बोलियाँ हैं—मैथिली मगही तथा भोजपुरी।

मैथिली बिहार के गंगा के उत्तर के चंपारन और सारन को छोड़ शेष क्षेत्र में बोली जाती है। दरभंगा जिला इसका केन्द्र है। यह जिस लिपि में लिखी जाती है वह भी मैथिली कहलाती है और बँगला लिपि के सदृश है। इसमें पुराना साहित्य भी है और इधर भी रचना हो रही है।

भोजपुरी—बिहार के चंपारन, सारन, छोटा नागपुर (झाड़खंड) तथा

उत्तरप्रदेश में बनारस और गोरखपुर डिवीजन के उपर्युक्त जिलों के बीच के क्षेत्र में बोली जाती है। इसमें कबीर की थोड़ी सी रचनाओं के अतिरिक्त लोकगीत एवं आधुनिक काल की भी कुछ कृतियाँ मिलती हैं। इधर कुछ समय से जैसे मैथिली के उन्नायक उसको समृद्ध करने के लिए सचेष्ट हो रहे हैं वैसे ही इसके भी।

मगही बोली बिहार में गंगा के दक्षिण शाहाबाद को छोड़ शेष क्षेत्र में प्रचलित है। यह मागधी की उत्तराधिकारिणी है। इसमें साहित्य का अभाव है। यह केवल बोलचाल तक सीमाबद्ध है।

सन् १९५१ की गणना में केवल एक लाख व्यक्तियों ने बिहारी बोलियों को अपनी भाषा कहा था और कोई बतीस लाख ने हिन्दी को ही अपनी भाषा स्वीकार किया था। समस्त बिहार में नागरी हिन्दी के माध्यम से ही शिक्षा दी जाती है, समाचार-पत्र प्रकाशित होते हैं, राज्य कार्य चलता है एवं कवियों तथा लेखकों के द्वारा अपने भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति होती है।

पहाड़ी—हिमालय की तराई में नेपाल से शिमला तक के समस्त भू-भाग में बोली जाती है। इसके तीन वर्ग हैं—पूर्वी, मध्यवर्ती और पश्चिमी।

पूर्वी पहाड़ी—भारत गणराज्य से बाहर नेपाल के स्वतन्त्र राज्य की भाषा है। इसे नेपाली, पर्वतिया, गोरखाली या खस-खुरा वा खस भाषा कहा जाता है। यह देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। नेपाल की राजभाषा होने से इसकी श्रीवृद्धि हो रही है और इसके साहित्य को सम्पन्न बनाया जा रहा है। इसको पुस्तकों, समाचार-पत्रों एवं शिक्षण-संस्थाओं का सहारा मिल रहा है।

मध्यवर्ती पहाड़ी—उत्तर प्रदेश के उत्तराखण्ड के अलमोड़ा, नैनीताल, गढवाल और टेहरी गढवाल की बोलियाँ हैं। यह देवनागरी में लिखी जाती है। आधुनिक युग में इन बोलियों में गद्य एवं पद्य में कुछ रचनाएँ हुई हैं। कुछ ग्रामगीत भी मिलते हैं।

पश्चिमी पहाड़ी—यह उत्तर प्रदेश के जौनसार भाँवर से हिमाचल प्रदेश, मंडी, चंबा और कश्मीर के भद्रवाह तक के सारे क्षेत्र की भाषा है। इसकी कई बोलियाँ हैं—पाडरी, भद्रवाही, चमेआली, गादी, कुलूई, मंडेआली, क्युणठाली, सतलजी, बघाटी, सिरमौरी तथा जौनसारी। यह टक्करी लिपि में लिखी जाती है। इसमें ग्रामगीत ही मिलते हैं, साहित्यिक रचनाओं का अभाव है। पूर्वकाल में मध्यवर्ती एवं पश्चिमी पहाड़ी के प्रदेश को तत्कालीन राजपूताना के राजपूतों, और गूजरों ने जीता था और वे लोग वहीं बस गये थे। इससे इन क्षेत्रों की भाषाओं पर राजस्थानी भाषा का प्रभाव देखा जाता है।

मध्यवर्ती पहाड़ी पर ढूँढाड़ी का[1] और पश्चिमी पहाड़ी पर मारवाड़ी का अधिक प्रभाव है। पहाड़ी भाषा वास्तव में ही नित्य प्रति के उपयोग में ही आती है, कहीं कहीं कुछ लोग इनमें साहित्य-निर्माण का भी यत्न करते हैं, किन्तु इसके बोलने वाले ज्ञानार्जन तथा भाव-प्रकाशन के लिए नागरी हिन्दी का ही व्यवहार करते हैं।

पूर्वी हिन्दी—इसे कोसली भी कहते हैं। यह उत्तर प्रदेश के अवध अथवा कोसल से ले कर आधुनिक मध्यप्रदेश के बघेलखण्ड, महाकोशल तथा छत्तीसगढ़ तक बोली जाती है। इसकी उत्पत्ति अर्द्धमागधी प्राकृत और अपभ्रंश से मानी जाती है। इस पर पश्चिमी हिन्दी के साथ ही भोजपुरी का प्रभाव प्रत्यक्ष है। इसकी तीन उपभाषाएँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवध के दक्षिण-पश्चिम प्रदेश—रायबरेली, उन्नाव आदि की अवधी को बैसवाड़ी कहा जाता है। इसे लिखने में कभी कभी कैथी लिपि काम में लायी जाती है, किन्तु अधिकतर देवनागरी ही प्रयुक्त होती है। अवधी बोली का प्रयोग उत्तर प्रदेश के लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फैजाबाद, गोंड़ा, बहराइच, सुलतानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी, इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर, मिर्जापुर, बाँदा के पूर्वी खण्ड, और जौनपुर में होता है। बघेली अवधी के क्षेत्र के दक्षिण नव-निर्मित मध्यप्रदेश के रीवाँ से जबलपुर और मंडला तक के प्रदेश में चलती है। छत्तीसगढ़ी मध्यप्रदेश के रायपुर, बिलासपुर, सरगुजा और रायगढ़ जिलों में व्यवहृत होती है। बघेली और छत्तीसगढ़ी मौखिक प्रयोग तक ही रह गयीं, उनमें साहित्य-सर्जना करने का प्रयास नहीं हुआ। अवधी में अवश्य कविता हुई प्रचुर एवं उत्कृष्ट। वह काव्यगत सौष्ठव, लोक-व्यापकता तथा जनसाधारण पर प्रभाव सभी दृष्टियों से अत्यन्त प्रतिष्ठित हुई। अनेक सूफी कवियों ने उसको ही अपने सिद्धान्तों और आदर्शों के प्रचार का साधन बनाया और रहस्यात्मक प्रेमकथाएँ रचीं। कुतबन की मृगावती, मंझन की मधुमालती, जायसी की पदमावत, उसमान की चित्रावली, नूरमुहम्मद की इन्द्रावती और अनुराग बाँसुरी के अतिरिक्त अनेक सूफ़ी फकीरों ने ये आख्यान काव्य लिखे। यह परम्परा वर्तमान युग तक चलती रही। उन्नीसवीं शताब्दी में निसार ने यूसुफजुलेखा और भूपनारायण ने कथा चारदरवेश तथा बीसवीं शताब्दी में ख्वाजा अहमद ने नूरजहाँ तथा मुहम्मद नसीर ने चित्रमुकुट की कथा तथा प्रेमदर्पण वा यूसुफजुलेखा की रचना अवधी में की। ईश्वरदास की सत्यवती कथा में अयोध्या के समीपवर्ती क्षेत्र के व्यवहार की अवधी का प्रयोग हुआ। परन्तु इस भाषा का शृङ्गार है तुलसी का

रामचरितमानस। उनके जानकी मंगल, पार्वती मंगल, रामलला नहछू, बरवै रामायण आदि अन्य काव्य भी अवधी में ही रचे गये। कुछ समय तक अवधी की यह काव्य-धारा सूख सी गई, किन्तु नवयुग के उत्थान के साथ इसमें 'कृष्णायन' एवं गांधी-चरित-मानस जैसे महाकाव्यों की सृष्टि हुई और चन्द्रभूषण त्रिवेदी (रमई काका), वागीश शास्त्री, वंशीधर शुक्ल आदि वर्ण्यवस्तु का चित्र प्रस्तुत करने में कुशल कवि प्रवाहपूर्ण रचना कर रहे हैं। लखनऊ-इलाहाबाद रेडियो के देहाती और महिलाओं के कार्य-क्रमों के अन्तर्गत इसके लोकगीतों और नये कवियों के रचे गीतों कविताओं आदि का प्रसार होता है।

पश्चिमी हिन्दी—पूर्वकाल में जो मध्यदेश कहा जाता था और जहाँ शौरसेनी प्राकृत एवं अपभ्रंश बोली जाती थी वही पश्चिमी हिन्दी का मूल क्षेत्र है। अन्य प्राकृतों तथा अपभ्रंशों की अपेक्षा यह प्राकृत और अपभ्रंश संस्कृत से बहुत कम अलग हुई थी। इससे पश्चिमी हिन्दी में हिन्दी की अन्य बोलियों से कहीं अधिक संस्कृत को अपनाने और उसके प्रभाव को ग्रहण करने की प्रवृत्ति है और यह उसकी प्रकृति है। पश्चिम में अंबाला, पटियाला, मथुरा और ग्वालियर से पूर्व में कानपुर के कुछ आगे तक तथा दक्षिण में सागर, नृसिंहपुर, होशंगाबाद और सिउनी तक बोली जा रही बोलियाँ इसी परिवार की हैं। इसकी पाँच उपभाषाएँ हैं—नागरी हिन्दी (खड़ी बोली या सिरहिन्दी) बाँगरू, व्रजभाषा, कनौजी और बुंदेली।

नागरी हिन्दी—यह दिल्ली, मेरठ, मुजफ्फरनगर के आसपास के क्षेत्र, पश्चिमी रुहेलखण्ड (बरेली डिवीजन) तथा अंबाला एवं पटियाला के पूर्वी भाग की बोली है। यही आधुनिक युग में हिन्दी भाषा-भाषी समस्त क्षेत्र के शिक्षण, साहित्य-निर्माण और परस्पर के व्यवहार की भाषा है। इसी के माध्यम से अपनी अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार इसमें थोड़ा-बहुत हेर-फेर काँट-छाँट और बिगाड़ कर समस्त देश में अतीत काल से अन्तर्देशीय कार्य और व्यवहार का सम्पादन होता आ रहा है। अब यही भारत गणराज्य की राष्ट्रभाषा स्वीकृत हुई है। नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) के तीन रूप प्रचलित हैं। एक वह जिसमें विचार तथा भाव के प्रकाशन के लिए आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत से शब्द ग्रहण करने में सङ्कोच नहीं किया जाता। इसे ही खड़ी बोली, नागरी हिन्दी अथवा हिन्दी कहा जाता है। इसी को पुराने समय में हिन्दुई, हिन्दवी अथवा हिन्द्वी कहा जाता था। यह समझना भूल है कि यह केवल हिन्दुओं की भाषा थी। वस्तुतः यह सभी

भले लोगों की बोली थी, जिनमें हिन्दू और मुसलमानों का भेद वैसे ही न था जैसे अवधी भोजपुरी आदि प्रान्तीय बोलियाँ बोलने वाले उनको व्यवहार करने में अपने धर्म को बाधक नहीं होने देते।

जब भाषा का ढाँचा तो इसके ही आश्रित रहता है किन्तु संस्कृत की ओर से मुँह फेर कर उसमें फारसी-अरबी के शब्दों की ही नहीं, अपितु प्रत्यय, उपसर्ग आदि की भी भरमार हो जाती है तब उसको उर्दू कहते हैं। उर्दू की व्युत्पत्ति तुर्की शब्द उर्दू (पड़ाव या शिविर) से की जाती है। मुगलों के आने पर दिल्ली के राजभवन को उर्दूए मुअल्ला (महान् शिविर) कहते थे। वहाँ उर्दू (शिविर या राजभवन) में जो विदेशी तुर्की एवं फारसी आदि से मिली-जुली स्थानीय बोली प्रचलित हुई उसे ही उर्दुए मुअल्ला वा उर्दू कहा जाने लगा। इससे स्पष्ट है कि आरम्भ में यह दिल्ली के शाही परिवार तथा उसके आसपास के लोगों की भाषा थी, और उर्दू (बाजार) में चलने वाली जन साधारण की न थी जैसा कुछ लोग कहते आ रहे हैं। मुहम्मद हुसेन आजाद ने 'आबेहयात' में लिखा है कि यह 'जबान ब्रजभाखा से निकली है'। ग्राहम बेली इसकी उत्पत्ति पंजाब (लाहौर) में मानते हैं। वहाँ मुसलमानों की फौज (उर्दू) में इसका चलन हुआ इससे यह उर्दू कहलायी। ब्रजमोहन दत्तात्रय कैफी शौरसेनी प्राकृत में विदेशी शब्दों के मेल से बनी भाषा से उर्दू का उद्भव मानते हैं। परन्तु 'दरियाए लताफत' में सैयद इंशाअल्ला (१८०८ ई०) की यह सम्मति अधिक मान्य प्रतीत होती है कि शाहजहानाबाद (दिल्ली) में विशिष्ट लोगों ने कुछ भाषाओं के अच्छे अच्छे शब्द ले कर, कुछ में हेर फेर करके उनके मेल से यह नयी भाषा उत्पन्न की। उनका यह भी वक्तव्य है कि उर्दू "हिन्दोस्तान के बादशाह की और चंद अमीरों और उनके मुसाहिबों और चंद महिलाओं, जैसे बेगम व खानम की और कसबियों की जबान है।" इस प्रकार दिल्ली में उपजी उर्दू मुसलमान बादशाहों, नवाबों और अमीरों की छत्रच्छाया में फली-फूली। आरंभ में उत्तर और दक्षिण भारत के मुसलमानों ने भी इस देश में प्रचलित काव्य भाषाओं को अपनाया। उन्होंने नागरी (खड़ी बोली), ब्रज और अवधी में कविता की। उन्होंने अधिकतर खड़ी बोली को अपनाया, उसके सरल, सरस और प्रचलित शब्दों को ग्रहण किया। उसे रेख्ता कहते। दक्खिनी भारत में इसी का रूप 'दक्खिनी' की आरम्भकालीन रचनाओं में मिलता है। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में कुछ कारणों से दिल्ली के मुसलमानों ने अपनी भाषा से विशुद्ध हिन्दी और संस्कृत के शब्दों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर निकाल बाहर करना आरम्भ किया। उनकी साहित्य-गोष्ठियाँ (अंजुमनें) उर्दू के लिए अनुपयुक्त भारतीय

शब्दों की सूचियाँ बना-बना कर उन स्थानों के उर्दू के पोषकों और कवियों के पास भेजने लगीं जहाँ उसके केन्द्र थे। साथ ही वे उनके स्थान पर चलने योग्य फारसी-अरबी के शब्दों की सूचियाँ भी भेजतीं। इस प्रकार पश्चिम में पेशावर, लाहौर और कश्मीर से पूर्व में ढाका तक सर्वत्र सम्भ्रान्त मुसलमानों में उर्दू की यह शैली प्रतिष्ठित हो गयी। आगे हैदराबाद भी उर्दू के निर्माण और प्रसार का गढ़ बना। वहाँ की प्रारम्भकालीन दक्खिनी ने भी अपना भेस बदल लिया। फारसी की परम्परा में पले कश्मीरी ब्राह्मणों और उत्तर भारत के कुछ हिन्दुओं ने, विशेषकर कायस्थों ने, इसी फारसी-अरबी से प्रभावित उर्दू में गद्य एवं पद्य लिखना आरम्भ किया। उर्दू साहित्य में गद्य के विविध विषयों और कविता की अनेक प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। व्यवहार के निकट की उर्दू में मुहावरों के प्रयोग से बड़ी सजीव भाषा और प्रभावशाली शैली का विकास हो चुका है। उर्दू की प्रवृत्ति भारत की पुरातन परम्परा के बाहर से प्रेरणा ग्रहण करने की है। इसकी लिपि फारसी है। इसमें कुछ ऐसे वर्ण भी बना लिये गये हैं जिनकी आवश्यकता देशी ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए पड़ती है। इस लिपि का सम्बन्ध भारत की आधुनिक आर्यभाषाओं में चल रही किसी भी लिपि से नहीं है। इसे अधिकतर पञ्जाब और उत्तर भारत के नागरिक मुसलमान व्यवहार करते हैं और कुछ हिन्दू भी। यद्यपि मुसलमानों के धर्म के ग्रन्थ मूलतः अरबी में हैं फिर भी राजनीतिक कारणों से उन्होंने उर्दू से अपने धर्म और सांस्कृतिक जीवन का नाता जोड़ लिया है। हिन्दी से अलगाव के इन कारणों से उर्दू को वे नितान्त अलग भाषा मानते और प्रायः हिन्दी का विरोध भी करते हैं। देश के विभाजन के कुछ काल पहले तो उर्दू-हिन्दी के इस विरोध ने बड़ा ही दूषित वातावरण बना दिया था। देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा मान लिये जाने के बाद भी कहीं-कहीं उर्दू के समर्थक उसके उन्नयन के नाम पर प्रच्छन्न रूप से हिन्दी को अभीष्ट रूप में नहीं देखते।

नागरी हिन्दी का तीसरा रूप हिन्दुस्तानी कहलाता है। यह नागरी हिन्दी और उर्दू का मिश्रित रूप है। उत्तर भारत के सामान्य काम-काज और परस्पर के वार्तालाप में बहुधा ऐसी भाषा चलती है जो न संस्कृतनिष्ठ होती है और न फारसी-अरबी से बोझिल। उसमें ठेठ देशी शब्दों की अधिकता रहती है और प्रादेशिक शब्दों का भी बहिष्कार नहीं रहता। इस भाषा के अतिरिक्त हिन्दुस्तानी वह भी है जिसका प्रयोग हिन्दी के क्षेत्र के बाहर के भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलने वाले एक-दूसरे से अथवा हिन्दी वालों से व्यवहार करते समय

करते हैं और जिसमें बहुधा लिङ्ग वचन आदि के व्याकरण सम्बन्धी दोष रहते हैं। हिन्दुस्तानी का एक रूप और भी है। उसको चलाने की चेष्टा राजनीतिक कारणों से हुई थी। अँगरेजों से स्वराज्य लेने में हिन्दू-मुसलमान की एकता आवश्यक थी। इसमें अन्य बातों के साथ भाषा सम्बन्धी झगड़ा भी बाधक हो रहा था। इसे निबटाने का उपाय सोचा गया। देश की राष्ट्र-भाषा का हिन्दी नाम मुसलमानों को प्रिय न था और उर्दू नाम हिन्दुओं को। कांग्रेस ने गान्धी की प्रेरणा से उसे 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' नाम दिया। देवनागरी और फारसी दोनों लिपियों के द्वारा कांग्रेस के निर्णय आदेश आदि का प्रचार किया जाता। इस हिन्दी-हिन्दुस्तानी का रुझान अधिकतर उर्दू की ओर था। इसका चलन अधिक न हो पाया। इस नाम को ग्रहण करने में लोगों को बड़ी आपत्ति थी। हिन्दुस्तानी नाम से उन दिनों जो भाषा रेडियो के द्वारा प्रचार में लायी जा रही थी वह थी शुद्ध उर्दू, फारसी-अरबी से लदी भाषा। अँगरेज अधिकारी और विद्वान् ही नहीं, कुछ उर्दू के जाने-माने लेखक और प्रचारक भी इसी प्रकार की भाषा को हिन्दुस्तानी कहने लगे थे। अतः हिन्दी-हिन्दुस्तानी अथवा हिन्दुस्तानी को उर्दू समझने से लोग भड़क उठे। आगे चल कर किसी भी युक्ति से देश का बटवारा न रोका जा सका। तब बहुत संघर्ष के बाद देश के संविधान में देवनागरी में लिखी हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लिया गया। फिर तो इस खिचड़ी भाषा का नाम भी न चल सका। हिन्दी के पुराने विरोधी इस नयी स्थिति में भी इसको चलाने के लिए कभी-कभी सिर उठाते दिखलायी पड़ जाते हैं, परन्तु इसका चलना सम्भव नहीं जान पड़ता। हिन्दुस्तानी में कुछ साहित्य के निर्माण की भी चेष्टा हुई थी।

इसी नागरी हिन्दी का अन्य प्रकार है दक्खिनी। ईसा की चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में अलाउद्दीन के हिन्दू से मुसलमान बने सरदार मलिक काफूर ने सर्वप्रथम दक्षिण को जीता था। तब से दिल्ली की सल्तनत से उसका सम्बन्ध जुड़ने लगा। दिल्ली से मुसलमान शासक, सैनिक, फकीर आदि दक्खिन गये और अपनी बोलचाल की भाषा साथ लेते गये। मुसलमान ही नहीं हिन्दू भी वहाँ गये। सन् १३५८ ई० में बहमनी राज्य की बागडोर मुहम्मद प्रथम के हाथ में आयी। उसने अपना सोने का सिक्का चलाया, जिसे वहाँ के सुनार गला देते और पड़ोसी राज्य विजयनगर के सिक्के चलाते। मुहम्मद ने सब सुनारों को मरवा दिया और उत्तर भारत के खत्रियों को ला बसाया। इस प्रकार इन खत्रियों की घरेलू दिल्ली के आसपास की बोली बहमनी राज्य में पहुँची। इसके दफ्तरों में हिन्दी चलती थी। इसको राज-भाषा का पद

मिला। बहमनी राज्य के खँडहरों पर बने बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों में भी दक्खिनी को प्रश्रय मिला। अठारहवीं शताब्दी में निज़ाम के हैदराबाद में स्थापित होने पर फिर दक्खिनी वहाँ की राजभाषा बनी, परन्तु काल-गति से तब तक यह उर्दू का जामा पहन चुकी थी। इस प्रकार उत्तर की हिन्दी दक्षिण पहुँच कर 'दक्खिनी' कही गयी। इसका साहित्य उर्दू लिपि के द्वारा पहले प्रकाश में आया। उर्दू में दक्षिण (दक्खिन) को दक्कन कहते हैं, इससे उर्दू वालों ने इस भाषा को दकनी कहना आरम्भ किया। अब तक की खोजों से पता चलता है कि दक्खिनी की सबसे पहली गद्य-रचना है ख्वाजा बन्दानवाज गेसूदराज मुहम्मद हुसेनी (१३१८–१४२२ ई०) की लिखी 'मराजुल आशिकीन'। इसकी प्राचीनता सन्दिग्ध है, किन्तु इसकी प्रति १५०० ई० में लिखी गयी थी। इससे यह उस समय के गद्य का उदाहरण तो है ही। दक्खिनी का पहला कवि निजामी बहमनी सुल्तान अहमद शाह तृतीय (१४६०–६२ ई०) का समकालीन है। इसने कदमराव वा पदम मसनवी की रचना की थी। बीजापुर के आदिलशाही और गोलकुंडा के कुतुबशाही वंशों के सुल्तान दक्खिनी के कवियों के पोषक ही न थे, वे स्वयं भी उसमें कविता करते थे। गोलकुंडा के सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुबशाह और सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह के अतिरिक्त शाह मीरांजी (मृत्यु १४९६ ई०) शाह बुरहानुद्दीन जानिम (मृत्यु १५८२ ई०), मुकीमी, सनाती, रुस्तमी, नसरती आदि कवि प्रसिद्ध हैं। मियाँ खूब मुहम्मद चिश्ती ने १५७५ ई० में 'खूबतरंग' लिखा और गोलकुण्डा के सुल्तान कुली कुतुबशाह की रचनाएँ तथा वहीं के मुल्ला वजही की रची 'कुतुब मुश्तरी' (१६०९ ई०) तथा 'सबरस' (१६३४ ई०) उल्लेखनीय हैं। आगे चल कर मुगल और आसफजाही शासन में भी दक्खिनी के कवियों को प्रोत्साहन मिला। पहले दक्खिनी सरल थी। उसमें संस्कृत शब्दों का बहुत प्रयोग होता था। उसमें हिन्दी के ही छन्दों का प्रयोग होता था। बाद में धीरे धीरे फारसी शब्दों ने संस्कृत शब्दों को हटाना आरम्भ कर दिया और फारसी छन्दों ने हिन्दी छन्दों को। तब दक्खिनी उत्तर भारत के उर्दू के आदर्श पर चलने लगी और देशी ढाँचा रूप और विचार त्याग कर विदेशी रंग में रँग गयी।

बाँगरू—इसको हरियानी या जाटू भी कहते हैं। यह बाँगर अर्थात् दक्षिण-पूर्वी पंजाब के हरियाना क्षेत्र में बोली जाती है, जिसके भीतर दिल्ली (नगर छोड़ कर), करनाल, रोहतक हिसार, पटियाला, नाभा और जींद का ग्रामीण भाग आता है। यह नागरी हिन्दी से बहुत मिलती-जुलती

है। इस पर पंजाबी तथा राजस्थानी का भी प्रभाव दिखलायी पड़ता है।

व्रजभाषा—पुराना शूरसेन प्रदेश और आधुनिक व्रजमण्डल मथुरा-वृन्दावन के इधर उधर चौरासी कोस तक धौलपुर आगरा अलीगढ़ और हाथरस तक फैला है। इसी क्षेत्र में व्रजभाषा बोली जाती है। दक्षिण-पश्चिम में आगरा, भरतपुर, धौलपुर, करौली, ग्वालियर के पश्चिमी भाग तथा जयपुर के पूर्वी भाग तक, उत्तर में गुड़गाँव के पूर्वी भाग तक तथा उत्तर-पूरब में बुलंदशहर, अलीगढ़, एटा मैनपुरी से बदायूँ, बरेली और नैनीताल की तराई तक के विस्तृत प्रदेश में थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ व्रजभाषा ही प्रचलित है। श्रीकृष्ण की उपासना का प्रचलन होने पर व्रजभाषा कृष्ण-भक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम हुई। फलतः उसमें असंख्य भक्त कवियों ने अपने उद्‌गार व्यक्त किये। आगे चल कर वह उन्नीसवीं शताब्दी तक काव्य की भाषा रही। उसने साहित्य पर अखण्ड राज्य किया। उसने राजस्थानी और गुजराती के पुराने साहित्य को ही प्रभावित नहीं किया, सुदूर बंगाल में 'व्रजबुलि' के रूप में प्रवेश किया, जिसमें कृष्णभक्ति सम्बन्धी कविता रची गयी। देशी या शास्त्रीय संगीत के द्वारा भी यह दूर दूर तक ऐसे क्षेत्रों में पहुँची जहाँ दूसरी बोलियाँ प्रचलित थीं। अनेक समर्थ कवियों के हाथ में पड़ कर व्रजभाषा की कोमल कान्त पदावली हिन्दी के सम्पूर्ण क्षेत्र में बहुत दिनों तक गूँजती रही। आज विविध कारणों से नागरी हिन्दी में साहित्य का प्रणयन होने से व्रजभाषा में केवल उसी के क्षेत्र के कुछ कवि रचना करते हैं। यहाँ तक कि ग्रियर्सन के भाषा पर्यवेक्षण के समय के ७६ लाख के लगभग व्रजभाषी लोगों में १६५१ की गणना में केवल १,७७,८४७ ने इसे अपनी भाषा बतलाया था। जान पड़ता है बिहारियों की भाँति अधिकांश व्रजभाषियों ने भी हिन्दी को ही अपनी भाषा कहना उचित समझा होगा।

कनौजी—यह फर्रुखाबाद और उसके उत्तर हरदोई, शाहजहाँपुर, पीलीभीत तथा दक्षिण इटावा तथा कानपुर के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। इसके सीमान्त क्षेत्रों में व्रज तथा बुन्देली का प्रभाव स्पष्ट है। इसमें साहित्य का निर्माण नहीं हुआ। इस क्षेत्र के निवासी कवियों ने मध्ययुग में अपने साहित्य के लिए व्रजभाषा का उपयोग किया और आधुनिक युग में वे भी अन्य भाषाओं के साहित्यकारों की भाँति नागरी हिन्दी का ही सहारा लेते हैं।

बुन्देली (बुन्देलखण्डी)—इसका भी कनौजी की भाँति व्रजभाषा से बहुत अधिक साम्य है। यह उत्तर प्रदेश के झाँसी, जालौन, हमीरपुर जिलों में तथा नवीन मध्य प्रदेश में सागर, दमोह, तथा भूपाल के पूर्वी भाग में एवं

नरसिंहपुर, हुशंगाबाद तथा सिउनी तक बोली जाती है। छिन्दवाड़ा की बोली में भी इसका मेल है। इसमें साहित्य-रचना का बहुत कम प्रयत्न हुआ है। इसके क्षेत्र के निवासी कवियों ने मध्यकाल में व्रजभाषा में ही कविता की थी। उसमें बुन्देली के कुछ शब्दों और उनके कुछ बुन्देली रूपों का प्रयोग मिलता है। वर्तमान युग में इस क्षेत्र के निवासी भी नागरी हिन्दी में ही रचना करते हैं।

साहित्यिक हिन्दी की भाषाओं का विकास

हिन्दी की विविध बोलियों के उक्त विवरण से प्रकट होगा कि उक्त बोलियों में राजस्थानी की मारवाड़ी बोली की डिंगल में तथा अवधी और व्रज में भी मध्यकाल के अनेक कवियों ने रचना की थी। इनमें राजस्थानी में तो गद्य में भी कुछ साहित्य रचना हुई, किन्तु अवधी और व्रज में बहुत ही कम गद्य की रचनाएँ मिलती हैं। आधुनिक युग में इन भाषाओं का प्रवाह एक प्रकार से बन्द हो गया। खड़ी बोली वा नागरी हिन्दी में मध्यकाल में अपेक्षाकृत बहुत कम साहित्य निर्मित हुआ, किन्तु आधुनिक युग में वह कविता के साथ ही गद्य में विविध प्रकार की रचनाओं से समृद्ध हुई और हो रही है। आगे साहित्य के इतिहास में इन्हीं भाषाओं में लिखी कृतियों के द्वारा सञ्चित लोक मानस की प्रवृत्तियों का परिचय दिया जायगा। अतएव इनके गठन के रूप और वैशिष्ट्य को समझना वांछनीय होगा। इनके सम्बन्ध में जो बातें ऊपर लिखी गयी हैं वे न दोहरायी जायँगी।

(राजस्थानी) डिंगल

मरुभाषा वा मारवाड़ी के साहित्य की भाषा का यह नाम उन्नीसवीं शताब्दी से चल रहा है। इसका विकास नागर अपभ्रंश से हुआ। कुछ सौराष्ट्री अपभ्रंश से उसका सम्बन्ध जोड़ते हैं, जिसे अन्य विद्वान् गुर्जर अपभ्रंश कहना अधिक समीचीन समझते हैं। यह उत्तरकालीन अपभ्रंश की रचनाओं से बहुत मिलती-जुलती है। इस पर उसकी छाप स्पष्ट देखी जाती है। दसवीं शताब्दी से इसमें रचना होने लगी थी। इसके उपलब्ध ग्रन्थों में अधिकांश की भाषा चौदहवीं शताब्दी तथा उसके आगे की है। इसकी कुछ विशेषताएँ[1] नीचे लिखी जाती हैं :

---

१. मेनारिया—'राजस्थानी भाषा और साहित्य' के आधार पर

१. इसमें हिन्दी के प्रचलित वर्णों की अपेक्षा ळ[1] वर्ण अधिक है। यह कहीं हिन्दी के 'ल' के समान दन्त्य और कहीं मराठी के ळ की भाँति मूर्धन्य उच्चारित होता है। एक से रूप वाले जिन शब्दों के अन्त में यह प्रयुक्त होता है उनका अर्थ उन शब्दों से भिन्न होता है जिनके अन्त में 'ल' आता है। जैसे, चंचळ (घोड़ा) और चंचल (चपल), खाळ (परनाला) और खाल (चमड़ा), महळ (स्त्री) और महल (राजप्रासाद)

२. ऋ का उच्चारण 'रि' के समान होता है। इसीसे इस वर्ण का प्रयोग ही नहीं होता।

३. य को य और ज के समान बोलते हैं। शब्द के आदि में 'य' के बदले 'ज' ही लिखा जाता है। जैसे, जुद्ध, जोद्धा, जात्रा। परंतु मध्य में आने पर य की भाँति ही लिखा और बोला जाता है। जैसे, बयण, सयन, ख्यात।

४. इसमें रेफ का प्रयोग नहीं होता। वह पूरे 'रकार' के रूप में आता है और कभी कभी उससे पूर्व के अकारान्त वर्ण के अ का लोप हो जाता है। यथा, दुरलभ (दुर्लभ), कीरत (कीर्ति), क्रम (कर्म)।

५. शब्द के आरम्भ में प्रयुक्त 'व' का उच्चारण दो प्रकार से होता है—एक दन्त्योष्ठ 'व' के सदृश, जैसे वात (पवन), वार (दिन), वास (गन्ध), वचियो (बच गया), और दूसरा ओष्ठ्य, जिसको 'व' से अलग करने के लिए 'व़' लिखते हैं, जैसे, व़ात (कथा), व़ार (सहायता के लिए पुकारना), व़ास (निवासस्थान), व़चियो (छोटा बच्चा)।

६. 'ख' को 'ष' लिखते हैं किन्तु ख बोलते हैं। तत्सम शब्दों में ष का उच्चारण ठीक किया जाता है। इसी प्रकार 'श' के स्थान में 'स' का प्रयोग होता है, किन्तु उच्चारण करते समय श और स का अन्तर बना रहता है। यथा सासत्र (शास्त्र) को पढ़ते समय 'शासत्र' कहेंगे।

७. डिंगल में अनुस्वार का अधिक प्रयोग होता है। जैसे, भांण, असमांन, राधां। कहीं कहीं यह अनुस्वार उड़ा ही दिया जाता है। जैसे सीह या सी (सिंह), सास (साँस), पाव (पाँव)।

८. इसमें कुछ ऐसे शब्द हैं जिनके प्रथम वर्ण पर अवधारण (बल

---

[1] मराठी तमिळ आदि भाषाओं के शब्दों को ज्यों का त्यों लिखने के लिए इस वर्ण को इधर हिन्दी की नयी वर्णमाला में भी स्थान दे दिया गया है। परन्तु इसका शुद्ध उच्चारण उन हिन्दी वालों के लिए कठिन है जो वे भाषाएँ नहीं जानते जिनमें इसका प्रयोग होता है।

देने) से उनका अर्थ बदल जाता है। जैसे 'मौर' के 'मौ' पर अवधारण होने से इसका अर्थ होगा 'मुहर', किन्तु ऐसा न करने पर होगा 'पीठ'। इसी प्रकार, नार के ना पर बल देने पर 'सिंह', अन्यथा 'स्त्री', पीर के 'पी' पर बल देने पर 'पीहर' अन्यथा पीड़ा। यह अवधारण वास्तव में 'ह' के लोप का सूचक है—मौ(ह)र, ना(ह)र, पी(ह)र।

९. इस भाषा में बहुधा ए का हे, स का छ और व का म हो जाता है। जैसे, हेक (एक), हेव (एव), तुलछी (तुलसी), छभा (सभा), किमाड़ (किवाड़), रामण (रावण)

१०. कभी कभी पादपूर्ति के लिए शब्द में 'ह' और 'र' का आगम होता है। यथा, समहर (समर), अंबहर (अंबर), कहियोह (कहियो), सरधीर (सधीर), सरजळ (सजळ)।

११. कभी कभी शब्द के आरम्भ में 'अ' को जोड़ दिया जाता है। जैसे, अथांण (थांण), आरण (रण)।

१२. संस्कृत के या उससे बने नान्त शब्दों को णान्त कर देते हैं। यथा, जीवण (जीवन), माण (मान), राणी (रानी)।

१३. डिंगल में जिन अव्ययों का प्रयोग होता है वे प्रायः प्राकृत और अपभ्रंश से ही लिये गये हैं।

कुछ नीचे दिये जाते हैं :

काल-सूचक—अज्ज, कद, कदै, जद, तद, पछै, पुणि, अजै, भौड़ौ, वेगौ, तड़कै, परभातै।

स्थान-सूचक—किह, किहाँ, केथि, काँहीं, इहाँ, एथि, तिहाँ, उवाँ, जह, जिह, अठै, उठै, तठै, जठै, नेड़ो, कनै, परै, तलै, हेठै, पाछलौ, नजीक, पूरवलौ, विचलौ।

रीति-सूचक—इम, एम, जिम, जेम, किम, केम, जेण, केण, तिण, कदास, अचाणक, हाँ, किरि, नीठ, अपूठौ, न, माँ, मति, कदैक, जदकद।

परिमाण-सूचक—घणौ, थोड़ो, काँईक, कित्तौ, अत, इतरौ, उतरौ जितरौ।

अब विकारी शब्दों—संज्ञा, सर्वनाम विशेषण एवं क्रिया की विशेषताओं का उल्लेख किया जायगा।

संज्ञा में कारकों की विभक्तियों के साथ ही कुछ शब्दांश भी लगाते हैं।

जैसे,

कारक	विभक्ति	उदाहरण	शब्दांश	उदाहरण
कर्त्ता	इ, उ, ए	डोलइ, लिखिहउ ढोलै, समरै	—	—
कर्म	उ, ए	सँदेसड़उ, घोड़ाए	नै, प्रति	धूमकुँवर नै, लोकप्रति
करण	इ, इइ, ए	मुखि, कामइ, हाथे	करि, सूँ	मुखकरि, रूप सूँ
संप्रदान	ए, नूँ, आँ	राणीये, राजानूँ, हंसाँ	नै, प्रति	महारुद्रनै, मातपिता प्रति
अपादान	ए, साँ	हियै, विदेसाँ	कनै, थी, हूँत, हुँता हूँती	जिन कनै, भ्रात लोक थी, कोसहूँत, कुन्दणपुरहुँता, त्रिकूटगढ़हूँती
सम्बन्ध	ए, आँह हाँ, आँ;	ढोलै, करहाँ, हळाँह	रा, री, रे, रो, चा, ची, चै, चौ, केरा, केरो, तणा, तणी, तणो	आजरी, वेढरा, महासतियाँरै, तीन प्रकार रो, घणां चा, घर ची बाहर, कागळ चौ, डूँगरकेरा, चौली केरे पान, अदताँ केरौ, वीकतणा, रतनेस तणी, नट तणै, रवि सुत तणौ
अधिकरण	इ, ए, आँ	मगि, पीछौलै, चंचळां	मधि, माँ, माँझ मँझार, माँह	कीधै मधि माणिक, मूठि माँ, माँझ घरेह, गोंठ मझार, तिण माँह

इससे स्पष्ट हो गया होगा कि पुल्लिंग एकवचन में प्रायः सभी कारकों में 'ए' विभक्ति लगती है और बहुवचन में प्रायः 'आँ' अथवा 'याँ'। कर्त्ता के पुंल्लिग बहुवचन में कभी कभी 'आ' भी होता है। सम्बन्ध में 'ह' भी लगता है। सम्बोधन में 'ऐ' और 'रे' संज्ञा के पहले लगाते हैं। जैसे, ऐ बक-मूनी (हे वक-मुनि), रे नरा (हे मनुष्य)।

सर्वनामों के रूप डिंगल में प्रायः अपभ्रंश के सदृश होते हैं। जैसे,

कर्ता

सर्वनाम	एकवचन	बहुवचन
हूँ (मैं)	हूँ, म्हैं	म्हे
तूँ (तू)	तूँ, तैं, थैं	थे
ओ (यह)	ओ, ए, एह, चा	अै, इणाँ, याँ, एह
कुण (कौन)	कुँण, कूँण, कवण, को, का, किण	कुण, किणाँ

कर्म

सर्वनाम	एकवचन	बहुवचन
हूँ (मैं)	मूँ, हूँ, मुझ, अम्ह	म्हाँ
तूँ (तू)	तइँ	तुम्ह, तुम्हाँ, थाँ
ओ (यह)	इण, अण, एह, एण इणनै	इण, अण, एह, इणाँनै, आँनै
कुण (कौन)	किणनै, किण, केण, कवण, कीनै	कीनै, कणाँनै

संबंध

सर्वनाम	एकवचन	बहुवचन
हूँ (मैं)	मुझ, मुभझ, म्हारौ, मो, मूँ, अम्हीणौ	अम्हाँ
तूँ (तू)	तुभझ, थारौ, थारी (स्त्री०)	म्हाँरौ, थाँ कौ, थाँ कै
ओं (यह)	इणरा, ईंरा	इणाँरा अैंरा याँरा
कुण (कौन)	कींरा, किणरा, कुणह	किणाँरा

विशेषण—इसके लिंग, वचन और कारक विशेष्य के लिंग, वचन और कारक के सदृश होते हैं। स्त्री लिंग में प्रायः इकारान्त होते हैं।

क्रिया—के वर्तमान काल दो तरह से बनते हैं—क्रिया में 'इ' विभक्ति लगा कर और उसके पीछे छै, छूँ तथा छाँ जोड़ कर। जैसे, रोकै अकबर राह, फरकै छै, आवूँ छूँ। भूतकाल में वह एकवचन में ओकारान्त और बहुवचन में आकारान्त होती है। जैसे, भागियौ (भाग आया); ब्रह्मा विसन साथी आया

(ब्रह्मा विष्णु साथ में आये)। भविष्यत् में उसके साथ स्याँ, सी और ला का योग किया जाता है। जैसे, देखस्याँ (देख सकोगे), रहजास्यी (हो जायगा), बूड़ैला (डूब जायँगे), घातेला (चढ़ायेगा)।

क्रिया के पूर्वकालिक रूप उसके अन्त में अ, इ, र, एवि, नै, आदि के संयोग से बनते हैं। जैसे, पालिअ (पालकर), ठानि (ठानकर), जायर (जा कर), प्रणमेवि (प्रणाम कर), लिखनै (लिख कर), भरेह (भरकर)।

आज्ञासूचक रूप के लिए क्रिया के पीछे वै एवं जै जोड़ दिया जाता है। जैसे, लिखावै, करावै, दीजै, लीजै।

अवधी

पूर्वी हिन्दी की विविध बोलियों और उनके विकास तथा विस्तार का उल्लेख हो चुका है। यह भी कहा जा चुका है कि उनमें केवल अवधी में साहित्य मिलता है। अधिकतर मध्यकालीन एवं कुछ इधर बहुत पीछे का आधुनिक। बाबूराम सक्सेना ने अवधी की तीन विभाषाएँ मानी हैं। उनके मतानुसार खीरी-लखीमपुर, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव और फतेहपुर की भाषा पश्चिमी अवधी है। बहराइच, बाराबंकी तथा रायबरेली की केन्द्रीय और गोंडा, फैजाबाद, सुलतानपुर, इलाहाबाद, जौनपुर तथा मिर्जापुर की पूर्वी। साहित्य में अवधी के दो रूप मिलते हैं—पूर्वी और पश्चिमी। तुलसीदास के लिखे जानकी मंगल, पार्वती मंगल, रामलला नहछू और बरवैरामायण, कुतबन के मृगावती, जायसी के पदमावत, उसमान के चित्रावली, कासिमशाह के हंस जवाहर, नूरमहम्मद के चित्रावली काव्यों में पूर्वी अवधी की मिठास है। पश्चिमी अवधी का चरम उत्कर्ष तुलसी के रामचरितमानस में मिलता है। इसमें अनेक कवियों ने रचनाएँ कीं। उनमें बनारसीदास का अर्द्धकथानक, सबलसिंह का महाभारत तथा मधुसूदन चौबे का रामाश्वमेध उल्लेखनीय हैं। नव-युग की चेतनाओं से अनुप्राणित द्वारकाप्रसाद मिश्र का कृष्णायन और विद्याधर महाजन का गांधी चरित मानस इसी परम्परा में गिने जायेंगे। आजकल के कवियों में चन्द्रभूषण त्रिवेदी के बौछार, भिनसार और फुहार नामक फुटकल कविताओं के संग्रहों में भी पश्चिमी अवधी का सौष्ठव मिलता है।

पूर्वी और पश्चिमी अवधी में कुछ भेद हैं। पूर्वी में क्रिया के साधारण रूप के अन्त में 'ब' होता है, जैसे, आउब, जाब, करब; परन्तु पश्चिमी के अन्त में 'न' होता है, चैसे, आवन, जान, करन। इस प्रकार दोनों में क्रिया लघ्वन्त होती है। यही प्रवृत्ति सर्वनाम विशेषण आदि में भी देखी

जाती है। उनका अन्तिम वर्ण भी लघु होता है। जैसे मोर, तोर, हमार, साँवर, गोर, थोर, गहिर। स्त्रीलिङ्ग में भी ये इकरान्त ही होते हैं। जैसे, मोरि, तोरि, हमारि, साँवरि, गोरि आदि। के, जे, से सर्वनाम के ये रूप पूर्वी अवधी के हैं। पश्चिमी अवधी में ये क्रमशः जो, को, सो हो जाते हैं।

अवधी के भाषा-तत्त्व से सम्बद्ध कुछ सामान्य विशेषताएँ जान लेने से उसकी रचना समझने में सुविधा होगी।

१. अवधी में कर्तृ प्रधान वाक्य प्रयुक्त होते हैं, कर्म प्रधान नहीं।

२. शब्दों के आदि के अकारान्त संयुक्त वर्ण के दोनों वर्णों को अलग करके पहले वर्ण के साथ इ अथवा उ का योग कर दिया जाता है। यथा, स्यार का सियार, ब्याज का बियाज (बिआज भी), द्वार का दुआर क्वाँर का कुआँर।

३. अवधी में स्वार्थे आ, या, वा और रा का प्रयोग होता है। जैसे, लला, भैया, कन्हैया, अँसुवा, बदरा, जियरा।

४. विशेष्य के अनुसार ही विशेषण का लिङ्ग होता है। जैसे, ऐस-ऐसि, ओकर-ओकरि।

५. क्रिया का रूप लिङ्ग-भेद से भिन्न होता है। जैसे—गयउ दसानन मंदिर माँही, गइ सिसु पहँ जननी भयभीता।

६. अवधी में कारक की विभक्तियाँ संज्ञा और सर्वनाम से मिली रहती हैं। जैसे, रामहिं, बनहिं, घरहिं पुराने रूप हैं और नये रूप हैं—रामै, बनै, घरै; तथा यहि, वहि जेहि, केरि, तेरि।

७. इसमें कर्ताकारक में 'ने' विभक्ति नहीं प्रयुक्त होती। सकर्मक भूत-कालिक क्रिया का रूप कर्त्ता के पुरुष और वचन के अनुसार होता है। जैसे, जानेउँ मैं राउ हँसि कहई, अब भा मरन सत्य हम जाना।

८. जिन शब्दों के अन्त में व्यञ्जन होता है उनके कर्त्ताकारक के एक वचन के रूप उकारान्त होते हैं। जैसे, 'कहेउ भरतु मुनिराज कर जोइ जोइ आयसु होइ' में भरतु।

९. अवधी के शेष कारकों के चिह्न हैं—कर्म—के, काँ (पुराना—कहँ); करण—से, सन; सम्प्रदान—के, का (पुराना—कहँ); अपादान—सें तें, सेंती, हुँत; सम्बन्ध—कै, कर, केर, कै (स्त्रीलिंग); अधिकरण—में, माँ, मँह, पर।

१०. सर्वनामों के रूप इस प्रकार चलते हैं—

	कर्ताकारक		संबंधकारक	
सर्वनाम	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
मैं	मैं	हम	मोर	हमार
तू	तू , तैं	तूँ , तुम	तोर	तुमार, तोहार
आप	आपु	आप		आपकर
यह	ई, एहि, एकर	ए	एकरे	इनका, इनकरे
वह	ऊ, वै, ओहि	ओन	ओकर, ओकरे	ओनकर, ओनकरे
जो	जे, जवन	जे	जेकर, जेकरे, जेन	जेनकर
कौन	के कवन	के	केकर	केनकर, केनकरे

११. क्रिया का रूप सदैव कर्ता के लिङ्ग और वचन के अनुसार होता है। जैसे, करब मोर मुनिनाथ निबाहा, ए दारिका परिचारिका करि पालिबी करुनामई। परन्तु भविष्यत् काल में यह भेद नहीं होता। जैसे, देवि करौं कछु बिनय सो बिलग न मानव (स्त्री०) और देखब कोटि बियाह जियत जो बाँचिय (पुं०)।

१२. कुछ क्रियाओं के रूप उदाहरणार्थ नीचे दिये जाते हैं :—

अकर्मक क्रिया होना सकर्मक क्रिया देखना

सामान्य वर्तमान

	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
उत्तमपुरुष (पुं०)	हौं, अहेउँ	अही	देखेउँ	देखे
(स्त्री०)	अहिउँ	अहिन	देखिउँ	देखे
मध्यमपुरुष (पुं०)	अहै, अहसि	अहेव, अहे	देखेस	देखउ
(स्त्री०)	अहिस	अहिव	देखिस	देखिउ
प्रथमपुरुष (पुं०)	अहै, आय	अहैं	देखेस	देखेन
(स्त्री०)	अहै	अहैं	देखी	देखिनि

सामान्यभूत

	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
उत्तमपुरुष (पुं०)	रहेउँ	रहे	देखेउँ	देखेन
(स्त्री०)	रहिउँ	रहीं	देखिउँ	देखीं
मध्यमपुरुष (पु०)	रहेस	रहीं	देखेस	देखेउ
(स्त्री०)	रहिस	रहीं	देखिस	देखीं
प्रथमपुरुष (पु०)	रहिस	रहेन	देखेस	देखेन
(स्त्री०)	रहीं	रही	देखी	देखीं

भविष्यत्

	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
उत्तमपुरुष (पुं०)	रहिहौं	रहब	देखिहौं	देखब, देखिहैं
मध्यमपुरुष (पुं०)	रहिहौं	रहिहौ	देखिबे, देखिहै	देखिबौ, देखिहौ
प्रथमपुरुष (पुं०)	रहिहै	रहिहैं	देखे, देखिहै	देखिहैं

व्रजभाषा

पुरातन मध्यदेश की शौरसेनी अपभ्रंश का स्थान कालान्तर में व्रजभाषा ने ग्रहण किया। वह मध्यकाल में हिन्दी-क्षेत्र की प्रमुख काव्य-भाषा हो गयी थी। उसमें भक्ति और शृङ्गार का अनुपम साहित्य निर्मित हुआ। उसमें व्रज में जन्मे श्रीकृष्ण की लीलाओं के गान गाये गये, तत्कालीन विलासमय जीवन की झाँकी दिखलायी गयी, नारी के रूप-लावण्य और प्रेम-विह्वल हृदय की विविध दशाओं और चेष्टाओं का मादक वर्णन हुआ और शब्दों को असाधारण सुष्ठुता और मधुरता प्रदान की गयी। वैसा निखार कदाचित् ही किसी भाषा का हुआ हो। इस प्रकार उसकी कोमल पदा-वली की प्रतिध्वनि सैकड़ों बरस बरबस अपनी ओर मन को खींचती रही। उसमें भक्ति, शृंगार और कला का अद्‌भुत सम्मिश्रण हुआ। सूर, नन्ददास, घना-नन्द, रसखान, बिहारी, पद्माकर, मतिराम, रत्नाकर आदि की रचनाएँ आज भी कविता-प्रेमियों का मन लुभाती हैं। इस भाषा की सब से बड़ी विशेषता है कर्ण-कटु वर्णों का एकदम वहिष्कार। जो अक्षर सुनने में कड़े जान पड़ते हैं उनका प्रयोग ही नहीं किया जाता। यथा ण और श के स्थान में क्रमशः न और स प्रयुक्त होते हैं।

इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें हिन्दी के अकारान्त पुंल्लिंग संज्ञा, विशेषण, सम्बन्ध कारक के सर्वनाम, भूत कृदन्त और कहीं कहीं वर्तमान कृदन्त भी औकारान्त हो जाते हैं। जैसे, छोरौ, कारौ, साँवरौ, आपनौ, तेरौ, आवनौ, दैबौ, चल्यौ। यह 'औ' व्रज के पूर्वी क्षेत्र में कनौजी से प्रभावित हो कर 'ओ' हो जाता है। तब उक्त शब्द छोरो आदि उच्चारित होते हैं। कविता में 'औ' और 'ओ' दोनों से युक्त रूप प्रचलित हैं।

व्रजभाषा के प्रयोग सम्बन्धी नियम[1]

१. संज्ञाओं तथा सर्वनामों में विभक्तियों का प्रयोग होता है। भूत-

---

[1]. पंडित किशोरीदास वाजपेयी के 'व्रजभाषा का व्याकरण' के आधार पर। कुछ उदाहरण भी इसी से लिये गये हैं।

कालिक सकर्मक क्रिया के कर्मवाच्य और भाववाच्य रूप में **कर्त्ता** की विभक्ति 'ने' लगती है। जैसे, राम ने दियो है फल मेरेई करम को; सिय ने तब रामहिं सैननि देख्यौ; परन्तु बहुवचन में जब संज्ञा के अन्त में 'न' या 'नि' का मेल होता है तब कभी कभी 'ने' नहीं लगता। यथा, मुनिन नेम कियो अति चाव सों। इसी प्रकार, कर्तृवाच्य में भी 'ने' का योग नहीं होता। यथा, राम करत हैं सदा प्रीति निज साँचे जन सों।

कर्मवाच्य में संस्कृत की भाँति व्रज में भी कर्ता तृतीयान्त होता है। तृतीयान्त कर्ता की विभक्तियाँ ये हैं—पै, सों, कौ (को) कौं, हिं। यथा, मोपै सहि न जात उपहास एतो, मोसों ह्वै न सकति ऐती चतुराई, राम को काम सकै करि कौन, मोकों कछू करिबोई हतो, विधातहिं चूक परी मैं जानी।

कर्म की विभक्तियाँ—कौ, कौं, हि और सों। जैसे, मो कौं कहा सीकरी सौं काम, आजु जौं हरिहि न सस्त्र गहावौं, सूरदास स्वामी सों कहियो अब बिरमियो नहीं। कभी कभी कर्म के साथ कोई भी विभक्ति नहीं लगती। जैसे मोकों माखन रोटी भावै।

करण में 'सों' तथा 'ते' विभक्ति लगती है। जैसे, इक कर सों कर गहि गाढ़े करि। कहीं कहीं करण कारक में संज्ञा का प्रयोग विभक्ति के बिना भी होता है। जैसे, जाके मीत नंदनंदन से ढँकि लाई पीत पटोले।

सम्प्रदान में कौ (को), कौं (कों) तथा हि विभक्तियों का प्रयोग होता है। जैसे, हमकौं कहा देन हरि राख्यौ, मनो मधुपानहि आवत देखि डरत जिय भारी। कभी कभी सम्प्रदान में भी संज्ञा के साथ विभक्ति नहीं लगती। जैसे, दीन्यौ द्विजन दान अति रुचि सों।

अपादान में 'ते' या 'तें' विभक्ति का योग होता है। जैसे, रथ तें उतरि चक्र धरि कर प्रभु सुभटहिं सनमुख आये, तामें ते तिहि छिन ही काढ्यो पल भरि रहन न पायो।

सम्बन्ध कारक में का, के और की विभक्तियाँ होती हैं। यथा राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।

अधिकरण के लिए में, मँह, पै, और पर विभक्तियाँ काम में आती हैं। जैसे, कूपहि में इहाँ भाँग परी है, सहि न जात मोपै परिहास एते, आपुनि पौढ़ि अधर सेज्या पर।

सर्वनाम—व्रजभाषा में कुछ सर्वनाम वही हैं जो नागरी हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु उनके कारक रूप उसमें व्यवहृत रूपों से प्रायः भिन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त इनमें कुछ के दूसरे रूप भी व्रजभाषा में चलते हैं। जैसे,

कोई के अतिरिक्त कोऊ, कोउ भी, यह, वह के साथ ही या, वा भी। कुछ का व्रज में कछु वा कछू के रूप में व्यवहार होता है।

विशेषण—व्रज में भी विशेषण का लिङ्ग वचन विशेष्य के लिङ्ग वचन के अनुरूप होता है। जैसा मीठो बोल, मीठी बात, मीठे बचन। गोरो गात, गोरी जसोदा, गोरे नन्द।

अव्यय—व्रजभाषा में संस्कृत से गृहीत अव्यय तद्भव रूप में प्रचलित हैं। जैसे प्रात, एरे, ओहो, हाय। इनके अतिरिक्त कुछ व्रज की निजी सम्पत्ति हैं। जैसे, एहो, धौं, किधौं, हू, लौं।

क्रिया—क्रियापदों का मूल रूप व्रजभाषा में अकारान्त होता है। जैसे, करत, धरत, लखत, धुनत आदि। वर्त्तमान और भविष्य काल में सकर्मक-अकर्मक सभी क्रियाओं का प्रयोग कर्तृवाच्य में ही होता है, अन्य वाच्यों में नहीं। भूत काल में सकर्मक क्रियाओं का प्रयोग प्रायः कर्मवाच्य में एवं अकर्मक क्रियाओं का भाववाच्य में होता है। जैसे वर्तमान (सक०) राम पढ़ै पोथी मन दीन्हे, (अक०) गावति गीत राधिका नीके; भविष्यत् (सक०) राम पुस्तक पढ़ैगो, (अक०) राम चलैगो आजु सबेरे; भूतकाल (कर्म०) राधा पहिरि लई बनमाल।

व्रजभाषा में अधिकांश क्रियाएँ कृदन्त हैं, और तिङन्त बहुत कम हैं। वर्तमान और भविष्यत् में प्रायः कृदन्त क्रियाएँ ही चलती हैं, भविष्यत् में 'इहै' विभक्ति लगने से बनी, तथा, विधि, प्रश्न आदि को प्रकट करने वाली करे करूँ आदि क्रियाएँ ही तिङन्त हैं, शेष कृदन्त हैं। कृदन्त क्रियाओं का लिङ्ग संज्ञा से प्रकट होता है।

खड़ी बोली (नागरी भाषा)

शब्द भाण्डार—पश्चिमी हिन्दी के विविध रूपों का परिचय देते समय खड़ीबोली और उसके व्यवहार एवं साहित्य में प्रचलित भेदों का वर्णन यथास्थान किया जा चुका है। यह शौरसेनी प्राकृत एवं अपभ्रंश से विकसित होने पर भी (पूर्वी) पंजाबी से प्रभावित है और सीधे संस्कृत से भी अनेक बातों में प्रेरित है। यह संस्कृत के शब्दों को ज्यों का त्यों ग्रहण करती है। इससे उसमें तत्सम शब्दों की प्रचुरता है। यह उन्हें जी खोल कर ग्रहण करती है। इन्हीं तत्सम शब्दों के द्वारा हिन्दी का भारत की सभी भाषाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है और सामी-परिवार की अरबी और फारसी के शब्दों को अपनाने वाले उर्दू बोलने वालों को छोड़ अन्य सभी भारतीय आर्य एवं द्राविड

भाषाओं के बोलनेवालों की समझ में सुगमता से आ जाती है। इधर हिन्दी में तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ रही है। कुछ शब्द अपना तत्सम रूप परिवर्तित कर के हिन्दी में चले। ये अर्द्धतत्सम कहलाते हैं। जैसे, धरम-करम किशन लगन। बहुत से शब्द संस्कृत से अपना रूप बदल कर प्राकृत में आये और उससे फिर बदल कर अथवा सीधे किसी प्राचीन आर्य भाषा से हिन्दी में। इन्हें तद्भव कहते हैं। जैसे कार्य—कज्ज—काज, कर्म—कम्म—काम, हस्त—हत्थ—हाथ। हिन्दी के ये अपने शब्द हैं। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के प्रभाव के कारण इनकी ओर से आँख फेरना उचित न होगा। हिन्दी में बहुतेरे शब्दों का उक्त तीनों रूपों में प्रचलन है जैसे कर्म, करम, काम; कार्य, कारज, काज; वत्स, बच्छ, बच्चा। ऐसे शब्द प्रायः संज्ञा ही होते हैं। सर्वनाम और क्रिया-पद प्रायः तद्भव ही गृहीत हैं। जिन शब्दों का उद्गम संस्कृत, प्राकृत आदि में नहीं मिलता उन्हें 'देशी' कहा जाता है। संस्कृत में ऐसे शब्द भी मिलते हैं जो द्राविड तथा अन्य अनार्य भाषाओं से आये हैं। पुष्प, पुष्कर, पूजा, घोटक, पिक, मयूर, बाण आदि कोई चार सौ शब्द इनसे आये माने जाते हैं। इनको भी देशी या देशज कहा जाने लगा है।

हिन्दी में विदेशी शब्दों की संख्या भी कम नहीं। हिन्दी-प्रदेश में समय समय पर विदेशी जातियाँ आयीं, ठहरीं और बसीं अथवा उसके सम्पर्क में आयीं। उनके राजकीय धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन के साथ ही यहाँ के निवासियों की भाषा पर भी उनकी छाप लगी। बहुत से विदेशी शब्द ज्यों के त्यों अथवा थोड़े से परिवर्तन के साथ आये और कुछ तो ऐसा भेस बदल कर आये कि पहचान में भी नहीं आते। इस भाषा के प्रदेश पर फारसी, अरबी, तुर्की और अँगरेजी का प्रभाव अधिक समय तक रहा तथा अधिक व्यापक था। इससे इनके सैकड़ों हजारों शब्द हिन्दी ने लिये। इनमें अधिकांश का मूल रूप हिन्दी की ध्वनि के साँचे में पड़ने से अपनी मूलभाषा के उच्चारण से बदल भी गया है। इसी प्रकार अपनाने से विदेशी शब्द हिन्दी में पच सकेंगे, अन्यथा वे सदैव अलग और खटकते रहेंगे। जो विदेशी शब्द अपना नितान्त रूपान्तर कर के आये उनकी संख्या अधिक नहीं। दो-चार उदाहरण देखिये। जहाँ यूनान की भाषा के द्रख्मे और सेमिदालिस से हमें 'दाम' (सं० द्रम्म) और 'सेवइयाँ' मिलीं, वहीं पुरानी फारसी के मोचक (घुटनों तक का जूता) से हमारे 'मोची' आये तथा मध्य फारसी के 'तश्त' से प्राकृत टठ के द्वारा भोजन करने की टाठी (थाली) मिली। ऐसे ही सीरिया से 'सिक्त' चल कर हिन्दी में सिक्का हो गया।

हिन्दी में देश के अन्य प्रदेशों की भाषाओं के बहुत से शब्द प्रचलित हैं। यथा, (गुजराती) गरबा, हड़ताल; (मराठी) आभार, वाङ्मय; (बँगला) उपन्यास, गल्प, गमछा, छाता।

विदेशी प्रत्ययों आदि शब्दों के योग से बने शब्दों का चलन भी हिन्दी है। जैसे, बेमेल, फलदार, गुरुडम, अमनसभा, जेलखाना।

हिन्दी के कुछ शब्द अनुकरण के द्वारा निर्मित हुए हैं। जैसे, सरसर, फरफर, चटचट, धकधक आदि। ऐसे ही अज्ञान के कारण बने कुछ शब्दों का भी प्रचलन है। जैसे, श्राप, आधीनता, अभिलाषा, मनोकामना, जाग्रत, पौर्वात्य आदि।

हिन्दी की कुछ विशेषताएँ

हिन्दी जीवित भाषा है। वह अब राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होने से और भी विकसित होगी। उसमें सब प्रकार के शास्त्र, ज्ञान, विज्ञान को प्रकट करने के लिए बाहर से शब्द लिये जायँगे और नये शब्द निर्मित होंगे। ऐसा करते समय ध्यान रखना होगा कि जो बाहर के शब्द आवें उसका उच्चारण और अनुशासन हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप हो। वे ध्वनि तथा प्रयोग सम्बन्धी हिन्दी के नियमों के अनुसार चलाये जायँ। उनका रूपान्तर हिन्दी के व्याकरण के द्वारा हो। तभी वे उसमें घुलमिल सकेंगे।

उच्चारण—देवनागरी वर्णमाला में ऋ ॠ ऌ ॡ का समावेश होता है। इनमें केवल ऋ का प्रयोग संस्कृत के तत्सम शब्दों में होता है। यथा, ऋषि, ऋण, कृपा। इसका उच्चारण प्रायः 'रि' के सदृश होता है।

अकारान्त वर्णों का जैसा पूरा उच्चारण संस्कृत, पंजाबी, उड़िया आदि में होता है वैसा हिन्दी में नहीं होता, प्रत्युत हलन्त की भाँति होता है। यथा, राम का उचारण राम् होता है। ए ऐ ओ औ के उचारण सदैव एक ही से नहीं होते। जैसे, एकान्त, एक्का; ऐनक, ऐक्य (अइक्य); ओर, ओहि (अवधी); औरत, कौआ (कउआ)।

उपसर्ग—शब्दों के पहले कोई अक्षर अथवा कुछ अक्षर जोड़ कर नये शब्द बनाने के काम आने वाले उपसर्गों में कुछ तो संस्कृत के ही हैं, जो तत्सम शब्दों में जुड़े रहते हैं। यथा, प्र परा अप अव अभि आदि जो क्रमशः प्रयोग, पराजय अपकार अवरोध अभियोग में लगे हैं। संस्कृत में नञ् समास में अ को उस समय अन् हो जाता है जिस समय वह स्वर से प्रारम्भ हो रहे शब्द के पहले लगाया जाता है, जैसे, अनेक (अन् एक) परन्तु हिन्दी में यह व्यञ्जन से प्रारम्भ होने

वाले शब्द के पूर्व भी अन हो जाता है। जैसे, अनगिनती, अनमोल, अनदेखा।

हिन्दी के कुछ अपने उपसर्ग हैं। जैसे, अध, उन, औ, दु, नि, बिन, भर। इनसे बने कुछ शब्द—अधमरा, अधजला; उनचास, औगुन, औघट; दुबला, दुमुँहा; निडर; बिनब्याहा; भरसक। कुछ अरबी-फारसी एवं अंगरेजी के शब्द भी हिन्दी शब्दों के पहले लगा कर नये शब्द बनाये जाते हैं। जैसे, कम, बे, सर, हर, हेड से क्रमशः कमसमझ; बेकाम, बेमेल; सरपंच; हरदिन; हेडपंडित।

प्रत्यय—तत्सम प्रत्ययों से युक्त अगणित शब्द हिन्दी में चल रहे हैं। उनके अतिरिक्त तद्भव तथा देशी प्रत्यय भी क्रिया तथा अन्य शब्दों से कृदन्त और तद्धित शब्दों के निर्माण में योग देते हैं। यथा, अक्कड़, अन्त, आइँद, आई, आका, आन, आयत, आरा, आला, आव, आस, आहट, इया, ईला, एरा, ऐत, ओड़, ओला, औता, औना, औवल, टा, त, पा, पन, वाल, वैया, हारा। इनके उदाहरण क्रमश; हैं घुमक्कड़, भिड़न्त, सड़ाइँद, चढ़ाई, धड़ाका, उड़ान, पंचायत, घसिआरा, घोटाला, पड़ाव, प्यास, चिकनाइट, कनौजिया, पथरीला, तमेरा (तँबेरा), लठैत, हँसोड़, खटोला, कठौता, खिलौना, झौवल, कलूटा, बचत, बुढ़ापा, लड़कपन, गयावाल, गवैया, लकड़हारा। इनके अतिरिक्त कुछ विदेशी प्रत्ययों से भी काम लिया जाने लगा है। जैसे, कार, वान, खाना, गीरी, बाजी। इनसे बने हुए शब्दों के उदाहरण हैं—जानकार, गाड़ीवान, छापाखाना, बाबूगीरी, कबूतरबाजी।

विभक्तियाँ—हिन्दी में संज्ञा और सर्वनाम के विभक्ति-युक्त और विभक्ति-विहीन दोनों रूप होते हैं। उसमें कब विभक्ति लगती है और कब नहीं—इसके मुख्य नियम जान लेने से प्रयोग समझने और करने में भूल न होगी।

कर्ता—ने विभक्ति केवल कर्त्ता की है। यह एकमात्र भूतकाल में सकर्मक क्रिया के साथ लगती है। जैसे, मोहन ने खाना खाया, मैंने आम खाया। इससे यह स्पष्ट हो गया कि वर्तमान, भविष्यत् और आज्ञा में कर्त्ता के साथ ने विभक्ति नहीं लगती चाहे क्रिया सकर्मक हो, चाहे अकर्मक। जैसे, मोहन खाना खाता है, मोहन सोता है, मोहन खाना खायगा, मोहन सोयेगा; मोहन सोये।

कर्त्ता में को विभक्ति केवल उस समय लगती है जब क्रिया का होना अनिवार्य हो, उसका काम अवश्य ही करना हो या 'चाहिए' का प्रयोग हो। जैसे, मोहन को पुस्तक पढ़नी है, मुझको व्यायाम करना है, हमको प्रयाग जाना है, उसको

घर में रहना है[1] ; राम को जाना चाहिए, तुमको पढ़ना चाहिए।

कर्म—कर्म की विभक्ति को है। कर्म केवल सकर्मक क्रिया का होता है। यथा, मोहन ने ग्वालों को बुलाया। परन्तु जब अकर्मक क्रिया का प्रेरणार्थक रूप प्रयुक्त होता है तब उसके साथ कर्म आता है। उस समय भी कर्म में को विभक्ति लगती है। जैसे, ग्वालबाल मोहन को जगाते हैं। सकर्मक क्रिया के भी प्रेरणार्थक होने पर गौण कर्म के साथ को का प्रयोग होता है। जैसे, ग्वालबाल मोहन को नाच नचाते हैं। परन्तु जब कर्म निर्जीव पदार्थ होता है तब वह विभक्ति के बिना ही प्रयुक्त होता है। जैसे, मोहन ने बाँसुरी बजायी, मैंने गेंद फेंकी। राम ने रसगुल्ला खाया, श्याम ने जलेबी खाई।

कारण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण में क्रमशः से, को, से, का (के, की) और में (पै, पर) विभक्तियाँ लगती हैं।

क्रिया—क्रिया का रूप कर्त्ता या कर्म के लिङ्ग और वचन के अनुसार बदल जाता है। पुंल्लिग के साथ आकारन्त, स्त्रीलिंग के साथ ईकारान्त क्रिया होती है और बहुवचन में एकारान्त; जैसे, गया, गयी (गई), गये (गए)। पुरुष और स्त्री वाचक सजीव प्राणियों के साथ क्रिया के इन भिन्न-भिन्न रूपों का प्रयोग करने में विशेष असुविधा नहीं होती। जैसे, राम गया, सीता गयी, राम और सीता गये। परन्तु निर्जीव पदार्थों के वाचक शब्दों के लिङ्ग का निर्णय करना बहुधा कठिन होता है। लिङ्ग-भेद तो अभ्यास और व्यवहार से ही आयेगा। घर बैठे और मन माने ढंग से कभी किसी भाषा का ठीक बोध होता है ? हिन्दी के प्रयोग से अपरिचित लोगों के लिए तो यह उलझन सुलझाना और भी कठिन होता है। इसको दूर करने के लिए हिन्दी की प्रकृति को समझ लेना चाहिये। कर्तृवाच्य में कर्त्ता के अनुसार क्रिया का लिङ्ग और वचन होता है, कर्मवाच्य में कर्म के अनुसार। जैसे, (कर्तृवाच्य) मोहन गाय चराता है, यशोदा दही मथती है, मोहन हँसता है, यशोदा हँसती

---

१. बहुधा यह समझा जाता है कि हिन्दी में सकर्मक क्रिया होने पर कर्त्ता के साथ सदैव ने विभक्ति लगती है। इसलिए उक्त उदाहरणों के ये अशुद्ध रूप प्रायः पंजाब की ओर सुने जाते हैं—मोहन ने पुस्तक पढ़नी है, मैंने व्यायाम करना है, हमने प्रयाग जाना है, उसने घर में रहना है। जब क्रिया का करना अवश्यमेव हो तब 'ने' की स्थान पर 'को' विभक्ति लगती है—यह ध्यान रखने की बात है। ऐसे ही, भूतकाल में अकर्मक क्रिया के कर्त्ता के साथ कदापि ने विभक्ति नहीं आती। जैसे रोना किया अकर्मक है। अतः यह कहना ठीक न होगा कि 'मोहन ने दिन भर रोया।' इसका शुद्ध प्रयोग होगा—मोहन दिन भर रोया।

हैं, मोहन और यशोदा आते हैं; (कर्मवाच्य) मोहन ने गाय चरायी—गायें चरायीं, राधा ने गाना गाया—गाने गाये। परन्तु भावे प्रयोग में वह कर्त्ता या कर्म के अनुसार नहीं बदलती, सदा पुल्लिंग एकवचन में रहती है। राम ने सीता को देखा, सीता ने राम को देखा, राम ने लक्ष्मण और शूर्पणखा को देखा। यहाँ देखा क्रिया का रूप सर्वत्र एक सा ही रहा। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि कृदन्त क्रियाओं में ही कर्ता और कर्म के लिङ्ग-वचन के अनुसार क्रिया का रूप बदलता है। सामान्य क्रिया 'है' और अन्य क्रियाओं के विधि और आज्ञा के रूप तिङन्त होते हैं। इन रूपों में भी लिङ्ग भेद नहीं होता। जैसे, राम है, सीता है, गाय है, राम जाय, सीता जाय, राम चले, सीता चले।

राष्ट्रभाषा हिन्दी

जिस नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) का सामान्य परिचय अभी दिया गया है वही गणराज्य भारत की राष्ट्रभाषा है। उसमें अब केवल काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, समीक्षा आदि साहित्य के परम्परागत विषयों की रचना से सन्तोष न होगा। और न वह अपने परिवार की विविध बोलियों के जन-समुदाय के बीच ही भाव-प्रकाशन एवं विचार-विनिमय का साधन रहेगी। उसमें राष्ट्र के अतीत के समस्त चिन्तन और ज्ञान का भण्डार आयेगा, संसार के सारे साहित्य, विज्ञान और अध्यात्म के कोश के अमूल्य रत्न सजाये जायँगे और जनजीवन की वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रचुर आयोजन होगा। उसे इस योग्य बनना होगा जिससे वह भारतीय राष्ट्र की भावी आकांक्षाओं को सर्वथा सम्पन्न करने में समर्थ हो जाय। इस महान लक्ष्य की सिद्धि के लिए उसे सर्वाङ्ग समृद्ध करने की चेष्टा करनी अपेक्षित है। अतएव अब इस विवाद का अन्त हो जाना चाहिये कि इस भाषा में किन शब्दों का समावेश हो और किस शैली का प्रयोग हो। यह झगड़ा उस समय का पिछलगा है जिस समय उर्दू या हिन्दुस्तानी इस उच्च आसन के अभिलाष को सँजो रही थी।[1] राष्ट्र भाषा केवल उत्तर प्रदेश के उन थोड़े से लोगों के लिए नहीं है जो आज परिवर्तित स्थिति में भी किसी न किसी रूप में विभाजन के पूर्व की मनोवृत्तियों को कार्यान्वित करना चाहते हैं। और न यह उन कट्टरपन्थियों के लिए है जो बदली हुई परिस्थिति में भी समयानुकूल परिवर्तित होने में आनाकानी करते हैं। हिन्दी में जो शब्द आ चुके हैं और जिनमें व्यवहार-सुलभ सरलता कोमलता और सरसता है वे चाहे जिस किसी विदेशी सूत्र से आये हों उनका बहिष्कार अनुचित होगा। भारत के मुसलमानों के लिए उनके धर्म

और संस्कृति के सम्बन्ध के अरबी-फारसी शब्दों के लिए अपना द्वार खुला रखना होगा। इसी प्रकार देश की विविध भाषाओं की विशाल जनता के बीच चल रहे उन संस्कृत शब्दों को अपनाने से भी हिचकना ठीक न होगा जिन्हें न समझने के लिए मुट्ठी भर लोग हठ ठाने हुए हैं। देश की सार्वभौम भाषा होने के लिए संस्कृत के प्रचलित असंख्य शब्दों का उपयोग किये बिना राष्ट्र भर की भाषा हो सकना हिन्दी के लिए सम्भव न होगा। इस सम्बन्ध में सुनीतिकुमार चटर्जी ने ठीक ही कहा है कि "अखिल भारत की उपयोगी राष्ट्रभाषा को इस्लामी भाषा के पर्याय में डालने से काम नहीं चलेगा। इस्लामी संस्कृति की वाहक उर्दू और भारत के सभी प्रान्तों के परस्पर के कामकाज तथा मेलजोल की भाषा एक ही वस्तु नहीं है। अतएव जो शब्द हिन्दी के न मिलेंगे और भारत की प्राचीन भाषा तथा संसार की सर्वश्रेष्ठ भाषा संस्कृत में मिलेंगे उनके लिए किसी अन्य भाषा के पास जाना ठीक न होगा। आधुनिक युग में आविष्कृत अनेक वस्तुओं और द्रव्यों एवं विज्ञान से सम्बन्धित अनेक क्रियाओं के नाम यूरोपीय और अन्तर-राष्ट्रीय होंगे ही, किन्तु नूतन भावों और विचारों को प्रकट करने के लिए यथासम्भव हमें अपने अपने निज के शब्द अपनी प्राचीन भाषा से एकत्र करने या बनाने पड़ेंगे।" हमें व्यवहार में आ रहे वे शब्द भी राष्ट्रभाषा में रखने होंगे जो साधारण शब्दों के सहारे बने हैं, जैसे बिजली के धनात्मक और ऋणात्मक तार के लिए चालू शब्द गरम और ठंडा तार, पैरगाड़ी, बेतार, जंगीलाट, अग्निबोट आदि। वर्णन की क्लिष्टता और सरलता शब्द विशेष पर ऊपर नहीं निर्भर होती, वह तो उसके प्रतिपादन की शैली और उसकी विषय वस्तु पर आश्रित होती है। अतएव समर्थ कवि वा लेखक अपनी रुचि और अध्ययन के अनुरूप अपनी रचना करेंगे, उनमें जिनकी कृति सुबोध और स्पष्ट होगी वही चल निकलेगी। आगे चल कर वही अंगीकार कर ली जायगी। अंगरेजी पढ़-लिख कर प्रतिष्ठा पाये देशी साहब अपने को सर्व साधारण पर आधिपत्य करने के अधिकारी मानने लगे थे, वे अपने को जन-समाज से अलग समझने और उनको हेय दृष्टि से देखने लगे थे। अब भले ही वे कुछ दिन और अंगरेजी का शव गले से लगाये रहें, किन्तु अन्त में उसे फेंकने को विवश होंगे। इसमें सन्देह नहीं कि विदेशों से राजनीतिक और व्याव-सायिक सम्बन्ध के लिए अंगरेजी को एकदम से हटाना अभी ठीक नहीं जान पड़ता, किन्तु इन कार्यों के लिए अब रूसी, जर्मन, चीनी, जापानी आदि का ज्ञान अधिक आवश्यक होगा। परन्तु देश के भीतरी कामकाज के लिए हिन्दी को ही आगे लाना पड़ेगा। अतएव अंगरेजी प्रभुत्व के फलस्वरूप प्राप्त यह

अंगरेजी मोह छोड़े बिना काम न चलेगा । अंगरेजी के इन उपासकों को हिन्दी वाग्देवी की अर्चना करने में विलम्ब करना अभीष्ट नहीं । इन्हें अपने अध्ययन, चिन्तन और मनन के आलोक से अज्ञानान्धकार में भटकते जनों को पथ दिखलाने को आगे बढ़ना चाहिये । अब अन्य प्रादेशिक भाषाओं के लिए भी हिन्दी के प्रति सतर्क दृष्टि से देखना बन्द करने का समय आ गया है । विदेशी अंगरेजी के प्रति उनका अनुराग अब अधिक दिन न चलेगा । अपनी मातृभाषा के प्रति प्रेम अटल रखते हुए भी वे राष्ट्र के प्रेम की पूर्ति के लिए राष्ट्रभाषा को उचित प्रतिष्ठा प्रदान करने का ध्यान रखें । अपनी भाषा के अनमोल ग्रन्थों से वे राष्ट्रभाषा का आगार भरने को आतुर हो उठेंगे तभी काम चलेगा । अभिप्राय यह कि राष्ट्रभाषा को सब प्रकार से भरा-पूरा बनाने में समूचे देश के लोगों को अपनी पुरानी प्रवृत्तियाँ एकदम छोड़ कर अविलम्ब लग जाने की आवश्यकता अनिवार्य है । वे अपनी बात देश भर के लोगों के कानों तक पहुँचाने का ध्यान रखेंगे तो उनको बरबस सरल और चलती भाषा तथा शैली का प्रयोग करना होगा। हिन्दी का यही रूप सार्वजनिक एवं देशव्यापी होगा । कहना न होगा कि इसी दिशा में लोग बढ़ रहे हैं और संविधान के द्वारा नियत पन्द्रह वर्ष की अवधि के भीतर हिन्दी राजकीय कार्यों के ही नहीं अन्य सभी क्षेत्रों के व्यवहार के अनुरूप साहित्य से भरपूर हो जायगी ।

भारतीय लेखनकला और देवनागरी लिपि

भारत का प्राचीनतम ज्ञान वेदों में निहित है । प्रारम्भ में वेद-वाणी को एक-दूसरे से सुन कर ही धारण किया जाता था । महाभारत युद्ध से दो शताब्दी पहले भारत में लेखन-कला का आविष्कार हुआ । तब उस समय के समूचे ज्ञान को लिपिबद्ध करने की प्रवृत्ति जगी । ब्राह्मी वर्णमाला का विकास हुआ । महाभारत युद्ध के समकालीन कृष्ण द्वैपायन व्यास ने उस समय तक के समूचे ज्ञान की संहिताएँ बना कर उन्हें ऋग् यजु साम और अथर्व चार वेदों में बाँट दिया । सूतों के आख्यानों को उन्होंने पुराण संहिता में संकलित किया ।

भारत में अब तक तीन प्रकार की पुरानी लिपियों में लिखी वस्तुएँ मिली हैं । उनमें दो के नाम हैं ब्राह्मी और खरोष्ठी । तीसरी लिपि सिन्ध के लरकाना जिले में सिन्धु नदी के काँठे के मुअन जो दड़ो और रावी के निचले काँठे के हड़पा कस्बे, कलात पठार के नाल गाँव तथा कुछ अन्य स्थानों में हुई खोदायी में पायी गयी मुद्राओं पर अङ्कित है । यह लिपि अनुमानतः ईसा से ३००० वर्ष पहले की है । अभी तक इसको न तो ठीक से पढ़ा जा सका और

न इसकी उत्पत्ति और विकास का कोई सर्वमान्य सिद्धान्त स्थिर हो सका।

खरोष्ट्री के सम्बन्ध में विद्वान् प्रायः सहमत हैं कि वह पश्चिमी एशिया से व्यापारियों के द्वारा भारत में पहुँची। यह पश्चिमोत्तर भारत में ही सीमित रही। ई० पू० १७५ से १०० ई० तक के कुछ सिक्कों पर के लेख तथा पेशावर के पास शाहबाजगढ़ी का अशोक का अभिलेख इसी लिपि में लिखे गये। मध्य एशिया तथा चीनी तुर्किस्तान की खोदाई में भी इसके लिखे अवशेष मिले हैं। इसके नाम तथा जन्म के विषय में विद्वान् एकमत नहीं हो सके। इसे मौर्यों ने उत्तर-पश्चिमी भारत के शासन-कार्यों के लिए ग्रहण किया। पीछे बाख्त्री के यवनों, शकों और कुषाणों ने इसका व्यवहार भारतीय भाषाओं के लिए किया। गुप्त-सम्राटों के समय में ब्राह्मी समस्त राष्ट्र की लिपि बनी। तब खरोष्ट्री का चलन बंद हो गया। यह दायें से बायें लिखी जाती थी।

ब्राह्मी लिपि के सबसे पुराने रूप अशोक के अभिलेखों में मिलते हैं। कुछ विद्वानों ने सिन्धु काँठे की लिपि को इसका ही अब तक मिला सबसे पुराना रूप माना है। वैदिक, उत्तर वैदिक, महाजनपद और आरंभिक मौर्य काल तक के पुराने समय की लिपि में लिखा साहित्य अप्राप्य है। इससे अशोक के अभिलेखों के पहले देश में प्रचलित लिपि का अब तक ज्ञान नहीं हो सका। जो हो, इन अभिलेखों से इतना तो निश्चित है कि ईसा से कोई तीन शताब्दी पहले की ब्राह्मी लिपि कैसी थी। ये अभिलेख काठियावाड़ से उड़ीसा तक और हिमालय की तराई से मैसूर तक फैले समस्त देश में जहाँ-तहाँ मिले हैं। ये सर्वसाधारण के निमित्त अङ्कित कराये गये थे। इससे यह स्पष्ट है कि यह लिपि उस समय समस्त देश में पढ़ी और समझी जाती थी। अशोक के समय की ब्राह्मी उसके पीछे के मौर्य एवं शुङ्ग युगों से गुप्त सम्राटों के युग तक पहुँचते-पहुँचते बदलती गयी। अशोक के समय में और उसके पश्चात् भी बौद्धधर्म के प्रचारक देश के बाहर गये, वे साथ में इसे भी लेते गये। इसी में मध्य एशिया की पुरानी खोतनी, ईरानी और लारेवारी भाषाएँ लिखी गयीं। छठी शताब्दी में इसी से सिद्धमात्रिका लिपि विकसित हुई। सातवीं शताब्दी में इसके रूपान्तर शारदा, कुटिल और नागर नामों से अभिव्यक्त हुए। शारदा देश के उत्तर-पश्चिमी अञ्चल में, कश्मीर, पंजाब तथा सिन्ध में फैली। टक्री या टक्करी शाकल (आधुनिक स्यालकोट) के टक्कों की लिपि थी। डोग्री, चमेआली, मंडेआली, सिरमौरी, जौनसारी, कोछी और कुल्लुई नामक पश्चिमी पहाड़ी भाषाओं की लिपियाँ इसी के विविध रूप हैं। लंडा में पश्चिमी पंजाबी (लँहदा) और सिन्धी लिखी जाती हैं। गुरुमुखी लिपि शारदा से ही बनी।

कुटिल लिपि पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, असम, उड़ीसा, मणिपुर तथा नेपाल में प्रचलित हुई। बिहार की कई प्रकार की कैथी और मैथिली या तिरहुती लिपि के अतिरिक्त बँगला, असमिया, उड़िया, मणिपुरी और नेपाली (नेवारी) इसी के रूपान्तर हैं।

नागर लिपि ही देवनागरी है। सम्भव है यह गुजरात के नागर ब्राह्मणों अथवा नगर के लोगों के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण नागर वा नागरी कहलायी हो। इसी में देवभाषा (संस्कृत) लिखी जाती थी। इससे यह देव-नागरी हुई। देवोपासना के लिए 'देवनागर' नामक यन्त्रों में प्रयुक्त चिह्नों को बाद में अक्षर मान लेने से ये देवनागरी कहलाये। गुप्त युग में समूचे देश में व्याप्त ब्राह्मी की यही उत्तराधिकारिणी हुई। यही ब्राह्मी वर्णमाला हिन्दी (नागरी), मराठी, गुजराती, गुरमुखी, बँगला, उड़िया के अतिरिक्त सिंहली, तिब्बती, म्यम (बरमी) और स्यामी में चलती है और द्राविड तेलगु, तमिळ, कन्नड, मलयाळम में भी। कम्बुजी और हिन्द द्वीपी (इंदोनीसिया) की भाषाओं की भी यही वर्णमाला है। हाँ, इनमें कुछ अक्षरों के रूपों में इससे कम अन्तर है और कुछ में अधिक।

हिन्दी भाषा की सभी बोलियाँ इसी लिपि में लिखी जाती हैं, यद्यपि उनमें कुछ की स्थानीय लिपियाँ भी अभी सीमित रूप में प्रचलित हैं। मराठी की यही लिपि है। उसमें हिन्दी में प्रयुक्त कुछ वर्णों के भिन्न आकृति के वर्ण काम में आते हैं। वे सब छापे के अक्षरों के चलने से हिन्दी में अपरिचित नहीं रहे। संस्कृत का विशाल वाङ्मय भी इसी लिपि में है। इस प्रकार इस समय के भारत में हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश में हिन्दी के साथ उसकी लिपि भी सब व्यावहारिक कामों में चलती है। पंजाब और बंबई के द्विभाषी प्रान्तों में अपनी ही बहन गुरुमुखी और गुज-राती के साथ-साथ व्यवहार में आती है। भारत गणराज्य की राष्ट्रभाषा हिन्दी इसी लिपि में लिखी जाती है। अतएव जिन राज्यों में हिन्दी राजभाषा नहीं है वे भी केन्द्रीय शासन के अतिरिक्त अन्य राज्यों से कालान्तर में हिन्दी (नागरी) भाषा के साथ ही नागरी लिपि का भी प्रयोग पूर्णतया करने लगेंगे। तब सम्भव है अन्य भाषाएँ भी धीरे-धीरे इसे अपना लें और यह देश की एकता का सपना पूरे रूप से साकार कर दे।

इस प्रकार देश के पारस्परिक काम-काज के लिए अपनायी हिन्दी में जब अन्य प्रादेशिक भाषाओं से शब्द अपनाये जायँगे तब उनकी ध्वनियों के चिह्न भी आयेंगे ही जो हिन्दी में नहीं हैं। इसी प्रकार संसार की अन्य भाषाओं

के ज्ञान को आत्मसात् करने के साथ ही उनकी विशिष्ट ध्वनियों के सूचक चिह्न भी आगे-पीछे हिन्दी में लाने ही होंगे। अतएव हिन्दी की वर्तमान देवनागरी लिपि के १४ स्वरों और सन्ध्यक्षरों तथा ३४ मूल व्यञ्जनों में कुछ नये वर्ण आयेंगे ही। फिर छापे और टंकन के अधिकाधिक व्यवहार में आने से परिश्रम समय आदि बचाने की प्रेरणा स्वभावतया उत्पन्न हो रही है। इससे भी इस वर्णमाला के प्रचलित वर्णों में परिवर्तन आवश्यक हो गया है देवनागरी वर्णों का वर्तमान रूप एक ही समय में स्थिर नहीं हुआ। बदलते-बदलते ये आजकल की आकृति पा सके हैं। ये देखने में सुडौल और सुघर हैं। इसी से कुछ लोग इनको बदलना नहीं चाहते, ज्यों का त्यों रखना चाहते हैं। पुरानी वस्तु से मोह होना स्वाभाविक ही है। परन्तु जैसे अतीत में अनेक रूपान्तर अपनाते हुए ये हमारे समय में पहुँचे हैं वैसे ही वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इन्हें अपना चोला बदलना ही होगा। यों इनका विकास-क्रम चलता रहेगा।

पुराने समय में शासन की बागडोर राजाओं और उनके सामन्तों के हाथ में रहती थी। वे ही जन-जीवन को प्रभावित और रूपान्तरित करते थे। आज जनतन्त्र का युग है। अब जनता के चुने-माने प्रतिनिधि ही उसको प्रेरणा देते हैं। अतएव देवनागरी अक्षरों में परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव होने पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने लिपि-सुधार के लिए पैर उठाये। उसने बहुत सी नयी बातें चलाने की योजना स्वीकार की, उनमें मुख्य ये थीं—

१. इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ का प्रयोग बन्द कर दिया जाय। केवल अ रहे। अन्य स्वरों की प्रचलित मात्राएँ अ में लगा कर बारह खड़ी काम में लायी जाय। यथा, अ आ अि अी अु अू अे अै।

२. ञ, झ और ण से स्थान पर इनके मराठी में चल रहे रूप ञ झ ण हों और मराठी, गुजराती, कन्नड, तेलगु आदि का ळ और ले लिया जाय।

३. संयुक्ताक्षर क्ष का रूप क्ष हो।

४. जिन वर्णों के अन्तिम अंश में खड़ी पाई होती है (जैसे, ग, घ, प, स आदि) उनको किसी वर्ण से मिलाना हो तो उनकी पाई हटा कर मिलाया जाय। किन्तु क और फ का वर्तमान संयोज्य रूप क फ चलता रहे। किन्तु जिन वर्णों के अन्त के भाग में खड़ी पाई नहीं है (जैसे, द, ह आदि) उनसे मिलने वाले वर्ण से सटा कर यह चिह्न (-) लग जाय। जैसे, विद-वान।

५. संयुक्ताक्षरों के वर्तमान रूप से उनके उच्चारण-क्रम का बोध नहीं

होता। इससे वे वर्ण उच्चारण-क्रम से आगे-पीछे रखे जायँ। द्वार, महत्ता, सत्र, प्रकार।

ये तथा अन्य सुझाव सम्मेलन की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने ही अपनाये और इन्हीं के अनुसार उसकी पुस्तकें छपने लगीं तथा इनके अनुसार वह आज भी अ-हिन्दी प्रदेशों में शिक्षा देती है। इस प्रकार यह सुधरी लिपि उन लोगों के बीच न चली जो हिन्दी भाषा के लिखने पढ़ने के लिए देवनागरी का व्यवहार करते हैं। हिन्दी के क्षेत्र के बाहर के लाखों व्यक्ति इसे सीख कर केवल उक्त समिति की छपाई पुस्तकों में इसका उपयोग कर पाते हैं, हिन्दी की कोटि-कोटि पुस्तकें और उसके समाचार-पत्रों के पढ़ने के लिए उन्हें देवनागरी का सर्वमान्य रूप सीखना ही पड़ता है। इस प्रकार उन पर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की चलाई यह लिपि दोहरा बोझ डालती है।

सम्मेलन के इन्हीं परिवर्तनों को थोड़े हेर-फेर के साथ कुछ दिन हुए उत्तर-प्रदेश की सरकार ने चलाना आरम्भ कर दिया है। उसके स्वत्व में प्रकाशित पुस्तकें इसमें ही कई वर्ष से छपती हैं और इस प्रकार सन् १९५६ में उसके अधीन चल रहे बेसिक स्कूलों की कक्षा तीन तक के छात्र इस नयी लिपि को लिखने-पढ़ने में व्यवहार करने लगे हैं। इसी को कुछ परिवर्तन के साथ नवंबर १९५६ के पूर्व की मध्यप्रदेश सरकार ने भी अपने यहाँ की बेसिक कक्षाओं के लिए स्वीकार किया था। इस लिपि में हिन्दी क्षेत्र के प्रचलित देवनागरी अक्षरों से नीचे लिखी नवीनता है—

१. इसमें अ, ख, छ झ ण ध भ के बदले अ ख छ झ ण ध भ चलते हैं और ळ का समावेश कर लिया गया है।

२. इ की मात्रा में थोड़ा परिवर्तन कर दिया गया है और वह वर्ण के पीछे न लगा कर आगे लगायी जाती है, जैसे की।

३. संयुक्ताक्षर दो प्रकार से लिखे जाते हैं—अक्षर के अन्त की खड़ी पाई हटा देते हैं अथवा जुड़ने वाले पहले वर्ण के नीचे हलन्त का चिह्न (्) लगा देते हैं। जैसे क्क, च्च, ज्ज, या क्‌क, च्‌च, ज्‌ज। परन्तु क्ष और ज्ञ का पुराना रूप ही रखा गया है। ट ठ ड ढ द को मिलाते समय केवल हलन्त करते हैं। जैसे टट्टू गड्ढा, चद्दर को टट्‌टू, गड्‌ढा चद्‌दर लिखते हैं। किसी वर्ण के बाद र को जोड़ते समय र का रूप पूरा रहता है। जैसे प्रारम्भ को प्‌रारम्भ लिखते हैं। यदि किसी व्यञ्जन के पहले ह को जोड़ना हो तो उसका रूप होगा ह्। जैसे ब्राह्मण को ब्‌राह्‌मण लिखा जाता है।

४. १ और ९ का 1 और ९ के रूप में प्रयोग होता है।

इस परिवर्तन को लोग अच्छी आँख से नहीं देखते। इस सरकारी देवनागरी में छपी पुस्तकें देख कर पढ़े-लिखे लोग चौंकते हैं। ख छ ध भ के नये रूप लिखने में असुविधा होती है; संयुक्त वर्णों में हलन्त के प्रयोग से शब्दों के कुछ विचित्र रूप ही सामने नहीं आते (जैसे अन्तर्द्वन्द्व का अन्तर्-द्वन्द्व, प्रक्रिया का प्रक्रीया, इन्द्र का इन्द्र।) किन्तु लिखने में भी अधिक समय लेते और देखने में भद्दे जान पड़ते हैं। इतना ही नहीं, इस प्रकार लिखने से धीरे-धीरे हलन्त के छूट जाने का डर है और तब हिन्दी के संयुक्त वर्णों का उच्चारण उर्दू या पंजाबी की भाँति अशुद्ध होने लगेगा। तब बड़ा अनर्थ होगा। इससे देवनागरी लिपि की पूर्णता और उच्चारण की शुद्धता को धक्का लगेगा। व्रज का तरयोना तर्योना से तरयोना हो जायगा। गिरयो या गिन्यो का गिर्यो गिरयो बन जायगा और हमारा राष्ट्र राष्ट्र से राषटर। सच है कि नागरी लिपि में ए और ओ के ह्रस्व उच्चारण के लिए चिह्न अपेक्षित हैं, जिनकी पूर्ति होनी चाहिये। ऐसे ही ख ध झ भ में यदि लिखने और पढ़ने में भ्रम या त्रुटि का डर है तो इनके उक्त नये रूपों की अपेक्षा लिखने में सुगमतर और देखने में और सुघर रूप निकाल सकना कठिन न होगा। अभिप्राय यह कि देवनागरी को देखने और पढ़ने में सुन्दर और सुगम बनाने के साथ ही उच्चारण में सब प्रकार से शुद्ध रखने का ध्यान अपेक्षित है। इसको सुधारने से छापे तथा टंकन में अक्षरों और मात्राओं के लिए स्थान में कमी होनी चाहिये और इनके कार्यों में प्रयत्न कम लगना चाहिये। अभी तक जो सुधार हुए अथवा चलाये जा रहे हैं उनसे ये उद्देश्य पूरे नहीं होते। अतएव अन्य लिपियों की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट, वैज्ञानिक तथा आकर्षक होने पर भी देवनागरी के कुछ दोष और अभाव दूर करने की आवश्यकता अभी बनी है। इसकी पूर्ति के बिना वह पूर्ण और सम्पन्न न होगी। उसकी भावी उन्नति के मार्ग में जितनी अड़चनें हैं उन्हें अविलम्ब मिटाने के सभी प्रयत्न अभिनन्दनीय हैं।

साहित्य

काल विभाग

मनुष्य चिर काल से भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान के समस्त क्षेत्रों में विचरण करता आ रहा है। क्रम-क्रम से वह इनका विस्तार भी करता चलता है। उसकी जानकारी की परिधि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इस प्रकार वह जो अनुभव करने सोचने और समझने लगा उसे उसने पहले बोल कर और बाद में लिख कर व्यक्त किया। इससे उसे अपनी बात कहने का सुख-सन्तोष मिला, दूसरों को सुनाने की लालसा तथा उत्सुकता पूरी हुई तथा अपने अर्जित ज्ञान की थाती दूसरों के लिए सँजोने की स्वाभाविक आकांक्षा की तृप्ति हुई। यही मन के भाव और मस्तिष्क के चिन्तन से उत्पन्न उद्‌गार और विचार साहित्य कहलाये। मनुष्य समूह में रहता है समाज बना कर। वह एक-दूसरे के सम्पर्क में काम-काज करता और सोचता-विचारता है। परिस्थिति-वश उसके ये काम बदलते हैं और उसके सोचने-विचारने के ढंग भी बदलते हैं। इस प्रकार निरन्तर उसके भाव, विचार, चिन्तन आदि में हेरफेर होता रहता है। वह पहले की बातों को पकड़े रहता है, फिर देश-काल के परिवर्तन के साथ उनमें भी आवश्यकतानुसार रूपान्तर करता जाता है। उसका यही विकास क्रम उसके साहित्य में देखा जाता है। किसी देश में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक उलट-फेर के साथ उसके निवासियों के भाव और विचार भी तदनुरूप बदलते जाते हैं। यह परिवर्तन उनके प्रतिनिधि रूपी कवियों लेखकों आदि के द्वारा साहित्य में प्रकट होता है। साहित्य के इस क्रमिक विकास का लेखा-जोखा उसका इतिहास करता है।

यह सच है कि देश काल के अनुसार साहित्यकार भी बदलते जाते हैं, किन्तु वे अपनी व्यक्तिगत रुचि भी निरन्तर बनाये रखते हैं। इसी से किसी भी समय एक ही ढाँचे की रचनाएँ समस्त-साहित्य में नहीं देखी जातीं। विविध प्रकार के भावों एवं विचारों की धाराएँ प्रायः एक साथ अलग-अलग प्रवाहित होती चलती हैं। कभी ये बड़े समुदाय की मनोवृत्ति सूचित करती हैं और कभी अपेक्षाकृत छोटे वर्गों की। इसी प्रकार, समाज एवं साहित्य की ये विचार-धाराएँ किसी काल-विशेष तक भी सीमित नहीं रहतीं। उसकी अवधि के आगे,

बहुत आगे भी इनका प्रवाह बना रहता है। अतएव 'इस साहित्य-धारा में पुरातन का एकदम अन्त और नूतन का किसी समय एकदम आविर्भाव नहीं मिलता। एक ओर पुरातन प्रवाह चलता रहता है तो उसके साथ ही नूतन स्रोत फूटता दिखलायी देने लगता है। धीरे-धीरे यह नूतन धारा अधिक स्पष्ट और पुष्ट होती है। फिर भी बहुधा दोनों बढ़ती रहती हैं। कभी कभी इनसे सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध अन्य ऐसी धाराएँ भी दिखलायी पड़ती हैं, जो नये लोगों या प्रभावों के आ जाने से उत्पन्न होती हैं। परन्तु किसी भी समय विविध विचारों को व्यक्त करने वाले साहित्य के ये रूप एक-से शक्तिशाली नहीं होते। इनमें कोई अधिक प्रबल होते हैं और कोई कम, किसी में अपेक्षाकृत अधिक परिमाण में रचना होती है और किसी में कम। समूचे साहित्य के भिन्न-भिन्न कालों में अलग-अलग प्रवृत्तियों की प्रमुखता देखी जाती है।

इसी से साहित्य के क्रमिक विकास का ब्योरा देते समय अध्ययन और विचार करने के सुभीते के लिए उसको अलग अलग कालों में बाँट दिया जाता है। कभी इन विविध कालों को किसी प्रमुख साहित्यकार के पीछे और कभी इनमें प्रचलित प्रवृत्ति के आधार पर व्यक्त किया जाता है। हिन्दी साहित्य के हजार या कुछ अधिक वर्षों के काल के विभाजन की यही दोनों पद्धतियाँ इधर चल रही हैं। हम इन्हें आदि, मध्य और वर्तमान (आधुनिक) काल की संज्ञा देंगे।[1]

आदि काल प्रायः ८०० ई० या इसके कुछ पहले से १३०० के आसपास तक माना जाता है। अब तक मिली सामग्री से प्रकट होता है कि इस बीच अवहट्ठ या अपहंस (अपभ्रंश) का उत्तरकालीन प्रभाव लिये हुए हिन्दी में रचनाएँ होती थीं। राजस्थान-गुजरात और पूर्वाञ्चल के जैनियों, नाथ-सम्प्रदाय के योगियों एवं सहजयानी सिद्धों की कविता तथा कुछ गद्य कृतियों में इस काल का कुछ साहित्य अभी तक उपलब्ध हुआ है। इसी युग में कवियों ने वीरों की प्रशस्तियाँ लिखने और वीर तथा शृङ्गार के भावों के फुटकल छन्द तथा आख्यान-काव्य लिखने का भी प्रयास किया। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कवियों की अलग अलग ढंग की रचनाएँ हैं, जिन्हें किसी वर्ग विशेष में नहीं रखा जा सकता।

---

१. रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में दिये काल-विभाजन की इस रीति को परवर्ती लेखकों ने ग्रहण किया है। यहाँ भी शुक्लजी के दिखाये इसी राज मार्ग को किञ्चित् हेर-फेर के साथ अपनाया गया है।

मध्य काल—लगभग सन् १३०० से लगभग १८५० ई० तक के समय को मध्य काल कहते हैं। इसके पूर्वार्द्ध (१३००–१६५०) में अन्य विषयों के साथ ही भक्ति सम्बन्धी काव्य अधिक रचे गये। हमारी परम्परा में भगवान् के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों की उपासना मान्य है। इस काल में दोनों प्रकार की भक्तियों का प्रचार अधिक हुआ। इसी से इसको भक्ति युग कहा जा सकता है। उत्तरार्द्ध (१६५०–१८५०) की कविता में शृङ्गार की ओर अधिक ध्यान दिया गया। रीति ग्रन्थों और मुक्तक कविताओं में तथा नख-शिख नायिका-भेद आदि के द्वारा कवियों ने शृङ्गार के लौकिक रूप का बहुत चित्रण किया। भाषा को सँवारने और निखारने में इस काल के कवियों की वृत्ति अधिक रमी। इस प्रकार इसमें रचे काव्यों में कला का चमत्कार भी देखा जाता है। इनके अतिरिक्त इस काल में अन्य प्रकार की रचनाएँ भी होती रहीं। रीति और शृङ्गार विषयक रचनाओं की प्रधानता के कारण इसे रीति-शृङ्गार-युग कहते हैं और रचना में कलात्मक प्रवृत्ति अधिक होने से इसे कला-प्रधान युग भी कहा जा सकता है।

उत्तर मध्यकाल के बाद हिन्दी का **आधुनिक काल** १८५० के लगभग से आरम्भ हुआ। इसमें ही अँगरेज प्रभुता का अन्त हुआ, देश की दो शताब्दियों की दासता की बेड़ी कटी और स्वतन्त्रता के नये जीवन की नयी चेतना फूटी। कविता के अतिरिक्त गद्य में सभी प्रकार की नूतनतापूर्ण रचनाओं का प्रादुर्भाव और विकास हुआ। हिन्दी साहित्य की गङ्गा शतधा, नहीं, सहस्रधा हो कर अजस्र वेग से बहने लगी। इसके अन्तिम दशक में स्वराज्य की देन के रूप में हिन्दी राष्ट्रभाषा बनी। फिर तो इसके चरम उत्कर्ष के दिन आये। यह उसी की साधना में उन्मुख हुई। इस युग के साहित्य में काव्य के नये विधान हुए और गद्य के अनेक रूपों और शैलियों के प्रदर्शन।

ऊपर कहा जा चुका है कि साहित्य देश-काल की विभिन्न स्थितियों से प्रेरित होता है। उसे उनसे गति प्राप्त होती है। साहित्यकार उनसे भावना और चिन्तन की दिशा देखता है। अतएव उनकी छाया में साहित्य के विकास की प्रवृत्तियाँ देखने से उन्हें समझने में सुविधा होगी। काल विशेष की साहित्यिक गति-विधि का निरीक्षण कर लेने पर उसके विशेष प्रणेताओं का परिचय मिल जाय तो उसका सर्वाङ्गीण बोध हो जायगा। इसी प्रणाली से आगे हिन्दी-साहित्य का दिग्दर्शन होगा।

आदि काल

(सन् ८०० से १३०० ई०)

●

युग की पृष्ठभूमि

राजनीतिक परिस्थिति

ईस्वी सातवीं शताब्दी में कान्यकुब्ज (कन्नौज) का विशाल साम्राज्य बहुत प्रबल हो गया था। वह तत्कालीन हूण आक्रमणों से उत्तर की सुरक्षा का द्वार था। सन् ६०६ से ६४३ के लगभग तक राज्य करके हर्ष ने उसे चरम उत्कर्ष प्रदान किया। उसके न रहने पर बहुत दिनों तक उस प्रदेश में राजसत्ता डाँवाडोल रही। जब कभी प्रबल रहती तब देश एक सूत्र में गुँथा रहता, जब दुर्बल हो जाती तब छिन्न-भिन्नता बढ़ जाती। नवीं शताब्दी में प्रतिहार मिहिरभोज ने उसे फिर से समेटा और सुव्यवस्था का क्षेत्र बनाया। उधर दक्षिण को राष्ट्रकूटों के साम्राज्य ने सँभाल रखा था। इसी बीच अरब के नवोदित इस्लाम ने पश्चिम की ओर बढ़ने के साथ पूर्व में भी अपनी प्रभुता का झंडा फहराने का निश्चय किया। परन्तु जहाँ उन्होंने बात की बात में पश्चिम को रौंद डाला, इधर मध्य एशिया को भी कुचल डाला, वहाँ वे आधुनिक अफगानिस्तान से आगे न बढ़ सके। तब वह क्षेत्र भारत के अन्तर्गत था। इस पर इधर से मुँह मोड़ कर अरबी आक्रमणकारी सिन्ध की ओर मुड़े। उन्होंने सन् ७१०–११ में मुहम्मद इब्नकासिम के नेतृत्व में सिन्ध पर धावा किया। वहाँ के राजा दाहिर और उसके पुत्र तिल-तिल भूमि के लिए लड़े, परन्तु अन्त में हार गये। मुहम्मद ने अन्त में सिन्ध में अरब राज्य की नींव डाली। कुछ दिन वह इसी प्रदेश तक सीमित रहा। फिर ७३६ ई० में तत्कालीन अरब सेनापति ने सिन्ध से कच्छ, दक्खिनी मारवाड़ उज्जैन और उत्तरी गुजरात को ध्वस्त कर लाट (दक्षिणी गुजरात) में प्रवेश किया। वहाँ के चालुक्य

सेनापति ने उस अरब सेना का पूर्णतया संहार किया। इस प्रकार अरब सिन्ध में ही सीमित रहे, नवीं शताब्दी में वहाँ उनके छोटे-मोटे सरदार ही रह गये। इसी बीच अरबों ने तुर्कों पर विजय प्राप्त कर उन्हें मुसलमान बना लिया था और उनके साथ मिल कर मध्य एशिया से प्रबल चीन साम्राज्य का अन्त कर दिया था। परन्तु भारत के उत्तर-पश्चिम के सीमान्त के ये सशक्त अरब-तुर्क इस देश में प्रवेश करने का साहस न कर सके। ऐसे थे उस समय के शक्तिशाली पश्चिमोत्तर भारत के राज्य। इनमें कश्मीर के सम्राट् ललितादित्य का विशिष्ट स्थान है।

दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों में प्रतिहारों का साम्राज्य बना रहा। फिर भी उसके दूर के प्रान्त स्वतन्त्र हो गये। इन नये राज्यों में विशिष्ट थे चेदि (दक्षिण बुन्देलखण्ड), जभौती (उत्तर बुन्देलखण्ड), मालवा, गुजरात, साँभर और गौड़। नवीं शताब्दी के अन्त में बुखारा के तुर्क आक्रमणकारियों के कारण हिन्दू राजाओं ने काबुल से हट कर, अटक के समीप उदभांडपुर (ओहिन्द) को अपनी राजधानी बना लिया। कुछ समय पीछे शाहि इसके स्वामी हो गये। इन्होंने आगे चल कर पंजाब का अधिकांश जीत लिया। बुखारा की तुर्क सल्तनत गजनी तक बढ़ आयी। दसवीं शताब्दी के अन्त में गजनी का राज्य महमूद के हाथ आया। उसने उक्त शाहि राज्य को बड़ी कठिनाई से जीता, फिर पंजाब और काँगडा को लिया और अन्तर्वेदी पर चढ़ाई करके मथुरा-कन्नौज लूटे तथा कन्नौज को करद राज्य बनाया और ग्वालियर और कालिंजर को लूटा। तब सौराष्ट्र पर चढ़ाई कर के सोमनाथ मन्दिर से अपार धनराशि लूटी।

महमूद के इन आक्रमणों से उत्तर भारत की रक्षा करने में उदासीन दक्षिण का चोळ राजा राजेन्द्र उन्हीं दिनों पूर्व में अपने राज्य का विस्तार करने में लगा था। उसने आजकल के उड़ीसा, छत्तीसगढ़ और पश्चिम एवं पूर्व बंगाल को जीत लिया। फिर समुद्र-पार के श्रीविजय राज्य को जीत कर आधुनिक बरमा मलाया आदि को अपने अधीन किया। महमूद के बाद मालवे के भोज और चेदि के कर्ण का प्रताप भी कम न था। उन्होंने कुरुक्षेत्र और काँगड़े से तुर्क आधिपत्य का अन्त कर दिया। ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दियों में दिल्ली में तोमर, अजमेर में चौहान तथा कन्नौज में गाहड्वाल भी शक्तिशाली राज्य थे। ११५० में अजमेर के बीसलदेव चौहान ने तोमरों से दिल्ली और हाँसी ले कर हिमालय तक अपना राज्य फैला लिया और पंजाब से तुर्कों को पीछे धकेला। उसके बाद गजनी के तुर्कों का अन्त कर के गोर के शहाबुद्दीन

या मुहम्मद-बिन-साम (शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी) ने भारत जीतने की ठानी। कई बार हार कर भी उसने हिम्मत न हारी और अनेक चढ़ाइयाँ कीं। राजेन्द्र के समान अजमेर का शक्तिशाली राजा पृथ्वीराज भी विदेशी आक्रमण के प्रति जागरूक न था। जब गोरी ने गुजरात पर आक्रमण किया था तब उसकी सेना अजमेर की पश्चिमी सीमा से होती आबू तक गयी और लौटी थी। उसको रोकने का ध्यान न दे, अपने ताऊ बीसलदेव की शिक्षा की उपेक्षा कर उसने उन्हीं दिनों जभौती के राजा परमर्दिदेव से युद्ध छेड़ा। आगे चल कर पृथ्वीराज स्वयं मुहम्मद गोरी के हाथ मारा गया। उसका राज्य गोरी के हाथ आया और फिर कन्नौज कालिंजर आदि का पतन हुआ। दिल्ली में तुर्क सल्तनत स्थापित हुई। क्रम क्रम से वह फैली। यद्यपि उसका विरोध करने वाले सर्वत्र रहे, और अवसर पा कर वे उसके सरदारों को उखाड़ फेंकने में भी नहीं चूकते रहे फिर भी अन्त में तुर्कों का प्रभुत्व जम गया।

इस विवरण में हमने देखा कि हिन्दुओं में अपना राज्य फैलाने की लालसा लिये अनेक वीर थे, किन्तु वे विदेशी आक्रमणों के समय अपने पड़ोसी राज्य से उदासीन रहते थे। वे तभी सचेत होते थे जब सीधे उनपर ही आक्रमण होता। उन्होंने कभी भी तुर्क सुलतानों की अधीनता सदैव के लिए नहीं मानी। जब भी अवसर मिला उन्होंने उनको उखाड़ फेंका। फिर भी उन्होंने ऐसा किया केवल अलग अलग प्रयास करके, मिल कर आक्रमणकारी विदेशी सेना से कभी लोहा नहीं लिया।

यद्यपि सिन्ध के दाहर का तथा उदभाण्डपुर के शाहियों का राजवंश ब्राह्मण था फिर भी उन दिनों राजसत्ता क्षत्रियों के ही हाथ में थी। राज करने और विदेशी आक्रमणों से देश को बचाने का काम भी उन्हीं का था। तदर्थ राजा और उनके सामन्तों सैनिकों को छोड़ अन्य किसी वर्ग को देश की रक्षा से जैसे कोई प्रयोजन ही न था। यह सिन्ध में हुए अरबों के आक्रमण के समय देखा गया। वहाँ के जाटों ने उदासीनता ही नहीं दिखलायी प्रत्युत आक्रमणकारियों का साथ दिया था। यह सच हो सकता है कि दाहर ने उनके साथ बुरा व्यवहार किया था, किन्तु उनको सोचना चाहिये था कि विदेशी और विधर्मी अरब हमारे ऊपर प्रभुता स्थापित करने के लिए ऊपर से मीठा व्यवहार करके हमें अपने हाथ की कठपुतली बना रहे हैं। इसी प्रकार सिन्ध के बौद्धों का इस आक्रमण के समय अपने ब्राह्मण राजा का साथ न देना भी इसी मनोवृत्ति को सूचित करता है। इस प्रकार तत्कालीन शासन से जनता की उदासीनता और राजनीतिक चेतना के ह्रास का पता चलता है।

साहित्यिक परिस्थिति

इस सङ्घर्ष-काल में भी संस्कृत में साहित्य का निर्माण होता रहा। वही अभिजात वर्ग के प्रयोग का माध्यम रही। ज्योतिष, दर्शन, स्मृति आदि सभी में व्याख्याएँ मात्र लिखी गयीं। नाटक, कविता आदि में पहले तो भवभूति राजशेखर जैसे श्रेष्ठ साहित्यकार हुए, परन्तु पीछे के काल में अलङ्कार और वर्णन-कौशल का प्रदर्शन ही कवि-कर्त्तव्य समझा जाने लगा। बारहवीं शताब्दी का श्रीहर्ष का नैषध-चरित इसका उदाहरण है। कल्हण ने अवश्य नयी दिशा में पैर रखे। सन् ११४६ में उसका इतिहास-काव्य राज-तरंगिणी पूरा हुआ, उसकी भाषा और शैली की सरलता दर्शनीय है। प्राकृत में हेमचन्द्र का प्रसिद्ध शब्दानुशासन इसी समय की कृति है। तात्पर्य यह कि नवोन्मेष का अभाव प्रत्यक्ष होने लगा। उस समय अपभ्रंश और देशी भाषा में जो रचनाएँ हुईं उनमें भी प्रायः यही बात है। इसमें अधिकतर धार्मिक विचार हैं। जान पड़ता है इनकी रचना अधिकांशतः ऐसे लोगों ने की जिन्हें केवल धर्म सम्बन्धी कामों से प्रयोजन था। उन्हें देश की उथल-पुथल से जैसे कोई काम ही न था।

धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति

वैदिक और पौराणिक धर्म के विविध रूपों के साथ ही बौद्ध और जैन धर्म भी अपने वास्तविक आदर्शों और सिद्धान्तों से बहुत अलग हट गये थे। बौद्ध महायान से वज्रयान सम्प्रदाय निकला। वह धीरे-धीरे सारे पूर्वी और पश्चिमी भारत में छा गया। उसके भी भेदोपभेद हुए। उनमें सहजयान मन्त्रयान आदि विशिष्ट हैं। इनका दार्शनिक विवेचन साधारण जनता के लिए पहेली ही रहा, व्यावहारिक पक्ष भी कल्याणकारी नहीं था। इन सम्प्रदायों में अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति और उनका प्रदर्शन ही सिद्धि समझा गया और सिद्धि-लाभ के लिए गुप्त मन्त्रों का जप, आचार-विहीन गुप्त क्रियाओं, विशेष कर निम्न वर्णों की नारियों से भोग, आदि को अपनाया गया। इससे मनुष्य की स्वभावजात कामुकता के बढ़ाने में योगिनियों ने सहायता पहुँचायी और उसके समर्थन के लिए धर्म के नाम का सहारा प्राप्त हुआ। चमत्कार-प्रदर्शन के द्वारा निरीह जन-समुदाय को ठगने की प्रवृत्ति बढ़ी, नैतिक स्तर गिरा और इन्द्रिय-लोलुपता की पूर्ति की राह खुली। बौद्धों के अतिरिक्त वैष्णवों के पाञ्चरात्र, शैवों के पाशुपत, कालमुख, कापालिक, रसेश्वर आदि सम्प्रदाय इसी वर्ग के हैं। गाणपत्य सम्प्रदाय में हरिद्रागणपति और उच्छिष्ट गणपति की उपासना और शाक्तों में आनन्द

भैरवी, त्रिपुर सुन्दरी, ललिता आदि की अर्चना की यही प्रणाली है। और जैन सम्प्रदाय में भी इसी तान्त्रिक वामाचार पद्धति का प्रचार हुआ। इन सब में साधना की उक्त बौद्ध प्रणालियों का कुछ हेर-फेर के साथ चलन हुआ। आगे चल कर बौद्ध तान्त्रिकों ने इन सम्प्रदायों से भी बहुतेरी बातें ग्रहण कीं। समाज का बहुत बड़ा वर्ग इन वामाचारियों का क्रीडाक्षेत्र था। वह अपनी-अपनी रुचि और परम्परा से अपनाये सम्प्रदाय के इन विकृत मार्गों पर चलते थे। इस प्रकार के धार्मिक जीवन का प्रचार अधिकतर निम्नवर्गों में हुआ। कुछ ब्राह्मणों ने भी इनको स्वीकार किया, किन्तु उन्हें समाज में श्रेष्ठता नहीं मिली। इन सब वामाचार सम्प्रदायों में गुरु के माध्यम से सिद्धि की प्राप्ति सम्भव समझी गयी। बीच-बीच में इन वाममार्गियों के चंगुल से भोली भाली जनता को छुड़ाने के प्रयास भी होते रहे। नाथ योगियों ने बहुत कुछ वज्रयानियों की उपासना की तान्त्रिक पद्धति अपनायी, किन्तु आगे चल कर उनके आचार्य गोरखनाथ ने योग की प्रतिष्ठा की, जिसमें संयम और आचार की पूरी प्रतिष्ठा है। इसी प्रकार तमिळनाड के वैष्णव भक्त आळवार और शैव भक्त नायन्मार भक्ति के अविकृत रूप को ले कर आये।

शङ्कर, रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यों ने अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता में कही बातों के आधार पर पुष्ट किया, किन्तु लोक व्यवहार के लिए शिव और नारायण की उपासना चलायी। साथ ही नैष्ठिक हिन्दुओं में भी आचार-विचार व्रत-पूजा आदि की वैसी ही वृद्धि हुई जैसी जैनों में। उधर वाममार्गियों ने स्वच्छन्दता को अबाध रूप से प्रवाहित किया तो इधर जीवन को धार्मिक कृत्यों के कठोर घेरे में बन्द कर दिया। हमारे विवेचना-काल के भीतर उठा वैदिक और पौराणिक धर्म का यह प्रवाह उत्तर में दार्शनिक सिद्धान्तों के नव-निरूपण और ग्रहण तक आबद्ध रहा, इसका व्यवहार-पक्ष अर्थात् भक्ति-भावना का सरल रूप कुछ आगे चल कर फूटा।

इस पुरातन धर्म के मानने वालों के वर्ग ने उस वाम मार्ग की कुत्सा करने में कुछ उठा न रखा तो उस वर्ग ने भी इसकी पगड़ी उछालने और इसको जी भर कर कोसने की इति कर दी। जान पड़ता है समाज के ये दोनों वर्ग एक दूसरे को भला-बुरा कहने और अपने-अपने को श्रेष्ठतर कहने तथा समझने में ही दिन रात लगे रहते थे। निस्सन्देह उस समय के धार्मिक जगत् का वातावरण बहुत ही दूषित हो गया था।

समाज पर राजनीति और धर्म का ही सब से अधिक प्रभाव पड़ता है।

इन्हीं के फलस्वरूप उसकी गति की दिशा निश्चित होती है। पुराने नियमों के द्वारा गुण-कर्म के विभाग के अनुसार बने वर्णों और व्यवसाय के आधार पर बनी श्रेणियों ने होते होते अब जाति का रूप ले लिया। जातियों में ऊँच-नीच की भावना पहले से अधिक प्रबल हुई। आचार-विचार और स्थान में अन्तर होने से एक ही वर्ण की अगणित उपजातियाँ होने लगीं, जिनमें परस्पर खान-पान विवाह आदि बन्द होने लगा। छूतछात के नियम कड़े हुए। यहाँ बाहर से आयी हुई शक, कुशाण, हूण आदि जातियों को अपने धर्म की दीक्षा दे कर अपनी वर्ण-व्यवस्था के भीतर पचा जाने की क्षमता एकदम लुप्त नहीं हुई थी और ११७८ ई० में गुजरात के आक्रमण में पराजित मुहम्मद गोरी की सेना के बहुत बड़े अंश को विजेता गुजरातियों ने हिन्दू बना कर अपने में मिला लिया था। परन्तु यह अपवाद था। संस्कृत पढ़ कर शास्त्रों का ज्ञाता और महमूद गजनवी के साथ आया अल्बरूनी उसी युग के विषय में यह भी लिखता है कि युद्ध में बन्दी हुए हिन्दुओं को अपने धर्म और समाज में कोई स्थान न था। "उन्हें (हिन्दुओं को) इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गई है उसे शुद्ध कर के फिर से ले लें।"† तात्पर्य यह कि समाज में विधर्मी को आत्मसात् करना बन्द हो रहा था, चाहे पहले वह अपना ही क्यों न रहा हो। जैसे धार्मिक सम्प्रदायों में रूढ़ियाँ बँध चुकी थीं और सम्प्रदाय के भीतर उनका मानना अनिवार्य था, वैसे ही सामाजिक व्यवस्था भी रूढ़ियों का समर्थन करने लगी।

साहित्य का पूर्व रूप

ऐसे राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक अस्थिरता के समय हिन्दी साहित्य का पूर्वरूप प्रकट हुआ। हम उसका निरूपण काल-क्रमानुसार न कर के रचनाकारों के अलग-अलग वर्गों के आधार पर करेंगे। इससे प्रत्येक वर्ग के साहित्यकारों की प्रवृत्ति और कृति को समझने में अपेक्षाकृत अधिक सुभीता होगा। इस काल में वज्रयानी और सहजयानी सिद्धों, नाथपन्थी योगियों, जैन धर्म के अनुयायी विरक्तों मुनियों एवं गृहस्थ उपासकों और वीरता तथा शृङ्गार का चित्रण करने वाले चारणों भाटों आदि की रचनाएँ विशेष हुईं। कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने अन्य विषयों में कविता की। इन सब को एक एक कर के लिया जायगा।

---

† जयचन्द्र विद्यालंकार—इतिहास प्रवेश, पृ० ३५२

सिद्धों का साहित्य

जिसने ईश्वर का अस्तित्व तक अस्वीकार किया था कालान्तर में उसी बुद्ध की भगवान के रूप में पूजा होने लगी। फिर बोधिसत्वों की कल्पना और भक्ति का प्रचार हुआ और आगे तन्त्र ने इस धर्म को अपनी मूल दिशा से एकदम नयी राह में मोड़ दिया। यह तान्त्रिक क्रियाएँ आठवीं शताब्दी में इस धर्म में बहुत प्रबल हुईं। इनके द्वारा त्याग और संयम का स्थान भोग और सुख ने लिया। निवृत्ति परायण धर्म में प्रवृत्ति प्रबल हुई। 'ओं सर्वतथागतात्मको-ऽहम्' जैसे मन्त्रों के जप से अपने को तथागत (बुद्ध) समझने लगे साधक ने तान्त्रिक क्रियाओं को अपनाया। तात्विक दृष्टि से ये क्रियाएँ निर्वाण की प्राप्ति के लिए की जाती थीं। मन की निर्विकार और निश्चल स्थिति को ही निर्वाण माना गया। मन की यह समरस स्थिति उसको महासुख और सहज ज्ञान के द्वारा प्राप्त होती है। सरहपा (लग० ७६० ई०) कहते हैं कि

जल्लई मरइ उवज्जइ बज्झइ, तल्लइ परममहासुह सिज्झइ।
सरहे गहण गुहिर मग कहिआ, पसू-लोअ निव्वहि जिम रहिआ।

और

जब्बे मण अत्थमण जाइ, तणु तुट्टइ बंधण;
तब्बे समरस सहजे वज्जइ सुद्द ण बम्हण।

अर्थात् 'पशुलोक' के समान रह कर 'शूद्र और ब्राह्मण' का भेद मिटाने से 'समरसता' आती है। इसके लिए कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। काया के भीतर सभी तीर्थ हैं। उन्हीं से मन को शुद्ध करके

विग्गण-विवज्जिइ जोऊ वज्जइ अच्छह सिरि गुरुणाह कहिज्जइ।

अर्थात् द्वैत छोड़ कर चलना चाहिये। मन की इस अद्वैत दशा की प्राप्ति के लिए सरहपा कहते हैं कि नाद-विन्दु रवि-शशि मण्डल आदि कहीं नहीं, अपने पास ही सब कुछ है, टेढ़ा पथ छोड़ सीधा मार्ग अपनाओ।

नाद न विन्दु न रवि-शशि-मण्डल, चीअा राअ-सहावे मूकल।
उजु रे उजु छड़ि मा लेहु बंक, निअड़ि बोहि मा जाहु रे लंक।

इस अद्वैतता के द्वारा परलोक-सिद्धि के लिए सरहपा ने बतलाया कि

खाअन्त पिअन्ते सुहहिं रमन्ते, णित्त पुण्णु चक्का'वि भरन्ते,
अइस धँम्म सिज्झइ परलोअह, णाह पाए दलीउ भवलोअह।

अर्थात् खाते पीते सुख से रमण करते हुए जीवन यापन करो।

इस प्रकार बन्धन-मुक्त होने पर इन्द्रिय-सुख ही चरम लक्ष्य समझा गया। इसके लिए गुह्य साधना होने लगी। इसमें मद्यपान और निम्न वर्णों की स्त्रियों को योगिनी नाम दे कर उनके साथ रमण मुख्य हुए। इन्हीं से सिद्धि मिलने लगी। शबरी डोमनी रजकी आदि के साथ भोग के कार्य-कलाप की उद्भावना हुई। इन सिद्धों के चमत्कार एवं प्रभाव में आ कर स्त्रियाँ घर वालों की अवहेलना तथा लोक-मर्यादा का उल्लङ्घन करने में भी नहीं हिचकती थीं। कण्हपा (लग० ८४०) कहता है—

मारिअ सासु नणँद घरे शाली, मा मरिअ काण्ह भइल कपाली।

इन लोलुपतापूर्ण कर्मों को मन की वृत्तियों के दमन और उत्थान का सूचक दिखलाया गया। इस प्रकार वासना अबाध गति से फूट निकली। इस मार्ग में गुरु को ही सब कुछ माना गया। वही पथ-प्रदर्शक हुआ।

इन लोगों के मार्ग में ब्राह्मण पण्डित और उनके शास्त्र अवश्य बाधक होते रहे होंगे। अतः उनको अपने चेलों और चेलियों की आँखों में गिराने के लिए उनकी निन्दा जी खोल कर की गयी। कण्हपा बहुत ही शिष्ट ढंग से कहता है कि लोग अपने को परमार्थ का ज्ञाता समझते हैं, परन्तु होता है करोड़ में कोई एक ही। आगम वेद पुराण के पण्डित वैसे ही बाहर-बाहर भटकते रहते हैं जैसे पके श्रीफल के बाहर अलि—

लोअह गब्ब समुब्बहइ हँउ परमत्थ पवीण,
कोडिअ-मज्झे एक्कु जइ, होइ णिरंजण-लीण।
आगम-वेअ-पुराणे (ही), पण्डिअ माण वहन्ति,
पक्क-सिरीफले अलिअ जिम, बाहेरीअ भमन्ति।

निर्वाण साधना, महासुख आदि के वर्णन में इन कवियों ने जो कुछ कहा है उसमें आजकल के लोग भले ही अश्लीलता कहें (और हम तो ऐसा कहने में नहीं हिचकेंगे) किन्तु ये ठहरे समरसता प्राप्त सिद्ध और थे अपनी इन गुह्यलीलाओं की खुली शब्दावली की आध्यात्मिक व्याख्या करने में प्रवीण। इससे ये अपनी बातें बहुत ही खुले ढंग से कह गये हैं। इनकी रचनाओं की बानगी देखने से जिनका मन न रुके उनके लिए राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्य धारा' में ऐसी प्रचुर सामग्री एकत्र कर दी है।

ये सहजयानी सिद्ध परम्परा से चौरासी माने गये हैं। बौद्ध सिद्धों की जो सूचियाँ मिली हैं उनमें अन्य सम्प्रदायों के सिद्धों के नाम मिल गये हैं। सम्भव है ऐसा इसलिए हुआ हो कि इन सभी वामाचार पन्थों के सिद्धों का बाह्य जीवन तथा साधना एवं विचार प्रकट करने की शैली और शब्दावली

प्रायः समान थी। इससे इन्हें किसी संप्रदाय विशेष की सीमा के भीतर बहुत कड़ाई के साथ नहीं रखा जा सकता था। चौरासी सिद्धों में बहुतेरे संस्कृतज्ञ थे और उच्चवर्णों में जन्मे भी थे, किन्तु उन्होंने अपने लिए यह मार्ग चुना। कुछ प्रमुख सिद्ध ये थे—सरहपा, शबरपा, भूसुक(शान्ति)पा, लुईपा, विरूपा, डोम्बिपा, कुक्कुरीपा, कमरिपा, कराहपा, धामपा आदि। उन दिनों ये सिद्ध श्रीहट्ट (सिलहट), अर्बुद (आबू), पूर्वगिरि (पूना), जालन्धर, कामाख्या (आसाम), उड्डीयान (स्वात नदी की दून) आदि सिद्ध पीठों में रहते थे। इस प्रकार ये समस्त भारत में फैले हुए थे। नालन्दा और विक्रमशिला के प्रसिद्ध विद्यापीठ भी इनके केन्द्र थे। वहाँ चीन, तिब्बत नेपाल आदि से छात्र आया करते थे। इस प्रकार इनकी तान्त्रिक क्रियाएँ, अभिचार आदि के साथ इनके सिद्धान्त देश के बाहर भी फैले। हमें इनकी रचनाएँ नेपाल और तिब्बत से ही मिली हैं। इनकी कृतियाँ दोहा और पद के रूप में प्राप्त हुई हैं। दोहों में इनके साम्प्रदायिक विचार हैं। कुछ दोहे 'वज्रगीति' कहे गये हैं। ये वज्रयानी साधना के अवसर पर गाये जाते थे। तान्त्रिक चर्या के समय गाये जाने के लिए रचे गीत चर्यागीत के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें कुछ में सहज सिद्धान्तों का विवेचन है, कुछ में चेतावनी है और कुछ में बाह्य अनुष्ठानों तथा अन्य सम्प्रदायों का खण्डन भी है। इन सब में दार्शनिक ढंग से सहज-क्रियाओं का खुला हुआ वर्णन है और कहीं कहीं इतर जनों को, विशेष कर ब्राह्मण पण्डितों को, जो खरी-खोटी बातें सुनायी गयी हैं वे भी मिलती हैं। कुछ ऐसी उक्तियाँ हैं जिनमें है तो किसी से कही अथवा उसके साथ की हुई सहज-क्रियाओं का खुले शब्दों में उल्लेख, किन्तु उनमें ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है जिन्हें सहज मार्ग में विशिष्ट अर्थ प्रदान करके रहस्य-साधना का संकेत माना जाता था। आगे, पूर्व मध्य काल एवं उत्तर मध्य काल में जो गोपी-लीला एवं अभिसार के वर्णन मिलते हैं उनका ही पूर्वरूप यहाँ देखा जाता है। फिर ऐसी रहस्यात्मक उक्तियाँ भी कभी कभी मिलती हैं जिनके मर्म को समझने वाले कम रहे होंगे और जिन्हें आज ठीक अर्थ में समझाने के लिए तत्कालीन कोई साम्प्रदायिक टीका नहीं है। इन उक्तियों को कबीर की उलटबासियों की प्रेरक समझना चाहिये। उदाहरणार्थ लुईपा (लग० ८३० ई०) का यह गीत लीजिये—

> काआ तरुवर पंच' बि डाल, चंचल चीए पइट्ठा काल।
> दिढ करिअ महासुह परिमाण, लुई भणइ गुरु पुच्छिअ जाण।

अथवा तंतिपा का यह कथन—

वेंगस साप बड्हिल जाश्र, दुहिल दुधु कि वेंटे समाश्र।
बलद बिश्राश्रल गविश्रा बाँझे, पिटहु दुहिश्रइ ए तिनो साँझे।

सिद्ध-साधना में गुरु का प्रयोजन होता है। चर्यापदों में उसके वचन वाण या वज्रकुठार कहे गये हैं। देह के भीतर ही उपरि-उल्लिखित सिद्ध पीठ माने गये हैं। उसी के भीतर तीर्थ होते हैं। श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया को अध-ऊर्ध्व कह कर उसके भेद को जानने की चर्चा है। बुद्ध को चारों चक्रों का अधीश्वर कहा गया है। श्वास-प्रश्वास को रोक कर चण्डाग्नि जला कर 'एवं' बीज का वज्रजाप किया जाता था। इसमें इड़ा पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों को गंगा जमुना और सरस्वती की उपमा दी गयी है—

गंगा-जउँना-माँझे बहइ नाई।

चन्द्र और सूर्य को प्रज्ञा और उपाय का प्रतीक कह कर दोनों की सहज-अद्वैत अवस्था पाने की आवश्यकता बतलायी गयी है। यहाँ साधना में योग देने वाली नारी को महामुद्रा कहा गया है। उसीका डाइण (डाकिनी), जोइण (योगिनी) रूप में उल्लेख हुआ। सास, ससुर, ननद, साली के प्रतीकों से श्वास तथा इन्द्रियों के मारने की अभिव्यक्ति हुई है। वारुणी को सहजरस नाम दिया गया। इस साधना का लक्ष्य सुख की प्राप्ति है, जिसे सहज सुख कहा गया है। इन सिद्धों की उक्तियों में व्यक्त इन प्रतीकों के द्वारा प्रज्ञा के प्रति महाराग की प्रतिष्ठा की गई है। इस प्रकार सिद्धों के दोहों और पदों में सहजयान सम्प्रदाय की उपासना के सिद्धान्त और रूप का दिग्दर्शन मात्र है। उनमें मानव हृदय की रागात्मक अभिव्यक्ति नहीं मिलती। अतएव उनमें कवित्व का अभाव है।

नाथ सम्प्रदाय

सिद्धों की साधना किस लक्ष्य को ले कर चली और उसकी परिणति कहाँ हुई यह हम देख चुके। इस अधोगति से कुछ साधकों ने रक्षा की। उन्होंने सिद्धियाँ प्राप्त करने के लक्ष्य को तो स्थिर रखा, किन्तु उसकी साधना के लिए पतञ्जलि के योग का सहारा लिया। सहजयान सिद्ध अपनी योगिनी के साथ गार्हस्थ्य जीवन बिताते और उसके जातीय धन्धे भी करते। इन योगियों ने ब्रह्मचर्य और वैराग्य को अपनाया। व्यावहारिक जीवन को निष्कलङ्क बनाया और हठयोग की क्रियाओं के द्वारा आत्मिक उन्नति का पथ प्रशस्त किया। इन्होंने शिव की उपासना चलायी और मेखला, सिंगी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्णमुद्रा, बघंबर और झोला धारण किया। इनके नाम के अन्त में जुड़े 'नाथ'

शब्द के कारण इनका सम्प्रदाय साधारणतया नाथ सम्प्रदाय कहलाने लगा। इसके अनेक भेदोपभेद हुए। नाथ योगियों की अनेक परम्पराएँ प्रसिद्ध हैं और चौरासी सिद्धों की भाँति नव नाथ भी कहे जाते हैं जिनमें शिव ही आदि नाथ हैं और मत्स्येन्द्रनाथ (मछेन्द्र या मछिन्द्र या मछिन्दर नाथ), जालन्धर नाथ तथा गोरखनाथ मुख्य हैं। चौरासी सिद्धों में भी इनकी गणना की जाती है। सम्भव है ये पहले किसी सिद्ध सम्प्रदाय में रहे हों। और पीछे उससे अलग हो कर योगमार्ग के प्रमुख हुए हों। इनके विषय में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं, जिनसे इनके अलौकिक योगबल का पता चलता है। इनका समय नवीं-दसवीं शताब्दी के लगभग माना जाता है। इनमें सबसे प्रभावशाली हैं गोरख (गोरक्ष) नाथ। इनके जन्म के काल, स्थान, कुल आदि के विषय में ठीक ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता। इनके पन्थवालों में प्रचलित सभी परंपराओं में बहुत भेद है। आज भी उनके मतानुयायी देश में सर्वत्र मिलते हैं। उनके रचे बहुत से छोटे-बड़े ग्रन्थ मिलते हैं। उनमें संस्कृत के अतिरिक्त कुछ हिन्दी में भी हैं। गोरखनाथ का मुख्य स्थान गोरखपुर था, किन्तु उनके मत का अधिक प्रचार पंजाब राजस्थान आदि में हुआ। सम्भव है इसी से गोरखनाथी कविता की पश्चिमी हिन्दी में पंजाबी और राजस्थानी का बहुत मेल हो गया हो अथवा उन प्रदेशों में प्रचार के लिए कही गयी उनकी वाणी का स्वर ही वैसा रहा हो। बहुत सम्भव है गोरखनाथ के नाम से प्रचलित पुस्तकों में बहुतेरी उनके अनुयायियों की रची हों। सिद्धांत ग्रन्थ होने और अब तक चले आ रहे सम्प्रदाय के बीच प्रचलित रहने से इनमें स्वयं गोरखनाथ की बहुत कुछ रचना होने की सम्भावना कम नहीं। फिर भी उपलब्ध रचनाओं की भाषा नवीं-दसवीं शताब्दियों की नहीं, प्रत्युत तेरहवीं-चौदहवीं की है। अब तक प्राप्त गोरखनाथ की ये रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—सिष्या दरसन, प्राण संकली, नरवै बोध, आत्म बोध, अभैमात्रा जोग, पंद्रह तिथि, सप्त वार, मछीन्द्र गोरख बोध, रोमावली, ग्यानतिलक, पंचमात्रा। इनके अतिरिक्त गोरख गणेश-गुष्टि, गोरषदत्तगुष्टि (ज्ञानदीप बोध), महादेव गोरख गुष्टि, सिस्टि पुराण, दया बोध भी इनके रचे कहे जाते हैं। कुछ 'सबद' और 'पद' भी इनके नाम से प्रचलित हैं। इस सूची में उनके बनाये संस्कृत ग्रंथों के नाम नहीं दिये गये। इन ग्रन्थों में गोरखनाथ की बतलायी साधना के तत्त्वों का सङ्कलन है। इस साधना में गुरु के बिना काम नहीं चलता—

गुर कीजै गहिला निगुरा न रहिला, गुर बिन ग्यांन न पायला रे भाईला।

योगी को तर्क वितर्क छोड़ गुरु की बात मान कर तदनुसार चलना चाहिये।

उसे चित्त शुद्ध और दृढ़ रखना चाहिये—

हसिबा बेलिबा गाइबा गीत, दिढ करि राषि आपनां चीत।

मन के विकारों को जीत अंजन (विकार) के भीतर निरंजन (विकारहीन शिव) को प्राप्त करना चाहिये—

अंजन माहिं निरंजन भेट्या तिल मुष भेट्या तेलं,
मूरति माहिं अमूरति परस्या भया निरंतरि षेलं।

योगी को अपने आचरण की रक्षा करनी चाहिये जिससे जल विन्दु से निर्मित काया शुद्ध रहे। गोरख ने यह भी सिखाया कि मध्य का पथ ठीक है। आसक्ति छोड़ कर ब्रह्म का ध्यान करना उचित है—

घाये न षाइबा भूषे न मरिबा अहनिसि लेबा ब्रह्म अगनि का भेवं।
हठ न करिबा पड्या न रहिबा यूँ बोल्या गोरष देवं।

उन्होंने अपने मार्ग पर चलने के लिए ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता बतलायी है—

यंद्री का लड़बड़ा जिभ्या का फूहड़ा गोरष कहै ते पर्तषि चूहड़ा।

और उन्होंने यह भी कहा है कि—

धन जोबन की करै न आस, चित्त न राषै कांमिनि पास,
नाद बिंद जाकै घटि जरै, ताकी सेवा पारबती करै।

अर्थात् ऐसा ब्रह्मचारी साक्षात् शिव हो जाता है। इस स्थिति की प्राप्ति के लिए मद्य, मांस, भाँग आदि का सहारा लेना वर्जित है। वे कहते हैं—

जोगी होइ पर निंद्या झषै, मद मांस अरु भाँगि जो भषै।
इकोतरसै पुरिषा नरकहिं जाई।

इस प्रकार यह प्रकट होता है कि गोरखनाथ ने सिद्धों के संयमरहित जीवन से फैलते हुए अनर्थ से साधु और गृहस्थ दोनों समाजों की रक्षा की। इस सम्प्रदाय में गुह्य साधना को कहीं भी स्थान नहीं रह गया। उन्होंने कठोर आचार-परायण साधना की प्रणाली का प्रवर्तन किया। उनके जीवन के विषय में प्रचलित किंवदन्तियाँ भी उनके चरित्र की उज्ज्वलता का संदेश दे रही हैं।

गोरखनाथ की कविताओं में उक्त आचार-शुद्धता के साथ ही योग-साधना की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति भी हुई है। ऐसे समय प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। सिद्धों के द्वारा चलाये प्रतीकात्मक शब्दों का भी व्यवहार हुआ है, परन्तु अपनी मान्यता के अनुसार। कुछ उलटवासियाँ भी इनके नाम के साथ जुड़ी हुई हैं। उदाहरणार्थ—

गगन मंडल मैं गाय बियाई, कागद दही जमाया।
छाछि छाँणि पिंडता पीवी सिधां माषण षाया।

व्यवहार को अङ्गीकार कर लें। इन पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त जैन महापुरुषों के चरित लिखे गये एवं लोक में प्रचलित और इतिहास-प्रसिद्ध आख्यान भी जैन धर्म के रंग में रँग कर प्रस्तुत किये गये। इन आख्यान-काव्यों में धार्मिक अंश छोड़ देने पर मानव-हृदय की विविध वृत्तियों का सरस और आकर्षक वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त रहस्यात्मक काव्यों का भी अभाव नहीं है। यह धार्मिक साहित्य लिखित होने के कारण और अपने भाषा सम्बन्धी रूप के कारण इस विस्तृत काल में विशिष्ट है। इसके प्रणेता शील और ज्ञान सम्पन्न उच्च वर्ग के थे। अतएव उनकी कृतियों में अपने आचार-विचार के प्रति निष्ठा होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति कड़ी और कड़वी बातें नहीं मिलतीं और न लोक-व्यवहार की उपेक्षा ही मिलती है।

साहित्यकार

अपभ्रंश कवियों में सिद्ध विरक्त होते हुए भी गार्हस्थ्य जीवन बिताते थे, नाथ योगी सचमुच विरक्त थे, परन्तु जैन मुनियों (साधुओं) और गृहस्थों दोनों ने कविता की। उनमें कुछेक का ही उल्लेख यहाँ किया जायगा। पुराण सम्बन्धी आख्यानों के रचयिताओं में स्वयंभू, पुष्पदन्त, हरिभद्र सूरि, विनयचन्द्र सूरि, धनपाल, जोइन्दु एवं रामसिंह की विशेष प्रतिष्ठा है।

स्वयंभू (आठवीं शताब्दी) ने पउम चरित्र (पद्मचरित) और रिट्ठणेमि चरिउ (अरिष्टनेमिचरित हरिवंश पुराण) प्रबन्धों के अतिरिक्त छन्दः शास्त्र विषय 'स्वयंभू छन्दस्' की भी रचना की थी। पउमचरिउ में राम की कथा है और रिट्ठणेमि चरिउ में कृष्ण की। इनमें पौराणिक आख्यान से यत्र-तत्र परिवर्तन हैं और राम तथा कृष्ण की लोक-प्रसिद्ध कथाओं में जैन धर्म की प्रतिष्ठा के लिये कुछ नये प्रसङ्ग जोड़ दिये गये हैं। यदि इन परिवर्तनों से थोड़ी देर के लिए आँख हटा ली जाय तो शुद्ध काव्यत्व के विचार से ये दोनों बहुत ही श्रेष्ठ हैं। इनमें पउमचरिउ श्रेष्ठतर है। उसमें कथा प्रसंगों की मार्मिकता, चरित्र-चित्रण की पटुता, तथा स्थल एवं प्रकृति-वर्णन की उत्कृष्टता, और आलङ्कारिक तथा हृदय-स्पर्शी उक्तियों की प्रचुरता अवर्णनीय है। सीता के चरित्र की उदात्तता के प्रदर्शन में कवि को अभूतपूर्व सफलता मिली है। इनके रिट्ठणेमिचरिउ में कथा की सरसता और उद्‌गारों की स्वाभाविकता दर्शनीय है। सीता के सदृश द्रौपदी के चित्रण में कवि को असाधारण सफलता मिली है। इन दोनों में जैन धर्म के प्रचारात्मक अंशों का अभाव-सा देख कर स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन ने इनको अपनी रुचि के अनुसार पूरा करके इनमें

जैनाचारों तथा सिद्धान्तों का समावेश किया।

दसवीं शताब्दी के पुष्पदन्त के 'तिसट्ठिमहापुरिस गुणालंकार' या महापुराण के 'आदि पुराण' खण्ड में तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्य तेईस तीर्थंकरों तथा उनके समसामयिक महापुरुषों का चरित्र है और 'उत्तर पुराण' में पद्मपुराण (रामायण) और हरिवंश (महाभारत) है। णायकुमार चरिउ (नागकुमार चरित) और जसहर चरिउ (यशोधर चरित) जैन धर्म से सम्बद्ध व्यक्तियों के आख्यानात्मक खण्डकाव्य हैं। पुष्पदन्त की अपेक्षा स्वयंभू अधिक उदार थे। उन्होंने अन्य जैन कवियों के समान पौराणिक आख्यानों में परिवर्तन भी कम किया। परन्तु पुष्पदन्त वैसे सहिष्णु न थे। उन्होंने ब्राह्मणों का कड़ा विरोध किया और राम-कथा में जैन-धर्म की श्रेष्ठता के प्रतिपादक तत्त्वों का विशेष समावेश किया। कवित्व की दृष्टि से उनकी कृष्णकथा कहीं अच्छी बन पड़ी है। उसमें मार्मिक प्रसंगों का प्रवाहपूर्ण सरस वर्णन है। इनके अन्य कथानक-काव्य अधिक रोचक हैं। उनमें कवि का वर्णन-कौशल काव्योचित सौष्ठव से पूर्ण है। लोककथाओं का आश्रय ले कर जैन-धर्म की शिक्षा देने के लिए भी अनेक काव्य लिखे गये। उनमें धनपाल की 'भवियसत्त कथा' प्रसिद्ध है। जैन साहित्य में साम्प्रदायिकता से मुक्त आध्यात्मिक चिन्तन के सम्बन्ध के काव्य हैं। जोइन्दु (दसवीं शताब्दी) और रामसिंह (ग्यारहवीं शताब्दी) के काव्यों में यथेष्ट परधर्म-सहिष्णुता और उदारता है। जोइन्दु का 'परमात्मप्रकाश' तथा 'योगसार' और रामसिंह का 'पाहुड़ दोहा' इसके उदाहरण हैं। इनमें आत्मविकास के लिए जैन मत के सिद्धान्तों और साधना-पद्धति का ऐसे सामान्य ढंग से वर्णन है कि वे अन्य मतावलम्बियों को कम खटकते हैं। धर्मसूरि (तेरहवीं शताब्दी) का 'जम्बू स्वामी रासा' काव्य की परम्परा में उल्लेखनीय है। इन काव्यों में गार्हस्थ्य जीवन की मधुरता देखी जाती है। इस प्रकार के पौराणिक चरित एवं आख्यान काव्यों के साथ आध्यात्मिक साधना विषयक रचनाओं के अतिरिक्त इस युग के कुछ ऐसे फुटकल छन्द भी संग्रह-ग्रन्थों में उद्धृत हुए हैं जिनमें नारी हृदय की मधुरता और उत्कृष्टता की मनोरम अभिव्यक्ति हुई है। हेमचन्द्र (१०६३-११४२ ई०) के शब्दानुशासन में ऐसे दोहे उद्धृत हैं और प्रबन्ध चिन्तामणि (रचनाकाल १३०४ ई०) में मुंज के प्रति मृणालवती के विश्वासघात की प्रतिक्रिया की मार्मिक उक्तियाँ हैं। इन स्फुट दोहों के रचयिताओं का पता नहीं चलता, किन्तु इनसे यह स्पष्ट है कि उन दिनों केवल अध्यात्म के चिन्तन और धर्म-सिद्धान्त के निरूपण, समर्थन एवं प्रचार के खण्डन-मण्डन में ही कवि-

कर्म नहीं सीमित था, प्रत्युत प्रेम, वीरता, त्याग आदि सामान्य वृत्तियों के प्रति स्वाभाविक अनुराग की अभिव्यक्ति भी सहृदय कवि किया करते थे।

वीरगाथा-युग का साहित्य

जैन साहित्य के रचना-क्षेत्र से मिले राजस्थान के चारण-चरित काव्य भी इसी काल के भीतर आते हैं। उनमें वीर और शृंगार का विशेष रूप से वर्णन हुआ है। ये काव्य दो प्रकार के हैं। कुछ तो इतिहास-प्रसिद्ध योद्धाओं के जीवन की घटनाओं के ऊपर आश्रित हैं और कुछ प्रचलित लोक-कथाओं पर। ये प्रबन्धात्मक डिंगल-काव्य प्रचुर हैं। अभी उनमें थोड़े ही प्रकाशित हुए हैं। इस काल के प्रबन्ध काव्यों की कथावस्तु, भाषा और उनमें कही इतिहास सम्बन्धी बातों की छानबीन से यह विदित हुआ है कि इनका पुराना रूप बहुत कुछ बदल गया है और इनमें क्षेपक भी मिल गये हैं। फिर भी ये काव्य हैं, इतिहास नहीं। इससे इनमें वर्णित घटनाओं में आजकल के इतिहास के आदर्श के अनुकूल बातें पाने की आशा करना ठीक भी नहीं। ये काव्य अधिकतर तत्कालीन राजाओं के आश्रित चारणों और अन्य लोगों के लिखे हैं। कवि राजाओं और उनके सैनिकों के मनोरञ्जन मात्र के लिए इनकी रचना नहीं करते थे। इनके द्वारा उनके मन में वीरोत्साह बढ़ाने के लिए ही प्रधान रूप से लिखते थे। इससे ये बहुधा बढ़ा चढ़ा कर बातें कहते। ये कोरी बातें बना कर राजाओं को प्रसन्न कर के रह नहीं जाते थे, अपितु रण-भूमि में उनके कन्धे से कन्धा मिला कर तलवार के हाथ भी दिखाते थे। इसी से इनकी कविता में सजीव और स्वाभाविक वर्णन मिलते हैं। उन दिनों के राजा अपने राज्य का विस्तार करने, पड़ोस के किसी अभिमानी राजा का गर्व चूर करने अथवा विदेशी आक्रमणों से बचने के लिए युद्ध किया करते थे। परन्तु काव्यों में इन युद्धों को स्त्रियों की प्राप्ति ही उत्तेजना देती थी। यह उस समय की प्रचलित काव्य-परिपाटी थी। रुक्मिणी उषा आदि के हरण के पौराणिक वृत्तान्त उस समय भी लोगों को भूले न थे। उसी समय के बिल्हण-कृत विक्रमाङ्कदेव-चरित काव्य में विवाहों और युद्धों का वर्णन है। अतएव विवाह के कारण युद्धों का वास्तव में अस्तित्व रहा हो चाहे न रहा हो, किन्तु काव्य में तो उनकी उद्भावना होती ही थी। राजाओं को इन्हीं के द्वारा प्रसन्न किया जाता था। इस प्रकार इन काव्यों में शृङ्गार बहुधा वीर के प्रेरक अथवा सहायक के रूप में प्रस्तुत किया गया। ये काव्य रासक या रासो नाम से प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग रासो का सम्बन्ध रहस्य अथवा रसायण से जोड़ते हैं। पहले गेय

रूपक को रासक कहते थे, पीछे इनका प्रयोग चरित-काव्य एवं कथा-काव्य के लिए होने लगा। रासो नाम के चरित-काव्यों में कुछ का उपयोग गाने के लिए ही अधिकतर होने लगा। इससे जनवाणी ने इनको धीरे धीरे अपने अपने समय के अनुरूप करते-करते इनका पुराना रूप ही बदल दिया। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आल्हा (अथवा आल्हा खण्ड) है।

परमाल रासो अब उपलब्ध नहीं। अतएव जझौती (आधुनिक बुन्देलखण्ड) की तत्कालीन अपभ्रंश वा देश भाषा के स्थान में आजकल की बोली में ही उसका यह खण्ड प्रचलित है। ऐसे भी रासो मिले हैं जिनमें केवल शृङ्गार का वर्णन है, और वीर का केवल सङ्केत। जैसे, बीसलदेव-रासो में राजमती की विरह वेदना का तो विस्तार से बखान है किन्तु बीसलदेव के उड़ीसा-विजय के लिए जाने का उल्लेख मात्र है, उसके पराक्रम की तनिक भी चर्चा नहीं हुई।

इस समय के वीरगाथाओं के रचयिताओं में कुछ की रचनाओं का नाम मात्र सुना जाता है अथवा उनका थोड़ा-बहुत अंश मात्र मिलता है; और जिनकी पूरी रचना मिलती है उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। फिर भी उपलब्ध रचनाओं को, इतिहास में वर्णित घटनाओं से मेल न खानेवाली घटनाओं तथा अन्य बातों के उनमें समावेश अथवा भाषा के रूपों की नवीनता के कारण यों ही टालना उचित नहीं प्रतीत होता। कुछ प्रसिद्ध वीर काव्यों और उनके रचयिताओं का उल्लेख करने के पहले यह कह देना उचित प्रतीत होता है कि 'खुमान रासो' के रचयिता **दलपत (दौलत विजय)** का रचनाकाल १६७३ और १७०३ ई० के बीच स्थिर किया गया है, किन्तु इन्हें उसका रचयिता कह कर मेवाड़ के रावल खुमान द्वितीय (८१३ ई०) का समकालीन मान लिया गया है। इस काव्य में बाप्पारावल (७३४ ई०) से राजसिंह (१६५२–१६८० ई०) तक के राणाओं का वर्णन है। औरों की अपेक्षा खुमाण का वर्णन अधिक होने से यह काव्य खुमान रासो कहा जाता है। यदि दलपत पूरे खुमान रासो के कर्त्ता हैं तो यह निश्चय ही सत्रहवीं शताब्दी की कृति है; किन्तु यदि उन्होंने पुराने काव्य को पूरा करके उसे यह रूप दिया हो तो उसके पुराने अंश को अलग करना दुष्कर है।

इसी प्रकार अपूर्ण 'विजयपाल रासो' में उसके रचयिता **नल्लसिंह** के कथनानुसार करौली के महाराज विजयपाल की दिग्विजय और १०३६ ई० के पंग के युद्ध का वर्णन है। इसका समय १२६८ ई० के लगभग अनुमान किया गया है। परन्तु इसमें इतिहास की बातों से बहुत अन्तर है और इसकी

भाषा-शैली उन्नीसवीं शताब्दी की समझी जाती है। इससे इसको भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। ऐसी ही स्थिति **जगनिक** (११७३ ई०) की है। यह जुझौती (बुन्देलखण्ड) के चन्देल राजा परमर्दिदेव या परमाल (११६५–१२०३ ई०) का राजकवि था। ११८२ ई० में पृथ्वीराज ने इसे युद्ध में परास्त किया। इसकी सेना के नायक आल्हा और ऊदल बड़े ही वीर थे। इन्हीं की वीरता का वर्णन सम्भवतः परमालरासो के महोबा खण्ड में जगनिक ने किया। वह तो अब मिलता नहीं, किन्तु आल्हा अथवा सैरा[1] (रासो का विपर्यय) के नाम से उसका विषय-वस्तु की दृष्टि से नवीनताओं से युक्त और भाषा की दृष्टि से नितान्त परिवर्तित रूप आजकल बैसवाड़ा और बुन्देलखंड में प्रचलित है। वर्षा में अल्हैत इसे गाते और गाँव के लोग बड़े मनोयोग के साथ सुनते हैं। सम्भव है कालिंजर महोबा आदि के क्षेत्र की तत्कालीन भाषा में होने से उसको यह विकसित रूप जनवाणी में निरन्तर चढ़े रहने से ही मिला हो। प्राचीन रूप न मिलने से इस लोक-प्रिय गेय-काव्य के विषय में कुछ विचार करना सम्भव नहीं। इसी प्रकार **भट्ट केदार** रचित 'जयचन्द्र प्रकाश' और **मधुकर** प्रणीत 'जयमयंक-जसचन्द्रिका' का उल्लेख सिंघायत दयालदास ने अपनी 'राठौड़ाँ री ख्यात' में किया है। भाटों की उत्पत्ति का वर्णन 'शिवसिंह सरोज' में उद्धृत है। उसमें आया है कि "चंद चौहान के, केदार गोरी सहजू के, गंग अकबर के, बखाने गुन गात हैं।" सम्भव है यह भट्ट केदार पहले गोरी के दरबार में रहा है। 'पृथ्वीराज रासो' में मुहम्मद गोरी के दरबार से आये दुर्गा भट्ट केदार और चन्द बरदाई के वाद-विवाद और तन्त्र-मन्त्र की होड़ का वर्णन है। गोरी के कवि माधव भट्ट का भी वर्णन उक्त रासो में हुआ है। यह हिन्दुओं के साथ उनकी बोली में और म्लेच्छों के साथ उनकी बोली में बात करने में प्रवीण था। इसे गोरी ने पृथ्वीराज के समाचार गुप्त रूप से भेजने के लिए नियुक्त किया था। सम्भव है यह माधव ही मधुकर हो। न भी हो तो यह अनुमान किया ही जा सकता है कि केदार भट्ट भी गोरी की प्रेरणा से जयचन्द्र की सभा में आया हो और उसकी गुप्त सूचनाएँ गोरी को देता हो। इनकी कविताओं का अब तक कहीं पता नहीं चला।

'प्राकृत पिंगलसूत्र' में हम्मीर के सम्बन्ध की कुछ कविताओं को रामचन्द्र शुक्ल ने शार्ङ्गधर की रची हुई माना है। इसके लिए उन्होंने कोई

---

१. बाँदा (उत्तर प्रदेश) जिले में आल्हा को सैरा ही कहते हैं।

तर्क-युक्त प्रमाण न दे कर एकदम यह निष्कर्ष निकाला है कि "मुझे पूरा निश्चय है कि ये पद्य असली 'हम्मीर रासो' के ही हैं।"[1] राहुल सांस्कृत्यायन ने इनको ही, 'उज्जल' का लिखा हुआ समझ लिया है।[2] सम्भव है इनमें प्रयुक्त 'उज्जल भणइ' (उज्जल कहता है) को देख कर उन्होंने ऐसा किया हो। हजारीप्रसाद द्विवेदी का सुझाव है कि इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि यह किसी अन्य कवि के द्वारा निबद्ध पात्र उज्जल की उक्ति है अर्थात् 'कविनिबद्ध प्रौढोक्ति' है।[3] इसी प्रकार उक्त सूत्र में 'बब्बर' के नाम से युक्त कुछ कविताओं के अतिरिक्त त्रिपुरी के कर्ण कलचुरि (१०४० ई०) की वीरता के उदाहरण भी मिलते हैं। राहुल सांकृत्यायन ने उन्हें भी बब्बर की कविताओं के अन्तर्गत रख दिया है।[4] इनको उन्होंने निश्चय रूप से बब्बर-कृत नहीं कहा। सम्भव है, यह तत्कालीन प्रसिद्ध विजेता कर्ण के समकालीन किसी कवि की रचना हो। परन्तु निम्नोद्धृत छन्द में तो बब्बर का नाम भी आया है। पर यह कवि का वाचक है, या 'बर्बर' का ? वह कहता है—

चल गुजर कुञ्जर तेजि मही, तुअ बब्बर जोवण अज्जु णही
जइ कुप्पिअ कण्ण-णरेंदवरा रण को हरि को हर वज्रहरा।

इसी प्राकृत पिंगल सूत्र में कन्नौज और काशी के किसी राठौर राजा के विषय में विद्याधर के रचे किसी काव्य से एक उदाहरण दिया गया है। संभव है उसमें जयचन्द का वर्णन हो। इस परम्परा के कवियों में उल्लेखनीय कवियों का परिचय आगे दिया जाता है।

नरपति नाल्ह—शाकम्भरी (साँभर) के नरेश बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के सम्बन्ध में इनके रचे बीसलदेव रासो में वर्तमानकालिक क्रियाओं का प्रयोग ऐसे ढंग से हुआ है जिससे अनुमान किया जाता है कि यह उसके समकालीन और राजकवि थे। इन्होंने अपने लिए व्यास का प्रयोग किया है। यथा,

चउरास्या सह वर्णव्या अम्रत रसायण नरपति व्यास।

इससे ये ब्राह्मण जान पड़ते हैं। काव्य में रचना-तिथि यों कही गयी है—

बारह सै बहोत्तराहाँ मँझारि, जेठ बदी नवमी बुधवारि,
नाल्ह रसायण आरंभइ, सारदा तूठी राजकुमारि।

कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'बहोत्तराहाँ, के स्थान पर 'बरोतराँ', 'सहस तिहु-

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २५। २. हिन्दी काव्य धारा, पृ० ४५२। ३. हिन्दी का आदि काल, पृ० १५। ४. हिन्दी काव्य धारा, पृ० ३१४—२६।

तरइ' 'सहस सतिहतरइ' पाठ मिलता है। 'बारह सै बहोत्तराहाँ' का अर्थ कुछ लोग संवत् १२७२ करते हैं और कुछ १२१२। इनमें द्वितीय ही ठीक जान पड़ता है। बीसलदेव ने ११५० के लगभग तोमरों से दिल्ली और हाँसी जीती और पंजाब से तुर्कों को पीछे हटाया था। इस विजय का घोष उसने ११६३ ई० (संवत् १२२०) में अशोक की उस लाट पर खोदाये उस लेख में लिखा है जो उन दिनों शिवालक की तराई में अम्बाला के उत्तर साधौरा बस्ती में थी और आजकल दिल्ली में है। बीसलदेव ने लिखाया है कि "विन्ध्य से हिमाद्रि तक राजा बीसल ने विजय किया, म्लेच्छों को उखाड़ कर आर्यावर्त्त को फिर यथार्थ आर्यावर्त बनाया।"[1] विग्रहराज के उड़ीसा जीतने का पता इतिहास में अब तक नहीं चला। जान पड़ता है रासो में वर्णित उड़ीसा जीतने जाने की बात केवल कथा की बात है कवि-कल्पित और परम्परायुक्त। सो बीसलदेव के समकालीन नरपति ने अपना काव्य संवत् १२१२ (११५५ ई०) में ही लिखा होगा, १२७२ में नहीं। राजपूताने के इतिहास के प्रणेता गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इस रासो का रचनाकाल १३०१ ई० माना है। उधर संवत् १०७३ और १०७७ मानने से इस काव्य का रचयिता विग्रहराज चतुर्थ का नहीं, किन्तु विग्रहराज द्वितीय का समसामयिक ठहरेगा। इस काव्य की भाषा और इसमें उल्लिखित कुछ नामों और घटनाओं की छान-बीन कर विद्वान उन्हें इतिहास से मिला नहीं सके। इसलिए उन्होंने घोषित कर दिया कि यह अनैतिहासिक है और है परवर्ती रचना। मेनारिया ने तो पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी ईस्वी के नन्दबत्तीसी, विक्रम पंचदंड, स्नेह परिक्रम तथा निःस्नेह परिक्रम के रचयिता गुजराती कवि **नरपति** को ही बीसलदेव रासो का भी रचयिता मान लिया। इसके प्रमाण के लिए उन्होंने पंचदंड और रासो के कुछ उद्धरणों के शब्दों और वर्णनों को मिलाकर उनमें सादृश्य दिखलाया है।[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह आख्यायिका गाने के लिए लिखी गयी थी। इससे इसकी भाषा का समय के साथ बदलना और इसमें कुछ नयी बातों का मेल हो जाना असम्भव नहीं। चाहे इसमें प्रयुक्त वर्तमानकालिक क्रियाओं से इसको नायक की समकालीन कृति मानें और चाहे उन्हें शैली विशेष कहकर इसे उसके बाद की रचना कहें, इससे कविता का जो तत्त्व इसमें निहित है उसका कुछ बनता-बिगड़ता

---

१. इतिहास-प्रवेश, पृ० ३२१-२।

२. राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० ११७-११६।

नहीं ।[1] कवि यहाँ इतिहासकार बनकर नायक-नायिका की बातें लिखने नहीं बैठा था। उसने तो नारी की विरह-व्यथा की मार्मिक व्यञ्जना करने के लिए कविता का सहारा लिया था। इस काव्य के चार खण्डों में मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती और साँभर के राजा बीसलदेव के विवाह, बीसलदेव के रानी की कटूक्तियों से रूठ कर उड़ीसा जाने, रानी की विरहजन्य बारह मासों की दशा का पंडित के द्वारा सन्देश भेजने और राजा के लौटने का वर्णन है। जब रानी राजमती के मुँह से अपनी निन्दा और हीरों की खान के देश उड़ीसा के राजा की बड़ाई सुन कर बीसलदेव वहाँ जाने को तैयार होता है तब रानी का दिमाग ठंढा हो जाता है। वह राजा को मनाते हुए कहती है कि

हेडाऊ का तुरिय जिउँ हाथ न फेरै सउ सउ बार

(मैं हेड़ा—हार—के उस घोड़े के समान हूँ जिस पर हारनेवाला सौ सौ दिन तक हाथ नहीं फेरता।)

रानी की सखियाँ उसे समझाती हैं; तब वह खीझ उठती है—

चांपीया तेजीय जउ रे उससाइ,
मृग रे चरंता मोहिजइ, सखी अंचलि बाँधियउ नाह किउँ जाइ।

(उसाँसें लेता हुआ घोड़ा दाग दिया जाता है, चरता हुआ मृग मोहित किया जा सकता है, परन्तु हे सखी नाह आँचल में कैसे बाँधा जा सकता है)

अपनी ही जबान के कारण पति को हाथ से खो कर रानी की व्यथा का छोर नहीं दिखलायी पड़ता। कातिक लगते ही पति उसे छोड़ कर निकल जाता है और वह फूट-फूट कर रोती और अपने दिन काटती है। कवि ने 'बारहमासा' के रूप में यह विरह-वेदना सुनायी है। वह वियोगिनी नारी की सहज भावनाओं से ओत-प्रोत है। कवि को इनके वर्णन में अत्यन्त सफलता मिली है। वह महेश से अपनी दीन दशा का निवेदन करती हुई कहती है—

अस्त्रीय जनम काइं दीधउ महेस, अवर जनम थारइ घणा रे नरेस।
रानि न सिरजीय रोझड़ी, घणह न सिरजीय धउलीय गाइ।
बनषंड काली कोइली,
हँउ बइसती अंबा नइ चंपा की डाल
भषती दाष विजोरड़ी।[2]

---

१. हाँ, परवर्ती काव्य मानने से उसे इस युग के बाद रखना होगा। परन्तु यह भी तो कोरे अनुमान के आधार पर करना होगा।

२. हे महेश, तुम्हारे पास देने को तो और बहुत से जन्म थे, तुमने मुझे स्त्री का

आगे वह रानी का अभिमान भुला कर राजस्थान की सामान्य नारी के स्वर में रोने लगती है—

आँजणी काइं न सिरजीय करतार, षेत कमावती स्यउँ भरतार।
पहिरण आछी लोवड़ी, तुंग तुरीय ज्यों भीडती गात।
साइंय लेती सामुही, हँसि हँसि बूझती प्रिय की बात।[1]

रानी की मर्यादा पिय से खुल कर मिलने में बाधक होती है—इसकी अनुभूति होते ही रानी साधारण जाटनी बनने की कामना करती है जिससे वह दिन भर उसके साथ खेत कमा सकती, भेंट सकती और सामने से मिल कर हँसती-हँसती प्रेम की बातें कर पाती!

रानी का अभिमान एकदम चूर हुआ तब जब वह पण्डित से मुखागर (मुखाग्र) कहने को सन्देश देती है—

एक सरां घरि आविज्यो थारी बाट बुहारूँ सिरह का केसि।
जोबन भरि जल उलख्यउ, थार न पावुं सुनहु नरेस।

अर्थात् मैं तुम्हारी राह अपने सिर के बालों से बुहारती हूँ, तुम तुरन्त आ जाओ। इस प्रकार यह विरह-काव्य अपने ढंग का अनुपम है। सम्भव है काव्य में राजा की उड़ीसा-विजय की भी कहानी रही हो, जिससे इसमें वीर और शृंगार दोनों का मेल मिल जाता, परन्तु अपने वर्तमान रूप में तो यह केवल विप्रलम्भ शृङ्गार का गेय काव्य है।

चन्द बरदाई—वीर गाथाओं की दीर्घ परम्परा में पृथ्वीराज रासो का विशेष स्थान है। कहते हैं कि इस विशाल काव्य का कर्त्ता चन्दबरदाई पृथ्वीराज चौहान का राजकवि और सखा था। उसके साथ ही जन्मा और उसी के साथ परलोक सिधारा और इतिहास में पृथ्वीराज का जन्म और मृत्यु का समय क्रमशः ११६३ और ११६२ ई० माना गया है। यह राव (भट्ट) था और लाहौर में जन्मा तथा गजनी में पृथ्वीराज के शब्दवेधी वाण से गोरी के मरते ही अपने स्वामी को मार कर इसने आत्महत्या की। रासो में चन्द ने अपने

जन्म क्यों दिया? तुमने रानी न सिरजा होता, रोझ (नील गाय) बनाया होता। वन की धौरी गाय नहीं बनाया? तुमने मुझे वनखण्ड की काली कोयल बनाया होता तो मैं आम और चम्पा की डाल में बैठती, दाख और बीजोरी खाती।

१. हे कर्तार, तुमने मुझे आँजनी (जाटनी) क्यों न सिरजा? भरतार के सहित खेत कमाती। अच्छी लोवणी (लोम पटी) पहनती, तुंग तुरग के समान (पति से अपना) गात भिड़ाती। (और जा कर) साईं को सामने से लेती (और) हँस हँस कर प्रिय की बातें पूछती।

विषय में जो कुछ लिखा है उसको केवल जनश्रुति कहा जा सकता है, जो किसी परवर्ती कवि की सुनी सुनायी बातों के आधार पर रचा गया प्रतीत होता है। उनका समर्थन किसी भी सूत्र से नहीं किया जा सकता। अतएव उनकी चर्चा निरर्थक होगी। रासो में दिये हुए संवत् अविश्वसनीय हैं।[1] उसमें वर्णित घटनाएँ भी इतिहास के पण्डित ठीक नहीं समझते। और उन्हें तथ्य के विरुद्ध सिद्ध करते हैं। उनमें बहुत सी बातें तो हुई ही नहीं और न सोलहवीं शताब्दी के पहले हो ही सकती थीं।[2] उसकी भाषा को भी तत्कालीन नहीं माना जाता। इसके तथा उसमें उल्लिखित बहुत सी घटनाओं के आधार पर उसके वर्तमान रूप को सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की रचना समझा जाने लगा है। इतना ही नहीं। कुछ विद्वान् तो यह भी मानते हैं कि चन्द नाम का कोई व्यक्ति था ही नहीं। यदि होता तो पृथ्वीराज के राजकवि जयानक ने अपने संस्कृत में रचे काव्य 'पृथ्वीराज विजय' (११९२ ई०) में कहीं तो उसका नाम लिखा होता। उसके पाँचवें सर्ग में चन्द्रराज कवि का सङ्केत है जिसे ओझाजी ने क्षेमेन्द्र-कथित चन्द्रक माना है।[3] इसको यदि चन्द का सूचक मान लेने में आपत्ति न हो तो उसकी स्थिति निश्चित हो जायगी। पन्द्रहवीं शताब्दी के नयनचन्द्र सूरि ने संस्कृत में हम्मीर महाकाव्य और रम्भामञ्जरी नाटक लिखे थे। पहले का नायक रणथम्भोर का अन्तिम चौहान राजा हम्मीर है। उसमें चौहान वंश का भी वर्णन है। दूसरे का नायक कन्नौज का राजा जयच्चन्द्र (जयचन्द) है जिससे रासो के वर्णनानुसार पृथ्वीराज ने युद्ध किया था। इनमें कहीं भी चन्द और उसके रासो का संकेत तक नहीं मिलता। सोलहवीं शताब्दी में बूँदी के चौहान राव सुर्जन के सम्बन्ध में रचे गये सुर्जन चरित काव्य में भी इसकी चर्चा नहीं। इससे रासो का अस्तित्व ही बारहवीं शताब्दी में नहीं ठहरता।

---

१. रासो में पृथ्वीराज के जन्मने, दिल्ली में गोद जाने, कन्नौज जाने और गोरी से युद्ध आदि के संवतों की प्रामाणिकता केवल एक व्यक्ति ने मानी है। वे हैं मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या। परन्तु उसमें वर्णित घटनाओं को शिलालेखों और तत्कालीन संस्कृत काव्यों तथा फारसी के इतिहासों में उपलब्ध तिथियों से मिला देने के लिए उन्होंने इनमें ९० वर्ष जोड़ कर अनन्द विक्रम संवत् बनाने का सुझाव दिया। उन्होंने मान लिया कि रासो में कथित 'एकादह सै पंचदह विक्रम साक अनंद' का अर्थ है अ (शून्य) नंद (नौ) अर्थात् ९० रहित विक्रम संवत्। उनकी इस सूझ का कोई आधार नहीं था। इसकी अस्थिरता विद्वानों ने सिद्ध कर दी है। देखिए कोशोत्सव स्मारक संग्रह में ओझा जी का अनन्द विक्रम संवत् की कल्पना शीर्षक लेख।

२. जयचन्द्र विद्यालंकार—इतिहास प्रवेश पृ० ३६१-५।

३. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ४३

किन्तु मुनि जिनविजय के सम्पादित किये 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में पृथ्वीराज और जयचन्द के विषय में चार छप्पय उद्धृत हैं। इन छप्पयों में चन्दबरदाई की छाप भी है। अतः इन्हें उसकी रचना मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इनमें दो पृथ्वीराजरासो में भी मिलते हैं, किन्तु कुछ पाठान्तर के साथ। उनमें 'पृथ्वीराज विजय' में कथित मन्त्री कदम्बवास (कइंमास, कैमास) के पृथ्वीराज के हाथ से मारे जाने का वर्णन है। इससे इन्हें इतिहास के विरुद्ध भी नहीं कहा जा सकता। जिस पुरानी पुस्तक में ये चारों छन्द मिले हैं वह १४७१ ई० की लिखी है। अतः यह तो निश्चित ही है कि ये छन्द उसके पूर्व के हैं? किस समय के? यह नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ एक छप्पय देखिये—

एक बाणु पहुवीसु जु पइं कइंवासह मुक्कओं,
उर भिंतरि खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ।
वीअं करि संधीउं भंमइ सूमेसरनंदण,
एहु सु गडि दाहिमओं खणइ खुद्दइं सइंभरिवणु।
फुड छंडि न जाई इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह,
नं जाणउं चंदबलछिउ किं न वि छुट्टइ इह फलह।

इन छन्दों ने इतना तो स्पष्ट कर दिया कि चन्दबरदाई सचमुच कोई कवि था। वह पन्द्रहवीं शताब्दी के पहले का है। उसने पृथ्वीराज के सम्बन्ध में कविता की है और वह कविता लोक-प्रिय भी है, अन्यथा प्राचीन संग्रहों में उद्धृत न होती। और उसकी भाषा अपभ्रंश की परम्परा की एक कड़ी है।

कुछ विद्वानों का मत है कि चन्दकृत रासो वास्तव में पुराना काव्य है। उसमें बहुत सा अंश प्रक्षिप्त है। राजस्थान के प्राचीन काव्यों और गोरख कबीर आदि की वाणियों में ही नहीं तुलसी के रामचरितमानस तक में क्षेपकों ने मूल रूप को कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया है। यह किसी से छिपा नहीं। अतः चारणों-भाटों ने इस काव्य में अपनी ओर से बहुत सी गढ़ी बातें मिला दी हों तो आश्चर्य न करना चाहिये। हाँ, यह कहना कठिन है कि इसमें कितना अंश पुराना है और कितना नया। इसके जानने की कोई युक्ति नहीं सूझ पड़ती। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों की रचना-प्रणाली के आधार पर यह अनुमान किया है कि रासो में 'शुक-शुकी के संवाद के रूप में जितना वर्णन है वही वास्तविक है और शेष प्रक्षिप्त।[1] उन्होंने कुछ अन्य प्रसङ्गों

१. हिन्दी साहित्य का आदि काल। पृ० ६३ और ६५। द्विवेदी जी ने शुक-शुकी

के भी बाद में जोड़े जाने की अटकल लगायी है।[1] इसके लिए उन्होंने युक्तियाँ भी दी हैं, परन्तु रासो का मूल रूप युक्तियों और तर्कों के द्वारा निश्चित करना एक बात है और उसका सचमुच प्रामाणिक होना दूसरी। रासो के क्षेपकों की कुञ्जी तो उसी में है। उसे अपूर्ण छोड़ कर चन्द स्वयं अपने पुत्र जल्हण के हाथ में सौंप गया था। पृथ्वीराज के बन्दी होने के बाद से आगे का अंश जल्हण-रचित कहा ही जाता है। बीच-बीच में भी किन अन्य अज्ञात-नामा जल्हणों ने अपनी मति, गति, रुचि और आवश्यकता के अनुसार इसमें संवर्धन किया इसका पता नहीं है।

अभी तक रासो के जो प्रकाशित और अप्रकाशित संस्करण मिले हैं उनके सम्बन्ध में ओझाजी, रमाकान्त त्रिपाठी, अगरचन्द नाहटा, दशरथ शर्मा, मथुराप्रसाद दीक्षित आदि ने जो कुछ लिखा है उसमें मतभेद है। उन प्रतियों के आकार में भी बहुत अन्तर है। अतएव रासो के प्रामाणिक संस्करण के विषय में अभी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐतिहासिक तिथियों, घटनाओं, व्यक्तियों आदि के कारण रासो की प्रामाणिकता के विषय के आक्षेप नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण को ले कर उठे हैं। दशरथ शर्मा ने लिखा है कि बीकानेर के गढ पुस्तकालय (फोर्ट लायब्रेरी) की प्रति में ये बातें हैं ही नहीं। उन्होंने ओझाजी के उन सभी तर्कों का खंडन किया है जिनसे रासो की बातें अप्रमाणित ठहरती हैं और यह प्रतिपादित किया है कि रासो पृथ्वीराज के समसामयिक चन्द की ही रचना है। शर्माजी के मत की पुष्टि कुछ अन्य युक्तियों के द्वारा उदयपुर के कविराज मोहनसिंह ने भी की है। मथुराप्रसाद दीक्षित ने सोलन में प्राप्त प्रति का कुछ अंश मुद्रित भी कराया। वे इसी को असली मानते हैं। इसमें भाषा और छन्द सम्बन्धी वे दोष नहीं मिलते जो अन्य प्रतियों में हैं। परन्तु मेनारिया ने इसे भी पृथ्वीराज के समय की भाषा नहीं माना।[2]

ऐतिहासिक और भाषा शास्त्रीय कसौटी पर खरा न उतरने पर भी पृथ्वीराज रासो का काव्य-पक्ष उपेक्षणीय नहीं। उसमें शृङ्गार का मर्मस्पर्शी और वीर का उत्साहवर्द्धक रूप से वर्णन है। अन्य रसों की भी स्थिति है।

संवाद में भी सब कुछ पुराना नहीं माना उन्होंने पद्मावती विवाह के प्रसंग को प्रक्षिप्त कहा है और इसे उस समय की रूढ़िजन्य धारणा का उलझा हुआ रूप बतलाया है। वही, पृ० ७६–७७।

1. वही, पृ० ८८, १११।
2. डिंगल में वीररस। पृ० ३६

मानव-हृदय के भावों और उसकी चेष्टाओं का जैसा निरूपण इसमें है वैसा बहुत कम कवियों ने किया है। इसकी कथा कवि ने अपनी स्त्री के प्रश्नों के उत्तर में शुक और शुकी के मुँह से कहलायी है। कवि स्वयं नायक पृथ्वीराज का सखा और सेनानायक है। अतः उसने अपने मुँह से अपनी बात कहलाना उचित न समझ यह संवाद-योजना की होगी। इस काव्य में अधिकतर व्यापार विवाह के प्रसंगों को ले कर हुआ है।

ग्यारह से छत्तीस वर्ष की अल्पायु में पृथ्वीराज के चौदह विवाहों का वर्णन असम्भव भले ही प्रतीत हो किन्तु यह तो काव्य है जीवन-चरित नहीं। अतएव उस समय की काव्यप्रणाली के अनुरूप युद्ध के लिए विवाह-योजना कवि के लिए अक्षम्य, नहीं स्वाभाविक ही कहना चाहिये। इस काव्य में गोरी के आक्रमणों का सामना करने के प्रसङ्गों को छोड़ और जितने भी युद्ध-वर्णन के अवसर हैं वे सब किसी न किसी स्त्री को प्राप्त करने के लिए कवि ने उत्पन्न किये हैं, भले ही पृथ्वीराज के वास्तविक जीवन में वे न आये हों। उनके वर्णन में कवि का प्रधान उद्देश्य शृङ्गार का निरूपण ही प्रतीत होता है, जो वीर की योजना के लिए प्रयुक्त हुआ है। कवि ने पृथ्वीराज की अन्य रानियों की अपेक्षा इञ्छिनी, शशिव्रता और संयोगिता के विवाहों का अधिक विस्तार से वर्णन किया है। नायक के रूप और गुण के श्रवण के द्वारा नायिका के मन में उसके प्रति प्रेम के उदय का कवि-परम्परागत ढंग से वर्णन कर के उसके वियोग और संयोग दोनों पक्षों का विस्तृत चित्रण किया है। इसी प्रसङ्ग में षड्ऋतु वर्णन भी आ जाता है, जो परम्परानुकूल ही है। ऐसे ही बीच बीच में सबेरे, सन्ध्या, रात, वन आदि के वर्णनों को काव्य की परंपरा का निर्वाह मात्र समझना चाहिये। इस काव्य में वस्तु, व्यापार और भाव का वर्णन इसके अनुरूप बहुत ही स्वाभाविक और प्रभावशाली है। कथा का प्रवाह अमन्द गति से चलता है और रस के अनुसार कहीं मन्द, मन्थर और मधुर है, कहीं वेगवान और कर्कश। रूप-विधान करने में भी कवि कुशल है। कवि की अलङ्कार-योजना भी कम सुन्दर नहीं। शब्द और अर्थ दोनों के उत्कर्ष को प्रकट करने में समर्थ अनेक अलङ्कारों का प्रयोग किया गया है। इञ्छिनी के सौन्दर्य की परम्परागत उपमानों से पुष्ट शैली में अंकित एक झलक देखिए—

नयन सुकज्जल रेष तप्पि निष्छल छवि कारिय,
श्रवनन सहज कटाछ चित्त कर्षन नर नारिय,
भुज मृनाल कर कमल उरज अंबुज कलिय कल,
जंघ रंभ कटि सिंघ गमन दुति हंस करी छल,

देव अरु जष्षि नागिनि नरिय गरहि गर्व दिष्षत नयन,
इंछिनी अंखि लज्जा सहज कितक सक्कि कव्विय वयन।

संयोगिता का रूप लावण्य अत्यन्त आकर्षक है। उसे कवि ने पूरी शक्ति लगा कर अङ्कित किया है। उसके नखशिख वर्णन की ये पंक्तियाँ देखिये—

सिर मद्धि सीस फूलह सुभास, किय जमन अद्ध सुन गिरि प्रकास।
कुंडली मंद बंदन सु चंद, कसतूर ढिगह घनसार बिंद।
वर किरन भोम परसत प्रकार, मनों ग्रसित राह ससि सहित तार।
ओपमा भूअ बेनी विसाल, नागिनी असित सित सहित बाल।

वर्षा का यह चित्रण कितना स्वाभाविक और मनोरम है—

द्रिग भरित धूमिल जुरति भूमिल कुमुद चिम्मल सोभिलं,
द्रुम अंग वल्लिय सीस हल्लिय कुरलि कंठह कोकिलं,
कुसुमंज कुंज सरीह सुम्भर सलिल दुम्भर सद्दयं,
नद रोर दद्दुर मोर नद्दुर बनसि बद्दरि बद्दयं,
झम झमकि विज्जल काम किज्जल श्रवनि सज्जल कद्दयं,
पप्पीह चीहति जीह जंजरि मोर मंजरि मद्दयं,
जगमति झिंगन निसि सुरंगन भय अभय निसि हृद्दयं
मिलि हंस हंसि सुवास सुन्दरि उरसि आनम मिद्धयं।

अब पृथ्वीराज के युद्ध कौशल का एक दृश्य भी देखिये—

भरनि भीर खलमलत रेन चलमलति पवन करि
लोथ लोथ पर परित अर्क नहिं सकत गवन करि।
श्रौन छिंछ उच्छरत सुभट सुम्भति जनु किंसुव,
गजन ढाल कंढुरति भार संघर तक मघ भुव।
विरचंत विफुर सोमेस सुअ सहस करन वर कर बढिय,
बन वृन्द पियन बड़वानल कि कृस्न जानि संमुह कढिय।

रासो की भाषा राजस्थानी का वह रूप है जिसे 'पिंगल' कहते हैं और जिसमें व्रजभाषा के प्रयोग अधिक रहते हैं। उसमें प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दों और प्रयोगों के साथ ही अरबी-फारसी के बहुत से शब्द प्रयुक्त हुए हैं, भले ही ये विदेशी शब्द पृथ्वीराज के समकालीन कवि के समय में प्रचलित न हो पाये हों और बाद के चारणों ने मिला दिये हों। इसमें बहुत से[1] मात्रिक

१. विपिन बिहारी त्रिवेदी ने अपने 'चन्दवरदाई और उनका काव्य' में इसके ७२ प्रकार के छन्दों का उल्लेख किया है।

एवं वर्णवृत्तों का उपयोग हुआ है। यथा दूहा (दोहा), गाहा, रासा, रोला, त्रिभंगी, कवित्त (छप्पय), कुंडलिया, साटक, दंडक, भुजंग प्रयात, नाराच, मोतीदाम, मालिनी, वचनिका आदि। यह पुरानी हिन्दी का बहुत ही श्रेष्ठ काव्य है।

प्रकीर्ण काव्य

इस दीर्घ काल के भीतर कुछ ऐसे कवि भी आते हैं जो अपने-अपने ढंग के अद्वितीय हैं। उनकी कृतियों में तत्कालीन प्रवृत्तियाँ और भाषा का प्रवाह बहुत स्पष्ट और सुथरे रूप में देखा जाता है। इनकी कविता इस बात का भी प्रमाण है कि उन दिनों सभी कवि धर्म या सम्प्रदाय और राजा या सामन्त के सम्बन्ध की ही रचनाएँ नहीं करते थे। कुछ जीवन के सामान्य विषयों को ले कर भी अपने उद्गार व्यक्त करते थे, जिनसे उसकी मधुरता व्यक्त होती थी और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता मिलती थी। जैन कवियों ने अपभ्रंश में कुछ ऐसे आख्यान-काव्य लिखे थे जिनमें लोक-कथाओं को अपने धर्म के तत्वों की अभिव्यक्ति का साधन बनाया गया था। किन्तु धर्मावेश से नितान्त रहित और शुद्ध रूप से मानसिक स्थिति की मनोरंजक व्यञ्जना करने वाली रचनाएँ भी होती थीं। इसका प्रमाण है 'संनेह रासय' (सन्देश रासक)। इसका रचयिता अद्दहमाण (अब्दुर्रहमान) मुलतान में सम्भवतः बारहवीं शताब्दी में उत्पन्न हुआ।[1] उसके पिता का नाम मीरसेण (मीर हसन) था। यह संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा से सुपरिचित था। उसने उक्त भाषाओं के काव्य की प्रचलित रूढियों और उपमान आदि का प्रयोग ही नहीं किया, कहीं कहीं पुराने काव्यों की उक्तियाँ ज्यों की त्यों ले ली थीं।[2] संदेश-रासक बोलचाल की भाषा में लिखा गया। कवि स्वयं कहता है कि मेरे इस "कुकवित्त को बुधजन सुनेंगे नहीं, और न अबुधजन अपनी अबुधता के कारण इसमें प्रवेश करेंगे। जो न मूर्ख हैं और न पंडित, मध्य के हैं उनके पुरतः (सम्मुख) यह कविता सर्वदा पढ़ी जाय।" इससे यह प्रकट होता है कि यह साधारण पढ़े-लिखे लोगों के लिए लिखा गया था। जान पड़ता है कि इसकी कहानी लोक-कथा से ली गयी थी। विजयनगर का कोई व्यक्ति, धन कमाने स्तम्भतीर्थ चला गया। उसकी पत्नी अकेली रह गयी।

---

१. राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्य धारा' में इनका समय १०१० ई० माना है।
२. नामवर सिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २५५।

पति के वियोग में तड़पती रही। एक दिन सामोर से आ रहा कोई पथिक विजय नगर हो कर स्तम्भतीर्थ जा रहा था। स्त्री उसके गन्तव्य स्थल का नाम सुनते ही रो कर उसे अपने पति के पास ले जाने को सन्देश सुनाने लगी। इसी सन्देश में विरहिणी की मानसिक दशा का परिचय कवि ने बड़ी सहृदयता के साथ दिया है। पति-विहीना नारी के तन और मन पर क्या बीत रहा था इसके वर्णन के साथ ही प्रकृति का सुन्दर चित्रण भी किया है। वियोगिनी अपने अन्तर की पीडा समुद्रमन्थन के प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान के संकेत से बतलाती हुई कहती है—

मह हियय रयणनिहि महियं गुरु मंदरेण तं णिच्चं
उम्मूलियं असेसं सुहरयणं कड्ढियं च तुह पिम्मे।[1]

कवि ने विरह-विधुरा नारी की कातरता का वर्णन करने के लिए षड् ऋतु-वर्णन की योजना की है। उसमें प्रकृति का उद्दीपन के रूप में प्रयोग किया है। ये वर्णन कवियों के बीच चली आ रही परंपरा के अनुरूप होते हुए भी मनोरम हैं। पति के पास वह कहलाती है कि—

गरुअउ परिहवु कि न सहउ पइ पोरिस-निलएण।
जिहि अंगिहि तू विलसियउ ते दद्धा विरहेण।[2]

वह अपनी व्यथा कहते कहते रो पड़ी। पथिक ने अपनी यात्रा के लिए अपशकुन कह कर आँसू गिराने से रोका। तब वह कैसी अनूठी युक्ति से सहसा, बिना किसी प्रयास के, आँसुओं के आ जाने का उल्लेख करती है—

मइ न रुन्नु विरहग्गि धूम लोयण सवणु।

मैं कहाँ रोती हूँ? (और ये आँसू?) विरह की आग के धुएँ से लोचन स्रवण करते हैं।

इस प्रकार यह काव्य उस परंपरा का बहुमूल्य उदाहरण है जिसमें कवि सहज मानव-भावों के वर्णन के लिए धर्म-निरपेक्ष हो कर अपनी रसमयी वाणी का प्रयोग किया करता है।

विद्यापति—अपभ्रंश काव्य की परंपरा में विद्यापति का उल्लेख

---

१. पिय ने मेरे हृदय रूपी रत्ननिधि (सागर) को वियोग-मन्दर से मथ कर उससे अशेष सुख-रत्नों को काढ़ लिया।

२. तुम्हारे समान पौरुष-निलय पति के होते हुए भला यह पराभव क्यों न सहन करूँ—जिस अंग से तुमने विलास किया था, विरह ने उन्हीं को जला दिया है।

होना ही चाहिए। इनका जन्म सन् १३६० के लगभग हुआ। इनके रचे अपभ्रंश के एतिहासिक काव्य 'कीर्तिलता' में तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह का वर्णन है जो १३७० में अपने पिता गणेश्वर के तुर्कों द्वारा युद्ध में मारे जाने पर तिरहुत की गद्दी पर बैठा था। कीर्तिसिंह के युद्ध और राज्य-लाभ-प्रसङ्ग से उसके प्रताप, औदार्य और शौर्य का वर्णन है। इस प्रकार यह ऐतिहासिक चरित काव्य है। इसमें जहाँ एक ओर अपभ्रंश का ऐसा रूप है—

घम्म पेष्खइ अवरु सुरुतान।
अंतरिष्ख ओत्थविअ इंद चंद सुरसिद्ध चारण
विज्जाहर गह भरिअ वीर जुज्झ देक्खह कारण।

वहीं उसका यह विकसित रूप भी प्रचुर परिमाण में है—

पहिल नेवाला खाइ जाइ मुँह भीतर जवहीं
खण यक चुप भै रहइ गारि गाड़ू दे तवहीं।

अथवा

हिन्दू तुरके मिलल वास, एकक धम्मे अओका उपहास
कतहु बाँग कतहु वेद, कतहु बिशमिल कतहु छेद।

और

पैरि तुरंगम मेलि पार गण्डका का पाणी
परवल मंजनिहार मलिक महमद गुमानी।

ऐसी देशभाषा मिश्रित रचना की उत्कृष्टता का भान स्वयं कवि को था। वह कहता है कि

बालचंद विज्जावइ भासा दुहु नहि लागइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहइ, ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ।

अर्थात् दूज के चाँद और विद्यापति की भाषा के प्रति दुर्जनों की हँसी का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। वह परमेश्वर हर के शिर पर सोहता है और यह निश्चय ही नागरों के मन को मोहती है।

विद्यापति के रचे हुए बहुत से पद भी मिलते हैं। इनमें मैथिली के शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। इनमें कवि के आश्रयदाता राजा शिवसिंह और उनकी रानी लक्ष्मी देवी के लिए राधा और कृष्ण की केलि का मादक गान है। इनमें शुद्ध श्रृङ्गार है, भक्ति नहीं। कारण, विद्यापति शैव थे, राधा-कृष्ण के उपासक वैष्णव नहीं। राधा और कृष्ण इनके पूर्व ही श्रृङ्गार के आलम्बन बन चुके थे यह इन पदों की उत्कृष्ट शैली, सरस पदावली और प्रौढ़ रचना से स्पष्ट होता है। इनका एक प्रसिद्ध पद नीचे दिया जाता है—

सरस बसंत समय भल पावलि दछिन पवन बह धीरे,
सपनहु रूप बचन इक भाषिअ मुख से दूरि करु चीरे।
तोहर बदन सम चाँद होअइ नहिं कैयो जतन विह केला,
कै बेरि काटि बनावल नव कै तैयो तुलित नहिं भेला।
लोचन तुअ कमल नहिं भै सक से जग के नहिं जाने
से फिरि जाय लुकैलन्ह जल मएँ पंकज निज अपमाने।
भन विद्यापति सुनु बर जोषित ई सब लछ्मि समाने,
राजा सिवसिंह रूपनारायन लखिमादेइ प्रतिमाने।

अमीर खुसरो—(१२५३-१३२५ ई०) दिल्ली के अमीर खुसरो ने विदेशियों को यहाँ की भाषा सिखाने के लिए तुर्की-अरबी-फारसी और हिन्दी का कोष 'खालकबारी' लिखा। उसके द्वारा वे बतला गये हैं कि दिल्ली में आ बसे तुर्कों को वहाँ के निवासियों से व्यवहार में किन शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि वे उस प्रदेश की व्यावहारिक भाषा से भली-भाँति परिचित थे। इसका प्रमाण लीजिये—

खालिकबारी सिरजनहार वाहिद एक विदा करतार।
आतिश आग आब है पानी, बहिंदी ज़ुबाँ खानह हम बैत घर है।
बया आओ बिनशीं बैठो बिरो जा, बुबीं देख बिदेह दे बखुर खा।

अपने दीर्घ जीवन में उन्होंने दिल्ली के तख्त से गुलाम और खिलजी इन दो तुर्क राज-वंशों को उतरते और तुगलकों को उस पर बैठते देखा। बलबन, अलाउद्दीन खिलजी और गयासुद्दीन तुगलक जैसे प्रतापी सुलतानों के समय की सङ्घर्षमयी दिल्ली में निवास किया। बलबन के युवराज मुहम्मद से इनकी घनिष्टता थी। १२८५ ई० में मंगोलों से लड़ता हुआ मुहम्मद मारा गया और खुसरो कैद हुए। ये फारसी के विद्वान् ही नहीं कवि और लेखक भी थे। इनके रचे बाईस फारसी-ग्रन्थ अब भी मिलते हैं। हिन्दी में इनकी पहेलियों, मुकरियों और दो सखुनों की बड़ी ख्याति है। इनमें कहने का चमत्कारपूर्ण ढंग और भाषा का चलतापन देखते ही बनता है। ये नागरी (खड़ी बोली) की पद्यबद्ध रचना के प्रारम्भिक उदाहरण हैं। हो सकता है कि अतिकाल से लोगों के मुँह पर चढ़ी चली आ रही इन पहेलियों और मुकरियों की भाषा में कुछ परिवर्तन हो गया हो किन्तु इनके क्रियापदों और विभक्तियों का ढाँचा तो पूर्ववत् ही रह गया होगा और यही तो इस भाषा की मुख्य प्रकृति के द्योतक हैं। इनके कुछ उदाहरण लीजिये—

पहेली— आवे तो अंधेरी लावे, जावे तो सब सुख ले जावे।
क्या जानूँ वह कैसा है, जैसा देखा वैसा है।
अरथ जो इसका बूझेगा, मुँह देखो तो सूझेगा।
बात की बात ठठोली की ठठोली, मरद की गाँठ औरत ने खोली।
सुकरी— खा गया पी गया दे गया बुत्ता, क्यों सखि साजन? ना सखि कुत्ता।
दो सखुन—एक गुनी ने यह गुन कीना हरियल पिंजरे में धरि दीना।
देखो जादूगर का हाल डाले हरा निकाले लाल।

उपर्युक्त उद्धरणों में कहीं कहीं हिन्दी का आधुनिक रूप है और कहीं उसके अत्यन्त निकट का। जान पड़ता है ऐसी ही या इससे बहुत कुछ मिलती-जुलती भाषा का उस समय चलन था। इस प्रकार की भाषा के अतिरिक्त खुसरो की व्रजभाषा की कविताएँ भी मिलती हैं जिनमें सरसता और भावों की अभिव्यञ्जना है। ऐसी कविताओं को देख कर ही भाषा की प्रकृति से अनभिज्ञ लोगों ने यह प्रचार कर दिया होगा कि उर्दू की उत्पत्ति व्रजभाषा से हुई। ऐसी कुछ रचनाओं की बानगी देखिए। इनमें पहले अवतरण में अरबी बह्र में लिखित फारसी और साथ में व्रजभाषा का कौशल है।

चूँ शमा सोज़ा चूँ ज़र्रा हैराँ हमेशा गिरियाँ बइश्क़ आँमह।
न नींद नैना न अंग चैना न आप आवें न भेजें पतियाँ॥
बहक्क रोज़े विसाल दिलबर कि दाद मारा फ़रेब ख़ुसरो।
सपीत मन को दुराय राखूँ जो जान पाऊँ पिया की बतियाँ॥
उज्जल बरन अधीन तन एक चित्त दो ध्यान।
देखत में सो साधु हैं निपट पाप की खान॥

इस प्रकार की रचनाओं से खुसरो ने यह सूचित किया है कि उन दिनों व्रजभाषा में भी कविता हो रही थी, उसका प्रभाव दिल्ली के आस पास था तथा उसका यथेष्ट विकास हो चुका था। पूरब की बोली भी सम्भवतः सिद्धों के रचना काल के आगे विकसित हो चुकी होगी। न तो उसके उदाहरण मिलते हैं और न व्रजभाषा की ही खुसरो के पूर्ववर्ती कवियों की रचनाएँ उपलब्ध हैं। इन दोनों बोलियों के मध्यकालीन काव्यों की प्रौढ भाषा यह स्पष्ट करती है कि इनमें स्वतन्त्र रूप से कविता होती रही। किन्तु इनके प्रदेशों की रचनाओं को जैन-ग्रन्थागारों और राज्याश्रय के सदृश कहीं सुरक्षा के स्थल न मिल सके होंगे। हम देख चुके हैं और आगे और भी अधिक देखेंगे कि यह युग था मुसलमानों के साथ भीषण और निरन्तर सङ्घर्ष का और उनमें कुछ धर्मान्ध शासकों आदि के द्वारा किये गये सांस्कृतिक विनाश का। अचरज नहीं कि इन भाषाओं

के क्षेत्र के अन्य सांस्कृतिक उपकरणों के साथ साहित्य की यह अमूल्य निधि भी आग के मुँह में चली गयी हो।

काव्य भाषा का स्वरूप

अभी तक हमने इस विस्तृत काल और कविता के व्यापक क्षेत्र की विविध काव्य-धाराओं की चर्चा की है। उनकी भाषा में विविधता जान पड़ सकती है। परन्तु ध्यान से देखने पर इसका भेद खुल जायगा। इनके कुछ उद्धरण एक साथ रख कर विचार कीजिए।

जीवन्तह जो णउ **जरइ** सो अजरामर होइ।
गुरु-उवएसें विमल-मइ सो पर धण्णा होइ॥
(सरहपा, आठवीं शताब्दी)

रोवइ लंकापुर - परमेसरि, हा रावण! तिहुयण-जण-कसरि।
पइ विणु समर-तूरु कहो **वज्जइ**, पइ विणु बालकील कहो **छज्जइ**।
(स्वयंभू, आठवीं शताब्दी)

खंधावारहु उप्परी अहणिसु, ता णायहिं वेउव्विउ पायसु।
मय-उलु **तसइ रसइ वरिसइ** घणु, पीयलु सामलु **विरसइ** सुर-धणु।
(पुष्पदन्त, दसवीं शताब्दी)

जं **लिहिउ** ण पुच्छिउ कहव जाइ, **कहियउ** कासु वि णउ चित्ति ठाइ।
(रामसिंह, दसवीं शताब्दी)

किं तहि देस णहु **फुरइ** जुन्ह णिसि णिम्मल चंदह।
(अद्दहमाण, बारहवीं शताब्दी)

इन उदाहरणों के मोटे अक्षरों के शब्दों को मिलाइये। ध्यान रखिए कि सरहपा आधुनिक बिहार का, स्वयंभू सम्भवतः मध्यदेश का, पुष्पदन्त हैदराबाद (दक्खिन), रामसिंह राजस्थान और अद्दहमाण पश्चिमी पंजाब का कवि था। इस प्रकार पूर्व, मध्य, पश्चिम और दक्षिण सर्वत्र की काव्यभाषा में मूलतः सादृश्य था। कुछ अन्य उदाहरण भी लीजिये—

अवधू **रहिबा** हाटे बाटे, रूप विरष की छाया।
तजिबा काम क्रोध लोभ मोह संसार की माया॥
(गोरखनाथ, दसवीं शताब्दी)

भल्ला **हुआ** जु **मारिया** बहिणि महारा कंतु
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घर अंतु।
(हेमचन्द्र, बारहवीं शताब्दी)

एक तरुवर का फल है तर, पहिले नारी पीछे नर।
वा फल की यह देखी चाल, बाहर खाल और भीतर बाल।
(खुसरो, तेरहवीं शताब्दी)

अनेक वाजि तेज ताजि साजि साजि **आनिआ**
परक्कमेहि जासु नाम दीप दीये **जानिआ**।
कहीं कोटि **गन्दा कहीं** वाँदि **वन्दा**,
कहीं दूर निक्कारि अहि हिन्दु **गन्दा**।
गोर गोमर पुरिल मही, पैरहु **देना** एक ठाम **नहीं**।
(विद्यापति, चौदहवीं शताब्दी)

उक्त रचनाओं में पूरब के विद्यापति, मध्य देश वा पश्चिम के गोरखनाथ तथा खुसरो और गुजरात के हेमचन्द्र की भाषाओं में हिन्दी के मूल रूप की झलक स्पष्ट है। ऐसे ही खुसरो की कविता के उद्धरणों में व्रजभाषा का तत्कालीन रूप भी दिखलाया जा चुका है। अतएव इस युग के आरम्भ में जिस अपभ्रंश में रचना हुई वह हिन्दी का पूर्व रूप कही जा सकती है। उसमें पूरबी और पछाहीं दोनों रूप झाँकते दिखलायी पड़ते हैं। आगे चलकर भाषा का उत्तरोत्तर विकास होता गया और वह आजकल के रूप के अधिकाधिक निकट आती गयी। यहाँ तक कि तेरहवीं शताब्दी तक पहुँचते पहुँचते उसकी आकृति ऐसी हो गयी जो वर्तमान समय की व्यावहारिक भाषा से प्रायः पूर्णतया मिलती-जुलती है। भाषा को जो रूप राजस्थानी के नाम से अभिहित हुआ उसका विकास भी इसी परम्परा में हुआ। वह मारवाड़ में आज भी प्रायः वैसी ही णकार-प्रधान प्रवृत्ति नहीं छोड़ सकी। उसके काव्य राजस्थान में ही सीमित रहे और उसी से आगे चल कर गुजराती ने अपने को अलग कर नये रूप में विकास किया। हम आगे के प्रकरण में देखेंगे कि किस प्रकार भाषा का यह विकास होता रहा और वह कब किस रूप में साहित्य के सृजन का प्रमुख साधन बनी और कब यह प्रमुखता उसके किस दूसरे रूप ने ले ली।

पूर्व मध्यकाल

(सन् १३०० से १६५० ई०)

●

युग की पृष्ठभूमि

राजनीतिक परिस्थिति

ईसा की तेरहवीं शताब्दी से देश में मुसलमान आधिपत्य के लिए सङ्घर्ष अधिक तीव्र होने लगा। मुहम्मद गोरी के विजित प्रदेशों पर तुर्कों की सल्तनत स्थापित हुई और उसके विस्तार के लिए बलबन, अलाउद्दीन आदि सुलतानों और उनके सेनापतियों ने प्रयास करके सफलता पायी अवश्य, किन्तु कोई भी राजवंश अधिक समय तक सत्तारूढ न रह सका। किसी महत्त्वाकांक्षी सरदार के हाथ में राज्याधिकार आने के बाद उसके अशक्त उत्तराधिकारी उसे सँभाल न पाते। अलाउद्दीन खिलजी मुहम्मद तुगलक़ आदि ने अपनी दूरदर्शिता का परिचय देते हुए केन्द्रीय शासन को दृढ़ करने के प्रयासों की नींव डाली नहीं कि उनके आँख मूँदते ही उनके किये कराये पर पानी फिर जाता। फलतः चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दियों में बहुत से मुसलमानों और हिन्दुओं के प्रादेशिक राज्य उठ खड़े हुए। तुर्क शासक विदेशी होते हुए भी इस देश को अपना चुके थे। उनमें कुछ की धमनियों में हिन्दू रक्त भी बहता था।[१] उनके बहुत से गुलाम पहले हिन्दू थे और फिर मुसलमान हो गये थे। इनमें कुछ अच्छे सेनानायक और विजेता[२] हुए और कुछ तो सुलतान तक बन बैठे थे।[३] अतएव ये लोग एक प्रकार

---

१. गयासुद्दीन तुगलक की माँ पंजाब की जाटनी थी। २. जैसे मलिक काफूर। ३. खुसरो, जो नासिरुद्दीन नाम से १३२० में थोड़े दिनों तक ही राज्य कर पाया था।

से विदेशी नहीं रह गये थे। तुर्कों के पीछे पठानों का राज्य हुआ। उनके पूर्वज हिन्दू वा बौद्ध थे। दसवीं शताब्दी के अन्त में बौद्ध धर्म छोड़ कर यारकन्द-काशगर के लोग मुसलमान हुए और उसके बाद अफगानिस्तान का हिन्दू-बौद्ध प्रदेश महमूद द्वारा विजित होने पर इस्लाम का अनुयायी बना।

तरावड़ी की लड़ाई में जीत कर शहाबुद्दीन गोरी ने ११९२ में दिल्ली में तुर्क सल्तनत की स्थापना की थी। १२१९ में चंगेजखाँ ने मध्य एशिया और अफगानिस्तान से तुर्क राज्यों की सफाई कर दी। तब से डेढ़ सौ वर्ष तक अफगानिस्तान मंगोलों के अधिकार में रहा और भारतीय तुर्कों का अपने देश से सम्बन्ध न रहा। भारत में आने के २५ वर्ष बाद ही तुर्क विजेताओं का अपने देश से सम्बन्ध कट गया, उन्हें लाचार हो कर भारतीय बनना पड़ा। इस देश को उन्होंने अपना देश माना। वे संख्या में बहुत कम थे और विशाल देश से अपरिचित। इसलिए दिल्ली के केंद्रीय शासन के अधीन रहने में उन्होंने अपना हित देखा। ज्यों ज्यों उनका राज्य फैलता गया वे उन प्रान्तों के कुछ निवासियों को मुसलमान बनाते गये।

१२९५ ई० में अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उससे पहले जलालुद्दीन के प्रशासन में वह इलाहाबाद का हाकिम था और वहाँ से चढ़ाई कर मालवा और महाराष्ट्र को जीत चुका था। अब उसने दक्षिण जीतने का निश्चय किया। गुजरात जीत कर उसने राजपूताने को तीन ओर से घेर लिया। फिर रणथंभोर और चित्तौड़ जीत कर सिवाना जालोर भिन्नमाल आदि छोटे छोटे राज्य जीत लिये। उसके बाद उसके गुजराती हिन्दू से मुसलमान बने सरदार मलिक काफूर ने दक्षिण पर कई चढ़ाइयाँ कीं। इस प्रकार राजस्थान गुजरात महाराष्ट्र और दक्षिण में पहले पहल मुसलिम शासन अलाउद्दीन ने चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में पहुँचाया। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में बंगाल की तुर्क सल्तनत दिल्ली सल्तनत से स्वतंत्र हो चुकी थी और इन दोनों के बीच में तिरहुत का कर्णाट हिन्दू राज्य स्वतन्त्र था। अलाउद्दीन के मरते ही दिल्ली का शासन ढीला पड़ गया, पर गयासुद्दीन तुगलक ने १३२० में उसमें फिर जान डाली। उसने बंगाल भी जीत लिया और दक्षिण में महाराष्ट्र और आंध्र तक उसका साम्राज्य रहा। इधर डेढ़ शताब्दी में तुर्क लोग भारतीय बन चुके थे। दूर दूर के प्रान्तों से उनका परिचय हो चुका था। बहुत से भारतीय भी इस्लाम स्वीकार कर उनमें मिल चुके थे। अब प्रान्तीय शासकों को किसी केन्द्रीय सम्राट् की आज्ञा मानने की आवश्यकता न थी। उनमें अब स्वतन्त्र होने की प्रवृत्ति आ गई थी। आये दिन कभी कोई और कभी कोई

प्रान्तीय शासक स्वतन्त्रता की घोषणा करता और दिल्ली सम्राट् उसपर चढ़ाई कर उसे हरा कर उससे अधीनता मनवाता। मेवाड़ में हम्मीर सीसोदिया १३२६ में ही स्वतन्त्र हो गया। उन्हीं दिनों विजयनगर के हिन्दू राज्य का उदय हुआ। मदुरा और बंगाल में दिल्ली सल्तनत के सूबेदार स्वतन्त्र सुलतान बन बैठे, दक्षिण में बहमनी सल्तनत की स्थापना हुई। कश्मीर में शाहमीर ने, जिसके पूर्वज स्थानीय हिन्दू थे, स्वतंत्र सल्तनत स्थापित की। चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध लगते ही फीरोज़ तुगलक दिल्ली की गद्दी पर बैठा। प्रान्तीय शासकों की स्वतंत्र होने की प्रवृत्ति जारी रही और फीरोज़ उनके विद्रोहों को दबाता रहा। इन्हीं दिनों दक्षिण में विजयनगर और बहमनी रियासतों का संघर्ष चलता रहा। फीरोज़ के उत्तराधिकारी बिलकुल निकम्मे निकले और राज्य की शक्ति प्रान्तीय शासकों के हाथों में चली गई।

१३७० में तैमूर ने चंगेज-वंशजों के राज्यों को मध्य एशिया और अफगानिस्तान से उसी प्रकार उखाड़ दिया जिस प्रकार डेढ़ शताब्दी पहले चंगेज ने तुर्क राज्यों को उखाड़ा था। १३६८ में वह दिल्ली पर आ चढ़ा। दिल्ली का तुर्क साम्राज्य पहले ही बोदा हो चुका था, तैमूर की ठोकर के बाद सँभल न सका।

पन्द्रहवीं शताब्दी प्रान्तीय शासकों का युग था। इस शताब्दी में राजस्थान में मेवाड़ की खूब उन्नति हुई। महाराणा लाखा, चूड़ा और कुंभा के प्रशासन में वह पश्चिम भारत की प्रमुख शक्ति बन गया। मालवा, गुजरात, बंगाल, कश्मीर में स्वतंत्र मुसलिम रियासतें थीं ही, जौनपुर में भी स्वतंत्र मुसलिम सल्तनत खड़ी हुई, ये सुलतान शर्की कहलाये। तिरहुत में कामेश्वर नामक ब्राह्मण ने हिन्दू राज्य की स्थापना की थी, उसके पौत्र गणेश्वर ने उसे स्वतन्त्र कर लिया। गणेश्वर का पुत्र कीर्तिसिंह और पौत्र शिवसिंह स्वतंत्र हिन्दू राजा थे। बुंदेलखंड में बहुत से बुंदेले सरदार, जो गाहड्वालों के वंशज थे, राज करने लगे थे। उड़ीसा में सूर्यवंशी कपिलेन्द्र ने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। इस शताब्दी के अन्त तक पहुँचते पहुँचते बहमनी सल्तनत टूट गई और एक के स्थान पर चार सल्तनतें दक्षिण में बन गईं। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में पठान नई शक्ति के रूप में भारत की राजनीति में आये। १४५१ में उन्होंने दिल्ली ले ली और वहाँ से बढ़ते बढ़ते बिहार तक फैल गये। पर वे दिल्ली के राज्य को साम्राज्य न बना सके। १६वीं शताब्दी के आरम्भ में जब बाबर के नेतृत्व में तुर्कों की नई बाढ़ भारत में आई, तब भारत में कोई साम्राज्य न था, सभी प्रादेशिक स्वतंत्र राज्य थे।

सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में दिल्ली का पठान राज्य बहुत कमजोर हो गया। उस समय भारत में प्रमुख शासक—पश्चिमी मंडल में मेवाड़ का राणा साँगा और दक्षिण में विजयनगर का कृष्णदेव राय थे। ठीक उसी समय मंगोलों की उजबक नामक नई शाखा शैबानी उजबक के नेतृत्व में अपने मूल अभिजन से मध्य एशिया में आई। उसने चंगेज़ और तैमूर की कहानी को दोहराया। उससे मार खा कर तैमूर का वंशज बाबर फरगाना से भाग कर काबुल आया। १५१० में मर्व की लड़ाई में शैबानी मारा गया, पर बाबर पर उसके नाम का ऐसा आतंक छाया था कि उसने पीछे फिर कर न देखा। देहली के शासन की दुरवस्था की खबर पा उसने भारत जीतने की ठानी। उसके पास युद्ध के नवीन उपकरण—आग्नेयास्त्र थे। उसकी बंदूकों और तोपों के सामने अफगानों की वीरता किसी काम न आई, कुछ ही घंटों की पानीपत की पहली लड़ाई में बाबर के आग्नेयास्त्रों ने भारत के भाग्य का निपटारा कर दिया। दिल्ली से आगे बढ़ते ही उसकी राणा साँगा से ठन गई, पर वहाँ भी बाबर के साधनों और युद्ध-कौशल ने साथ दिया। साँगा ने खानवा की पराजय से हिम्मत न हारी, पर उसके साथी युद्ध से ऊब गये थे, उन्होंने उसे विष दे दिया!

बाबर नई युद्ध-कला और नये शस्त्रास्त्र ले कर आया, उधर उसी समय समुद्र मार्ग से पुर्तगाली भी आये। बाबर को पहले खोकरों से फिर पठानों और राजपूतों से वास्ता पड़ा। सांगा के बाद राजपूतों में प्रतिरोध की शक्ति न रह गई थी, पर पठानों ने हिम्मत न हारी, उन्होंने मुगलों का प्रतिरोध जारी रक्खा। उन्हीं दिनों उनमें शेरखाँ जैसे महापुरुष का प्रादुर्भाव हो चुका था। वह किसी राजकुल में पैदा न हुआ था, न उसके पास मुगलों और पुर्तगालियों जैसे शस्त्रास्त्र ही थे। परन्तु उसमें महापुरुषों के सभी गुण मौजूद थे। उसकी प्रतिभा, उसके युद्धकौशल और उसके सैन्य-संचालन के सामने पूर्व में पुर्तगालियों की और पच्छिम में मुगलों की डरावनी तोपें धरी रह गईं। उसने उन साधनों के बिना ही हुमायूँ को पूरी हार दी। हुमायूँ को उसने तोपें दागने का अवसर ही न दिया। उसके सैनिक और उसकी प्रजा उस पर जान देती थी। उसके प्रशासन में हिन्दी का अमर काव्य 'पदमावत' लिखा गया। शेरशाह के उत्तराधिकारी अयोग्य निकले, उधर मुगलों का नेतृत्व अकबर जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के हाथ में था। पिता की मृत्यु के समय वह किशोर ही था। बैरामखाँ उसका शिक्षक और संरक्षक था। हेमचन्द्र के नेतृत्व में पठानों की पच्छिम चढ़ाई होने पर मुगलों ने भागने की ठानी, पर कुमार अकबर डट गया और पानीपत

की दूसरी लड़ाई में उसने एक बार फिर भारत के भाग्य का निर्णय किया। दिल्ली की गद्दी पर बैठने के बाद उसने धीरे धीरे प्रादेशिक शासकों को अधीन किया और दृढ और सशक्त साम्राज्य की नींव डाली। देश भर में छितरे हुए छोटे छोटे हिन्दू और मुसलमान राजाओं ने एक-एक कर के शक्तिशाली दिल्ली-सम्राट् के सामने घुटने टेक दिये। अकबर (१५५५–१५७६ ई०) के समय मुगल साम्राज्य का विस्तार ही नहीं हुआ, उसके प्रभाव का चरमोत्कर्ष भी हुआ। केन्द्रीय शासन की दृढता से देश में व्यवस्था और शान्ति की स्थापना हुई। जहाँगीर (१५७६–१६२७) और शाहजहाँ (१६२८–१६५८) के समय में भी यह स्थिति बनी रही। अकबर का साम्राज्य अपने समय में दुनिया का सबसे बड़ा साम्राज्य था। तो भी मेवाड़ के अकिंचन राणा प्रताप ने उसकी अधीनता न मानी और आजीवन लड़ता रहा। प्रताप का बेटा अमरसिंह जहाँगीर से १६ वर्ष लड़ा, पर अन्त में उसने अधीनता मान ली। शाहजहाँ के प्रशासन के अन्तिम काल में बुंदेलखंड में चंपतराय और महाराष्ट्र में शिवाजी की स्वाधीनता चेष्टा प्रकट हुई।

बाबर के आने से पहले देश के मुसलमान शासकों में तुर्क बहुत कम रह गये थे। अधिकांश मुसलमान शासक भारतीय थे—दिल्ली के पठान सम्राट्, कश्मीर, बंगाल, गुजरात के सुलतान—ये सभी भारतीय मुसलमान थे, जिनके पूर्वज हिन्दू से मुसलमान हुए थे। इनकी भाषा, साहित्य, कला, वेशभूषा, रहन-सहन—धर्म के अतिरिक्त सब कुछ—यहाँ का था। धार्मिक मामलों में भी ये लोग बहुत उदार हो गये थे। इन सब ने संस्कृत तथा देशी भाषाओं के साहित्य, संगीत और कला को प्रोत्साहन दिया। कश्मीर के जैनुलाबिदीन के प्रोत्साहन से जोनराज ने संस्कृत में दूसरी राजतरंगिणी लिखी, जौनपुर के शर्कियों के प्रोत्साहन से शास्त्रीय संगीत का पुनरुद्धार हुआ और संगीत शिरोमणि नामक संगीत-ग्रन्थ संस्कृत में तैयार हुआ। हुसैनशाह बंगाली के प्रोत्साहन से बँगला में महाभारत भागवत आदि का अनुवाद हुआ। बंगाली कवियों ने उसे अपने गीतों में 'श्री हसन जगत भूषण' नाम से अमर कर दिया।

इन मुसलमान शासकों के मंत्री और सलाहकार अधिकांश हिन्दू होते थे। हुसैनशाह बंगाली का मंत्री गोपीनाथ वसु था। कश्मीर के सुलतान शहाबुद्दीन के मुख्य मंत्री उदयश्री और चंद्र डामर थे। वहीं के सुलतान सिकंदर का मंत्री सूहू भट्ट ब्राह्मण था। वह मूर्त्ति-पूजा का विरोधी था—उसने धार्मिक असहिष्णुता-वश मंदिरों की मूर्तियाँ तुड़वा दीं। उसकी करतूत से सिकंदर

बुतशिकन नाम से बदनाम हुआ। पर उसके बेटे जैनुलाबिदीन ने उन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया। इन मुसलमान शासकों की तरह हिन्दू शासकों ने भी साहित्य संगीत और अन्य ललित कलाओं को प्रोत्साहन दिया। इनमें विजयनगर के राजाओं और मेवाड़ के राणा कुंभा का विशिष्ट स्थान है।

अकबर ने शुरू से ही समझ लिया था कि भारत में स्थायी साम्राज्य स्थापित करने के लिए इस देश को अपना देश मान कर यहाँ की भाषा, साहित्य, कला, रहन-सहन, वेशभूषा को अपनाना होगा। जैनुलाबिदीन और शेरशाह के उदाहरण उसके सामने थे। उसने उनके दिखाये मार्ग को अपनाया। धार्मिक मामलों में भी वह बड़ा उदार था। उसके वंशज (औरंगज़ेब को छोड़ कर) उसकी नीति पर चलते रहे। अकबर और उसके वंशजों के प्रशासन में हिन्दी कवियों को बराबर राजाश्रय मिलता रहा। हिन्दू धर्म से कट्टर विरोध होने पर भी औरंगज़ेब को हिन्दी से विरोध न था। उसके दरबार में हिन्दी कवियों को आश्रय मिलता था और कहते हैं उसने स्वयं भी हिन्दी में कविता की थी।

सामाजिक परिस्थिति

तेरहवीं शताब्दी में भारतीय राज्य एक एक ठोकर से गिरते गये थे। तब पुनर्जागरण हुआ। इस पुनर्जागरण से चौदहवीं पंद्रहवीं शताब्दी में जो राज्य खड़े हुए, उनके शासकों—हिन्दू-मुसलमानों दोनों—के सामने दृढ़ राज्य बनाने का लक्ष्य था। ये सभी शासक जागरूक थे। सभी को प्रजा की खुशहाली का ध्यान था, सभी ने भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। सभी ने साहित्य संगीत और कला को प्रोत्साहन दिया। संस्कृत और देशी भाषा दोनों में रचनाएँ हुईं। हिन्दू-मुसलमानों में जीवन के सभी क्षेत्रों में आदान-प्रदान हुआ। दोनों ने एक दूसरे के जीवन को प्रभावित किया। हिन्दुओं में इस काल में जाँत-पाँत और शादी-ब्याह के बंधन कड़े हुए। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में जो राजवंश पदच्युत हुए थे वे अपने को राजपुत्र (राजपूत) कहने लगे और वह भी एक जात बन गई। एक ही परिवार के कुछ व्यक्ति मुसलमान हो जाते और कुछ हिन्दू रह जाते ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं। उस समय तक हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर विवाह होने के उदाहरण भी मिलते हैं। कश्मीर के सुलतान शाहमीर की लड़कियाँ हिन्दू सामन्तों को ब्याही थीं और उसके लड़के अल्लेशर का विवाह हिन्दू सेनापति की लड़की से हुआ था। बहू अपने पति का धर्म स्वीकार कर लेती। विवाह में धर्म का बंधन न होने पर भी जात-

पाँत का बन्धन तो था ही। जात-पाँत के विरुद्ध भी आवाज उठ रही थी। रामानन्द और उनके शिष्य कबीर ने खुल कर इसका विरोध किया, पर इसके बन्धन दिन दिन कड़े होते गये। खान-पान के बंधन भी शायद पहले इतने कड़े न थे। जोनराज ने दूसरी राजतरंगिणी में लिखा है कि कश्मीर का सुलतान शहाबुद्दीन अपने कौमार जीवन में वाक्पुष्टाटवी गया, उसके प्रिय साथी उदयश्री और चन्द्र डामर उसके साथ थे। योगिनियों के पास पहुँचे तो योगिनी-नायिका ने दूर ही से राजपुत्र को पहचान कर आसीस-सहित मन्त्र फूँका हुआ शराब का प्याला भेजा। राजपुत्र ने तृप्त हो कर जो बचाया उसमें से चंद्र ने कुछ पी कर कुछ उदयश्री के लिए बचा दिया। उदयश्री ने वह सारा तृप्त हो कर पी लिया।* अर्थात् चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दू-मुसलमान एक ही प्याले में पी सकते थे। पर पीछे छुआछूत और खान-पान के बंधन हिन्दुओं में बहुत कड़े हो गये।

जमींदारी प्रथा जो गुप्तों के बाद आरंभ हुई थी, इस युग में क्रमशः पक्की होती गई। शेरशाह ने अपने प्रशासन में इस प्रथा को उठा दिया था, पर मुगलों ने इस प्रथा को फिर चालू किया। 'मुगल साम्राज्य के जागीरदार और मदसबदार भी बड़े समृद्ध थे। मनसबदारों को बड़ी तनखाहें मिलती थीं, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद उनकी सब संपत्ति का वारिस बादशाह होता था, इससे वे अपनी कमाई खुले हाथों खर्चते थे। बादशाह और उनकी ऐयाशी के कारण प्रजा का धन फिर प्रजा के पास लौट आता था। देश के कारीगर उससे लाभ उठाते थे। बादशाह और प्रान्तीय सूबेदारों के अनेक कारखाने देश के कारीगरों का बड़ा सहारा थे। बादशाह को प्रजा के सुख-दुःख का ध्यान रहता था। १६३०-३१ ई० में गुजरात खानदेश और दक्खिन में दुर्भिक्ष पड़ा। शाहजहाँ ने उस समय उन प्रान्तों के लगान में बहुत छूट कर दी, और अनाज मुफ्त बँटवाया।' † कृषक प्रजा खुशहाल और सुखी थी।

समाज में इस प्रकार भोग-विलास से परिपूर्ण मुगल प्रभाव पड़ा और मुस्लिम ही नहीं हिन्दू भी उससे अछूते नहीं रह सके होंगे। मुस्लिम समाज की देखादेखी तथा अधिकारियों की रसिकता से रक्षा पाने के लिए हिन्दू समाज में परदे और बाल-विवाह का प्रचलन हुआ। बहुतेरे हिन्दू विविध कारणों से

---

* जयचंद्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की मीमांसा पृष्ठ ४४१

† जयचंद्र विद्यालंकार—इतिहास प्रवेश पृ० ५०४

स्वेच्छया मुसलमान हो गये होंगे। परन्तु सभी मुसलमान बादशाह और सामन्त इस्लाम को तलवार के जोर से फैलाने के पक्ष में नहीं थे। फीरोज तुगलक, सिकन्दर बुतशिकन, अहमदशाह गुजराती, महमूद बेगड़ा और सिकन्दर लोदी जैसे धर्मान्धों के साथ ही जैनुलाबदीन हुसैनशाह बंगाली और शेरशाह जैसे उदार सच्चरित्र सुशासक भी थे। इस काल के पूर्व तक सामूहिक रूप से विधर्मियों और विदेशियों को हिन्दू बना लेने के प्रमाण मिलते हैं। गोरी के कैदियों की शुद्धि का उल्लेख किया जा चुका है। इस काल के पहले चीन की ओर से 'अहोम' लोग आ कर आसाम में बसे और उस प्रदेश को उन्होंने अपना नाम दे दिया।[1] उन्होंने वहाँ की भाषा ही नहीं अपनायी, अपितु आर्य धर्म भी ग्रहण कर लिया। कहीं-कहीं हिन्दू मुसलमान कन्याओं को ब्याह लेते थे, परन्तु अपना धर्म बनाये रखते थे। शाहजहाँ को इससे सङ्कट प्रतीत हुआ होगा। तभी उसने फरमान निकालकर यह आदेश दिया कि यवनी को ग्रहण करनेवाले हिन्दू को मुसलमान होना ही होगा। सम्भवतः इस कारण हिन्दुओं में जातिपाँति की कट्टरता और बढ़ी होगी। विवाह भोजन आदि के नियम कड़े हुए। अपने सङ्कुचित क्षेत्र के बाहर के समान वर्ण वाले के साथ भी रोटी-बेटी का सम्बन्ध न रखा जाने लगा। हिन्दुओं की पाचनशक्ति बिगड़ी और उनमें 'कच्छप वृत्ति' बढ़ी।

इस जाति और भोजन की सङ्कीर्णता से विजित हिन्दू इस काल की मान्य धारणा के अनुसार अपने रक्त आचार और धर्म की रक्षा विजेता मुसलमानों से कर सके, परन्तु उनके पारस्परिक ऊँच-नीच और छूत-छात के कारण उनमें उच्च और नीच की भावना प्रबल और रूढ हुई। फलतः एक ही धर्म मानने वाली ऊँची और नीची जातियाँ एक-दूसरे से घृणा करने लगीं और दूर खिंचती गयीं। नीच कही जाने वाली जातियों में पहले युगों की अपेक्षा अब उच्च जातियों के प्रति असन्तोष, विरोध और विद्रोह की भावना बढ़ी और मुखर हुई। इस्लाम में जन्म और कर्म से कोई ऊँच-नीच नहीं माना जाता। परन्तु वहाँ भी पैगम्बर की पुत्री के वंशज अपने को औरों से श्रेष्ठ समझने लगे। फिर पैगम्बर के देश अरब वाले अन्य देशों के मुसलमानों से श्रेष्ठतर क्यों न हों? ऐसे ही इस देश में आये शासक वर्ग के तुर्कों मुगलों आदि का यहाँ के मुसलमानों से अपने को श्रेष्ठ समझना स्वाभाविक

---

१. अहोम से 'असम' बना है, जिसे अंगरेजी में लिखा पढ़ कर 'आसाम' कहना अब तक जारी है।

ही है। अतः राजनीति के क्षेत्र में विदेशी और देशी मुसलमानों की असमानता ने बहुत रंग दिखाये।

जहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों में राजनीतिक प्रभुता और धर्म-भेद के कारण यह व्यवधान था वहीं पास-पड़ोस में रहते-रहते वे कम क्रम से एक-दूसरे के प्रति उदार भी होने लगे। तत्कालीन वास्तु और चित्रकला तथा धर्म और काव्य के क्षेत्र में उनमें आदान-प्रदान और समन्वय के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। मुसलमानी इमारतों और राजपूत तथा मुगल शैली के चित्रों को देखने से मुसलमान और हिन्दू कला के घुल-मिल जाने से नवीन कला शैली का प्रादुर्भाव हुआ।

धार्मिक परिस्थिति

इसके पूर्ववर्ती काल में सिद्धों की गुह्य साधना के लिए जिस प्रकार की भावनाओं का प्रचार हो रहा था, साधना के उसी ढंग को शाक्त, शैव, गाणपत्य एवं वैष्णव सम्प्रदायों ने अपने-अपने ढंग से स्वीकार किया। इसके फलस्वरूप धार्मिक चेतना में ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ आयीं। समाज का इस प्रकार के धार्मिक विचारों के प्रति स्वभावतया आकर्षण हुआ। इसी समय इस्लाम ने धक्का दिया। यद्यपि यह कुछ पूर्व काल से लगता चला आ रहा था फिर भी इस समय इसका वेग प्रबल से प्रबलतर होता गया। फिर भी इसके सामने देश ने सर नहीं झुकाया। धीरे-धीरे आक्रमणकारी यहाँ बस गये। बीच-बीच में उनके प्रबल आघात भी हुए, किन्तु क्रम-क्रम से वे यहाँ के धार्मिक सिद्धान्तों से प्रभावित हुए। उनके बीच से ऐसे लोग निकले जो अपनी कट्टरता से विरत हुए। तुर्क सचमुच विदेशी थे, परन्तु कालान्तर में वे भी यहाँ के लोगों से घुलने-मिलने लगे। पठान तो वस्तुतः हिन्दू ही थे, महमूद गजनवी ने उन्हें इस्लाम में दीक्षित किया था। फिर नौमुस्लिम तो अपने हिन्दू संस्कार, रीति-नीति, आचार-विचार आदि ले कर उस वर्ग में पहुँचे थे। इस प्रकार ये सब यहाँ के धार्मिक विचारों से विरक्त न रहे। कुछ लोग इस्लाम को छोड़े बिना यहाँ के नाथ सम्प्रदाय तथा एकेश्वरवादी विचारों को अपनाते हुए समन्वय करने में भी अग्रसर हुए। इधर हिन्दुओं के उच्च-वर्गों की तत्कालीन स्थिति ने उनके निम्न कहे गये वर्ग में कुछ अधिक विद्रोह उत्पन्न किया। ये लोग पूर्ववर्ती नाथ योगियों की उपासना पद्धति और इस्लाम के एकेश्वर वाद को ले कर चले। उधर शंकर के सिद्धान्तों में बौद्धमत के अन्तर्भाव होने से उसके विरोध में जो दार्शनिक सम्प्रदाय चल पड़े थे

उनमें प्रतिपादित नारायण की भक्ति में लोक के लिए स्थूल आश्रय मिला। उनके अवतारों की कल्पना हुई। उनमें इस समय तक राम और कृष्ण की भक्ति की धारा हिन्दी के क्षेत्र में भी आ पहुँची। रामानन्द ने उस काल की धार्मिक तथा सामाजिक सङ्कीर्णता से उत्पन्न स्थिति और उसके प्रभाव को भलीभाँति पहचाना। फलतः उन्होंने राम की भक्ति का द्वार सब के लिए खोल दिया। कोई भी व्यक्ति जन्मगत जाति वा धर्म के कारण उससे वञ्चित न समझा गया। पहले के आचार्यों ने अपने सिद्धान्त संस्कृत के द्वारा समझाये थे। केवल संस्कृत जानने वाले उन्हें स्वतः समझ सकते थे। अन्य सब किसी दूसरे के मुँह से उनको सुन कर ही भगवत्तत्व जान सकते। रामानन्द ने देश-भाषा में राम की भक्ति का साधारण जन के बीच प्रचार किया। इस प्रकार वह सब को सुलभ हो गयी। इसी उदाराशयता ने आगे चल कर तुलसी के पथ-प्रदर्शन से विविध देववाद एवं जन्मगत ऊँच-नीच की भावना को रामभक्ति में आत्मसात् किया। अन्य सभी सम्प्रदाय अपने-अपने प्रवर्तक को ही एक मात्र धर्म की राह दिखाने वाला मानते थे। अतएव देश में धर्म के अगणित गुट्ट बने और आगे भी बनते रहे। तुलसी ने रामानन्द की उपासना-पद्धति की सङ्कीर्णता को भी छोड़ दिया। उन्होंने न तो अपने नाम से कोई सम्प्रदाय चलाया और न राम की अर्चना-प्रणाली का कोई विशेष ब्योरा ही दिया। मन और कर्म की शुद्धता और राम का भजन ही उनके भक्ति मार्ग का निचोड़ कहा जा सकता है। इस पर कोई भी चल सकता है। इस प्रकार धर्म की ठेकेदारी बन्द हुई तथा उसके नाम पर चल रही समाज के भीतर की कलह और बिलगाव की प्रवृत्ति की रोकथाम हुई और उसको नया मोड़ मिला। विष्णु के दूसरे अवतार श्रीकृष्ण की उपासना के विविध भेद और उपभेद ले कर जिन आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय चलाये थे उनका भी प्रभाव इस भूभाग पर पड़ा। महाभारत में वर्णित खलों के संहारक, अधर्म के विनाशक तथा धर्म-कर्म और लोक कल्याण के प्रतिष्ठापक कृष्ण इनके उपास्य न थे। भागवत के दशम स्कन्ध में कृष्ण का जो रूप है उसी को इन्होंने ग्रहण किया था। इस रूप की आध्यात्मिक व्याख्या कर के इसे लोकोत्तर बनाया गया; किन्तु इसमें रहस्य-साधना के उपर्युक्त सम्प्रदायों के सामान्य अनुयायियों की भोग-प्रधान मानसिक तृप्ति के भी उपादान विद्यमान रहे। अतएव इधर ही अधिक लोग झुके। इस युग में इनके जो उद्गार निकले उनमें भक्ति की आड़ में यह विलास-वासना कुछ छिपी रही, किन्तु आगे चल कर तो इसने कृष्ण को रसिया वा छैला का रूप प्रदान कर डाला। उनके नाम पर खुल कर आर्यपथ को

त्यागने की शिक्षा दी जाने लगी। अतएव उपासना और साधना की जो गति पूर्ववर्त्ती काल में हुई थी वही इसकी भी परिणति हुई। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र में समाज के सम्मुख विविध प्रकार के आदर्श प्रस्तुत हुए। राजनीतिक क्षेत्र में तलवार कूटनीति और छल-कपट के द्वारा विपक्षी को परास्त कर अपनी प्रभुता स्थापित करने के प्रयास निरन्तर चलते रहे। ऐसे ही, धर्म के विभिन्न सिद्धान्तों के प्रवर्तक अपनी बातों की सत्यता और श्रेष्ठता तथा दूसरे सम्प्रदायों के विचारों की असारता और हेयता के प्रतिपादन के लिए आकाश-पाताल एक करते। वाक्‌युद्ध, तर्क-वितर्क एवं खण्डन-मण्डन ही उस युग के धर्म-ध्वजों का काम रह गया। उन्हें परमार्थ-चिन्तन और साधना के लिए कितनी छुट्टी मिलती होगी यह इसी से प्रकट है कि उन दिनों केवल व्याख्याओं की रचना हुई, तर्क सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, आदि कालीन आर्य ऋषियों की राह पर वे लोग भी न चले जिन्होंने उन्हीं को अपना आदर्श घोषित किया।

साहित्यिक प्रवृत्ति

इन धार्मिक सङ्घर्षों ने ही हिन्दी के समस्त विचारकों को अपने में बाँध रखा। उन्होंने जो भी लिखा वह छन्दोबद्ध था। गद्य में विवेचन और वितर्क के लिए अधिक स्वतन्त्रता रहती है। फिर भी उसका अवलम्बन नहीं हुआ। इस भक्ति सम्बन्धी साहित्य में कवित्व के प्रदर्शन के लिए स्थान और सुभीता कहाँ? इसलिए अधिकांश रचनाओं में उसका अभाव रहा। जहाँ वह था भी वहाँ सिद्धान्त-प्रतिपादन और भक्ति के विशेष प्रकार के समर्थन के आन्तरिक आग्रह ने भक्त के कवि रूप को पीछे ढकेल दिया। वह बहुधा कवि न रह कर प्रचारक बन गया। सभी वर्गों के भक्तों की रचनाओं में यह मनोवृत्ति प्रबल रही। कबीर, जायसी सूर और तुलसी जैसे समर्थ और भावुक कवि भी इससे अछूते न रह सके। ऐसा था युग का प्रभाव।

उन दिनों हिन्दुओं के उच्च वर्ग के लोग संस्कृत में ही अपने पाण्डित्य और उद्‌गार अभिव्यक्त करते रहे। उसमें विविध विषयों की रचनाएँ और पूर्ववर्ती धार्मिक तथा साहित्यिक कृतियों की टीका-टिप्पणी होती रही। उधर मुगलों के द्वारा फारसी को राजकाज के लिए स्वीकार किया जा चुका था। फारस के अमीरों का आगमन और शाही दरबार में सम्मान भी बढ़ा, इससे फारसी में इतिहास के अनेक ग्रन्थ लिखे गये, प्रचुर परिमाण में कविता हुई

तथा बहुत से संस्कृत के धार्मिक और ऐतिहासिक ग्रन्थों के अनुवाद किये गये। पठान शेरशाह, मुगल बादशाह और शाहजादे तथा अनेक प्रादेशिक मुसलमान शासकों के अतिरिक्त हिन्दू राजाओं और सम्पन्न लोगों ने हिन्दी के प्रोत्साहन में भी योग दिया। परन्तु संस्कृत और फारसी साहित्य के समान हिन्दी का तत्कालीन साहित्य विस्तृत न हुआ। राजस्थानी की कुछ वचनिकाओं में तथा ब्रजभाषा की वार्त्ताओं तथा टीकाओं में गद्य का प्रयोग अवश्य हुआ, किन्तु अधिकतर कविता के द्वारा ही विचारों और भावों का प्रदर्शन किया गया और उसमें भक्ति सम्बन्धी साहित्य का अधिक निर्माण हुआ। सम्प्रदाय के सीमित क्षेत्र के बाहर के लोगों ने भी कविता में भक्ति के गान गाये। बादशाहों एवं राजाओं के आश्रित कवियों ने प्रशस्ति, शृङ्गार, रीति, नीति आदि के सम्बन्ध में मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार की रचनाएँ कीं। बड़े आश्चर्य की बात है कि इस काल में वीररस प्रधान काव्यों की रचना नहीं हुई। उसका थोड़ा-बहुत दिग्दर्शन मात्र अन्य रसों की रचनाओं में हुआ।

इस काल में जो विविध प्रकार की भक्ति का तथा अन्य विषयों का साहित्य मिलता है उसका अलग-अलग विचार करने से सुविधा होगी। अतएव आगे उसका इसी ढंग से विवेचन किया जायगा। इस काल में भगवान के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों की भक्ति का प्रचार हुआ। निर्गुण भक्तों में कुछ ज्ञान के द्वारा भगवान् का अपने घट के भीतर साक्षात्कार करने का उपदेश देते रहे, और कुछ सूफी साधना के प्रेम मार्ग का। सगुण भक्तों में अन्य देवी-देवताओं की अपेक्षा कृष्ण और राम की उपासना का अधिक प्रचार हुआ। अतएव इन चारों प्रकार के भक्ति-साहित्य पर पृथक् पृथक् विमर्श किया जायगा। फिर अन्य प्रकार की रचनाओं का दिग्दर्शन होगा।

निर्गुणोपासना

क. ज्ञान-मार्ग वा सन्तमत

सामान्य प्रवृत्ति—सहजयानी सिद्धों की गुह्य साधना-पद्धति के अनाचार-प्रधान व्यावहारिक रूप की प्रतिक्रिया नाथ योगियों के योग मार्ग में प्रकट हुई। गोरखनाथ के महान् एवं चमत्कारपूर्ण व्यक्तित्व ने उसका प्रभाव चारों ओर व्याप्त कर दिया। निरंजन ब्रह्म की अन्तःसाधना के लिए हठयोग की क्रियाओं का सहारा लिया गया। इसी बीच यहाँ इस्लाम का उन्मद वेग प्रविष्ट हुआ। उसने जन-जीवन को झकझोर दिया। उसने अन्य देशों के

धार्मिक एवं सांस्कृतिक विचारों को पूर्णतया अपने भीतर पचा लिया था, परन्तु इस देश में वैसा कर सकना सम्भव न हुआ। कारण, उसमें ग्राह्य 'एक अव्यक्त' (ला इलाह इलिल्लाह) यहाँ के निराकार ब्रह्म की चिरकालीन मान्यता से भिन्न न था। अतः यहाँ के लोगों को इसमें कोई नवीनता अथवा अपने से श्रेष्ठतर चिन्तन का आकर्षण न मिला। परन्तु इस्लाम के भीतर ऊँच-नीच के भेद के अभाव और सब की समानता के आदर्शों ने यहाँ के विचारकों को सजग अवश्य किया। फलतः वे सामाजिक और धार्मिक परिष्कार और समयानुकूल सुधार के लिए प्रेरित और सचेष्ट हुए। इस समय तक सगुणोपासना के विविध सिद्धान्त, आचार और व्यवहार भी बहुत व्यापक और प्रभावशाली हो चुके थे। भगवान के विग्रह की भावुकता में निमग्न करने वाली अष्टयाम सेवा की विस्तृत प्रणाली और प्रेमाभक्ति ने प्रमुखता ग्रहण कर ली थी। साथ ही रामानन्द की चलायी सब लोगों के लिए सुलभ रामभक्ति का भी पथ प्रशस्त हो चुका था। इस प्रकार योगियों के हठयोग और ब्रह्मवाद, इस्लाम के एकेश्वरवाद तथा सामाजिक स्तरों में अभेदत्व एवं भक्ति-मार्ग के आत्म-समर्पण का समन्वय करके कुछ लोग नयी दिशा में चल पड़े। उन्होंने गुह्याचारों की कुत्सा की, भेदभाव फैलाने वाले सब कार्यों को बुरा-भला कहा, भगवत्प्राप्ति के लिए शास्त्र-ज्ञान एवं प्रचलित उपासना की रीतियों को अनावश्यक और भ्रमपूर्ण बतलाया, आत्म-साक्षात्कार के पथ को दिखाने के निमित्त ज्ञानी सद्गुरु की अनिवार्यता स्वीकार की और जीवन में आचरण की शुद्धता को परमावश्यक घोषित किया। इस प्रकार सरल और पवित्र आचरण तथा हठयोग की क्रियाओं के द्वारा शरीर और मन की शुद्धि करके अपने भीतर ही आत्मा और परमात्मा के अभेदत्व की अनुभूति के द्वारा ब्रह्म के प्रत्यक्षीकरण का सिद्धान्त चला। यह सन्तमत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सन्तों के धर्म सम्बन्धी आदर्श के दो पक्ष थे—आध्यात्मिक और लौकिक। उनके उपदेशों में उतना बल न था जितना उनके अलौकिक कृत्यों और चमत्कारों में था। वे प्रायः शास्त्र-ज्ञान से शून्य अध्यात्म की पुरातन व्याख्याओं से अपरिचित अपने आप बने ज्ञानी होते थे। इससे विद्वान् तथा उनका आदर करने वाले लोग उनकी बातें नहीं सुनते थे। सामाजिक विषमता के कारण निम्न स्तर के समझे जा रहे लोग उनकी ओर अधिक खिंचे। इन वर्गों के ऊपर पूर्वकालीन सिद्ध शाक्त आदि का प्रभाव पहले से ही चला भी आ रहा था। संतों ने योग का शास्त्रीय विधि से अध्ययन और अभ्यास भी नहीं किया था। परम्परा से चले आ रहे

गुरु नामधारी व्यक्तियों से उन्हें जो भी यौगिक क्रियाएँ सीखने को मिलीं वे उन्हें ही जान कर सन्तुष्ट हुए। उन्होंने सिद्धों और नाथयोगियों के बीच प्रचलित शब्दावलि सीखी, उन लोगों के द्वारा की गयी शास्त्रों और उनके मानने वालों, तथा उनके आचार-विचार, जाति-पाँति, कर्मकाण्ड आदि की निन्दा का ढंग अपनाया और अपनी बात को सीधे न कह कर बहुधा शब्दों के घटाटोप के बीच उलझा कर इस प्रकार कहा कि उसका अर्थ ही समझ में न आये और लोग उन्हें पहुँचा हुआ ज्ञानी समझ लें। लौकिक या व्यावहारिक दृष्टि से सन्तों ने रहन-सहन, खान-पान और आचार-व्यवहार में सरलता स्वच्छता और शुद्धता को स्वीकार किया, आडम्बर और असंयम को हेय बतलाया तथा धर्म जाति आदि के कारण फैल रहे भेद-भाव को आड़े हाथों लिया। उन्होंने जहाँ कहीं धर्म के नाम पर समाज विरोधी अथवा अहितकर आचरण और कार्य देखे उनकी भर्त्सना की। ऐसा करने में उन्होंने किसी के प्रति शील और सङ्कोच नहीं दिखलाया। इन्होंने अपने आनुगत्य के लिए सामाजिक स्थिति अथवा जन्म-सम्बन्धी किसी प्रकार की रुकावट नहीं रखी। इससे जिन्हें इनके जीवन और उपदेश के प्रति खिंचाव हुआ वे इनके पीछे चल पड़े।

सन्तों में जो भी प्रतिभासम्पन्न, प्रभावशाली और चतुर हुआ उसने अपना अलग पन्थ चला दिया। ये पन्थ अपने प्रवर्तक के नाम से विख्यात हुए। इनके आध्यात्मिक सिद्धान्त प्रायः समान हैं, उनमें केवल थोड़ा-बहुत अन्तर है। अलग-अलग स्थानों में इन सम्प्रदायों के मठ स्थापित हुए; वे ही इनके प्रचार के क्षेत्र के केन्द्र बने। धीरे-धीरे ये सम्प्रदाय मात्र रह गये, सामान्य व्यवहार के लिए हिन्दू धर्म की सामाजिक व्यवस्था में पच गये। उससे अलग केवल अपने मठ के भीतर रह सके, बाहर के जीवन में वे अपना अस्तित्व अलग न रख पाये।

सामान्य रूप से सब सन्त आत्म-दर्शन के लिए सद्गुरु को अनिवार्य मानते हैं। उसे वह भगवान् वा ब्रह्म का स्वरूप अथवा उससे भी श्रेष्ठ कहते हैं। वह साधक को पथ-प्रदर्शन ही नहीं करता, अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल से गन्तव्य स्थल तक पहुँचा कर ब्रह्मलीन भी कर देता है। वह ब्रह्म अलख अगोचर वर्णनातीत और नाम रूप गुण आदि से परे होता है। उसके पाने के लिए नाम जप की बड़ी महिमा है। इसी के सहारे भवसागर के पार जाना सम्भव होता है। कनक और कामिनी सांसारिक माया है। उसका बन्धन काट कर सहज समाधि में लीन होना ही साधु का लक्ष्य है। इसके लिए

मन को विधि-निषेध की झंझटें त्यागकर अनन्य प्रेम में डुबा देना चाहिये। प्रेम के इस रूप ने संतों के नीरस ब्रह्म-चिन्तन को भावावेश प्रदान किया। उन्होंने उस अचिन्त्य की प्रियतम के रूप में कल्पना करके उससे मिलने की आकुलता की अनुभूति करना आरम्भ किया। विरह की चरम प्राप्ति प्रिय मिलन से हुई। संत साहित्य के इस पक्ष ने उनके साहित्य को सरसता प्रदान की। संतों ने नैतिक आचरण पर बल दिया। इससे उनके साहित्य में अनुचित आचार-विचार, आहार-व्यवहार आदि के प्रति तीखे प्रहार हुए। इस प्रकार की उक्तियों में कहीं-कहीं द्वेष की गंध मिलती है और बहुधा अहम्मन्यता भी प्रकट होती है। निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर इनमें सत्य का अंश कम नहीं मिलेगा। कुछ संतों ने अटपटी वाणी के द्वारा अपने पाण्डित्य और अनुभव-जन्य ज्ञान के प्रदर्शन का आडम्बर भी दिखलाया। यह सिद्धकालीन प्रवृत्ति का सन्त-संस्करण मात्र है। ऐसी उलटवासियों में तथा साधना के स्तरों का निरूपण करने में जो शब्दावली प्रयुक्त हुई है वह भी सिद्धों और नाथों की परम्परा से ली गयी। इनका पहले का अर्थ भी बहुधा बदल कर मनमाने ढंग से प्रयोग हुआ। इसका कारण सम्भवतः यह था कि अधिकांश सन्तों ने अध्ययन करने का अवसर नहीं पाया था। वे अध्ययन की आवश्यकता भी नहीं मानते थे। ज्ञान को स्वचिन्त्य कहते थे। इससे सुनी-सुनायी बातों को प्रायः अपने ढंग से कहने के लिए विवश थे। इसी कारण उनकी कही बहुत सी आध्यात्मिक उक्तियाँ आज पहेली बन गयी हैं और लोग अपनी सूझ के अनुसार उनकी व्याख्या करते हैं। सन्तों ने भगवान् के सगुण रूप में चल रहे नाम भी ग्रहण कर के उन्हें अपने निर्गुण ब्रह्म के पर्याय रूप में प्रयुक्त किया। जान पड़ता है अपने समय में प्रचलित साधना और उपासना के विविध शब्दों को अपना कर उनके द्वारा सन्तों ने जन साधारण को अपनी ओर खींचने का उपाय किया था। लोग उन शब्दों से परिचित होने के कारण सन्तों की वाणी सुनने को खिंचे होंगे और फिर उन्हें उनके बतलाये अर्थ में ग्रहण करने को प्रेरित हुए होंगे। जनता में प्रचलित शब्दों को नये अर्थ में प्रयोग करने की प्रवृत्ति आगे भी दिखायी पड़ी। सन्तों ने अध्यात्म, भगवत्प्रेम, संसार की असारता, विषयसुख की निरर्थकता आदि को ही अपनी रचना का विषय बनाया।

सन्त मत के अन्तर्गत जितने भी पन्थ हैं उन सब में कबीर का सम्मान है। वही इस विचार-पद्धति के सबसे प्रमुख, प्रभावशाली और लोकप्रिय प्रवर्तक हैं। उनके अतिरिक्त गुरु नानक, दादूदयाल, मलूकदास, हरिदास निरंजनी, बाबरी साहिबा आदि ने अपने-अपने पन्थ चलाये। उनके अनेक शिष्यों-प्रशिष्यों

ने अपने पन्थ के सिद्धान्तों का अपने ढंग से छन्दोबद्ध वर्णन किया।

आगे हम कुछ प्रमुख संतों और उनके कृतित्व का परिचय देंगे।

नामदेव—गोरखनाथ का योग सम्प्रदाय महाराष्ट्र तक व्याप्त था—इसका उल्लेख हो चुका है। ईस्वी तेरहवीं शताब्दी में वर्तमान प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर वा ज्ञानदेव इसी मार्ग के अनुयायी थे। सन्त नामदेव (१२७०–१३५० ई०) इन्हीं के समकालीन थे। अपने समय में ही महाराष्ट्र और उत्तरी भारत में इतने प्रतिष्ठित हो चुके थे कि कबीर, रैदास, कमाल, मीरा आदि ने उनको बड़े सम्मान के साथ स्मरण किया है। वे सतारा जिले में कन्हाड़ के पास नरसी-बमनी गाँव में कार्तिक सुदी ११ शाके ११९२ (१२७० ई०) में उत्पन्न हुए। इनके पिता का नाम दामाशेट और माता का नाम गोनाबाई था। ये जाति के छीपी थे। 'आदि ग्रन्थ' में सङ्कलित एक पद में इन्होंने स्वयं इस बात का उल्लेख किया है—

हीनड़ी जाति मेरी आदम राइया, छीपे के जनम काहे कउ आइया।

जाति की हीनता के कारण नामदेव के अपमानित होने की कहानियाँ भी प्रचलित हैं, जो सम्भवतः अपने साथ लगे इनके चमत्कार-प्रदर्शन के लिए गढ़ी जान पड़ती हैं। इनके पिता दर्जी का काम करते थे। सम्भवतः कपड़ा छापने वाली छीपी जाति महाराष्ट्र में कपड़ा सीने का धन्धा भी करती थी। इनको उसमें रुचि न थी। ये व्यवसाय में भी मन न लगा सके। परन्तु इन्होंने यह काम एक दम छोड़ा न होगा। गुरु ग्रंथसाहब में उद्धृत 'सलोकों' में सन्त त्रिलोचन और नामदेव का संवाद है। त्रिलोचन ने पूछा—"तुम माया में फँसे छाजन-छीपन में क्यों लगे रहते हो, भगवान की ओर पूरा ध्यान क्यों नहीं देते?" इस पर नामदेव ने कहा—"उचित है कि मुँह से हम रामनाम का स्मरण करें तथा मन भी भगवान की ओर लगाये रहें किन्तु हाँथ-पाँव से सदा अपने कुछ धन्धे भी करते रहें।"[1] इनके पिता और पूर्वज भगवान के भक्त थे। उनसे ही प्रेरित हो कर नामदेव सब काम छोड़ साधु-संग में रमने लगे और अन्त में विरक्त हो गये। कहते हैं ये पहले डाकू हो गये थे, किन्तु एक दिन किसी स्त्री से, उसके पति के डाकुओं से मारे जाने और फलस्वरूप हुई दुर्दशा का वर्णन सुनकर, ये सब कुछ छोड़ पंढरपुर में जा कर विठोबा के भक्त हो गये। वहीं वे सगुणोपासना और कीर्तन किया करते। ज्ञानदेव अनेक युक्तियों से उन्हें नाथपन्थ में ले आये। ऐसा करने

---

१. परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ११७-१८।

और

भाई रे इन नैनन हरि पेखो।
हरि की भक्ति साधु की संगति सोई यह दिल लेखो।
चरन सोई जो नचत प्रेम से कर सोई जो पूजा।
सीस सोई जो नवै साधु को रसना और न दूजा।
यह संसार हाट की लेखा सब कोउ बनजहिं आया।
जिन जस लादा तिन तस पाया मूरख मूल गँवाया।

नाथपन्थी वारकरी सम्प्रदाय को ग्रहण करने के बाद उनकी कविता में प्रचलित हिन्दू धर्म के साथ ही मुसलमान धर्म की निन्दा और निर्गुण की चर्चा होने लगी। यह साम्प्रदायिक प्रवृत्ति मात्र थी, चली आती लकीर। इसमें उनका मन रमा होगा कि नहीं यह जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। देखिये सहजयानी सिद्धों और नाथ योगियों की परम्परा में कबीर के पूर्ववर्ती इस कवि के ये उद्गार कितने ठीक बैठते हैं—

हिन्दू अंधा तुरकौ काना, दुवौ ते ज्ञानी सयाना।
हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीत।
नामा सोई सेविया जहँ देहरा न मसीत।
पाँडे तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लै करि ठेंगा टँगरी तोरी लंगत लंगत आती थी।
पाँडे तुम्हारा महादेव धौल बलद चढ़ा आवत देखा था।
पांडे तुम्हारा रामचंद्र सो भी आवत देखा था।
रावन सेंती सरवर होई घर की जोय गँवाई थी।
माइ न होती, बाप न होते कर्म न होता काया।
हम नहिं होते तुम नहिं होते कौन कहाँ ते आया।
चंद न होता सूर न होता पानी पवन मिलाया।
शास्त्र न होता वेद न होता करम कहाँ ते आया।

इन उद्धरणों में यह द्रष्टव्य है कि हिन्दी कविता में ब्रज और नागरी (खड़ी बोली) दोनों की परम्परा चल रही थी। ब्रज भाषा में भक्ति विषयक पदों की रचना होती थी, किन्तु सामान्य लोगों के लिये नागरी भाषा को ही नाथ योगियों ने अपनाया था। गोरखनाथ के प्रसंग में हम यह देख चुके हैं। नाथ पन्थ में आने के बाद नामदेव ने यही परम्परा स्वीकार की। यही उनकी रचना में दो प्रकार की भाषाओं के प्रयोग का प्रयोजन प्रतीत होता है।

सन्त कबीर

परिचय—संतों की परम्परा में सब से विख्यात प्रतिष्ठित और प्रभावोत्पादक कबीर हुए। उनके जन्म और निधन के समय तथा स्थान वंश आदि का ठीक और निश्चित ज्ञान नहीं है। कहते हैं वे १३९८-९९ ई० में काशी में प्रकट हुए और १४९४-९५ के लगभग मगहर में मरे।[1] प्रवाद है कि ये विधवा ब्राह्मणी की संतान थे और जुलाहा दम्पति नीमा और नीरू के द्वारा पाले गये थे। सम्भव है कबीर को नीचा दिखाने के लिए उनके विधवा की संतान होने की बात चलायी गयी हो। अपने कई पदों में उन्होंने स्वयं लिखा है कि "हौं काशी का जुलहा" और 'हम घर सूतु तनहि नित ताना।' कुछेक विद्वान् अनुमान करते हैं कि इनका कुल कोरियों का था। वह पहले नाथपंथ के योगियों का अनुयायी था, पीछे मुसलमान होने पर जुलाहा कहलाया और अपना पुराना धन्धा करता रहा। अन्य लोग मानते हैं कि इनका पालन-पोषण वयनजीवी नाथ मतावलम्बी गृहस्थ जोगियों के ऐसे परिवार के द्वारा हुआ, जो कुछ पहले ही मुसलमान हुआ था। यह अटकल केवल इसलिए लगायी गयी कि कबीर की बातें हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों से ओतप्रोत थीं। यदि यह कबीर की ही उक्ति है कि

'हमरे कुल कौने राम कह्यो, जब की माला लइ निपूते तबते सुख न भयो'

तो यह मानना ही पड़ेगा कि कबीर मुसलमान धर्मावलम्बी जुलाहे के घर पैदा हुए थे। प्रसिद्ध है कि ये पढ़े-लिखे न थे। स्वयं इन्हीं की उक्ति है—

बिदिआ न परउ बादु नहि जानउ।

इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि वे पुस्तकों से ज्ञानार्जन नहीं कर सके थे, किन्तु अन्य साधनों से उसे प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। इन्हें काशी के प्रसिद्ध विद्वान् और धर्माचार्य रामानन्द और मानिकपुर अथवा झूँसी के शेख तकी का शिष्य कहा जाता है। परन्तु इस बात का कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता। ये गृहस्थ थे। इनकी पत्नी का नाम लोई, पुत्र तथा

---

१. विद्वन्मण्डली प्रामाणिक आधार के अभाव में अब तक कबीर के जन्म-मरण का काल और स्थान निर्णय करने में एकमत नहीं हो सकी। कुछ लोग इनका समय १३६८–१४४८ ई० मानते हैं तथा कुछ और। इसी प्रकार आजमगढ़ जिले का बेलहरा गाँव, और बस्ती का मगहर जन्मस्थान तथा रतनपुर (सूबा अवध) में उनकी समाधि होने से उसे मृत्युस्थल कहते हैं। रतनपुर की समाधि का उल्लेख अबुल फजल ने 'आईने अकबरी' में भी किया है। मगहर की आधुनिक कब्र चन्द्रबली पाँडे के मतानुसार बिजलीखाँ ने वीरसिंह बघेल को धोखा देने के लिए बनवायी थी।

पुत्री का कमाल और कमाली कहा जाता है। बाल्यावस्था से ही इनका रुझान धर्म की ओर हो गया था। घर का धन्धा करते, परन्तु उसमें मन न लगाते। इस विषय में उनकी स्वीकारोक्ति है—

तनना बुनना तज्यो कबीर।

और

मुसि मुसि रोवै कबीर की माई।
ये वारिक कैसे जीवहि रघुराई।

साधुओं और फकीरों के साथ उठते-बैठते। उन्हीं से उन्हें धर्म-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त हुआ। उसे उन्होंने ज्यों का त्यों नहीं स्वीकार किया। रामानन्द के शिष्य रहे हों या नहीं, किन्तु उन दिनों काशी में उनके उपदेश अवश्य सुनते रहे होंगे। उन्होंने दाशरथि राम की उपासना का मार्ग सभी के लिए प्रशस्त किया था। परन्तु कबीर ने हरि, राम, गोविन्द आदि का प्रयोग करते हुए भी उन्हें निर्गुण ब्रह्म के पर्याय के रूप में चलाया। सम्भवतः इस विचार से कि अपने बीच प्रचलित इन नामों के व्यवहार होने के कारण जन-साधारण कबीर की बातें सुनने आयें और फिर उनकी व्याख्या के अनुसार इनका तात्पर्य हृदयंगम करें। कबीर ने अपने वयनजीवी परिवार की पुरानी परम्परा से अथवा अन्य सूत्रों से नाथपंथ की योग-साधना और हठयोग की बातों को भी ग्रहण किया। फिर वे इस्लाम धर्म के मानने वाले वंश की धार्मिक पद्धति को कैसे न अपनाते। परन्तु उन्हें साधु-सन्त के समागम से वैष्णवों के अहिंसा-प्रेम भगवद्भक्ति आदि के प्रति अधिक आकर्षण हो चुका था। इससे मुसलमानी धर्म के व्यावहारिक रूप के प्रति उन्हें विरक्ति हो गयी होगी। तभी उन्हें सूफियों के विचारों और उपासना के ढंग अधिक अच्छे जान पड़े। अतएव निर्गुण राम के पुजारी कबीर ने सूफियों के भावावेश को अपने मत में स्थान दिया। फिर देश भर में पर्यटन करके प्रत्यक्ष देखने से उन्होंने हिन्दू-मुसलमान सबके बीच फैली हुई सामाजिक तथा धार्मिक बुराइयों को त्यागने की आवश्यकता समझी। इस प्रकार धर्म के व्यावहारिक रूप के कारण उन दिनों जो द्वेष विरोध और सङ्घर्ष चल रहा था उसके बीच अपनी मति-गति के अनुसार उन्होंने आडम्बर-विहीन सरल और सबके लिए सुगम मार्ग दिखलाया, धर्म के नाम पर हो रहे अनाचारों को रोका तथा अपने ही भीतर छिपे परमात्मा को पाने की चेष्टा करने की प्रेरणा दी। उपर्युक्त सभी धर्म सिद्धान्तों को सार रूप में ग्रहण कर उसे देश-काल के अनुकूल रूप में उपस्थित करना काशी जैसे धर्म के गढ़ में अपनी बात को बलपूर्वक कहने का साहस रखने वाले स्वतन्त्र-

चेता कबीर से ही हो सकता था। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन धार्मिक प्रभावों से प्रेरणा अवश्य ग्रहण की, किन्तु किसी चले आ रहे धर्म को ज्यों का त्यों नहीं अपनाया। अपना मार्ग स्वयं निर्धारित किया। कहते हैं—

पंडित मुल्ला जो लिख दीया, छाड़ि चले हम कछू न लीया।

अतएव कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच धर्म के प्रचलित रूप का खुल कर विरोध किया। वर्णाश्रम-व्यवस्था, मूर्ति-पूजा, तीर्थ-व्रत आचार-विचार आदि के साथ ही अवतारवाद, वेद-शास्त्र सब का खण्डन किया। मुसलमानों के रोजा, नमाज, कुरबानी आदि को बुरा बताया। मन्दिर-मस्जिद को अनावश्यक कहा और पण्डित-मुल्ला को जी भर कर कोसा। कारण, वही तो समाज के व्यवहार में धर्म का नियंत्रण करते थे। इस प्रकार उन्होंने लोगों को पुरानी लीक पर बिना विचारे चलते रहने से रोका और अपनी बतलायी हुई राह की उपयुक्तता बतलायी। उनके पंथ में सद्गुरु के द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चल कर साधक जीवन्मुक्त हो सकता है। उसे किसी ग्रन्थ वा व्यक्ति के शरणापन्न होने की आवश्यकता नहीं। उसे स्वयं ही विचार करके ज्ञान-सम्पन्न होना चाहिये और साधना करके ब्रह्मानंद का अनुभव करना उचित है। यह ब्रह्मानंद अनिर्वचनीय है, गूँगे का गुड़ है। यह अनुभव से ही ज्ञेय है, दूसरों के बतलाने से नहीं। सुरतियोग, कुंडलिनी-सिद्धि आदि के द्वारा सहज समाधि में निरंतर रहना ही साधक का लक्ष्य है। इस प्रकार रहते हुए भी समाज के प्रति उदासीन रहना श्रेयस्कर नहीं। भगवान् का भक्त संत किसी से वैर नहीं रखता, किसी को सताता नहीं, सब विषयों से अलग रह कर सब प्राणियों से प्रेम करता है। यही संत का स्वरूप है। कबीर ने इसी आदर्श को प्रस्तुत किया।

सिद्धान्त—कबीर वस्तुतः निराकारवादी थे। कहते भी हैं—

"पूजा करूँ न नमाज गुजारूँ; एक निराकार हृदय नमस्कारूँ।"

वह ब्रह्म को घट के भीतर ही मानते थे—

"सो साईं तन में बसै, भ्रम्यो न जाणैं तास।"

और

"हिरदै सरोवर है अविनासी।"

अतएव वे उसे अपने भीतर ही खोजने को कहते थे—

"तन खोजौ नर न करौ बड़ाई।"

इसकी युक्ति उन्हीं के शब्दों में सुनिये—

उलटि पवन षट्चक्र निवासी, तीरथराज गंग तट बासी।

गगनमंडल रवि ससि दोइ नारा, उलटी कूँची लागि किवारा।
कहै कबीर भई उजियारी, पंच मारि एक रह्यो निनारी।

इस प्रकार अंतर्दर्शन करने के लिए वे किसी के उपदेश, कुछ पढ़ने-लिखने आदि की आवश्यकता नहीं मानते। वे कहते हैं—

का पढ़िये का गुनिये, का वेद पुरान सुनिये।
पढ़े गुने मति होई, मैं सहजैं पाया सोई।

इस प्रकार आत्मचिन्तन के लिए पहले बोध या ज्ञान होना चाहिये, फिर अपने आप को उस भगवान् में पूर्णतया डुबा देना चाहिये। वे कहते हैं—

"कहै कबीर जो आप बिचारै, मिट गया आवन जाना।"

और,

"कहै कबीर सो पाया, प्रभु भैंटत आप गँवाया।"

कबीर ने 'राम' शब्द का प्रयोग बहुत किया है, परन्तु रामानन्द के राम के अर्थ में नहीं—

"दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।"

वे मानते थे कि

"बिना निरंजन मुक्ति न होई।"

और,

"परम ज्योति पुरुषोत्तमो जाके रेख न रूप।"

परन्तु वे उसको पुकारने की आवश्यकता समझते थे—

"तू हरिख हरिख गुण गाई।"

इसलिए उसको कोई न कोई नाम तो देना ही होगा—

नैना बैन अगोचरी श्रवना करनी सार।
बोलन के सुख कारने कहिये सिरजनहार॥

वे और भी स्पष्ट कहते हैं—

हमारे राम रहीम करीमा कैसो अलह नाम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै और न दूजा कोई।

और,

हम तौ एक एक करि जाना,
दोइ कहैं तिनही कौं दो जग जिन नाहिंन पहिचाना।

साधना—कबीर की रचनाओं में प्रयुक्त सगुण-वाचक शब्दों के इस मर्म को ध्यान में रखते हुए अब उनके द्वारा बतलायी ब्रह्म-प्राप्ति की विधि देखनी चाहिये। कबीर आत्मा में ही परमात्मा मानते थे—

कौन विचार करत हौ पूजा, आतम राम अवर नहिं दूजा।

इस आत्म-साक्षात्कार के पथ पर चलने के लिए साधक को यह अनुभव करना आवश्यक है कि यह संसार बाहर से आकर्षक होते हुए भी असार, क्षणभंगुर और दुःख का मूल है--

यहु ऐसा संसार है जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के व्यौहार कौं झूठे रंगि न भूल॥
यहु तन काँचा कुंभ है लिया फिरै था साथि।
ढबका लागा फूटि गया कछू न आया हाथि॥

और

दुनिया भांडा दुख का, भरी मुँहामुँह भूख।

इस दुःखमय जगत् में फँसे रहने का कारण है माया, जो असार को सार और झूठ को सच जनाती है--

माया मोह धन जोबना, इनि बंधे सब लोइ।
झूठैं झूठ बियापिया कबीर अलख न लखई कोइ॥

अतएव इस दुःख से छूटने का उपाय है भगवान् की भक्ति--

भाव भगति बिसवास बिन कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन मुकति नहीं रे मूल॥

इस भक्ति के लिए साधक की आकुलता अपेक्षित है। उसे निरन्तर अपने से अलग होने की वेदना की अनुभूति होनी चाहिये--

हूँ तेरा पंथ निहारूँ स्वामी, कब रे मिलहुगे अंतरजामी।

विरह की व्यथा इतनी प्रिय हो जाय कि उसे क्षण भर के लिए छोड़ने को जी न करे। जैसे कबीर स्वयं कहते हैं--

बिरह कहै कबीर सों तू जिन छाड़ै मोहि।
पार ब्रह्म के तेज में तहाँ लै राखौं तोहि।

अपने को प्रिय से एक कर देने की तीव्र लालसा को यों व्यक्त करते हैं--

यहु तन जालौं मसि करौं ज्यों धुआँ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करैं बरसि बुझावैं अग्गि।

उन्होंने प्रियतम के मिलन के पूर्व और पश्चात् की दशाओं का बहुत ही भावुकता-पूर्ण वर्णन किया है। दो-एक चित्र देखिये। आत्मा-परमात्मा के एक होने की यह झाँकी विवाह के इस रूपक में कैसी सुन्दर बनी है--

दुलहिनी गावो मंगलचार, हम घरि आये हो राजा राम भरतार।
तन रति करि मैं मन रति करिहूँ पंच तत्त बराती।

रामदेव मोहि ब्याहन आये मैं जोबन मदमाती।
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ ब्रह्मा बेद उचार।
रामदेव सँग भाँवरि लैहूँ धनि धनि भाग हमार।
सुर तेतिसो कोटिक आये मुनियो सहस अठासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं पुरुष एक अबिनासी।

प्रिय को पा जाने पर उसे अपना ही कर लेने, किसी भी प्रकार अपने पास से न जाने देने की यह उत्कण्ठा भी देखते ही बनती है—

अब तोहि जान न दैहूँ राम पियारे, ज्यूँ भावै त्यूँ होउ हमारे।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घर बैठे आये।
चरननि लागि करौं बरियाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।
इत मन मंदिर रहौ नित चोखे, कहै कबीर परहु मत धोखे।

इस प्रकार प्रेम-जन्य आन्तरिक विह्वलता का वर्णन करते समय कबीर का दार्शनिक और सुधारवादी रूप एकदम लुप्त सा हो गया है। उन्होंने विरह की विविध मानसिक दशाओं और उनसे उत्पन्न शारीरिक विकारों (अनुभावों) का बड़े ही मनोयोग के साथ वर्णन किया है। इन वर्णनों में उनकी सहृदयता फूट पड़ी है और कवित्व की सच्ची अभिव्यञ्जना हुई है। कबीर ने अपनी साधना की बातें तो रहस्यात्मक शैली में कही ही हैं, आत्मा-परमात्मा के प्रेम विषयक बहुत सी उक्तियाँ भी उसी रीति से व्यक्त की हैं। उनमें भी भावुकता का समावेश है। उदाहरणार्थ—

काहे री नलिनी तू कुँभलाणी? तेरे ही नाल सरोवर पाणी।
जल मैं उतपति जल मैं बास, जल मैं नलिनी तोर निवास।
ना तल तपति न ऊपरि आगि, तोर हेत कहु का सनि लागि?
कहै कबीर जो उदक समान, ते नहिं मूए हमरे जान।

उन्होंने आत्मा-परमात्मा के अद्वैत रूप का भी इसी रहस्यपूर्ण ढंग से बहुत वर्णन किया है। यथा,

हम सब माहिं सकल हम माहीं हम ते और कोउ दूसर नाहीं।
तीनि लोक में हमारा पसारा, आवागमन सब खेल हमारा।
षट दरसन कहियत हम पेखा, हम ही अतीत रूप हम देखा।

और

कैसे जीवेगी विरहिनी, पिया बिन कीजै कौन उपाय।
बिन आकार रूप नहिं रेखा कौन मिलेगी आय!
अपना पुरुष समुझि ले सुन्दरी देखो तन निरताप।

सब्द सरूपी जिव पिव बूझौ छाँड़ौ भ्रम की टेक।
कहै कबीर और नहिं दूजा जुग जुग हम तुम एक।

सामान्य रचनाएँ—कबीर के पहले के धार्मिक कवि अध्यात्म की बातों में मग्न रहे और उनमें कुछ लोगों ने शास्त्रीय पद्धति की निन्दा भी की थी। कबीर ने उनसे रिक्थ के रूप ये बातें प्राप्त की थीं। उनकी कविता में पूर्ववर्ती साधना-प्रणालियों का समावेश है, और समाज तथा धर्म-व्यवस्था के बाह्याचारों के प्रति आक्रोश भी कम नहीं है। किन्तु साथ ही लोक कल्याण के उद्‌गार भी यथेष्ट हैं। वे पहले कवि हैं जिन्होंने अध्यात्म की ऊँची उड़ान के साथ ही लोक-व्यवहार की शुद्धता आचरण की सरलता तथा निष्कपटता पर बल दिया और जीवन की सात्विकता की सार्वजनीन आवश्यकता बतलाई। उनकी साखियों में आध्यात्मिक सिद्धान्तों और भावों का बहुत सुन्दर ढंग से उल्लेख है। इनमें कहीं-कहीं मार्मिकता और सरसता होने से कवित्व का दर्शन होता है। बहुतेरी साखियाँ सूक्ति के अन्तर्गत ही रहेंगी। कबीर के बहुत से दोहों में सामान्य जीवन के अनुभव ऐसे नपे-तुले शब्दों में कहे गये हैं कि वे अब तक सर्वसाधारण के द्वारा लोकोक्ति के रूप में व्यवहृत होते हैं। उदाहरणार्थ कुछ दोहे देखिये—

केसों कहा बिगाड़िया जे मूड़ै सौ बार।
मन कौं काहे न मूँड़िये, जामें बिषै विकार।
रोजा करि जिबहैं करैं कहते हैं ज हलाल।
जब दफ्तर देखेगा दई तब ह्वैगा कौन हवाल।
अंषड़ियाँ झाई पड़ी पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या राम पुकारि पुकारि।
नैना अंतरि आव तू ज्यूँ हौं नैन झँपेउँ।
ना हौं देखौं और कूँ ना तुझ देखन देउँ।
लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।
कमोदनी जल में बसै चंदा बसै अकास।
जो जाही का भावता सो ताही के पास।
मूरख संग न कीजिये लोहा जल न तिराइ।
कदली सीप भवंग मुख एक बूँद तिहुँ भाइ॥
निरबल को न सताइये जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की साँस सों सार भसम ह्वै जाय॥

कृतियाँ—कबीर सम्भवतः साक्षर न थे। उन्होंने वाणी के द्वारा ही अपने सिद्धान्त, अनुभव, विचार आदि व्यक्त किये। उनको सुन कर पास के लोग लिख लेते रहे होंगे। उनका प्रचार मौखिक रूप में ही हुआ होगा। फिर इन सुनी-सुनायी रचनाओं को लोगों ने भिन्न-भिन्न स्थलों और समयों में लिपिबद्ध किया होगा। इससे इनका मूल रूप बदलता गया। तभी आज उनकी कविता में पाठ और भाषा की दृष्टि से बहुत अन्तर दिखलायी पड़ता है। कबीर-पन्थ का परम्परागत विश्वास है कि उनके शिष्य धर्मदास ने सर्वप्रथम उनकी वाणी का संग्रह १४६४ ई० (१५२१ वि०) में किया। वह 'बीजक' के नाम से प्रसिद्ध है। उसके कई संस्करण मिलते हैं। सब से प्रामाणिक 'बीजक' में कुछ परवर्ती कवियों की भी रचनाएँ देखी जाती हैं। इससे उसकी प्राचीनता सन्दिग्ध है। कबीर की रचना के तीन खण्ड हैं—साखी, शब्द और रमैनी। बीजक का मत है कि "साखी आँखी ज्ञान की।" दोहा-सोरठा छन्द में अध्यात्म नीति और लोक-व्यवहार के सम्बन्ध की बातों को साखी कहा जाता है। इसमें संसार से छुटकारा पाने का उपाय भी बतलाया जाता है। जो रचना पद के रूप में है उसे 'शब्द' की संज्ञा दी गयी है। इसे बानी, बचन वा उपदेश भी कहा जाता है। कबीर के 'शब्द' आध्यात्मिक अनुभव, सिद्धान्त और भावात्मक गेय पद हैं। उनकी उलटवासियाँ भी इसी रूप में है। 'रमैनी' नित्य पाठ करने के लिए दोहा-चौपाई में लिखी गयी रचना को कहा गया है। कुछ अन्य सन्त सम्प्रदायों के ग्रन्थों में भी कबीर की रचनाओं का समावेश हुआ है। सिक्ख धर्म के 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में उनकी कुछ साखियाँ हैं। उन्हें सलोक (श्लोक) कहा गया है। उसमें कबीर की कुछ रमैनियाँ 'बावन आखरी' नाम से सङ्कलित हैं। इनका पहला शब्द वर्णमाला के वर्णक्रम से प्रारम्भ होता है। रामकुमार वर्मा ने 'सन्त कबीर' में इन सब का संग्रह कर दिया है। दादूदयाल के शिष्य रज्जबजी के 'सर्वङ्गी' में भी उनकी साखियों एवं पदों का सङ्कलन है और निरंजनी सम्प्रदाय के 'पंचबानी' संग्रह में भी उनकी रचनाओं का समावेश है। उनकी रचनाओं के संग्रह समय समय पर होते रहे। बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ने 'कबीर साहब का साखी संग्रह' और 'कबीर साहब की शब्दावली' तथा नागरी प्रचारिणी सभा ने 'कबीर रचनावली' और 'कबीर ग्रन्थावली' नाम से कबीर की रचनाओं का प्रकाशन किया है।

भाषा और शैली—कबीर ने कहा है कि 'मेरी बोली पूरबी।' वे काशीवासी थे ही। आधुनिक उत्तर प्रदेश के पूर्वी क्षेत्र से ही उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। इसलिए उनकी भाषा विषयक उक्ति को मानना ही चाहिये।

किन्तु आज जो कबीर-साहित्य उपलब्ध है उसमें भाषा की एकरूपता का सर्वथा अभाव है। सम्भव है उसकी यह विविधता संग्रहकर्त्ताओं के कारण उत्पन्न हुई हो। उसमें उनकी प्रादेशिक बोली का पुट आ जाना असम्भव नहीं। फिर वे लोग तो भक्ति-भावना, साम्प्रदायिक प्रेरणा अथवा अन्य कारणों से कबीर की वाणी का सङ्कलन करने बैठे थे, कोई भाषा की शुद्धता की रक्षा के निमित्त नहीं। जैसा उन्होंने सुना वा पाया अथवा अपने निजी उच्चारण से जो ठीक समझा शब्द का वही रूप रख दिया। एक बात और। कबीर थे स्वच्छन्द प्रकृति के, सब प्रदेशों में घूमते और सब क्षेत्रों के लोगों से मिलते रहते। साथ ही सब के लिए अपनी बात कहते। अतएव यह भी सम्भव है कि उन्होंने विविध प्रान्तीय बोलियों के शब्दों और उनके रूपों का प्रयोग जानबूझ कर ही किया हो। जो हो, उनकी रचनाओं में पूरबी अवधी ब्रज और खड़ी बोली का प्रायः वैसा रूप मिलता है जो आगे चल कर साहित्य में व्यवहृत हुआ। इनके अतिरिक्त उसमें भोजपुरी, राजस्थानी और पंजाबी के भी अनेक शब्द और व्याकरण-सम्मत रूप मिलते हैं। कभी-कभी उस पर फारसी का प्रभाव भी दिखलायी पड़ता है भाषाओं के इस मिश्रित रूप को रामचन्द्र शुक्ल ने 'सधुक्कड़ी भाषा' कहा है और अनुमान किया है कि हिन्दू-मुसलमान दोनों के साधारण जन-समुदाय को अपनी बातें समझाने के लिए नाथ सम्प्रदाय की परम्परा को ग्रहण कर कबीर ने इसे अपनाया होगा। परन्तु इसी प्रकार की ब्रज, अवधी और राजस्थानी के क्रियापदों, संज्ञाओं और विभक्तियों के रूपों के साथ मिली खड़ी बोली का प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी की दक्खिनी हिन्दी की रचनाओं में भी मिलता है। जान पड़ता है कबीर की रचनाओं में उसका पहले का रूप सुरक्षित है। यदि यह अनुमान सच हो तो निष्कर्ष निकलता है कि कबीर ने सर्वसाधारण के उपयोग में चल रही भाषा को अंगीकार किया और उसके द्वारा अपने उपदेश दिये। यह मानने पर उनकी रचनाओं में भाषा का पुराना रूप यथेष्ट मात्रा में मिलेगा। नीचे के उद्धरणों में भाषा की विविधता देखी जा सकती है—

भोजपुरी (पूरबी)—

सूतल रहलूँ मैं नींद भरि हो पिया दिहलैं जगाय।
चरन कँवल के अंजन हो नैना लेलूँ लगाय।

अवधी—

कैसे दिन कटिहैं जतन बताये जइयो।
एहि पार गंगा ओहि पार जमुना, बिचवाँ में मड़इया हमका छवाये जइयो॥

अँचरा फारि के कागज बनाइन अपनी सुरतिया हियरे लिखाये जइयो।
कहत कबीर सुनो भई साधो बहियाँ पकरि के रहिया बताये जइयो॥

ब्रज—

रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै।
बिना ताल जहँ कँवल फुलाने तेहि चढ़ि हंसा केलि करै॥
बिन चंदा उजियारी दरसै जहँ तहँ हंसा नजर परै।
दसएँ दुआरे तारी लागी अलख पुरुष जाको ध्यान धरै॥
काल कराल निकट नहिं आवै काम क्रोध मद लोभ जरै।
जुगन जुगन की तृषा बुझानी करम भरम अघ ब्याधि टरै॥
कहै कबीर सुनौ भइ साधो अमर होय कबहूँ न मरै।

खड़ी बोली (नागरी)—

चली मैं खोज में पिय की, मिटी नहीं सोच यह जिय की।
रहे नित पास ही मेरे, न पाऊँ यार को हेरे॥
कटी जब नैन की झाँई, लख्यों तब गगन में साईं।
कबीर शब्द कहि त्रासा, नयन में यार को वासा॥

विविध भाषाएँ—

गोव्यंदे तुम **थैं** डरपौं भारी।
क्या **जांणौ** उस पीव कूँ कैसैं **रहसी** रंग।
बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं ज्यों **कांचली** भुवंग।
घर **जाजरौ बलींडौ** टेढ़ौ **औलोती** अरराइ।
कबीर **पनह खुदाई** की रह **दिगर दावानेस**।
काहे री नलिनी तू **कुँभलाणी**, तेरे ही **नाल** सरोवर **पाणी**।

प्रभाव—गुरु गोरखनाथ के बाद उत्तर भारत में कबीर ही सबसे प्रभावशाली व्यक्ति हुए। उन्होंने उस विशाल जन-समुदाय को अपने ज्ञान का आलोक दिया जो वेद, उपनिषद्, शास्त्र, पुराण आदि से अपरिचित और उनके द्वारा उपलब्ध ज्ञान और उपासना से वञ्चित था तथा जो समाज में छोटा समझा जाता था। उन्होंने मुसलमानों के भी उस वर्ग को प्रभावित किया जो कट्टरता और धर्मान्धता को पसन्द नहीं करता था और जो सम्भवतः इस्लाम में दीक्षित हो कर भी अपने परम्परागत धार्मिक आदर्शों और सिद्धान्तों को छोड़ नहीं पाया था, परन्तु इस्लाम के सामाजिक समता सम्बन्धी नियमों की श्रेष्ठता भी स्वीकार करता था। खान-पान, पूजा-पाठ, रोजा-

नमाज, जीव-बलि-कुरबानी आदि बाह्याचारों की असारता और अनावश्यकता का प्रदर्शन कर उन्होंने जनता को धर्म के आडम्बरों से विरक्त किया। उन्होंने स्वयं ही कबीर-पन्थ का प्रवर्तन किया, जिसकी काशी, छत्तीसगढ़, धनौती शाखाएँ और अनेक उपशाखाएँ आज तक देश के विविध राज्यों में फैल रही हैं। उनके समसामयिक और परवर्ती अनेक विचारकों ने उन्हीं के दिखलाये पथ का सहारा ले कर अपने-अपने पन्थ चलाये। इनकी कुछ ऊपरी बातों में अपनी विशेषता है, परन्तु इन सब ने कबीर को आदि गुरु के समान मान कर प्रतिष्ठा दी और उनकी ही बातों पर अपने पन्थ की नींव रखी। सिक्ख धर्म, लाल-पन्थ, बावरी पन्थ, मलूक पंथ के अतिरिक्त हमारे विवेच्य काल के बाद के अनेक सम्प्रदायों ने सन्त कबीर के सिद्धान्तों को ही आधार माना और केवल अपनी विशेष विचारधारा के कारण उनसे अलग मार्ग ग्रहण किया। इस प्रकार कबीर के बाद आज तक देश का बहुत बड़ा जन-समाज कबीर के बतलाये सिद्धान्तों के अनुसार ही आध्यात्मिक चिन्तन करता आ रहा है। उन्हीं की शैली में रचा साहित्य भी प्रचुर है। वह सन्तों की विचार-परम्परा का पोषण करने में समर्थ हुआ है।

(रविदास) रैदास—रामानन्द ने जाति-पाँति का भेद मिटाते हुए सब वर्णों को दीक्षा दी थी। उनके ही शिष्य रैदास कहे जाते हैं। परन्तु इस बात का उल्लेख उन्होंने स्वयं कहीं नहीं किया। इससे यह किंवदन्ती मात्र है। इन्होंने स्वयं ही अपनी जाति चमार बतलायी है—'कह रैदास खलास चमारा।' परन्तु इनकी महत्ता बढ़ाने के लिए इन्हें पूर्व जन्म का ब्राह्मण कहा गया है और इनके विषय में यह भी प्रचार किया गया कि इन्होंने एक बार अपनी देह में चमड़े के नीचे जनेऊ दिखला कर उस समय उपस्थित ब्राह्मणों का सिर नीचा किया था। ये काशी में कहीं रहते थे। इनकी जाति के लोग बनारस के आस-पास से मरे पशु ढो-ढो कर लाया करते थे। यह ग्रंथ साहिब में संगृहीत इनकी इस उक्ति से विदित होता है—

मेरी जाति कुटवाँ ढला ढोर ढोवँता नितहि बानारसी आस पास।

ये अपना जातिगत कार-बार ओछा नहीं समझते थे। परन्तु उसे करते हुए भी साधुओं के साथ अधिक रहते और भगवद्‌जन के कारण बहुत सम्मानित हो गये। स्वयं ही कहते हैं—

अब बिप्र परधान तिहिं करहिं दंडवति तेरे नाम सरणाई रविदासुदासा।

इनमें संतों की सहज सरलता, निस्पृहता, सन्तुष्टि और तितिक्षा थी। कहते हैं एक बार किसी साधु ने इन्हें पारस पत्थर दिया और चाम काटने के

राछों (औजारों) को स्पर्श करा कर उन्हें सोना बना दिया। परन्तु रैदास ने उसे न लिया। आग्रह करने पर साधु उनकी कुटिया के छप्पर में खोंस कर चला गया। तेरह महीने पीछे लौटने पर पारस पत्थर को उसी दशा में पाया। मीराबाई ने इन्हें अपने गुरु के रूप में स्मरण किया है। यथा,

रैदास संत मिले मोहिं सतगुरु दीन्ह सुरत सहदानी।

अन्यत्र उन्होंने कहा है कि—

गुरु मिलया रैदास जी दीन्ही स्थान की गुटकी।

परंतु कुछ लोग उन्हें रैदास के समय से बहुत पीछे की मानते हैं और इन उक्तियों का सम्बन्ध किसी रविदासी सन्त से जोड़ते हैं। हमें आश्चर्य होता है इस प्रकार की गुरु कल्पना पर! स्वयं रैदास रामानन्द के बारह शिष्यों में कहे जाते हैं, परन्तु ये उनके मत के अनुयायी नहीं, निर्गुणोपासक हैं। उधर मीरा इनकी शिष्या बन कर भी कृष्णोपासिका हो गयीं! क्या गुरु केवल कान फुँकाने के लिए किया जाता था, आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन के लिए नहीं? अस्तु।

रैदास के अनुयायी महाराष्ट्र गुजरात राजस्थान और उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में पाये जाते हैं। चमार जाति के बहुत से लोग अपने को 'रविदासी' कहते हैं। इनके सम्प्रदाय चलाने की बात भी कही जाती है, किन्तु कहीं उसकी गद्दी नहीं है। गृहस्थ जन ही इनके अनुयायी हैं। फर्रुखाबाद और कुछ मिर्जापुर में भी प्रचलित 'साध' या 'साधु' सम्प्रदाय इन्हीं की शिष्य-परम्परा के शिष्य वीरभान ने चलाया था। इनकी कुछ रचनाएँ बेलवेडियर प्रेस प्रयाग से 'रैदास जी की बानी' नाम से प्रकाशित हुई हैं। 'ग्रंथ साहिब' में भी इनके कुछ पद मिलते हैं। इनकी कविता में फारसी के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। सम्भवतः उस समय तक फारसी को राज-सम्मान मिलने से सर्व-साधारण के बीच भी कुछ प्रवेश मिल गया होगा और साधु-समागम से भी इन शब्दों ने संत-वाणी में स्थान पा लिया हो तो आश्चर्य नहीं। इन्होंने भी सगुण वाचक शब्दों का निर्गुण ब्रह्म के लिए प्रयोग किया है। यथा,

जस हरि कहिये तस हरि नाहीं है अस जस कछु तैसा।

ये भी तीर्थ-व्रत पूजा-पाठ नहीं मानते थे। कहते हैं—

तीरथ बरत न करौं अँदेसा, तुम्हरे चरन कमल क भरोसा।
जहँ जहँ जाओं तुम्हरी पूजा, तुम सा देव और नहिं दूजा।

इसीलिए वे सामान्य माला छोड़ कर मन में ही उसकी वन्दना करने की शिक्षा देते हैं—

तसबी फेरो प्रेम की दिल में करो निमाज।
फिरो सगल दीदार को उसी सनम के काज।

कारण, वे ईश्वर-प्रेम को ही सब कुछ मानते हैं, बाह्याचार को कुछ नहीं समझते—

जिसके इश्क आसरा नाहीं क्या निमाज क्या पूजा।

रैदास गार्हस्थ्य धर्म का पालन करते हुए मन से संसार में अलिप्त रहना ठीक समझते थे। रैदास की कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। उनकी भक्ति और भाषा का रूप देखा जा सकता है।

अब कैसे छूटै राम रट लागी।
प्रभुजी तुम चंदन हम पानी, जाकी अँग अँग बास समानी।
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती।
प्रभुजी तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवत चंद चकोरा।
प्रभुजी तुम मोती हम धागा, जैसे सोनहि मिलत सोहागा।
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भगति करै रैदासा।
नर हरि चंचल है मति मेरी, कैसे भगति करूँ मैं तेरी।
तू मोहिं देखै मैं तोहि देखूँ प्रीति परस्पर होई।
सब घट अंतरि रमसि निरंतर मैं देखन नहिं जाना,
गुन सब तोर मोर सब अवगुन कृत उपकार न माना।
मैं तैं तोर मोर असमझि सों कैसे करि निस्तारा।
कह रैदास कृष्ण करुनामय जय जय जगत अधारा।

धर्मदास—ये बांधवगढ़ के निवासी धनी कसौंधन वैश्य थे। तीर्थ यात्रा में मथुरा-वृन्दावन पहुँचने पर इन्हें कबीर से साक्षात्कार हुआ। फिर ये उनसे काशी में भी मिले। कबीर ने बांधवगढ़ (छत्तीस-गढ़ मध्यप्रदेश) जा कर उनपर कृपा की। कबीर के बाद यही उनकी गद्दी पर बीस वर्ष तक रहे। ये उन्हें गुरु ही नहीं, इष्ट देवता भी समझते थे। इन्होंने कबीर-पन्थ की छत्तीसगढ़ी शाखा चलायी। वह धर्मदासी शाखा कहलाती है। बाद में इसकी बहुत-सी उपशाखाएँ भी हो गयीं। पहले इसमें धर्मदास के वंश के लोग ही उत्तराधिकार के रूप में गुरु हुआ करते थे। इनमें कुछ लोग सचमुच योग्य थे और उनके समय पन्थ के साहित्य और प्रचार में विशेष प्रगति हुई। इन्होंने कबीर की रचनाओं का संग्रह 'बीजक' के नाम से किया था। ये सच्चे साधु थे, स्वभाव से सरल और धर्मनिष्ठ। इन्होंने अपने गुरु की भाँति पर-धर्म की निन्दा करने के फेर में न पड़ कर भगवत्प्रेम और अपने सिद्धान्तों का

निरूपण किया। इनकी भाषा में पूरबीपन अधिक है। वह कबीर की भाषा के समान अटपटी और अबूझ नहीं है। इनकी रचनाओं का संग्रह 'धनी धरमदास की बानी' के नाम से छप चुका है। इनकी कविता का उदाहरण—

> झरि लागै महलिया गगन घहराय।
> खन गरजै खन बिजुली चमकै लहरि उठै सोभा बरनि न जाय।
> सुन्न महल से अमृत बरसै प्रेम अनंद ह्वै साधु नहाय।
> खुली केवरिया मिटी अँधियरिया धनि सतगुरु जिन दिया लखाय।
> धरमदास बिनवैं करि जोरी सतगुरु चरन में रहत समाय।

गुरु नानक—पाकिस्तान के शेखपुरा जिले में 'ननकाना साहब' सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक का जन्म स्थान है। पहले यहाँ जो गाँव था उसे 'राइ भोई की तलवंडी' कहते थे। वहाँ के पटवारी और किसान कालूचन्द खत्री की पत्नी तृप्ता की कोख से १५ अप्रैल १४६६ (बैसाख सुदि ३, १५२६ वि०) को नानक ने जन्म लिया। ये पढ़ने-लिखने में बहुत विचक्षण थे। इन्होंने पंजाबी, हिन्दी, संस्कृत, फारसी आदि की शिक्षा पायी। किन्तु ये बाल्यकाल से ही विचारशील और शान्तचित्त थे। यह प्रवृत्ति आगे चल कर प्रबल हुई। किसी व्यवसाय, नौकरी आदि में इनका मन न लगता। सत्रह वर्ष के होने पर इनका विवाह बटाला (गुरदासपुर) के मुला की पुत्री सुलक्खना से हुआ। उससे दो पुत्र हुए—श्रीचंद और लक्ष्मीचन्द। यही श्रीचंद प्रसिद्ध उदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हुए। गृहस्थी में भी नानक का मन न रमा। ये नौकरी और घर-बार छोड़ निकल पड़े। इन्होंने देश-देशान्तर की यात्रा की। यात्राओं में इन्होंने जैन-साधुओं, मुसलमान फकीरों, योगियों आदि का सत्संग किया। अन्त समय में इन्होंने अपना उत्तराधिकार अपने प्रिय शिष्य लहना को दिया। उसका नाम अंगद रखा और सब शिष्यों से उसे ही गुरु मानने को कहा। फिर 'वाह गुरु' कहते हुए १५३८ ई० (आश्विन सुदि १०, १५९५ वि०) को करतारपुर में आँखें मूँद लीं।

गुरु नानक अधिक विद्वान् और शास्त्र-ज्ञानी न थे, किन्तु दूर-दूर तक भ्रमण, देश-देश के लोगों से सम्पर्क और सब धर्मों के अनुयायियों के द्वारा उनकी बातों के ज्ञान आदि से उनका अनुभव बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उन दिनों हिन्दू-मुसलमान सबको आचार-विचार और धर्माडम्बर के खटराग से मुक्त सरल धर्म-मार्ग की आवश्यकता भी जान पड़ी। उन्होंने किसी भी धर्म को तुच्छ नहीं कहा और न यह घोषित किया कि मेरी बतलायी साधना-पद्धति सर्वश्रेष्ठ है। वे निराकार भगवान् को मानते थे, मूर्त्ति-पूजा नहीं करते थे। उन्होंने अपने

उपदेश अटपटी शैली में न दे कर सीधे-सादे ढंग से दिये। उनमें हिन्दू परम्परागत विचार मिलते हैं। संसार की असारता, माया की शक्ति, ब्रह्म की चिरसत्ता, उसकी भक्ति, नाम जप की महिमा, आत्मज्ञान की आवश्यकता, गुरु-कृपा की महत्ता आदि के सम्बन्ध में अपने अनुभव जन्य उद्‌गार व्यक्त किये। उनके पदों में भक्त की सरलता, दीनता आर्त्ति और जीव को चेतावनी इत्यादि के प्रसङ्ग बहुत ही मार्मिक हैं। उनमें आत्मसमर्पण की वृत्ति प्रमुख है। गुरु नानक समय-समय पर जो पद रचते उनका संग्रह होता रहता। उनको तथा उनके पीछे के गुरुओं के गाये पदों को सिक्ख धर्म के छठे गुरु अर्जुनदेव ने १६०४ ई० (१ भादों १६६१) में सङ्कलित करके 'ग्रन्थ साहिब' का निर्माण किया। यही ग्रन्थ दसवें गुरु गोविन्दसिंह के बाद गुरु-परम्परा समाप्त होने पर सिक्ख धर्म का सर्वमान्य सिद्धान्त ग्रन्थ हुआ। इसमें नानक के रचे पदों को प्रत्येक सिक्ख श्रद्धा और भक्ति के साथ नित्य-पाठ के लिए प्रयोग करता है। 'जपजी' के पदों और 'सलोक' का पाठ प्रातः काल किया जाता है। उसके बाद ईश्वर की स्तुति विषयक उन पदों का पाठ होता है जिन्हें 'आसां दी बार' की संज्ञा दी गयी है। उनके कुछ पद 'रहिरास' और 'सोहिलो' संग्रहों में भी मिलते हैं। ये क्रमशः सूर्यास्त और शयन के समय पढ़े जाते हैं। अन्तिम तीन सङ्कलनों में गुरु अंगद तथा अन्य गुरुओं के भी पद ले लिये गये हैं। इस प्रकार गुरु नानक की वाणी उनके सहस्रों अनुगामियों के मुँह से प्रतिदिन कई बार निकलती आ रही है। इससे उसके प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है। इन पदों में पंजाबी के अतिरिक्त बहुतेरे शुद्ध ब्रजभाषा में हैं, जो उस समय कविता के लिए अङ्गीकृत हो चुकी थी। कुछ पदों की भाषा खड़ी (नागरी) बोली है, जिसमें पंजाबीपन का पुट है। इनमें कहीं विचारों की सङ्कीर्णता और धार्मिक असहिष्णुता तथा अनुदारता नहीं। भले ही इनमें अभिव्यक्त विचारों में सिक्ख अपने धर्म का रूप देखें, किन्तु हैं ये सामान्य निर्गुणवादी हिन्दू मात्र के विचार। इसी रूप में ये देखे भी जाते हैं। यह बात नीचे उद्धृत कुछ पदों से प्रमाणित होगी—

> काहे रे बन खोजन जाई ?
> सर्व निवासी सदा अलोपा तोही संग सगाई।
> पुष्प मध्य ज्यों वास बसत है मुकर माँहि जस छाई,
> तैसे ही हरि बसत निरंतर घर ही खोजो जाई।
> बाहर भीतर एकै जानो यह गुरु ग्यान बताई,
> जन नानक बिन आपा चीन्हें मिटै न भ्रम की काई।

गुरु परसादी बूझिले तउ होइ निबेरा।
घर घर नाम निरंजना सोइ ठाकुर मेरा।
बिन गुरु सबद न छूटिये देखहु बीचारा।
जे लख करम कमावहीं बिनु गुरु अँधियारा।

इस दम दा मैनूं की वे भरोसा, आया आया न आया न आया।
यह संसार रैन दा सुपना कहीं देखा कहीं नाहिं दिखाया।
सोच विचार करे मत मन में जिसने ढूँढा उसने पाया।
नानक भक्तन दे पद परसे निस दिन राम चरन चित लाया।

नानक के अनुयायी सिक्ख कहलाये। उन्होंने भी कबीर की भाँति गुरु को ही ज्ञान का दाता बतलाया। स्वयं उन्होंने मरने के पूर्व अपने भक्त लहना को गुरु निर्वाचित किया। नारियल पैसा भेंट करने तथा आसन पर बिठा कर सामने सिर झुकाने की गुरु मानने की रीति भी चलायी। दसवें गुरु गोविन्दसिंह तक सभी गुरु हिन्दूधर्म के रक्षक रहे और सब ने जो कुछ कहा वह पंजाबी मिश्रित हिन्दी और व्रजभाषा में ही कहा। सिक्खों में भी यथासमय अलग अलग वर्ग बनते गये जिन्होंने अपने मुखिया के अथवा उसके दिये नाम ग्रहण करके अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्रकट किया। उनमें कहीं कहीं सिद्धान्त-भेद भी दिखलायी पड़े। परन्तु वे रहे सभी विशाल हिन्दू धर्म के अन्तर्गत प्रचलित विविध धारणाओं के अनुगामी ही। उनको हिन्दू धर्म से अलग समझने की प्रवृत्ति तो आधुनिक युग की अँगरेजी राजनीति की देन है जो आज स्वराज्य हो जाने के बाद भी नये रंग दिखलाने की चेष्टा करती है। अस्तु, हमारी विवेचना के काव्य के अन्तर्गत गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास और गुरु अर्जुनदेव के समय तक सिक्ख गुरुओं को धर्मान्ध मुगल बादशाहों से पाला न पड़ा और वे गुरु नानक के ही ढंग के भाव अपनी रचनाओं में प्रकट करते रहे। आगे के गुरु राजनीति के कोपभाजन हुए। उन्होंने भी पंजाबी के साथ ही हिन्दी काव्यभाषा के चले आ रहे रूप में भी अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति की। गुरु गोविन्दसिंह तो उच्चकोटि के कवि थे। उनके सम्बन्ध में कालक्रम से यथास्थान लिखा जायगा। उनके पिता तथा पूर्ववर्ती गुरु तेगबहादुर (बलिदानकाल १६७५ ई०) की रचना की इस बानगी में भाव और भाषा का रूप देखते चलिये।

प्रानी नारायन सुधि लेह,
छिनु छिनु औधि घटै निसि बासरु बृथा जात है देह।

तरुनापो बिखियन स्यों खोयो 'बालापन अज्ञाना
बिरध भयो अजहूँ नहिं समझै कौन कुमति उरझाना।

सो इस काल के भीतर आ रहे अन्तिम गुरु अर्जुन देव भी विचार और शैली दोनों की दृष्टि से नानकदेव की परम्परा में ही रहे। देखिये न—

गावहु राम के गुण गीत।
नाम जपत परम सुख पाइये आवा गवणु मिटै मेरे मीत।

इस प्रकार देखा जाता है कि निर्गुण काव्य-धारा सिक्ख सम्प्रदाय में अपने विशिष्ट रूप में बहती रही। जैसे उसमें साधना की कबीरमार्गी जटिलता नहीं है वैसे ही उसकी कविता में भी नहीं है। वह भक्त के सरल और निष्कपट भावों की अभिव्यक्ति मात्र है।

सम्भव है कबीर के मन में अपना पन्थ चलाने का विचार न उठा हो, किन्तु उनके पिछलगुओं ने कबीर-पन्थ नाम से दल का सङ्गठन कर डाला। वह भी उत्तरोत्तर अनेक महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों के द्वारा किसी न किसी कारण अलग-अलग दलों में विभाजित होता गया। फिर कबीर-पन्थ की देखा-देखी साध, निरंजनी, सत्यनामी और नानक पन्थ चल पड़े। यह मनोवृत्ति आगे और प्रबल हुई। जहाँ-तहाँ न जाने कितने सम्प्रदाय बन गये। फिर प्रत्येक सम्प्रदाय के भीतर भी नये नये गुट्ट बनने लगे। सन्त लाल दास (१५४०–१६४८) दादू-दयाल (१५४४–१६०३) और बावरी साहिबा (१५४२–१६०५ ई०) ने इसी काल में प्रायः साथ-साथ अपने-अपने पन्थ चलाये। मलूकदास (१५७४–१६८२ ई०) ने भी इसी बीच अपना पन्थ खड़ा कर दिया था। इन सब सन्तों के विचार मूलतः निर्गुण उपासना से उत्पन्न हैं, फिर भी किसी न किसी कारण ये भिन्न-भिन्न नाम से चले। इन लोगों ने तथा इनके अनेक अनुयायियों ने कविता की। उनमें परवर्ती काल के विशिष्ट सन्त कवियों का परिचय आगे दिया जायगा। कवित्व और प्रभाव में दादूदयाल ही सबसे आगे आते हैं। अतः यहाँ उनका परिचय दिया जाता है।

दादूदयाल—इनका जन्म बृहस्पतिवार फागुन सुदी २, १६०१ वि० (१५४४ ई०) को अहमदाबाद में हुआ। इनके सम्प्रदाय में कुछ लोग कहते हैं कि वे किसी ब्राह्मण को शिशु रूप में साबरमती में बहते हुए मिले थे। उसने इन्हें पाल-पोस कर बड़ा किया। अन्य जन उन्हें लोदीराम नागर का पुत्र मानते हैं। परन्तु इनको मोची तथा धुनिया भी कहा जाता है। इनमें अन्तिम को छोड़ शेष सब निराधार जनश्रुति मात्र हैं। इनके शिष्य रज्जबजी ने इन्हें धुनिया कहा है—'धुनि ग्रभे उत्पन्नो दादू योगेन्द्रो महामुनि।' बंगाल के बाउल

सम्प्रदाय में इनका बड़ा मान है। उनकी वन्दना में एक बाउलगान में इनके दाऊद नाम उल्लेख मिलता है—श्रीयुक्त दाऊद बन्दि दादू याँर नाम का (श्रीयुत दाऊद की वन्दना करता हूँ जिसका नाम दादू है।) इससे भी इनके मुसलमान धुनिया होने की बात सच हो सकती है। जो हो, दादू के प्रारम्भिक जीवन की बातें विदित नहीं। सम्भव है ये पढ़े-लिखे भी न रहे हों, किन्तु परमार्थ-चिन्तन अध्यात्म-साधन साधु-संग एवं लोकभ्रमण के द्वारा इन्होंने भी अन्य सन्तों की भाँति वह ज्ञान अर्जित किया हो जो इनकी रचनाओं से प्रकट होता है। कुछ समय तक इधर-उधर घूमने-फिरने के बाद १५७३ ई० या उसके आसपास से साँभर (राजस्थान) में रहने लगे। इसके पहले ही सम्भवतः कबीरपन्थी बुड्ढनबाबा (ब्रह्मानन्द) अथवा अन्य किसी साधु से दीक्षा ले चुके थे और गृहस्थाश्रम में भी प्रवेश कर चुके थे। इनके पुत्रों और पुत्रियों का भी नाम लिया जाता है। दादू कबीर पन्थ में दीक्षा के द्वारा गये हों चाहे न गये हों, किन्तु कबीर का स्मरण उन्होंने अपनी वाणी में बार बार किया है। इससे अनुमान है कि ये उनके सिद्धान्तों को मानते आवश्य थे। वे कहते भी हैं—

जेथा कंत कबीरका सोई वर बरिहूँ, मनसा वाचा कर्मना मैं और न करिहूँ।

ये नाथपन्थी योगियों के साथ भी रह चुके थे—ऐसा कहा जाता है। अस्तु, इन सब साधनों से वे अलख-निरंजन को मानने लगे। साँभर में वे उसका ही उपदेश देने लगे। इनकी पुष्टि उनकी वाणी से होती है, जिसमें कहा गया है—

आसिक असली साध सब अलख दरीबे जाइ,
साहिब दर दीदार में सब मिलि बैठे आइ।

जान पड़ता है इसी धर्म-चर्चा की बैठक आगे चलकर उनके पन्थ के अनुयायियों के रूप में बदल गयी। सम्भवतः अध्यात्म की ओर अधिक रुझान होने के कारण दादू धन-धान्य से सम्पन्न नहीं थे। अपने घरेलू व्यवसाय से जो थोड़ा-बहुत कमा लेते उससे ही सन्तुष्ट रहते और भगवान के भरोसे रह कर काम चलाते। उन्होंने कहा भी है—

दादू रोजी राम है राजिक रिजिक हमार,
दादू उस परसाद सूँ पोष्या सब परिवार।

कहते हैं साँभर में छह साल रह कर दादू आमेर चले गये। वहाँ से उनकी ख्याति दूर दूर तक फैली। वहीं से सन् १५८६ ई० में अकबर के आह्वान पर वे सीकरी गये। वहाँ बादशाह ने बहुत दिनों तक उनके सत्सङ्ग से अपनी धार्मिक जिज्ञासा विषयक प्यास बुझायी। वहीं खानखाना अब्दुर्रहीम से भी

मिले। आमेर लौटने पर दादू कुछ दिनों के बाद फिर भ्रमण के लिए निकले। मारवाड़, बीकानेर, कल्यानपुर होते द्यौसा पहुँचे। वहाँ सात वर्ष के उस वैश्य बालक ने उनके दर्शन किये जो आगे चल कर सुन्दरदास (१५६६–१६६६) नाम से इनका सबसे योग्य शिष्य हुआ और समस्त सन्त-समुदाय में सबसे बड़ा विद्वान् और श्रेष्ठतम कवि था। वहाँ से वे नरौना गये। वहीं गुफा में रहने लगे। उसी में जेठ वदी ८ सं० १६६० (१६०३ ई०) को उनके प्राण पखेरू उड़ गये। यह स्थान जयपुर से कोई ४० मील दूर है। यहाँ उनके कुछ ग्रन्थ वस्त्र आदि सुरक्षित हैं। दादू का स्वभाव बहुत सरल था। वे त्यागी और क्षमाशील थे। परनिन्दा से दूर रहते थे। अपने दयालु स्वभाव के कारण ही ये दादू दयाल कहलाये। 'ब्रह्म' या 'परब्रह्म' उनके सम्प्रदाय का नाम है किन्तु वह दादू-सम्प्रदाय नाम से अधिक प्रसिद्ध हुआ। इस सम्प्रदाय के लोग शरीर पर कोई साम्प्रदायिक चिह्न नहीं धारण करते। जप करने को केवल सुमिरिनी लिये रहते हैं।

दादू दयाल के शिष्यों ने उनकी वाणी के संग्रह 'हरडे वाणी' तथा 'अंग वधू' नाम से किये थे। वर्तमान युग में अजमेर, जयपुर, काशी और प्रयाग से उनके सङ्कलन प्रकाशित हुए हैं और प्रसिद्ध विद्वान् क्षितिमोहन सेन ने बँगला में 'दादू' नाम से जो अध्ययन ग्रन्थ प्रस्तुत किया है उसमें भी उनका समावेश है। दादू के ही शब्दों में उनके मत का सार यह है—

> आपा मेटै हरि भजै तन मन तजै विकार,
> निर्बैरी सब जीव सों दादू यह मत सार।

वे पूर्ण समर्पण को सच्चा ज्ञान मानते थे—

> तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा प्यंड परान,
> सब कुछ तेरा तूँ है मेरा यह दादू का ज्ञान।

और,

> दादू उदिम औगुण को नहीं जे करि जाणै कोई।
> उदिम में आनंद है जो साईं सेती होई।

उनके मत का रूप इस पद में देखा जा सकता है—

> भाई रे, ऐसा पंथ हमारा।
> द्वै पष रहित पंथ गहि पूरा अवरण एक अधारा,
> वाद-विवाद काहू सौं नाहीं माँहि जगत थैं न्यारा,
> सम दृष्टी सुभाइ सहज मैं आपहि आप विचारा।
> मैं तैं मेरी यहु मति नाहीं निर्बैरी निरकारा,

पूरण सबै देषि आया पर निरालंब निर्धारा।
काहू के संगि मोह न ममिता संगी सिरजनहारा,
मन ही मन सौं समझि सयाना आनंद एक अपारा।
काम कल्पना कदे न कीजै पूरण ब्रह्म पियारा,
इहि पंथ पहुँचि पार गहि दादू सो तत सहजि संभारा।

उनकी रचना के नीचे दिये उद्धरणों में उनकी विरह की आकुलता आत्म-समर्पण आदि के साथ ही ब्रजभाषा की सुघरता भी देखी जाती है—

अजहूँ न निकसे प्रान कठोर,
दरसन बिना बहुत दिन बीते सुन्दर प्रीतम मोर।
चार पहर चारहु जुग बीते रैनि गँवाई भोर,
अवधि गये अजहूँ नहिं आये कतहुँ रहे चित चोर।
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर,
दादू अइसहि आतुर बिरहिनि जैसहि चंद चकोर।
हरि रस माते मगन भये,
सुमिरि सुमिरि भये मतवाले जीवण मरण सब भूलि गये।
निर्मल भगति प्रेम रस पीवैं आन न दूजा भाव धरैं,
सहजैं सदा राम रंगि राते मुकुति बैकुण्ठै कहा करैं।

इस युग में सन्तों की उपासना-पद्धति अनेकधा हो कर प्रचलित हुई। उसके कुछ शीर्षस्थ महापुरुषों का उल्लेख किया जा चुका। मूल रूप से इनके ही ढंग के भाव इनके शिष्यों-प्रशिष्यों तथा अन्य स्वतन्त्र सम्प्रदायों के सन्तों की वाणियों में देखे जाते हैं। इन सन्तों ने आरम्भ में तो खण्डन मण्डन, वाद-विवाद और कहा-सुनी की प्रवृत्ति का उग्र रूप प्रदर्शित किया, किन्तु बाद में ये अपने जीवन के सात्विक रूप के अनुरूप मृदु भाषा में अपने अनुभूत ज्ञान का प्रकाश करने लगे। इन्होंने रहस्यमयी साधना का मूलोच्छेद कर खुली साधना का पथ दिखलाया और धर्म के क्षेत्र से पाखण्ड का वहिष्कार किया। परन्तु इनमें उच्च वर्णों और वेद-शास्त्र आदि के प्रति अवज्ञा का भाव प्रबल था। इससे उस वर्ग के बहुत कम लोग इनकी ओर खिंचे। केवल निम्न वर्ण के लोग ही इनके दिखलाये मार्ग पर चले। धर्म की कट्टरता ने इनके विचारों को सम्भ्रान्त मुसलमानों के भीतर भी घुसने न दिया। उनकी भी निम्न श्रेणी के लोग ही इनसे प्रभावित हुए। इस प्रकार इन्होंने नीची कही जाने वाली हिन्दू-मुसलमान जनता को ही स्पर्श किया। इनकी वाणियों ने उनमें अहम्मन्यता का भी प्रचार किया और सभी अपने मन से ज्ञानी बनने लगे। अधिकांश सन्तों

ने घर-गृहस्थी में रह कर ही धर्म-साधना की। इस प्रकार वैराग्य की मनोवृत्ति को प्रधानता मिली और संन्यास का जो अनुचित रूप अन्य निवृत्ति-परायण मार्गों में देखा गया उससे रक्षा हुई। व्यक्तिगत चारित्रिक दोष भले ही मिलें किन्तु सामूहिक रूप से सन्त सम्प्रदाय में नैतिक पतन से बचने की चेष्टा हुई। पहले के सन्तों ने मूर्ति-अर्चा, पूजा-पाठ, आचार-विचार आदि बाह्याडम्बरों को भी अनावश्यक बतलाया और सद्गुरु को ही अपना पथ-प्रदर्शक माना था। परन्तु कालान्तर में सद्गुरु ही ईश्वर के स्थूल रूप का प्रतीक हो गया। और उपासना की पद्धति में अपने ढंग की योजना हुई तथा क्रिया-कलाप की वृद्धि हुई। कबीरपन्थ की पौराणिक गाथाएँ क्या हैं? उसमें प्रचलित 'चौका विधि' और 'जोत प्रसाद' कर्मकाण्ड के ही दूसरे रूप ही तो हैं। फिर मठ के भीतर कबीर की मूर्ति और उसकी पूजा को क्या कहा जायगा? सिक्खों में अवश्य गुरु-परम्परा की इति ने व्यक्ति-पूजा का अन्त किया, और उनकी धार्मिक क्रियाओं में भी अपेक्षाकृत सरलता है। सन्त सम्प्रदाय के गुरुओं की चमत्कार-प्रदर्शन की पुरातन सम्प्रदायों से प्राप्त प्रवृत्ति ने अन्धविश्वास को भी आश्रय दिया। परन्तु समय के प्रवाह के साथ यह मनोवृति स्वतः ही समाप्त हो गयी। लोक भाषा के व्यवहार-सुलभ रूप में मन की अनुभूत बातें कहने की प्रणाली चला कर सन्तों ने अपने जीवन के समान वाणी को भी आडम्बर-विहीन किया। उसमें उक्ति-वैचित्र्य और चमत्कारपूर्ण रचनाशैली को कोई स्थान न था। संतों की सहज और सुबोध कविता की यह विशेषता भी द्रष्टव्य है। सन्तों की यह परम्परा आगे भी चलती रही। इतना ही नहीं, आधुनिक युग में भी इसका प्रचलन है और इस शैली की कविता की धारा नहीं सूखी। इसका उल्लेख यथास्थान होगा।

ख. प्रेम मार्ग

प्रवृत्तियाँ—पुरुष और नारी के मन में एक-दूसरे के प्रति आकर्षण को स्वाभाविक रूप दे दिया गया है। उनका परस्पर प्रेम अनादि कहा जाता है। वह अनादि हो वा न हो, किन्तु साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति चिरकाल से होती आ रही है। संस्कृत साहित्य के पौराणिक आख्यानों और जैन कवियों के अपभ्रंश में रचे चरित-काव्यों तथा लोकाख्यानों में तथा अपभ्रंश के संग्रह एवं अन्य ग्रन्थों में उद्धृत मुक्तक छंदों में प्रेम की जो अभिव्यक्ति हुई वह हिन्दी को रिक्थ वा दाय के रूप में मिली। इसी परम्परा में हिन्दी के पूर्व मध्ययुग के काव्य लेने से उनकी शैली का विकास समझ में

आ सकता है। इन काव्यों में गृहीत कुछ कथाएँ पौराणिक हैं और कुछ इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन की घटनाओं को ले कर चली हैं। इनके अतिरिक्त कुछ आख्यान शुद्ध रूप से लोक में प्रचलित वास्तविक अथवा काल्पनिक घटनाओं के सम्बन्ध में रचे गये थे। इतिहास-प्रसिद्ध स्त्रियों और पुरुषों के कथानकों में कभी-कभी लोककथाओं के भी कुछ अंश जोड़ दिये जाते। इसी प्रकार पौराणिक आख्यायिकाओं का रूप भी कवि के हाथ में पड़ कर बहुधा यत्र-तत्र बदल जाता। यह परिवर्तन विविध उद्देश्यों से किया जाता। कभी केवल कहानी को रोचक बनाने के लिए और कभी किसी धार्मिक भावना के प्रचार के लिए पौराणिक वा ऐतिहासिक आख्यान में परिवर्तन, परिवर्द्धन, रूपान्तर आदि करने के प्रमाण मिलते हैं।

इस युग के प्रेमाख्यानों में ये सब बातें मिलती हैं। पौराणिक प्रेमाख्यानों में कथा का मूल किसी न किसी पुराण में वर्णित आख्यान से ले कर अन्य बातों की प्रसङ्ग-गत चर्चा को गौण स्थान देते हुए नायक और नायिका के प्रेम का चित्रण अभीष्ट होता है। यथा, डिंगल की 'बेलि क्रिसन रुकमणी री' में कवि ने श्रीमद्भागवत से कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का प्रसङ्ग लिया और उसे अपने ढंग से शृङ्गाररस-प्रधान रचना का रूप दिया। पुराण और इतिहास से सम्बद्ध प्रेमाख्यानों में कवि अपने उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिए नयी योजनाएँ कर देता है। जैन अपभ्रंश के 'पउम सिरी' और 'भविसत्त कहा' में आख्यान के द्वारा जैन धर्म प्रचार करने की चेष्टा की गयी है। यही बात इस युग के अवधी में रचे कुछ प्रेमाख्यानों में भी देखी जाती है। उनमें प्रच्छन्न रूप से इस्लाम और सूफी धर्म के सिद्धान्तों और विश्वासों का पोषण हुआ है। इन काव्यों में कुछ की कथा पुराणादि पर अवलम्बित है, कुछ इतिहास पर एवं कुछ लोककथाओं अथवा जन-जीवन की प्रत्यक्ष वा सुनी हुई घटनाओं पर। कभी-कभी इतिहास की घटना के साथ समाज में प्रचलित कहानी का भी समावेश हो गया है। इतना ही नहीं, कभी कवि अपने पूर्व की अथवा समकालीन कुछ घटनाओं को ले कर कुछ परिवर्तन के साथ उन्हें अपने आख्यान में बड़ी चतुराई के साथ खपा देता था।[1] इनमें लौकिक प्रेम के बहाने आध्यात्मिक प्रेम का चित्रण करने की भी चेष्टा की गयी, और इनको प्रतीक या रूपक की भाँति प्रस्तुत किया गया। अधिकतर सूफी धर्मानुयायी

---

१. आगे जायसी रचित पदमावत के प्रसङ्ग को देखने से यह विषय स्पष्ट हो सकेगा।

मुसलमानों ने इनकी रचना की। इनके माध्यम से उन्होंने अपने धार्मिक विचारों का गुप्तरूप से प्रचार किया। परन्तु हिन्दुओं ने भी ऐसी आख्यानात्मक रचनाएँ कीं। उनमें किसी धर्म या सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को चलाने का प्रयत्न नहीं हुआ। शुद्ध लोककथा अद्दहमाण के 'सनेह रासअ' (संदेश रासक) नामक अपभ्रंश में रचे प्रेमाख्यान काव्य में मिलती है। डिंगल का 'ढोला मारू रा दूहा' भी इसी प्रकार की रचना है। गुजराती की अनेक रचनाओं में थोड़े अन्तर के साथ इस कहानी का उपयोग हुआ। छत्तीसगढ़ और व्रज में यह कुछ अधिक अन्तर के साथ लोक-कथा के रूप में प्रचलित है। इससे जान पड़ता है कि यह किसी बहुत प्रिय लोक-कथा का राजस्थानी संस्करण है।

आगे प्रेमाख्यान रचयिता कुछ प्रमुख कवियों का परिचय दिया जाता है। उसमें काव्य की विशेषताओं का भी विवरण मिलने से उसका रूप भी खुल जायगा।

कल्लोल—इस कवि के जीवन का तनिक भी वृत्तान्त विदित नहीं। यह अपने डिंगल के प्रेमाख्यान काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' के कारण अमर है। इस काव्य की रचना गुरुवार वैशाख वदी तीज संवत् १५३० (१४७३ ई०) में हुई थी।[1] कुछ लोग इसे इतिहास-सम्मत आख्यान कहते हैं। इसके नायक ढोला के पिता नल को कछवाहा वंश का राजा नल कहा जाता है जो ९४३ ई० के लगभग हुआ था। परन्तु इस कथा की बातें किसी इतिहास अथवा प्रामाणिक ग्रन्थ में नहीं मिलती। हाँ, लोक-कथा के रूप में अवश्य ये कुछ भेद से राजस्थान के बाहर गुजरात, छत्तीसगढ़ और व्रजमण्डल में व्याप्त थीं। सम्भव है कहीं अन्यत्र भी इनका सूत्र मिले। इस काव्य का आख्यान थोड़े में यह है—

नरवर का राजा था नल। ढोला उसका पुत्र था। पूंगल का राजा था पिंगल। उसकी पुत्री मारवणी। स्वदेश में अकाल पड़ने से पिंगल पुष्कर गया। वहाँ नल भी तीर्थयात्रा करने पहुँचा। पिंगल और नल की भेंट हुई। रानी ने अपनी बेटी मारवणी का ब्याह नल के पुत्र ढोला से कर दिया। उस समय वह डेढ़ वर्ष की थी। इससे चलते समय नल के साथ ही जा रहे तीन वर्ष के ढोला के साथ विदा न की गयी। वह अपने माता-पिता के साथ पूंगल चली गयी। वह सयानी हुई। तब ढोला को बुलाने के लिए बहुत से दूत भेजे गये।

---

१. पनरह से तीसे वरस कथा कही गुण जांण।
वदि वैसाखें वार गुरु तीज जाण सुभ वांण।

उस समय तक ढोला का दूसरा ब्याह मालवा की राजपुत्री मालवणी से हो चुका था। वह मारवणी के भेजे दूत ढोला के पास तक पहुँचने ही न देती। एक दिन नरवर से आये एक व्यापारी से मारवणी ने ढोला के दूसरे ब्याह की बात सुनी। उसने ढोला के पास ढाढ़ी भेजे। वे किसी प्रकार ढोला को मारवणी का सन्देश सुनाने में सफल हुए। ढोला उसके पास जाने को तैयार हुआ। मालवणी ने उसको रोक लिया। एक दिन उसे सोती छोड़ वह चल ही तो पड़ा।

पूँगल पहुँचने पर ढोला की बड़ी आवभगत हुई। कुछ दिन वहाँ रह कर वह मारवणी को ले कर नरवर चला। बीच में मारवणी को साँप ने डस लिया। ढोला अपनी मृत प्रिया के लिए रोने-तड़पने लगा। चिता बना कर उसके साथ जल जाने की योजना कर रहा था कि योगी और योगिन के रूप में उपस्थित हो शिव-पार्वती ने मारवणी को जिला दिया। आगे चलने पर ऊमर सूरमा मिला। वह मारवणी को हथियाना चाहता था। वह ढोला को फुसला कर कसूँबा (पानी में घुली अफीम) पिलाने लगा। अपने मायके की ढोलिन से मारवणी ने ऊमर की चाल का सङ्केत पा लिया। ऊँट को भड़का कर उसे सँभालने के बहाने मारवणी ने ढोला को अपने पास बुला लिया। चुपके से ऊमर की घात की सूचना दे दी। ढोला उसके सहित ऊँट पर चढ़ भाग खड़ा हुआ। ऊमर भी बढ़ा पर उन्हें पा न सका। ढोला नरवर पहुँच कर मारवणी और मालवणी के साथ सुख से रहने लगा।

यह प्रेमाख्यान राजस्थान में चिरकाल से लोकप्रिय है। इसमें प्रेम की विविध दशाओं और राजस्थान के जन-जीवन की झलक देखने को मिलती है। विरह-वर्णन तो बहुत ही मार्मिक है। मारवणी ने अपने विरहाकुल हृदय का जो सन्देश कुंझां (कुररी) तथा ढाढ़ी (भाट) से कह कर अपने प्रियतम के पास भेजा था उससे इस काव्य के कुछ उदाहरण देखिये—

कुंझाँ, द्यऊ नइ पङ्खड़ी, थाँकउ विनउ वहेसि
सायर लंघी प्री मिलउँ, प्री मिलि पाछी देसि।
म्हे कुरझाँ सरवर-तणा, पाँखाँ किणहिं न देस
भरिया सर देखी रहाँ, उड़ आवेरि वहेस।
उत्तर दिसि उपराठियाँ, दक्खिण साँमहियाँह
कुरझाँ, एक संदेस इउ ढोलानइ कहियाँह।
माणस हवाँ त मुख चवाँ, म्हे छाँ कूझड़ियाँह
प्रिउ संदेसउ पाठविसु, लिखि दे पंखड़ियाँह।

पाँखे पाणी थाहरइ, जलि काजल 'गहिलाइ
सयणाँ-तणाँ संदेसड़ा, मुख-बचने कहिवाइ।
दाढ़ी एक संदेड़उ प्रीतम कहिया जाइ
सा धण बलि कुइला भइ भसम ढँढोलिसि आइ।
दाढ़ी जे प्रीतम मिलइ यूँ कलि दाखवियाह
पंजर नहि छइ प्राणियउ थाँ दिस झल रहियाह।

पृथ्वीराज—इनका जन्म सन् १५४९ ई० (मार्गशीर्ष १६०६ वि०) में और निधन संभवतः १६०० ई० (१६५७ वि०) हुआ। ये बीकानेर-नरेश राव कल्याणमल के पुत्र थे और अकबर के विख्यात सेनाध्यक्ष महाराजा रायसिंह के अनुज। अकबर के प्रेम और कुछ अन्य कारणों से प्रायः उसी के दरबार में रहते थे। नाभादास ने भक्तमाल में इनको उभय भाषा (डिंगल और पिंगल अथवा भाषा तथा संस्कृत) में निपुण कवि कहा है। और लिखा है कि उन्होंने

"सवैया गीत श्लोक, वेलि दोहा गुण, नव रस,
पिंगल काव्य प्रमाण विविध विध गायो हरिजस।"

इस प्रकार विदित होता है कि उनके कवित्व की ख्याति उनके समय में ही दूर-दूर तक फैल गयी थी। इन्होंने अनेक काव्यों की रचना की। साथ ही बहुत सी फुटकल कविताएँ भी रचीं। इन्होंने राणा प्रताप के त्याग और शौर्य का वर्णन बड़े ही ओजस्वी दोहों में किया है। वे स्वतन्त्रता के पुजारी महाराणा के प्रति मानो तत्कालीन हिन्दू जनता के भावों की सूचना देते हैं। यथा,

माई एहणा पूत जण जेहड़ा राण प्रताप,
अकबर सूतौ ओझकै जाण सिराणे साँप।
अकबर समँद अथाह सूरापण भरियौ सजळ,
मेवाड़ौ तिण माहं पोयण फूल प्रतापसी।

पृथ्वीराज के रचे 'दशम भागवत दूहा' और 'वसदेरावउत' में श्रीकृष्ण की लीलाओं और उनकी भक्ति के सम्बन्ध के अनुपम उद्गार हैं, 'दशरथ रावउत' में रामचन्द्र के विनय विषयक सरस पद हैं और 'गंगा लहरी' में गंगा के महत्त्व का मधुर गान है। परन्तु उनकी सब से श्रेष्ठ रचना है 'वेलि क्रिसन रुकमिणी री। इसकी समाप्ति संवत् १६३७ (१५८० ई०) में हुई, किन्तु कुछ प्राचीन प्रतियों में संवत् १६४४ (१५८७ ई०) को इसके पूर्ण होने का समय कहा गया है। इसमें श्रीकृष्ण के द्वारा रुक्मिणी के हरण और विवाह का बहुत ही रसमय वर्णन है।

इसमें भाव और कला तथा वस्तुवर्णन और अलङ्कृत शैली का अद्भुत सम्मिश्रण है। इसमें प्रधानतया शृङ्गार है किन्तु भक्ति प्रधान होने से शान्त रस में इसका पर्यवसान हुआ है।

वेलि में इनकी रचना के कुछ सरस उदाहरण देखिये—

प्रिथु वेलि कि पंच विध प्रसिध प्रणाळी आगन नीगम कजि अखिळ।
सुगति तणी नीरसणी मंडी सरग लोक सोपान इळ।
काली करि काँठळि ऊजळ कोरण धारे श्रावण धरहरिया,
गळि चालिया दिसो दिसि जळग्रम थंभि न विरहणि नयण थिया।
बसरतै दड़ड़ नड़ अनड़ वाजिया सघण गाजियौ गुहिर सदि,
जळनेधि ही समाइ नहीं जळ जळ वाळा न समाइ जळदि।
ऊभी सहु सखिये प्रसंसिता अति क्रितारथ प्री मिळण क्रित,
अटत सेज द्वार विच आहुटि स्तुति देहरि धरि समाश्रित।

ईश्वरदास—इनके सम्बन्ध में कुछ भी विदित नहीं। इनकी रची 'सत्यवती कथा' प्रेमाख्यान विषयक अवधी के काव्यों में विशिष्ट है। उसकी रचना का समय कवि ने यों बतलाया है—

भादौ मास पाष उजियारा, तिथि नौमी औ मंगलवारा।
नषत अस्विनी मेष क चंदा, पंच जन्म सो सदा अनंदा।
जोगिनपुर दिल्ली बड़ थाना, साह सिकंदर बड़ सुलताना।
कंठे बैठ सरसुती विद्या गनपति दीन्ह,
ता दिन कथा अरंभ यह इसरदास कवि कीन्ह।

योगिनीपुर दिल्ली का प्रसिद्ध नाम है।[1] सुलतान सिकन्दरशाह लोदी दिल्ली के प्रथम पठान सुलतान बहलोल लोदी का बेटा था—राज्यकाल १४८६–१५१७ ई०। "वह साहित्यमर्मज्ञ, कला-पारखी तथा सुसंस्कृत मस्तिष्क वाला व्यक्ति था। यह स्वयं भी कविता करता था और कवियों तथा विद्वानों की संगति में आनन्द लेता था। उसके वजीर मियाँ भुआ ने संस्कृत ग्रंथों के आधार पर तिब्ब-ए-सिकंदरी अथवा महा आयुर्वेदिक नामक पुस्तक की रचना करायी थी।"[2] सिकन्दर स्वयं भी फारसी में 'गुलरुखी' तखल्लुस से शायरी करता था। उसकी सभा में अनेक विद्वान्

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की मीमांसा पृ० ४४६। जोनराज राजतरंगिणी श्लोक ४४०-४४१।

२. अवधविहारी पाण्डेय—पूर्वमध्यकालीन भारत पृ० ३१५।

थे, वह उनके द्वारा साहित्य-चर्चा का आयोजन किया करता था। उन विद्वानों में डूँगर नामक कवि भी था। वह पहले ब्राह्मण था। पीछे मुसलमान हो गया था। सुलतान उससे विशेष रूप से काव्यचर्चा ही किया करता था।[१] उसके समय में फारसी और हिन्दी का श्रेष्ठ लेखक और कवि रिज़कुल्ला मुश्तकी हुआ है जिसने अपने सुलतान की बहुत प्रशंसा की है।[२] कौन जाने ईश्वरदास भी सिकन्दर के कृपापात्र कवियों में रहा हो और उसने उसके प्रीत्यर्थ यह कथा लोकभाषा में रची हो। सूफी कवियों की रची प्रेमाख्यायिकाओं की भूमिका में 'शाहे वक्त' (सामयिक राजा) का उल्लेख होता है। 'सत्यवती कथा' में सिकन्दर का निर्देश यह सूचित करता है कि ईश्वरदास सूफी-कथाकारों की इस परम्परा से परिचित थे। उन्होंने कथा शुद्ध हिन्दू ढंग की पौराणिक आख्यायिका के रूप में लिखी अवश्य, किन्तु अपने समकालीन अथवा पोषक दिल्ली के सुलतान सिकन्दरशाह का स्मरण भी किया। आगे प्रेमाख्यानों के जो रचयिता हिन्दू थे उन्होंने किसी कारण यह सूफी-प्रणाली नहीं ग्रहण की। अस्तु वार, तिथि, मास, नक्षत्र, चन्द्र आदि कह कर भी कवि के संवत् का नाम न लेने पर भी सिकन्दर के उल्लेख से यह निश्चय होता है कि इस कथा की रचना सन् १५०० ई० के लगभग हुई होगी। यह दोहा-चौपाई में लिखी गयी। इसमें पाँच अर्धाली के बाद दोहा है। कुल ५८ दोहों में कथा कही गयी है। इसकी भाषा पूर्वी अवधी है। इसका आख्यान सम्भव है लोक-कथा से लिया गया हो अथवा कवि की सूझ ही हो। इसमें कथा कहने की पौराणिक प्रणाली का प्रयोग हुआ है। इसे जनमेजय व्यास से कहते हैं। मार्कण्डेय ने वनवास काल में पाण्डवों को यह कथा सुनायी थी। कथा का सार यह है—

मथुरा के राज चन्द्र उदय ने सन्तान पाने के लिए तप किया। शिव ने प्रसन्न हो वर दिया। फलतः रानी ने कन्या प्रसव की। उसका नाम रखा गया सत्यवती। धीरे-धीरे वह बड़ी हुई। वह सरोवर में नहाती तब शिव की पूजा करने जाती। एक दिन राजा इन्द्रपति का पुत्र ऋतुवर्ण आखेट के लिए निकला। वह वन में भटक गया। वहाँ उसे कल्पवृक्ष दिखलायी पड़ा। वह उस पर चढ़ गया। इधर-उधर देखने लगा। उसने वह सरोवर देखा। उस समय सत्यवती अपनी सहेलियों के साथ उसमें नहाती थी। ऋतुवर्ण पेड़ से नीचे उतरा। सरोवर के पास पहुँच कर वह सत्यवती के रूप पर मुग्ध हो गया। वहीं खड़ा

---

१. अवध बिहारी पांडेय—द फर्स्ट अफगान एंपायर इन इंडिया पृ० १५६।
२. वही—पृ० १५५।

हो उसे निहारने लगा। सत्यवती ने बिगड़ कर शाप दिया। ऋतुवर्ण तुरन्त कोढ़ी हो गया। उसकी दशा ऐसी हुई कि—

रोवै व्याधी बहुत पुकारी, छोहन बिछ रोवै सब भारी।
बाघ सिंह रोवत बन माहीं, रोवत पंछी बहुत ओनाहीं।

यह देख सत्यवती उसके पास गयी, किन्तु उसने उसे दुत्कार दिया। चन्द्र उदय ने कोढ़ी राजकुमार की दशा देखी। उसने बहुत दान किया कि कोढ़ी अच्छा हो जाय। राजा के भोजन करते समय सत्यवती शिव-मन्दिर में थी। उसे राजा ने बुलवाया। उसने पूजा छोड़ना नहीं स्वीकार किया। इस पर बिगड़ कर राजा ने सत्यवती को उस कोढ़ी को दे आने का आदेश दिया।

सत्यवती ऋतुवर्ण को ले कर प्रभावती तीर्थ गयी। उसने अपने प्रभाव से दिन को रात कर दिया। इससे घबराकर वहाँ के देवता उसके पास आये। सत्यवती ने कहा कि ऋतुवर्ण का कोढ़ ठीक हो जाय। तीर्थ में स्नान करने से ऋतुवर्ण की देह का दोष दूर हो गया। इसके बाद सत्यवती और ऋतु-वर्ण का विवाह हो गया।

पुराणों में तीर्थों के माहात्म्य के ऐसे कितने ही आख्यान मिलते हैं। सम्भव है ढूँढने पर यह कथा भी कहीं न कहीं मिल जाय। इसका उद्देश्य तो तीर्थ-महिमा का प्रदर्शन है ही। किन्तु इसमें अलौकिक तत्त्वों का भी समावेश है। जैसे वन में तीस कोस की लंबी शाखाओं का कल्पवृक्ष और शाप से ऋतु-वर्ण का कोढ़ी हो जाना और तीर्थ के जल में नहाते ही निर्मल तन पा जाना। परन्तु सत्यवती के प्रेम का उत्कृष्ट रूप भी कवि ने अङ्कित किया है। उसने ऋतुवर्ण की काया-शुद्धि के लिए जो कष्ट उठाये वे उसके प्रेम की दृढ़ता को सूचित करते हैं। यह पौराणिक ढंग का शुद्ध प्रेमाख्यान काव्य है।

आदि पुराण, उत्तर पुराण, जसहर चरिउ आदि अनेक जैन काव्यों तथा 'सनेह रासअ' सदृश लोक कथात्मक आख्यान काव्य में दोहा-चौपाई में कथा कहने की जो शैली चलती थी वही सत्यवती कथा में भी मिलती है। जान पड़ता है चरित और आख्यान काव्यों के लिए यही पद्धति प्रचलित थी। आगे सूफियों के रचे प्रेमाख्यानों में इसी का विकास हुआ।

सूफी प्रेमाख्यान

प्रवृत्ति—नाथ योगियों के चमत्कार-प्रदर्शन से जनता के प्रभावित होने का उल्लेख हो चुका है। अलौकिकता केवल सामान्य स्तर के लोगों को ही नहीं चकित कर अपनी ओर खींचती, उच्च वर्ग को भी आकृष्ट करती है।

आज पश्चिमी विचारों और वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रभाव के युग में भी बड़े-बड़े शिक्षित कहे जाने वाले लोग भी चमत्कारी शक्तियों से सम्पन्न साधुओं के फेर में पड़े दिखलायी पड़ते हैं। यह हमारे बीच आये दिन देखा जाता है। तो फिर उन दिनों इस असाधारण शक्ति-प्रदर्शन का प्रभाव यदि हिन्दुओं में ही सीमित न रहा हो तो आश्चर्य नहीं। इस देश के धर्म को छोड़ कर बने नये मुसलमान पुराने संस्कारों के कारण इन कनफटे योगियों के प्रति श्रद्धा तो करते ही रहे होंगे, बाहर से आये सम्भ्रान्त मुसलमान तक इनकी महत्ता स्वीकार करने लगे होंगे। तभी न उनके सूफी फकीरों में भी चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई होगी! इन अद्भुत शक्तियों को प्राप्त करने के लिए उक्त वर्गों के मुसलमानों में हठयोग की क्रियाओं और रसायन बनाने वालों के प्रति सहज आकर्षण होना भी स्वाभाविक था।[1] उन्हें ये क्रियाएँ करते देख हिन्दू जनता उनके प्रति स्वतः श्रद्धा करने लगी रही होगी। फिर यहाँ इस्लाम के प्रचार के लिए तलवार का प्रयोग कितने दिनों तक चल सकता था। मुसलमान आखिर थे तो मनुष्य ही। उनमें सभी तो धर्मान्ध नहीं हो सकते थे। इसी से कुछ थोड़े से सुलतानों और सेनापतियों वा सामन्तों तक ही इस्लाम के प्रचार के लिए बल-प्रयोग और हिन्दू धर्म के स्थानों का विनाश सीमित रह गया। कुछ दिन रहने-बसने के बाद मुसलमानों के मन में स्वभावतया अपने पड़ोसी हिन्दुओं के धर्म के मूल तत्त्व जानने की उत्सुकता जगी होगी। उनमें अनेक उदार-चेता शासक इस युग में पहले से ही हिन्दू धर्म और साहित्य के फारसी अनुवाद भी कराने लग गये थे। उनके द्वारा भी वे लोग हिन्दू विचारों से अवगत हुए। सम्भवतः उनमें कुछ लोग कट्टर भी न थे। वे मानव-हृदय की संवेदना और उदारता से वञ्चित भी न थे। अतएव वे हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा के मर्म को समझने के बाद उनके ब्रह्म के रूप से परिचित हुए। तब उन्हें

---

१. आत्मसंयम के लिए सात्विक भोजन की आवश्यकता बतला कर जायसी ने योगसाधन करने को कहा है—

छाँडउ घिउ औ मछरी माँसू, सूखे भोजन करहु गरासू।
दूध माँसु घिउ कर न अहारू, रोटी सानि (छाँड़ि?) करहु फरहारू।
एहि बिधि काम घटावहु काया, काम क्रोध तिसना मद माया।
सब (तब?) बैठहु बज्रासन मारी, गहि सुखमना पिंगला नारी।
प्रेम तंतु तस लाग रहु करहु ध्यान चित बाँधि।
पारस जैस अहेर कहँ लाग रहै सर साधि।
(रामचन्द्र शुक्ल—जायसी ग्रंथावली—अखरावट—पृ० ३२८)

अपने पैगम्बर के बतलाये 'एक अव्यक्त' अल्लाह और हिन्दुओं के अकथ, अगोचर ब्रह्म में कोई विशेष भेद न जान पड़ा। इस प्रकार मुसलमानों में कुरान और शरीअत को अक्षरशः मानने वालों के साथ ही ऐसे लोग भी कम न थे जो उसकी सर्व-व्यापकता को केवल पैगम्बर पर आस्था रखने वालों तक आबद्ध नहीं मानते थे। उनकी समझ में मुसलमान और गैर-मुसलमान में पारमार्थिक दृष्टि से कोई भेद न था। वे सभी धर्मों की आधार-भूता मानवता को ही महत्त्व देते थे। अतएव नामदेव कबीर आदि सन्तों के समान वे भी हिन्दू-मुसलमान के बाह्य-भेद के भीतर तात्त्विक एकता मानते, जैसा कि जायसी कहते हैं—

बिधिना के मारग हैं तेते, सरग नखत तन रोंवा जेते।

यदि हम मनुष्य की ऊपरी बातों को निष्कपट और सर्वथा आन्तरिक प्रेरणा से प्रसूत शुद्ध मानें तो मुसलमानों के सूफी फकीरों में यही हृदय की विशालता और असीमता पायेंगे। उनके खुदा को अपने अद्वैत और विशिष्टाद्वैत से एक कर देंगे, उनके द्वारा मान्य पीर की महिमा में अपने यहाँ के सद्गुरु की झलक देखेंगे, और उनकी प्रेम-साधना को अपनी भक्ति-भावना की प्रपत्ति का रूपान्तर समझेंगे। ऐसे ही उनकी उपासना विषयक अन्य क्रियाओं तथा आस्थाओं को अपने बीच अङ्गीकृत अनेक बातों का प्रतिरूप मान लेंगे। हमारी धार्मिक उदारता की परम्परा में ऐसा करना उचित भी होगा। ऐसा होने पर हम उनके व्यवहार के भीतर किसी प्रकार के छिपे उद्देश्य और लक्ष्य की कल्पना तक न करेंगे और यह मान लेंगे कि मध्ययुग के सूफी फकीरों के आचरण और कार्य सचमुच उनकी धार्मिक प्रवृत्ति के सूचक हैं। हो सकता है वास्तव में ही कुछ लोगों की यह स्थिति हो। किन्तु संसार तो वैसा नहीं जैसा दिखलायी पड़ता है। धर्म के नाम पर भी सदैव से कपटाचार होता आ रहा है। ऊँची-ऊँची दार्शनिक भूमिका के साथ कहीं बातों के भीतर मनुष्य के मज्जागत दोष छिपे रहते हैं। बातें बना कर अपना उल्लू सीधा करने में प्रवीण लोगों ने धर्म के क्षेत्र को भी अछूता नहीं रहने दिया। अतः इन सूफी फकीरों की प्रदर्शित उदारता के अन्तर्गत दुरभिसन्धि हो तो आश्चर्य न करना चाहिये। मुसलमानों ने यह तो देख ही लिया था कि यह देश अपनी संस्कृति और धर्मपरम्परा के प्रति यथेष्ट आस्था रखता है और मृत्यु के भय से भी धर्म-परिवर्तन स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं। थोड़े से लोग इस भय के कारण अथवा कुछ प्रलोभनों में आ कर भले ही इस्लाम का अनुगमन करने लगें किन्तु सामूहिक रूप से वे भी मुसलमान होने को उद्यत नहीं जिन्हें

उच्च वर्गों के लोग सामाजिक अधिकारों से वञ्चित किये हुए थे। फिर अपने धर्म के सिद्धान्तों को इस्लाम से श्रेष्ठ समझने वाले उच्च वर्णों का क्या कहना। निम्न वर्णों के लोगों ने नाथपन्थी योगियों और सन्तों की बातों में आ कर इस्लाम की कुछ धारणाएँ अङ्गीकार भी कीं, किन्तु वेदशास्त्र मानने वालों ने तो उधर मुँह तक न किया। ऐसी स्थिति में हो सकता है हिन्दुओं को इस्लाम की ओर खींचने के लिए ही सूफी फकीरों ने बाहरी व्यवहार में उनके प्रति पूरी संवेदना प्रदर्शित की हो, उनके बीच प्रचलित योगादि की क्रियाओं को ग्रहण किया हो और योगियों तथा सन्तों के समान विभूतियाँ दिखला कर यह प्रकट किया हो कि वस्तुतः हम उन साधुओं से भिन्न नहीं हैं। यह सच हो सकता है कि सूफी धर्म में इस्लामी धर्मान्धता और कट्टरता नहीं थी। इसका कारण सम्भव है यह हो कि पहले अरब व्यापारियों और बाद में अरब शासकों के द्वारा भारतीय वेदान्त के विचार बहुत पहले ही इस्लाम धर्म के मूल स्थान में प्रविष्ट हो चुके थे। इतिहास की खोज से कुछ और ही विदित होता है। "संस्कृत ग्रन्थों के तुर्की और उनके अरबी अनुवाद ऐसे पाये गये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि भारतीय वेदान्त से सम्पर्क होने के पहले ही इस्लाम में सूफी सम्प्रदाय चल चुका था।"[1] अतएव अब लोग मानते हैं कि मध्य एशिया के बौद्धों को मुसलमान बनाने के बाद उनके द्वारा ये आध्यात्मिक विचार ग्रहण किये गये। हमें सूफी धर्म के उद्भव से यहाँ प्रयोजन नहीं। हम यही सूचित करना चाहते हैं कि सूफी धर्म के मानने वाले सभी स्तरों के बहुत से मुसलमान उन दिनों यहाँ थे। उदार होते हुए भी वे पैगम्बर के विरोधी वा निन्दक न थे। नहीं, अन्य दीनदार मुसलमानों के सदृश ही उनके प्रति पूरी श्रद्धा रखते थे और उन्हीं के चलाये धर्म को सब धर्मों से श्रेष्ठ तथा लोक के लिए हितकर समझते थे।[2] अतएव इन्होंने हिन्दुओं के विचारों को इस्लाम के

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार—इतिहास-प्रवेश पृ० ४४०।

२. जायसी की पदमावत के स्तुति खण्ड में इस्लामी धारणा के अनुसार सृष्टिक्रम का वर्णन है। कहीं इस्लाम का नाम नहीं। अबोध पाठक उसे तथा उसकी अन्य बातों के शब्दों के साधारण अर्थ को ले कर उनको वैसे ही सच मान लेगा जैसे वह हमारे वर्तमान युग में ईसाई-धर्म-प्रचारकों के द्वारा हिन्दी में चलाये बाइबिल के अनुवादों में व्यवहृत पदावलि से उसे ही धर्म का सामान्य रूप समझता है। जायसी के उस वर्णन-क्रम में सर्वप्रथम मुहम्मद के उत्पन्न होने उनके लिए सृष्टि के निर्माण होने तथा उनके द्वारा संसार को पथ दिखलाने का स्पष्ट उल्लेख है—

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा, नाम मुहम्मद पूनौं-करा।
प्रथम जोति विधि ताकर साजी, औ तेहि प्रीति सिहिट उपराजी।

साँचे में ढालने की युक्ति सोची। सबसे अच्छा धर्म-परिवर्तन है विचार-

दीपक लेसि जगत कहँ दीन्हा, भा निरमल जग मारग चीन्हा।
जौ न होत अस पुरुष उजारा, सूझि न परत पंथ अँधियारा।
जगत बसीठ दई ओहि कीन्हा, दुइ जग तरा नाँव जेहि लीन्हा।
(रामचन्द्र शुक्ल—जायसी ग्रन्थावली—२००८ वि० संस्करण, पदमावत पृ० ४)

यह है हिन्दुओं की कहानी के भीतर से इस्लाम का प्रचार। जायसी ने कथा-प्रसङ्ग के बीच भी इस्लामी विचार और सिद्धान्त ऐसे चिपका दिये हैं कि सहसा वे पकड़ में ही नहीं आते। अन्य सूफी कवियों ने भी ऐसा ही किया है। जायसी ने 'अखरावट' में सृष्टि के विकास की इस्लामी धारणा विस्तार से व्यक्त की है। वहाँ तो वे खुल कर अपना इस्लामी रूप प्रकट करते हैं। नीचे के उद्धरण आरम्भ की दूसरी-तीसरी अर्द्धाली में तो वे उदारता के साथ सब धर्मों की समानता मानते हुए जान पड़ सकते हैं, पर उसके आगे तो स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि रसूल मुहम्मद को प्रकट कर के उनके ही लिए सृष्टि-रचना, उनका प्रवर्तित इस्लाम, उसका धर्म-ग्रंथ कुरान और उसकी उपासना-पद्धति ही एकमात्र मान्य है—

धा-धावहु तेहि मारग लागे, जेहि निसतार होइ सब आगे।
बिधिना के मारग हैं ते ते, सरग नखत तन रोवाँ जेते।
जेइ हेरा तेइ तहँवै पावा, भा संतोष समुझि मन गावा।
तेहि महँ पंथ कहौं भल गाई, जेहि दूनौ जग छाज बड़ाई।
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा, है निरमल कविलास बसेरा।
लिखि पुरान बिधि पठवा साँचा, भा परवाँन, दुओ जग बाँचा।
सुनत ताहि नारद उठि भागै, छूटै पाप, पुन्नि सुनि लागै।
वह मारग जो पावै सो पहुँचै भव पार।
जो भूला होइ अनतहि तेरि लूटा बटपार।
साईं केरा बार जो थिर देखै औ सुनै
नइ नइ करै जोहार मुहम्मद निति उठि पाँच बेर।
ना नमाज है दीन क थूनी पढ़ै नमाज सोइ बड़ गूनी।
साँची राह सरीअत, जेहि बिसवास न होइ
पाँव राख तेहि सीढ़ी निभरम पहुँचै सोइ।
(वही अखरावट, पृ० ३२१, २२)

रतन एक बिधनै अवतारा, नावँ मुहम्मद जग-उजियारा।
जेहि हित सिरजा सात समुंदा, सातहु दीप भये एक बुंदा।
(वही—आखिरी कलाम, पृ० ३४१)

ऊपर उद्धृत अवतरण में कविलास (कैलाश-स्वर्ग), पुरान (कुरान) नारद (शैतान) आदि शब्दों के कारण हिन्दू पाठक धर्म का सच्चा रूप किसे समझेगा और इनके वास्तविक अर्थ को कैसे पकड़ेगा ? जायसी ने 'अखरावट' (वही पृ० ३३०) में मुहम्मदी धर्म के 'कलमा' का स्वरूप भी खोल दिया है—

परिवर्तन।[1] आधुनिक युग में गोबेल्स ने प्रचार का चरमोत्कृष्ट रूप कहा है झूठ

अलिफ एक अल्ला बड़ सोई, दाल दीन दुनिया सब कोई
मीम मुहम्मद प्रीति पियारा, तिनि आखर यह अरथ बिचारा।

'आखिरी कलाम' में उन्होंने 'कयामत' के इस्लामी रूप का वर्णन कर के अन्त में मुहम्मद साहब के 'बिहिस्त' में राज्य करने का आवेशपूर्ण चित्रण किया है। यह है सूफी फकीर जायसी की सच्चे धर्म के रूप की घोषणा।

नूर मुहम्द ने 'इन्द्रावती' के पात्रों के जीवन में ही इसे उतार दिया है। उन्होंने कालिंजर के राजकुमार और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की कहानी लिखी। नाम से इन्द्रावती हिन्दू थी और कहने को 'स्वर्ग' में स्थान चाहती थी, परन्तु उपाय करती थी 'बिहिश्त' पहुँचने का। देखिये न,

निसि दिन सुमिरि मुहम्मद नाऊँ, जासों मिले सरग महँ ठाऊँ।

और कहती है कि

'साहस देत परान हमारा, अहै रसूल निबाहन हारा।

क्या वह वैसी ही हिन्दू नारी है जैसी आजकल की बहुत सी सिनेमा-तारिकाएँ जो वास्तव में होती तो मुसलमान हैं, परन्तु भोले भाले हिन्दू दर्शकों को लुभाने बहलाने का धोखा देने के लिए संस्कृतनिष्ठ नाम रख लेती हैं। जैसे इन लोगों को सामान्य हिन्दू नारी का ही नहीं, पार्वती सीता, सावित्री आदि का अभिनय करते देख लोग मुग्ध हुआ करते हैं वैसे ही सूफियों की ये इन्द्रावतियाँ कितने हिन्दुओं का आज भी मन मोहती हैं, उस दिनों तो मोहती ही रही होंगी। हाँ, तो इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से इस्लाम का प्रचार करने पर भी नूर मुहम्मद कट्टरपंथी मुल्लाओं के कोपभाजन हुए। तभी उन्हें 'अनुरागबाँसुरी' में अपनी सफाई देनी पड़ी—

हिन्दू मग पर पाँव न राखेउँ, का जो बहुतै हिन्दी भाषेउँ।

असल में

'जहँ रसूल अल्लाह पियारा, उम्मत को मुक्तावन हारा।
तहाँ दूसरो कैसे भावै, जच्छ असुर सुर काज न आवै।

सौ बात की एक बात यह है कि ये कालनेमि रूपी सूफी हिन्दू हृदयों में कपट वेश धर कर घुसना चाहते थे। जायसी और अन्य सूफी कवियों की रचनाओं में मूर्तिपूजा का खण्डन और इस्लामी धर्माचार की पद्धति का समर्थन करने के लिए प्रचुर सामग्री मिलती है। उसके सहारे यह प्रतिपादित होता है कि ये सूफी आचरण और चिन्तन में सर्वथा मुसलमान थे, परन्तु वे अपनी रचनाओं में अपना यह छद्म रूप छिपाये रहे। इसी से बहुत से विद्वान् समझते हैं कि उनके मन में हिन्दुओं के प्रति पूरी संवेदना थी।

१. जैसा अंगरेजी राज्य में मैकाले की शिक्षा-योजना में हुआ। मध्ययुग में निरन्तर इस्लामी प्रहार सहने पर भी जिस हिन्दू ने कभी अपने धर्म के प्रति आस्था नहीं त्यागी वही अंगरेजी शिक्षा के प्रभाव से आत्मनिन्दक हो गया, अपनी ही धर्म-पद्धति की आलोचना—ईसाई पादरी की शब्दावलि को अपनी स्वतन्त्र सम्मति कह कर करने लगा। जीवन का वह आशावादी दृष्टिकोण ही उसकी आँखों से ओझल हो गया।

को इतनी बार दोहराना कि सुननेवाले उसे सच मान लें। सो इन सूफी फकीरों ने हिन्दू साधुओं के रंग-ढंग और रहन-सहन के साथ ही उनके क्रियाकलाप तक को अपना बैठे। तब हिन्दू जनता इन्हें अपने साधुओं से अभिन्न समझने लगी। इनकी बातें सुनते समय उसे उनकी सचाई में सन्देह न रह गया। इस प्रकार उनके पूरा विश्वास कर लेने पर इन चतुर प्रचारकों ने कहानी की सुई से अपने धर्म की दवा उनकी शिराओं में पहुँचा दी। यों 'कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते'—वाली हितोपदेश की शैली में इस्लामी विचार हिन्दुओं के मन में प्रविष्ट कराये गये। इन्हें इससे प्रयोजन न था कि हिन्दू मुहम्मदी दीन स्वीकार कर लें, ये उन्हें विचारों से मुहम्मदी बनाना चाहते थे। इसके लिए इन्होंने आख्यान काव्य लिखे। उन सब में प्रेम की चर्चा की गयी। इनकी कथा प्रायः काल्पनिक होती अथवा लोक-प्रसिद्ध आख्यानों से ली जाती। कभी-कभी इतिहास की घटनाओं को भी अपने ढंग से घटा-बढ़ा कर प्रेमाख्यान का ढाँचा खड़ा कर दिया जाता। इनके नायकों और नायिकाओं का नाम और धर्म हिन्दू ही होता। इनका अवसान प्रायः सुखान्त होता। इस देश की परम्परा के अनुसार जीवन का अवसान दुःख नहीं, सुख में है। यही यहाँ के काव्यों और नाटकों में भी उपलब्ध है। अतः इन प्रेमाख्यानों के प्रेमी और प्रेमिका का विवाह होना अनिवार्य है। ऐतिहासिक आख्यानों में यह मिलन मरने के अनन्तर होता है। इनके प्रति उन दिनों के लोग कितना आकृष्ट होते होंगे इसका उदाहरण जौनपुर के जैन कवि बनारसीदास के अर्द्ध कथानक (रचनाकाल सम्भवतः १६४१ ई०) में मिलता है। उसमें उन्होंने अपने १६०३ ई० के आस-पास के जीवन के विषय में लिखा है कि मैं हाट-बाजार जाना छोड़ मधुमालती और मृगावती लिये घर में दिन-रात पढ़ा करता था।

इन प्रेम-कथाओं में कुछ स्पष्ट रूप से सूफी साधना के अनुसार आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति करने के लिए लिखी गयीं। कवि ने खुल कर कह दिया कि यह कहानी उसकी व्यञ्जना करती है। जैसे, जायसी ने 'पदमावत' के उपसंहार में कहा कि—

"मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा, कहा कि हम्ह किछु और न सूझा।"

इससे निराश हो उन्होंने उसका मर्म स्वयं ही खोलने की आवश्यकता समझी। कहा—

तन चितउर मन राजा कीन्ह, हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा, बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनिया-धंधा, बाँधा सोइ न एहि चित बंधा।

राघव दूत सोई सैतानू, माया अलाउदीं सुलतानू।
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु, बूझि लेहु जौ बूझै पारहु।

इस प्रकार अन्योक्ति के द्वारा लौकिक प्रेम-व्यापार में पारमार्थिक प्रेम के सङ्केत इन काव्यों में सर्वत्र नहीं मिलते, यत्र-तत्र अवश्य ऐसे स्थल आते हैं जिनसे आध्यात्मिक प्रेम-साधना का सूफी ढंग सूचित होता है। परन्तु पूरे काव्य में सर्वत्र ही दोहरा अर्थ नहीं मिलता और बहुत चेष्टा करने पर भी निकाला भी नहीं जा सकता। इस प्रकार के दोहरे अर्थ का अथ से इति तक समावेश सहज भी नहीं। यदि इसकी चेष्टा की जाय तो साधारण पाठक के लिए काव्य वैसी ही अबूझ पहेली भी बन सकता है जैसी केशव की अनेकार्थी कविताई। ऐसा होने पर उसका उद्देश्य ही पूरा न होता—न मनोरञ्जन होता और न उसके छल से सूफी मत वा इस्लाम का प्रचार ही।

कुछ प्रेमाख्यानों में कवि के धार्मिक वा आध्यात्मिक मत की बातें यत्र-तत्र कही गयीं अथवा पात्रों से कहलायी वा करायी गयीं, किन्तु काव्य में रूपक वा प्रतीक का अध्यवसान नहीं हुआ, केवल आख्यान कहा गया। ये प्रधान रूप से प्रेम की कहानी मात्र हैं। सूफी तथा इस्लाम धर्म की बातें होने से ही इन्हें भी सूफी प्रेममार्ग के अन्तर्गत लिया जाता है।

इन प्रेमाख्यानों की रचना पूर्वी अवधी में हुई है। इनमें दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग हुआ है। जैन और अन्य कवियों ने अपभ्रंश के पुराण-चरित एवं प्रेमाख्यान भी इन्हीं छन्दों में रचे थे। सम्भव है 'सत्यवती कथा' के कवि ईश्वरदास ने अवधी में इन्हीं छन्दों में लिखे काव्यों की परम्परा पायी होगी। कारण, वह भाषा और शैली की दृष्टि से किसी विकसित परम्परा के मध्य का ही प्रतीत होता है और यही बात इन सूफी प्रेमाख्यान काव्यों की प्रौढ़ रचना को देखने से भी उचित समझ पड़ती है।

भारतीय प्रबन्ध काव्यों में कथा का विभाजन सर्गों वा अध्यायों में होता है। प्रत्येक सर्ग में भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष प्राकृतिक एवं अन्य बातों का वर्णन भी प्रबन्ध काव्य में आवश्यक माना जाता है। सूफी प्रेमाख्यान इस शैली में नहीं बने। सम्भव है उन्हें फारसी की मसनवी शैली से प्रेरणा मिली हो जिसमें कथा एक ही छन्द में कही जाती है और उसको प्रसङ्गगत शीर्षकों के द्वारा विविध खण्डों में विभाजित कर दिया जाता है। सूफी कवि इस शैली से परिचित रहे हों तो आश्चर्य नहीं। उन दिनों तो उनके अतिरिक्त हिन्दू भी फारसी से अनभिज्ञ नहीं थे। परन्तु उन्होंने फारसी काव्य के अनुकरण पर अपने वर्णित सभी विषय नहीं रखे।

प्रेम के विकास का ढंग फारसी पद्धति का ही है। वहाँ प्रेम का उदय पहले नायक के मन में होता है और वही नायिका की प्राप्ति के लिए बाधाओं को झेलता हुआ आगे बढ़ता है। इन प्रेमाख्यानों में भी यही देखा जाता है। इनमें नायिका को खुदा का और नायक को साधक का प्रतीक मानने से सूफी साधना का समावेश पूर्ण रूप से हो जाता है। इन काव्यों के आरम्भ के पूर्व सृष्टि-रचना का इस्लामी क्रम, अल्लाह और रसूल की स्तुति तथा काव्य-रचना के समय देश के बादशाह के उल्लेख आवश्यक समझे जाते थे। हिन्दी के इन सभी प्रेमाख्यानों में यह रीति ग्रहण की गयी है। ऊपर कही और अपभ्रंश के आख्यान काव्यों में उपलब्ध दोहा-चौपाई की रचना-शैली की परम्परा उनके क्षेत्र में अवश्य प्रचलित रही होगी। जनता उससे परिचित थी। ये कवि साधारण जनता के कवि थे, उच्च वर्ग के लोगों के नहीं। अतएव इन्होंने उसके परिचित छन्दों तथा रचना-शैली के द्वारा उसको अपने आख्यान सुनाये।

जान पड़ता है राजा-रानी की कहानी इस देश में अति प्राचीन काल से चली आ रही है। उसमें विविध प्रकार से प्रायः एक ही बात कही जाती है। वह है राजकुमार और राजकुमारी का ब्याह। सौतिया डाह, दैत्य-दानव से सङ्घर्ष और दुःसाहसपूर्ण कार्य, अलौकिक चमत्कार सब उसके ताने-बाने हैं। इसी प्रकार की कुछ लोक-कथाओं का प्रचार सूफियों ने देखा होगा और देखा होगा उसके प्रति ग्रामीण तथा साधारण जनता का अटूट अनुराग। उन लोगों ने अपनी बात कहने के लिए ऐसी प्रेम-कथाओं को बहुत उपयुक्त समझा होगा। फिर कुछ ऐसे प्रेमी और प्रेमिकाओं के वृत्तान्त भी उन दिनों तक बहुत ही लोकप्रिय हो गये होंगे जो वास्तव में हुए थे। फिर उस समय की प्रवृत्ति के अनुसार ही नहीं, पुरातन काल से राजपुरुषों और राजकुमारियों के प्रेम की चर्चा काव्य के लिए उपादान प्रदान करती आ रही थी। इन्हीं कारणों से काल्पनिक, लोक-कथाश्रित अथवा इतिहास-सम्मत सभी प्रकार के आख्यानों के नायक और नायिका को किसी न किसी राजकुल से सम्बद्ध कर दिया गया। केवल इनके नाम के साथ राजकीय सम्बन्ध रहा अन्यथा ये सामान्य मानव के रूप में ही चित्रित किये गये। उनमें आश्चर्यजनक अमानवीय, अतिमानवी अथवा दैवी व्यापार भी समाविष्ट हुए और कुतूहलवर्द्धक प्रसङ्ग जोड़े गये। कहानी की रोचकता के लिए इन सब का प्रयोजन सदैव रहेगा। हाँ, रुचि बदलने के साथ-साथ इनके रूप में परिवर्तन होता जायगा। इन काव्यों में शृङ्गार रस के मादक और मर्मस्पर्शी वर्णन भी यथेष्ट मिलते हैं। इन्हीं के द्वारा तो मनुष्य

६०६ हिजरी (१५०१ ई०) में लिखा। परंतु इतिहास के साक्ष्य के अनुसार हुसेनशाह शर्की १४७६ ई० में बहलोल लोदी से परास्त होने के बाद फिर १४८६ तक उससे बराबर लड़ता रहा, किन्तु जीत न सका। अतएव उसके वैभव के सबसे उत्कृष्ट काल अर्थात् १४६३-७६ ई० के बीच ही 'मृगावती' के रचयिता का यथेष्ट सम्मान सम्भव हो सकता है। सल्तनत के लिए लाले पड़ने पर हुसेन ने ऐसा न किया होगा। फिर १४६४ में वह बिहार से भी हाथ धो बैठा। तब १५०१ में 'मृगावती' का कवि कैसे उसके आश्रय में रहकर उसकी रचना कर सका होगा। अतः यह तिथि सन्दिग्ध है। 'मृगावती' की जो प्रति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के चौखम्भा बनारस के पुस्तकालय में सन् १६०० के आस-पास थी वह अब मिलती ही नहीं और न उसकी दूसरी प्रति का ही पता लगा है। अतएव खोज की रिपोर्ट में उसके उद्धृत अंश और विवरण से ही सन्तोष करना पड़ता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह तथा कुछ और काल-निर्धारण संबंधी गुत्थियाँ हैं जो अभी तक सुलझायी नहीं जा सकीं। इनको सुलझाने के लिए भारतीय इतिहास का गंभीर अध्ययन अपेक्षित है। कुतबन हुसैनशाह का आश्रित कवि था और उसने १५०१ में मृगावती लिखी। हुसैनशाह शर्की १४७६ में जौनपुर खो कर बिहार भाग गया था। १४६३ में उससे पूरब में भागलपुर और मुंगेर छिन गये और १४६४ में उससे सिकन्दर लोदी ने बिहार भी छीन लिया। इसलिए मृगावती उसके संरक्षण में नहीं लिखी गई, किसी और हुसैनशाह के संरक्षण में लिखी गई जो १५०१ में बादशाह था। यह हुसैनशाह अलाउद्दीन हुसैनशाह है जो १४६३ में बंगाल की अराजकता का अन्त कर गौड़ की गद्दी पर बैठा। इसी हुसैनशाह बंगाली ने १४६३ में हुसैनशाह शर्की से भागलपुर मुंगेर जीते थे और १४६४ में हुसैनशाह शर्की सिकन्दर लोदी से हार कर इसी हुसैनशाह बंगाली की शरण में चला गया था। तब सिकन्दर ने हुसैन बंगाली पर चढ़ाई की और संधि होने पर पटने से ३७ मील पूरब बाढ़ नामक कस्बे पर बंगाल और दिल्ली सल्तनतों की सीमा मानी गई। १५०६ में हुसैनशाह बंगाली का उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र से युद्ध हुआ। इस प्रकार १५०१ में हुसैनशाह बंगाली बंगाल का सुलतान था। इस हुसैनशाह बंगाली ने देशी भाषाओं के साहित्य को बहुत प्रोत्साहन दिया। महाभारत और भागवत के बँगला अनुवाद कराये। बंगाली कवियों ने अपने गीतों में इसे 'श्री हसन जगत भूषण' कहा।[1] कुतबन ने इसी 'श्री हसन जगत

1. जयचन्द्र विद्यालंकार—इतिहास-प्रवेश पृ० ४२४-२५, ४४५-४७।

भूषण' के आश्रय में १५०१ में मृगावती लिखी।

'मृगावती' में चन्द्रनगर के राजा गनपतदेव के पुत्र और कंचननगर के राजा रूपमुरार की पुत्री मृगावती के प्रेम का वर्णन है। मृगावती उड़ने की विद्या जानती थी। विवाह के बाद एक दिन वह राजकुमार की अनुपस्थिति में उड़ गयी। वह उसके वियोग में योगी बन कर घर से चल पड़ा। समुद्र के बीच एक पहाड़ पर पहुँचा। वहाँ राक्षस के चंगुल से रुकमिन को छुड़ाया। रुकमिन के पिता ने उसका ब्याह योगी राजकुमार से कर दिया। वहाँ से वह मृगावती के नगर में पहुँचा। उस समय अपने पिता के मरने पर वह उसपर राज्य करती थी। बारह वर्ष तक वहीं रह गया। तब अपने पिता का सन्देश पा कर वह मृगावती और रुकमिन को लेता हुआ चन्द्रनगर लौटा। वहाँ बहुत दिनों तक दोनों रानियों के साथ आनन्द से रहा। एक दिन मृगया करने गया। हाथी से गिर पड़ा। इससे चल बसा। दोनों रानियाँ उसके साथ सती हो गयीं—

रुकमनी पुनि वैसेहि मर गई, कुलवंती सत सो सती भई।
बाहर वह भीतर वह होई, घर बाहर को रहे न जोई।
बिध कर चरित न जानै आनू, जो सिरजे सो जाहि निरानू।
गंग तीर लैके सर रचा, पूजी अवधि कहो जो बचा।
राजा संग जरी रानी चौरासी, ते सबके गये इंद्र कबिलासी।
मिरगावति औ रुकमिनी लैके जरी कुँवर के साथ।
भसम भई जर तिल येक में तिन्ह रहा न गात।

मृगावती के उपलब्ध उद्धरण में उसकी रचना-शैली और भाषा के सम्बन्ध में यह कहा गया है—

गाहा दोहा अरेल अरज (?) सोरठा चौपाई कै सरज।
सास्तर आषी बहुतै आये, और देसी चुनि चुनि कछु लाये।
पढ़त सुहावन दीजै कानू, इह के सुनत न भावै आनू।
दोए मास दस दिन महीं यह रे दौराए जाय।
एक एक बोल मोती जस मुखा इकठा मन चित लाय।

इन उद्धृत अंशों से यह तो स्पष्ट ही है कि मृगावती दोहे-चौपाई में अवधी की रचना है। इसमें पाँच अर्द्धालियों के बाद दोहा आता है। उक्त रिपोर्ट के आधार पर दिये गये कथानक से इसमें सूफी प्रेमाख्यान के तत्वों के विद्यमान होने का भी ज्ञान नहीं होता। सम्भव है यह शुद्ध प्रेमाख्यान हो।

मलिक मुहम्मद जायसी—अपने काव्यों में जायसी ने यत्र-तत्र

अपने जीवन के सम्बन्ध में कुछ बातें कही हैं। तदनुसार वे उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले में जायस[1] के निवासी थे। सम्भव है वे कहीं अन्यत्र से आ कर वहाँ बसे हों।[2] अथवा वे जायस से कहीं बाहर चले गये हों और पीछे लौट कर वहीं आ गये हों।[3] उनका जन्म १४९२ ई० (९०० हिजरी) में हुआ और कदाचित् तीस वर्ष की वय में कविता करने लगे।[4] जायसी के चार घनिष्ठ मित्र थे—ज्ञानी विद्वान् यूसुफ मलिक, बुद्धिमान् खड्ग-निपुण सालार (सेनापति) कादिम, सिंहवत् शक्तिशाली योद्धा सलोने मियाँ और महान् सिद्ध बड़े मियाँ। इनमें किसी-किसी का वंश अब भी जायस में विद्यमान है।[5] वे बायीं आँख के काने और बायें कान के बहरे थे।[6] वे अत्यन्त विनम्र थे, परन्तु उन्हें अपने गुणों और कवित्व का भी पूर्णतया बोध था।[7] कहते हैं उन्हें सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उनके चमत्कारों के सम्बन्ध की बहुत सी कहानियाँ सुनी जाती हैं। हो सकता है कि उनके साधु-जीवन का प्रभाव बढ़ाने के लिए ये चल पड़ी हों। उनकी कविता का प्रचार उनके जीवन-काल में ही हो गया था। कहते हैं नागमती के बारहमासा का यह दोहा अमेठी (सुलतानपुर) के तत्कालीन राजा ने किसी से सुना—

> कँवल जो बिगसा मानसर बिनु जल रहा सुखाइ।
> सूखि बेलि पुनि पलुहै जौ पिउ सींचै आइ॥

इसपर वह मुग्ध हो गया। पीछे वह उनका भक्त हो गया। उसी के आग्रह से जायसी अमेठी चले आये। अमेठी में ही उनका शरीर छूटा और अब तक कब्र में चिर विश्राम कर रहे हैं। उनका निधन १५४२ ई० (४ रज्जब ९४९ ई०) में हुआ।

---

१. जायस नगर मोर अस्थानू, नगर क नावँ आदि उदयानू।
(रामचन्द्र शुक्ल—जायसी ग्रंथावली, २००८ वि०,—आखिरी कलाम पृ० ३४२)।

२. जायस नगर धरम अस्थानू, तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू।
वही—पदमावत पृ० ६।

३. वही—मलिक मुहम्मद जायसी, पृ० ६।

४. भा औतार मोर नौ सदी, तीस बरस ऊपर कवि बदी।
(वही—आखिरी कलाम, पृ० ३४०)

५. वही पृ० ६।

६. मुहम्मद बाईं दिसि तजा एक सरवन एक कान।

७. हौं पंडितन केर पछि लगा, किछु कहि चला तबल देइ डगा।
और
एक नैन कवि मुहम्मद गुनी सोइ विमोहा जेहि कवि सुनी।
(वही—पदमावत)

उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा का वर्णन 'पदमावत' 'अखरावट' और आखिरी कलाम[1] में किया है। उसके अनुसार सैयद अशरफ जहाँगीर उनके पीर थे।[2] उनके प्रभाव का उल्लेख करते हुए जायसी ने कहा है—

लेसा हियें प्रेम कर दीया, उठी जोति भा निरमल हीया।
मारग हुत अँधियार जो सूझा, भा अँजोर सब जाना बूझा।

इससे प्रकट होता है कि जायसी को धर्म का बोध हो गया था और वे सूफी साधना में ज्ञान का प्रकाश पा गये थे। 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' में वे मुहम्मद साहब और उनके प्रवर्तित इस्लाम के प्रति पूर्ण श्रद्धालु विश्वासी दिखलायी पड़ते हैं। उन्होंने 'अखरावट' में हठयोग की क्रियाओं द्वारा आत्म-स्वरूप के साक्षात्कार करने की विधि बतलायी है—

सब बैठहु वज्रासन मारी, गहि सुखमना पिंगला नारी।[3]
प्रेम तंतु तस लाग रहु करहु ध्यान चित बाँधि,
पारस जैस अहेर कहँ लाग रहै सर साधि।

इससे स्पष्ट है कि वे योगियों की साधन-प्रणाली की उपयोगिता स्वीकार करते थे। उन्होंने कबीर से भी कुछ प्रभाव ग्रहण किया होगा। उनका स्मरण बड़े आदर से किया है। इसी प्रकार अपने काव्यों में उन्होंने रसायन सिद्ध करने वालों एवं हिन्दुओं के बहुत से शब्द ग्रहण कर कहीं उनके प्रति आस्था प्रकट की है और कहीं उनका उपयोग अपने मनमाने ढंग से किया है। जैसे, उन्होंने 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' में 'नारद' का प्रयोग 'शैतान'[4] के लिए और 'आखिरी कलाम' में 'बैकुंठ' का प्रयोग 'बिहिश्त'[5] के लिए किया है। अज्ञानवश उन्होंने 'कविलास' (कैलाश) को भी स्वर्ग के लिए प्रयुक्त किया है। यथा,

पहिले दरस देखावहु पुनि पठवहु कबिलास।

इन शब्दों का प्रयोग कवि ने इसलिए भी किया होगा कि इनके सहारे अपढ़

---

१. वही—क्रमशः पृ० ७-८, ३२१-२२ तथा ३४२।

२. सैयद असरफ पीर पियारा, जेहि मोहिं पंथ दीन उजियारा। जहाँगीर वे चिश्ती निह्कलंक जस चाँद (वही; पदमवत, पृ० ७। आखिरी कलाम पृ० ३४२)

३. वही—पृ० ३२८।

४. ना नारद तस पाहरु काया, चारा मेलि फाँद जग माया (वही, पृ० ३१०) और, छूत एक मारत गुनि गुना, कपट रूप नारद कर चुना। (वही, पृ० ३४२)।

५. जब रसूल कयामत के अन्त में आदम के पास गये तब उसने कहा—होइ बैकुंठ जो आयसु ठेलेउँ, दूत के कहे मुख गेहूँ मेलेउँ। (वही, पृ० ३५१)।

और अनभिज्ञ हिन्दू उक्त काव्यों में अपने ही धर्म का निरूपण मान कर उनकी बतलायी बातें ग्रहण कर लें। इस प्रकार ऐसे प्रयोगों को उद्देश्य-विशेष की पूर्ति के लिए अपनाया गया होगा। कवि ने हिन्दुओं की लोकप्रिय कहानी को भी इसी निमित्त अपनाया। इन सब में कवि की 'सारग्राहिता' की झलक देखना उचित न होगा।[१] वे पक्के मुसलमान थे। इसमें सन्देह नहीं। 'अखरावट' के प्रारंभ में वे घोषित करते हैं—

गगन हुता नहिं महि हुती, हुते चंद नहिं सूर।
ऐसेइ अंधकूप महँ रचा मुहम्मद नूर॥

और

साईं केरा नाँव, हिया पूर काया भरी।
मुहमद रहा न ठाँव, दूसर कोइ न समाइ अब॥[२]

जायसी की रचनाएँ हैं[३]—अखरावट, आखिरी कलाम और पदमावत।

अखरावट—कवि ने इसे ज्ञान का ककहरा कहा है। इसमें पैगम्बर मुहम्मद के प्रवर्तित धर्म के मान्य ग्रन्थों के अनुसार सृष्टि-रहस्य का निरूपण किया गया है।

आखिरी कलाम—इस्लाम में कयामत के बाद मुहम्मद साहब के द्वारा पूर्ववर्ती पैगम्बरों, आदम तथा अपने परिवार के लोगों के पुनर्जीवन की जो धारणाएँ हैं उन्हीं को जायसी ने आखिरी कलाम में छन्दोबद्ध किया है। इन दोनों काव्यों से यह पूर्णरूप से खुल जाता है कि जायसी पक्के मुसलमान थे। उन्हें अपने दीन और रसूल पर पूरा भरोसा था। इनमें कहीं-कहीं हिन्दुओं के धर्म ग्रन्थों और पुराणों में प्रयुक्त शब्दों का प्रयोग इस्लामी शब्दों के पर्याय रूप में हुआ है।

इन सभी काव्यों में दोहा-सोरठा-चौपाई का प्रयोग हुआ है। इनकी भाषा अवधी है।

पदमावत—इन सब की अपेक्षा पदमावत आकार में बृहत् है। इसमें कवि ने इस्लामी और सूफी विश्वास और साधना की बातें आख्यायिका

---

१. जैसा रामचन्द्र शुक्ल ने उपर्युक्त जायसी ग्रंथावली की प्रस्तावना के पृ० १० पर किया है।

२. वही, पृ० ३०३।

३. डा० माताप्रसाद गुप्त को जायसी की एक और रचना मिली है, जिसमें नाम नहीं है। उसमें २२ महरी गान हैं, इसलिए डा० गुप्त ने उसका नाम 'महरी बाईसी' रख दिया है।

के बीच-बीच कही हैं। इसमें उनकी धार्मिक आस्था और साधन-प्रणाली का भी प्रतीकात्मक अध्यवसान है।

इस प्रेमाख्यान में राजस्थान की प्रसिद्ध वीर नारी पद्मिनी का आख्यान है। वह सूफी प्रेम की व्यञ्जना का अवलम्ब बनाया गया है। उसमें लोक कथा पौराणिक कहानी और इतिहास-उल्लिखित घटना का विचित्र मेल है। साथ ही नाथ सम्प्रदाय के योगमार्ग और उसके मध्य प्रचलित साधकों की प्रचलित बातें भी समाविष्ट हैं। इतना ही नहीं। जायसी सहृदय-कवि थे यह भी पदमावत से प्रमाणित होता है। इसका काव्यपक्ष बहुत ही उत्कृष्ट है। कथा-सार नीचे दिया जाता है—

सिंहल द्वीप की राजकुमारी पदमावती के पास हीरामन सुआ था। वह मनुष्य की बोली में बातचीत कर सकता था। युवती होने पर राजकुमारी अपने अनुरूप पति पाने के लिए चिन्तित हुई। हीरामन उसे ढूँढने निकला। एक ब्राह्मण के द्वारा वह चित्तौड़ के राजा रतनसेन के यहाँ पहुँचा। एक दिन अवसर पा कर उसने राजा से पदमावती के रूप-गुण बतला दिये। उन्हें सुनते ही राजा के मन में प्रेम उदय हुआ। वह राजपाट और अपनी रानी नागमती को छोड़ जोगी बन कर सिंहल के लिए चल पड़ा। हीरामन उसे राह दिखाने चला। अनेक कठिनाइयाँ पार करते हुए अपने सोलह सहस्र योगी अनुयायी लिये सात समुद्र पार किये, सिंहल पहुँचा। हीरामन ने पदमावती को उसका परिचय दिया। वह भी अनुरक्त हुई। वसन्त पञ्चमी को शिव पूजने के बहाने आयी। मन्दिर में ठहरा योगी रतनसेन उसे देखते ही मूर्च्छित हो गया। वह उसकी छाती पर चन्दन से यह लिख कर चली गयी कि जोगी जब फल पाने की घड़ी आयी तब तुम सो गये। तुम शूर हो तो गढ़ में आओ। चेत आने पर राजा ने पदमावती का लेख पढ़ा। महादेव से प्राप्त सिद्धि गुटिका के द्वारा वह गढ़ के भीतर घुसा। बहुत संघर्ष के बाद उसे पदमावती मिली। वह उसके साथ सुख से दिन बिताने लगा। उधर नागमती विरह से तड़प रही थी। उसका सन्देश ले कर एक चिड़िया सिंहल पहुँची। उससे रतनसेन ने नागमती की दशा सुनी। वह पदमावती को ले कर चित्तौड़ लौटा। जब वह समुद्र में आधी राह आ चुका तब भयङ्कर आँधी आयी। बोहित बह चले उल्टी धारा की ओर। इसी समय विभीषण का एक केवट उधर मछलियाँ पकड़ता आ रहा था। बड़ा भयङ्कर था उसका विकराल रूप। रतनसेन के साथ पदमावती को देख उसने सोचा कि इसे ले चल कर विभीषण को दूँगा। उसने रतनसेन को विश्वास दिला कर ठीक जगह पहुँचाने को कहा। पर ले गया महिरावण की पुरी।

अकस्मात् एक राज-पक्षी उस राक्षस पर झपटा। उसे तो वह उठा ले गया, परन्तु वोहित नष्ट-भ्रष्ट हो गया। पदमावती बहते-बहते समुद्र की कन्या लक्ष्मी के पास जा लगी। रतनसेन बह कर निर्जन टीले में पहुँचा। पदमावती के न रहने पर आत्महत्या करने को उद्यत हुआ। इतने में लक्ष्मी से प्रेरित समुद्र वहाँ पहुँचा। उसने उसे पदमावती से मिला दिया। दोनों को विदा करते समय उसने अमृत, हंस, कोई पक्षी, सिंह-शावक और पारस दिये। चित्तौड़ पहुँच कर रतनसेन अपनी दोनों रानियों सहित आनन्द से दिन बिताने लगा।

एक दिन बात बात में राज-पण्डित राघवचेतन रुष्ट हो गया। वह चित्तौड़ से दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन के पास पहुँचा। उसने सुलतान से पदमावती की सुन्दरता बखान की। सुलतान ने रतनसेन के पास दूत सरजा के हाथ पत्र भेजा। उसमें लिखा कि पदमावती को मेरे पास भेज दो। रतनसेन ने दूत को कोरा लौटा दिया। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी। आठ वर्ष तक गढ़ को घेर रखा। इसी समय दिल्ली पर हरेव-आक्रमण की सूचना मिली। उसने सन्धि करना उचित समझा। राजा से कहला भेजा कि पदमावती न चाहिये, समुद्र से पाये पाँचों रत्न दे दो बस। राजा ने स्वीकार कर लिया। सुलतान को गढ़ के भीतर निमन्त्रित किया। भोजन के बाद अलाउद्दीन से शतरंज खेलने बैठा। सुलतान ने संयोग से दर्पण में पदमावती का प्रतिबिम्ब देख लिया। तब उसने मन ही मन पदमावती लेने की ठान ली। राजा उसे विदा करने गढ़ के बाहर तक आया। उसे धोखे में ही सुलतान ने बन्दी कर लिया। कहा कि पदमावती दे दो तो छूट सकोगे। राजा ने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया। तब सुलतान उसे दिल्ली ले गया। वहाँ उसे बन्दी घर में डाल दिया।

इधर रतनसेन के पुराने शत्रु कुम्भलनेर के राव देवपाल को अवसर मिला। उसने पदमावती के पास बूढ़ी कुमुदिनी को फुसलाने के लिए भेजा। वह उसके मायके की धाय बन कर उससे मिली। उसने समझाते हुए देवपाल के पास चलने को कहा। रानी ने दंड दे कर उसे बाहर किया। अलाउद्दीन की भेजी एक जोगिन भी उसे बहकाने आयी। उसने रतनसेन के कष्टों को बढ़ा चढ़ा कर सुनाया। रानी जोगिनी के साथ दिल्ली जाने लगी। सखियों के समझाने पर रुक गयी। फिर गोरा और बादल के पास पहुँची। उन्होंने राजा को छुड़ा लाने का आश्वासन दिया। उन्होंने सुलतान के छल का बदला छल से लेने का निश्चय किया। सोलह सौ बन्द पालकियों के भीतर सोलह सौ राजपूत बैठे—हथियारों से लैस। सब से बढ़िया पालकी में अपने राछ ले कर लोहार बैठा। कहा गया कि उसमें पदमावती बैठी है। वह अपनी प्रतिष्ठा के

अनुरूप सोलह सौ सखियों को ले कर राजा को छुड़ाने के लिए अलाउद्दीन के महल में ओल हो कर जा रही है। गोरा-बादल तीस हजार घोड़ियाँ ले कर साथ हो लिये। दिल्ली पहुँचने पर गोरा पहले उस बन्दीगृह में गया जहाँ राजा था। उसने उसके अधिकारी को दस लाख दिये। उसे अलाउद्दीन से कहने को सिखाया गया कि सुलतान के महल में आने के पहले पद्मावती राजा को चित्तौड़ के भाण्डार की तालियाँ सौंप आना चाहती है। अँकोर (उत्कोच-घूँस) पाने के कारण रखवालों ने पालकी को देखा तक नहीं। लोहार ने राजा के बन्धन काट दिये। तब रतनसेन घोड़े पर चढ़ा। पालकियों के भीतर के राजपूत भी शस्त्र ले कर निकल आये। गोरा बादल राजा को ले कर चित्तौड़ चले। समाचार पा कर सुलतानी सेना ने उन्हें रोकना चाहा। यह देख गोरा तो उससे भिड़ा और बादल राजा के साथ आगे बढ़ा। अन्त में इधर गोरा खेत रहा और उधर राजा चित्तौड़ पहुँच गया।

वहाँ पहुँचने पर उसने पदमावती से देवपाल की दुष्टता सुनी। कहा कि सुलतान की फौज आने के पहले ही मैं देवपाल को बाँधे लिये आता हूँ। दिन निकलते ही कुम्भलनेर चला। देवपाल और रतनसेन एक दूसरे के प्रहार से प्रायः एक साथ धराशायी हुए। उसकी लोथ चित्तौड़ पहुँची। पदमावती और नागमती ने सहगमन किया। विजेता अलाउद्दीन ने यह बात सुनी। उसने पृथ्वी से धूल उठा कर उड़ाते हुए कहा—'पिरिथमी झूठी।' फिर उसने गढ पर धावा किया। उसकी रक्षा करते हुए बादल जूझ गया। सब स्त्रियों ने जौहर किया। पुरुषों ने संग्राम किया। गढ टूट गया। और 'चितउर भा इसलाम।'[1]

कथानक के आधार—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उक्त आख्यान में आरंभ से रत्नसेन के चित्तौड़ लौटने के पूर्व तक के पूर्वार्ध को बिल्कुल कल्पित

---

१. रामचन्द्र शुक्ल ने उक्त पदमावत के पृ० ३०० में इसका अर्थ किया है—"चित्तौर-गढ़ में भी मुसलमानों की अमलदारी हो गई।" असली बात तो यही है, किन्तु जायसी ने अमलदारी होने की बात कहाँ कही है? उसने तो कथा की समाप्ति इसी वाक्य से की है। क्या इसके द्वारा उसने सुलतान की विजय के साथ ही इस्लाम की सर्वांग विजय की घोषणा नहीं की? साधारण पाठक भी इसका यही अर्थ करेगा। वह शुक्लजी जैसे सहृदय समीक्षक और इतिहासविद् का बताया यह अर्थ कहाँ से ढूँढ़ेगा? शुक्लजी ने तो पहले से ही यह स्थापना कर रखी है कि जायसी ने हिन्दुओं की इस लोकप्रिय कहानी को पूरी सहानुभूति के साथ लिखा है। इसी मान्यता की पुष्टि के लिए उन्होंने उक्त अर्थ किया है क्या?

माना है और शेष उत्तरार्द्ध को ऐतिहासिक आधार पर निर्भर, किन्तु कुछ काव्योचित परिवर्तन के साथ।[1] उन्होंने यह भी अनुमान किया है कि अवध में अब तक प्रचलित 'पद्मिनी रानी और हीरामन सूए' की कहानी के ही आधार पर पदमावत का पूर्वार्द्ध रचा गया।[2] इस लोककथा के आरम्भ का पता लगाना सम्भव नहीं। कौन जाने यह जायसी के पदमावत के बाद का ही हो। हाँ, यह सच है कि पद्मिनी की कहानी बहुत प्राचीन समय से लोकप्रिय रही है। परन्तु जिस रूप में जायसी ने उसे लिया है अब तक उसका अस्तित्व नहीं विदित हो सका। 'पृथ्वीराज रासो' में पृथ्वीराज की कई रानियों के विवाहों का वर्णन है। उनमें 'पदमावती समय' की पदमावती उत्तर में कहीं स्थित समुद्रशिखर गढ़ के राजा विजयपाल की पुत्री है। जादू कुल की उस राजकुमारी को दिल्ली का एक सूआ पृथ्वीराज के रूप और पराक्रम का हाल सुनाता है। उससे वह पृथ्वीराज के प्रति अनुरक्त हो जाती है। वही सूआ पदमावती का प्रेम सन्देश पृथ्वीराज के पास पहुँचाता है। वह समुद्रशिखर गढ़ जीत कर पदमावती को हर लाता है। परंतु यह वृत्तान्त 'पदमावत' के आख्यान से पुराना है कि नहीं, इसमें सन्देह है। कारण, पृथ्वीराज रासो के अनेक अंश सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों में प्रक्षिप्त हुए हैं। संभव है यह भी जायसी की प्रेरणा से 'पदमावती समय' के रूप में प्रयुक्त हुआ हो, परन्तु इसमें इतना तो सङ्केत है ही कि यहाँ भी पहले प्रेमिका के मन में ही प्रेम-सञ्चार होता है और प्रयत्न भी उसी की ओर से प्रारम्भ होता है। शुक यहाँ भी प्रेम-स्थापना का दूत बनता है।

कल्कि पुराण में कल्कि और पद्मिनी के विवाह की कथा मिलती है। थोड़े में वह यों है—"सिंहल के राजा बृहद्रथ की कन्या थी पद्मिनी। शिव ने उसे वरदान दिया कि नारायण ही तेरे पति होंगे और कोई दूसरा पुरुष तुझे पत्नी भाव से देखेगा तो तत्काल नारी हो जायगा। उसके स्वयंवर में आये सभी राजा पद्मिनी को देखते ही स्त्री हो उसकी परिचर्या कर रहे हैं। अब वह इसी सोच में घुल रही है कि कौन मुझे वरेगा।"

सिंहल से आये शिवदत्त शुक ने एक दिन सन्ध्या समय कल्कि से यह कहा। सुनते ही कल्कि बोले—"मैं ही विष्णु का अवतार हूँ। तुम जा कर राजकुमारी को ढारस बँधाओ।" शिवदत्त ने सिंहल लौट कर राजकुमारी को कल्कि का सन्देश सुनाया। पद्मिनी बहुत प्रसन्न हुई। उसने शुक की चोंच को पद्मराग और कण्ठ को सूर्यकान्त मणि से विभूषित करने एवं उसके पंखों तथा

---

१. वही भूमिका, पृ० २२-२५।
२. वही, पृ० २६।

शरीर को कुंकुम से अलंकृत करने को कहा और उससे पुनः लौट कर कल्कि को लिवा लाने का अनुरोध किया।

शिवदत्त ने वैसा ही किया। कल्कि घोड़े पर चढ़ कर सिंघल पहुँचे। किसी सरोवर के तट पर उतरे। शुक तो साथ में था ही। उसने पद्मिनी को इसकी सूचना दी। वह अपनी चुनी हुई सखियों को ले कर उसी सरोवर में नहाने आयी। उस समय कल्कि कदम्ब के नीचे वेदिका पर सो रहे थे। बाद में पद्मिनी और कल्कि की रसमयी बातचीत हुई। उसने अपने पिता से सब बतला दिया। बृहद्रथ ने उसे कल्कि को ब्याह दिया। कुछ दिन ससुराल में रह कर कल्कि पद्मिनी को ले कर सम्भलपुर लौट आये। फिर उन्होंने कालान्तर में जैनों बौद्धों और म्लेच्छों को परास्त किया। रमा को प्राप्त किया। दिग्विजय से लौट कर कल्कि ने सम्भल में यज्ञ किया। बैकुण्ठवास होने पर पद्मिनी और रमा दोनों उनके साथ सती हो गयीं।

कल्कि पुराण की यह कहानी किस समय की है, और इसका अस्तित्व कहीं अन्यत्र है कि नहीं, यह नहीं मालूम। जायसी ने इसकी जानकारी का संकेत कहीं नहीं किया। फिर भी सम्भव है यह उन्हें विदित रही हो। इस पौराणिक कथा का कार्यक्षेत्र सिंहल है और इसमें भी प्रेमी और प्रेमिका को मिलाता है शुक ही। यहाँ उसका नाम भी है—शिवदत्त। आज भी 'सत्त शिवदत्त गुरुदत्त दाता, राम के चरण में चित्त लागा', कहते हुए लोग सुग्गा पढ़ाया करते हैं। सो शुक का यह शिवदत्त नाम आज दिन कुछ वैसा ही लोकव्याप्त है जैसा हीरामन। यहाँ भी कार्य नायिका की ओर से प्रारम्भ होता है। पद्मिनी को कल्कि सोते मिले थे। सम्भव है शिव मन्दिर में पदमावती को देखते ही रतनसेन के मूर्च्छित होने की कल्पना यहीं से फूटी हो। पदमावत काव्य के सदृश यहाँ भी नायक की दो पत्नियाँ हैं। वे कल्कि के मरने पर वैसे ही सती हो जाती हैं जैसे नागमती और पदमावती रतनसेन के निधन पर हुई थीं।

इन दोनों आख्यानों की नायिका पदमावती तथा पद्मिनी और जायसी के काव्य की नायिका पदमावती में क्रमशः एकरूपता और पूर्ण सादृश्य भी है। परन्तु अभी तक इनमें हिन्दू पौराणिक प्रभाव विद्यमान है। सिंहल नाथ-पंथियों का सिद्धपीठ नहीं बना और न प्रेमी उनका अनुयायी योगी ही, जैसा पदमावत में है। वहाँ रतनसेन को जायसी ने स्पष्ट शब्दों में 'गोरख का चेला'[1] कह

---

१. परा माति गोरख कर चेला, जिउ तन छाँड़ि सरग कहँ खेला।
वही, पदमावत पृ० ८४।

दिया है, सिद्धि प्राप्ति के लिए गोरख से भेंट होना आवश्यक माना है[1] तथा पदमावती के न पाने पर जल मरने के लिए उद्यत होने पर सिंहल में ही महादेव के मुँह से कहला भी दिया है कि "अब तैं सिद्ध भएसि सिधि पाई"[2] और सिद्धि गुटिका प्रदान कराने के बाद[3] पूरा गोरखपन्थी योगी प्रकट किया है।

अद्दहमाण के 'सनेह रासअ' में लिखा है—

कहव ठाइ सुदय वच्छु कत्थ व नल चरिउ
कत्थ व विविह विणोइहि भारहु उच्चरिउ

तात्पर्य यह कि उन दिनों किसी स्थान में सुदयवच्छ का आख्यान, किसी में नल चरित और किसी स्थल में विविध विनोद के साथ भारत सुना जाता था। इससे प्रकट है कि ग्यारहवीं अथवा अधिक से अधिक तेरहवीं शताब्दी में सदयवत्स और सावलिंग का प्रेमाख्यान मुलतान के आस पास चाव से पढ़ा सुना जाता होगा। कारण, यही तो उक्त सन्देश रासक की रचना के समय समझे जाते हैं। तत्कालीन यह कहानी क्या थी सो मालूम नहीं, किन्तु राजस्थान में प्रचलित कथानक में आता है कि विजयपुर का राजकुमार सदयवच्छ वहाँ के मन्त्री की पुत्री सावलिंगा से मिलने के लिए देवी के मन्दिर में गया। उस दिन अधिक नशा पी जाने से वह सो गया। सावलिंगा अपने कथनानुसार उससे मिलने आई। पर राजकुमार को जगा न सकी। लौटते समय वह राजकुमार के हाथ में कुछ चिह्न बना गयी। फिर दुबारा लौट कर उसने उसी में एक दोहा भी लिख दिया।

सम्भव है मूर्च्छित रतनसेन की छाती पर पदमावती का उपर्युक्त लेख इसी से जायसी को सूझा हो।

शुक मनुष्य की बोली सीखने में प्रवीण होता है, किन्तु उसमें मानवोचित सहज ज्ञान काव्य के अन्तर्गत कदाचित् कादम्बरी के शुक में ही सर्वप्रथम देखा जाता है। यही गुण उक्त कल्किपुराण तथा पृथ्वीराज रासो के शुकद्वय प्रदर्शित करते हैं। समुद्र के बीच स्थित सिंहल की राजकन्या भी कथानकों की बहुत पुरानी नायिका है। श्री हर्षदेव की रत्नावली तथा कौतूहल की लीलावती की नायिका वहीं की है। ऐसा समझा जाता था कि सिंहल में

---

१. जोगी सिद्ध होइ तब जब गोरख सौं भेट। वही, पृ० ६२।
२. वही, पृ० ६२।
३. जब संकर सिधि दीन्ह गुटेका। वही, पृ० ६४।

पद्मिनी जाति की ही नारियाँ होती थीं, जिनकी देह से पद्म की सी सुगन्ध निकलती थी। अतएव वहाँ की राजकुमारी का पद्मिनी वा उसका समानार्थी नाम ठीक ही चल पड़ा। यह तो हुई केवल कवि-प्रसिद्धि। अब सिंहल के सिद्धपीठ होने की बात लीजिये। बौद्धों के महायान सम्प्रदाय में जब योग का प्रवेश हुआ तब सिंहल में ही बौद्ध धर्म के आचार्य रह गये थे। इससे योगमार्गी बौद्ध उसे सिद्धपीठ समझते थे। यही लोग गोरखनाथ के प्रभाव से शैव योगी हुए। अतएव पुरानी धारणा के अनुसार अब भी उसे सिद्धि-स्थल मानते रहे। उनका विश्वास है कि योगी को सिद्धि प्राप्त करने के लिए सिंहल ही जाना पड़ता है। धन रत्न आदि के द्वारा नाना प्रकार के प्रलोभनों के बाद पद्मिनी स्त्रियाँ योगी को पथ-भ्रष्ट करने को भेजी जाती हैं। उनसे बचने के बाद शिव और ढंगों से भी योगी को परखते हैं। खरा उतरने पर उसे सिद्धि प्रदान करते हैं। जायसी ने पद्मावती को सूफी भावना के अनुसार ईश्वर का प्रतीक मान कर रतनसेन को साधक बतलाया है। परन्तु साधना उन्होंने अपनायी नाथपन्थ की। जैसा उन्होंने अखरावट में कहा भी है कि—

सब बैठहु बज्रासन मारी, गहि सुखमना पिंगला नारी

और

................करहु ध्यान चित बाँधि।

अस्तु, पदमावत में रतनसेन के घर से योगी बन कर निकलने से ले कर पदमावती को प्राप्त करने की सब बातों का मूल उक्त नाथ-पन्थ के परम्परागत विश्वासों और साधनाओं में है। इस प्रकार समुद्र की दुर्घटनाओं और अन्त में रतनसेन और पदमावती के मिलन का सूत्र लोक-कथाओं में आज भी मिल सकता है, किन्तु पुराने साहित्य में उनकी खोज अभी शेष है।

पदमावत के उत्तरार्द्ध में जो घटनाएँ वर्णित हैं उनके व्योरे सम्भव है जायसी के मस्तिष्क की उपज हों किन्तु मूल में तो इतिहास की साक्षी थोड़ी सी बातें ही पाती हैं। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि अलाउद्दीन ने १२९७ में गुजरात-विजय के लिए सेना भेजी। वह मालवे से मेवाड़ हो कर जाना चाहती थी, परन्तु वहाँ के राणा समरसिंह ने उसे मार भगाया। तब उसने वहाँ से दक्खिन हो कर जाने के बाद गुजरात जीता। अतएव सन् १३०१ में हम्मीर से रणथम्भोर को लेने के बाद यह आवश्यक हो गया कि दिल्ली और गुजरात के बीच बच रहे मेवाड़ को भी अपने अधीन किया जाय। केवल इसी उद्देश्य से सन् १३०२ में "अलाउद्दीन ने चित्तौड़ को घेर लिया। ६ महीने घिरे रहने के बाद रसद और पानी चुक गये तो गढ़ अलाउद्दीन के हाथ आया। रत्नसिंह

मारा गया और उसकी रानी पद्मिनी ने बहुत सी स्त्रियों के साथ जौहर कर लिया।"[१]

'पदमावत' की बहुत ही इतिहास-सम्मत समझी जाने वाली बातों का तथ्य से कोई सम्बन्ध नहीं है।

ओझाजी का निष्कर्ष है कि

"इतिहास के अभाव में लोगों ने 'पद्मावत' को ऐतिहासिक पुस्तक मान लिया, परन्तु वास्तव में वह आजकल के ऐतिहासिक उपन्यासों की सी कविता-बद्ध कथा है, जिसका कलेवर इन ऐतिहासिक बातों पर रचा गया है कि रतनसेन (रत्नसिंह) चित्तौड़ का राजा, पद्मिनी या पदमावती उसकी राणी और अलाउद्दीन दिल्ली का सुल्तान था, जिसने रतनसेन (रत्नसिंह) से लड़ कर चित्तौड़ का किला छीना था। बहुधा अन्य सब बातें कथा को रोचक बनाने के लिये कल्पित खड़ी की गई हैं; क्योंकि रत्नसिंह एक बरस भी राज्य करने नहीं पाया, ऐसी दशा में योगी बन कर उसका सिंहलद्वीप (लंका) तक जाना और वहाँ की राजकुमारी को ब्याह लाना कैसे संभव हो सकता है? उसके समय सिंहलद्वीप का राजा गंधर्वसेन नहीं, किन्तु राजा कीर्तिनिश्शंक देव पराक्रमबाहु (चौथा) या भुवनेकबाहु (तीसरा) होना चाहिये। सिंहलद्वीप में गंधर्वसेन नाम का कोई राजा ही नहीं हुआ। उस समय तक कुंभलनेर (कुंभलगढ़) आबाद भी नहीं हुआ था, तो देवपाल वहाँ का राजा कैसे माना जाय? अलाउद्दीन ८ बरस तक चित्तौड़ के लिये लड़ने के बाद निराश हो कर दिल्ली को नहीं लौटा, किन्तु अनुमान छः महीने लड़ कर उसने चित्तौड़ ले लिया था, वह एक ही बार चित्तौड़ पर चढ़ा था, इसलिये दूसरी बार आने की कथा कल्पित ही है।"[२]

कर्नल टाड ने अपनी पुस्तक में भाटों के मुँह से सुन कर जो बातें लिखी हैं उनमें बहुतेरी निराधार हैं। उनके आधार पर पदमावत का मुख्य कथानक वास्तविक इतिहास से मेल नहीं खाता।

"कर्नल टाड ने यह कथा विशेष कर मेवाड़ के भाटों के आधार पर लिखी है और भाटों ने उसको 'पद्मावत' से लिया है। भाटों की पुस्तकों में समरसिंह के पीछे रत्नसिंह का नाम न होने से टाड ने पद्मिनी का सम्बन्ध भीमसिंह

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार—इतिहास-प्रवेश; १९५६ संस्करण पृ० ३८७।

२. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा—राजपूताना का इतिहास, दूसरा खंड, पृ० ४९१-९२।

से मिलाया और उसे लखमसी (लक्ष्मणसिंह) के समय की घटना मान ली। ऐसे ही भाटों के कथनानुसार टाड ने लखमसी का बालक और मेवाड़ का राजा होना भी लिख दिया, परन्तु लखमसी न तो मेवाड़ का कभी राजा हुआ और न बालक था, किन्तु सीसोदे का सामन्त (सरदार) था और उस समय वृद्धावस्था को पहुँच चुका था, क्योंकि वह अपने सात पुत्रों सहित अपना नमक अदा करने के लिये रत्नसिंह की सेना का मुखिया बन कर अलाउद्दीन के साथ की लड़ाई में लड़ते हुए मारा गया था, जैसा कि वि० सं० १५१७ (ई० स० १४६०) के कुंभलगढ़ के शिलालेख से ऊपर बतलाया गया है। इसी तरह भीमसी (भीमसिंह) लखमसी (लक्ष्मणसिंह) का चाचा नहीं, किन्तु दादा था, जैसा कि राणा कुंभकर्ण के समय के 'एकलिंगमाहात्म्य' से पाया जाता है। ऐसी दशा में टाड का कथन भी विश्वास के योग्य नहीं हो सकता। 'पद्मावत', 'तारीख फिरिश्ता' और टाड के राजस्थान के लेखों की यदि कोई जड़ है, तो केवल यही कि अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर छः मास के घेरे के अनन्तर उसे विजय किया; वहाँ का राजा रत्नसिंह इस लड़ाई में लक्ष्मणसिंह आदि कई सामन्तों सहित मारा गया, उसकी राणी पद्मिनी ने कई स्त्रियों सहित जौहर की अग्नि में प्राणाहुति दी; इस प्रकार चित्तौड़ पर थोड़े-से समय के लिये मुसलमानों का अधिकार हो गया। बाकी की बहुधा सब बातें कल्पना से खड़ी की गई हैं।[1]

ऊपर सन् १२९७ ई० में अलाउद्दीन की सेना के द्वारा गुजरात विजय का उल्लेख है। यह सेना अलाउद्दीन ने अपने भाई उलूगखाँ और सेनापति नसरतखाँ के अधिनायकत्व में भेजी थी। यह अभियान गुजरात के कर्णदेव के मन्त्री माधव की प्रेरणा से हुआ था।[2] यद्यपि इस युद्ध का संचालन अलाउद्दीन ने नहीं किया था और रत्नसिंह के पिता ने दिल्ली की सेना को हराया था, फिर भी जान पड़ता है अज्ञानवश अथवा कथा में कुछ स्वाभाविकता लाने के लिए जायसी ने उक्त माधव को पदमावत का राघव-चेतन बना दिया और हो सकता है कि यही युद्ध उसने अलाउद्दीन के सन्

१. वही—पृ० ४६४-६५।

२. जिनपुत्र सूरि ने अपने 'तीर्थ कल्प' में उलगखाँ की गुजरात-विजय का वर्णन करते हुए लिखा है—विक्रम संवत् १३५६ (ई० स० १२९९) में सुलतान अल्लाव दीण (अलाउद्दीन खिलजी) का सब से छोटा भाई उलूखान (उलगखाँ) [कर्णदेव के] मंत्री माधव की प्रेरणा से ढिल्ली (दिल्ली) नगर से गुजरात को चला। चित्रकूट (चित्तोड़) के स्वामी समरसिंह ने उसे दंड दे कर मेवाड़ देश की रक्षा की। वही, पृ० ४७६-७७।

१३०२ के स्वसंचालित आक्रमण तक जारी रहने की अवधि को कल्पना से ८ वर्ष कर दिया होगा।

अलाउद्दीन जिस समय सन् १३०२ में चित्तौड़ पर घेरा डाले पड़ा था उन्हीं दिनों उसके पास "दिल्ली पर मंगोलों की नयी चढ़ाई की खबर आयी। तरगी नामक मंगोल सरदार ने एक बड़ी सेना के साथ आ जमुना किनारे डेरा डाला और दिल्ली को घेर लिया। अलाउद्दीन के आने पर वह हट गया।"[1] पदमावत में उल्लिखित हरेवों की चढ़ाई में इसी मंगोल आक्रमण की छाया विद्यमान है।

जायसी ने रत्नसेन की मृत्यु अलाउद्दीन के हाथ नहीं करवायी। इसके लिए उनके अपने आख्यान के हिन्दू नायक के प्रति औदार्य की बड़ी प्रशंसा की जाती है। ठीक भी है। उसने देवपाल की कल्पना की, जिसकी ऐतिहासिकता का ऊपर ओझाजी के मतानुसार अस्तित्व ही नहीं। परन्तु जायसी ने अपने समकालीन रत्नसिंह को पदमावती के पति रतनसेन के नाम की समता के कारण अपने कथानक में ला बिठाया। यह रत्नसिंह चित्तौड़ के ही महाराणा संग्रामसिंह (साँगा) का पुत्र था।

राणा साँगा के पुत्र भोजराज की मृत्यु होने पर रत्नसिंह युवराज हुआ। उस समय उसके सौतले भाई उदयसिंह और विक्रमादित्य छोटे ही थे। उनको साँगा ने रणथंभोर का इलाका दे कर उनके मामा बूँदी के हाड़ा सूरजमल को संरक्षक नियुक्त किया था। रत्नसिंह ने पिता के दबाव में आ कर ऐसा माना था। पिता के मरने पर वह १५२८ ई० में वह चित्तौड़ का स्वामी हुआ।

"महाराणा साँगा की मृत्यु के समाचार पहुँचने पर उसका कुँवर रत्नसिंह वि० सं० १५८४ माघ सुदि १५ (ई० सं० १५२८ ता० ५ फरवरी) के आसपास चित्तौड़ के राज्य का स्वामी हुआ।

"महाराणा सांगा के देहान्त के समय महाराणी हाड़ी कर्मवती अपने दोनों पुत्रों के साथ रणथंभोर में थी। अपने छोटे भाइयों के हाथ में रणथंभोर की पचास-साठ लाख की जागीर का होना रत्नसिंह को बहुत अखरता था, क्योंकि वह उसकी आन्तरिक इच्छा के विरुद्ध दी गई थी। कर्मवती और अपने दोनों भाइयों को चित्तौड़ बुलाने के लिए उसने पूरबिये पूरणमल को पत्र दे कर रणथंभोर भेजा और कर्मवती से कहलाया कि आप सबको यहाँ आ जाना चाहिए। उत्तर में उसने कहलाया कि स्वर्गीय महाराणा इन दोनों भाइयों को

---

1. जयचन्द्र विद्यालंकार—इतिहास-प्रवेश १९५६ संस्करण, पृ० ३८७।

रणथंभोर की जागीर दे कर मेरे भाई सूरजमल को इनका संरक्षक बना गये हैं, इसलिए यह बात उसी के अधीन है। जब महाराणा का संदेश सूरजमल को सुनाया गया, तो उसने उस बात को टालने के लिए कहा कि मैं चित्तौड़ आऊँगा और इस विषय में महाराणा से स्वयं बातचीत कर लूँगा। महाराणा सांगा ने जो दो बहुमूल्य वस्तु—सोने की कमरपेटी और रत्नजटित मुकुट—सुलतान महमूद से ली थीं, वे विक्रमादित्य के पास होने से उनको भेजने के लिए भी रत्नसिंह ने कहलाया था; परन्तु उसने भेजने से इनकार कर दिया। पूरणमल ने यह सारा हाल चित्तौड़ जा कर महाराणा से कहा। यह उत्तर सुन कर महाराणा बहुत अप्रसन्न हुआ।"

"उधर हाड़ी कर्मवती विक्रमादित्य को मेवाड़ का राजा बनाना चाहती थी, जिसके लिए उसने सूरजमल से बातचीत कर बाबर को अपना सहायक बनाने का प्रपंच रचा। बाबर अपनी दिनचर्या में लिखता है—'हि० स० ९३५ मा० १४ मुहर्रम (ई० स० १५२८ ता० २८ सितंबर) को राणा सांगा के दूसरे पुत्र विक्रमाजीत के, जो अपनी माता पद्मावती (? कर्मवती) के साथ रणथंभोर में रहता था, कुछ आदमी मेरे पास आये। मेरे ग्वालियर को रवाना होने से पहले भी विक्रमाजीत के अत्यन्त विश्वासपात्र राजपूत अशोक के कुछ आदमी मेरे पास ७० लाख की जागीर लेने की शर्त पर राणा के अधीनता स्वीकार करने के समाचार ले कर आये थे। उस समय यह बात तय हो गई थी कि उतनी आमद के परगने उसे दिये जावेंगे और उनको नियत दिन ग्वालियर आने को कहा गया। वे नियत समय से कुछ दिन पीछे वहाँ आये। यह अशोक विक्रमाजीत की माता का रिश्तेदार था; उसने विक्रमाजीत को मेरी सेवा के लिए राज़ी कर लिया था। सुलतान महमूद से लिया हुआ रत्नजटित मुकुट और सोने की कमरपेटी भी, जो विक्रमाजीत के पास थी, उसने मुझे देना स्वीकार किया और रणथंभोर दे कर मुझसे बयाना लेने की बातचीत की, परन्तु मैंने बयाने की बात को टाल कर शम्साबाद देने को कहा; फिर उनको खिलअत दी और ९ दिन के बाद बयाने में मिलने को कह कर विदा किया।' फिर आगे वह लिखता है—'हि० स० ९३५ ता० ५ सफर (ई० स० १५२८ ता० १९ अक्टूबर) को देवा का पुत्र हामूसी (?) विक्रमाजीत के पहले के राजपूतों के साथ इसलिए भेजा गया कि वह रणथंभोर सौंपने और विक्रमाजीत के सेवा स्वीकार करने की शर्तें हिन्दुओं की रीति के अनुसार तय करे। मैंने यह भी कहा कि यदि विक्रमाजीत अपनी शर्तों पर दृढ़ रहा, तो उसके पिता की जगह उसे चित्तौड़ की गद्दी पर बिठा दूँगा।'

"ये सब बातें हुईं, परन्तु सूरजमल रणथंभोर जैसा किला बाबर को दिलाना नहीं चाहता था; उसने तो केवल रत्नसिंह को डराने के लिए यह प्रपंच रचा था; इसी से रणथम्भोर का किला बादशाह को सौंपा न गया, परन्तु इससे रत्नसिंह और सूरजमल में विरोध और भी बढ़ गया।"

"हम ऊपर बतला चुके हैं कि महाराणा रत्नसिंह और बूँदी के हाड़ा सूरजमल के बीच अनबन बहुत बढ़ गई थी, इसलिए महाराणा ने उसको छल से मारने की ठान ली।

"राणा रत्नसिंह शिकार खेलता हुआ बूँदी के निकट पहुँचा और सूरजमल को भी बुलाया। वह जान गया था कि राणा मुझे मरवाने के लिए ही बुला रहा है और इस पसोपेश में रहा कि वहाँ जाऊँ या न जाऊँ। पर अपनी माता की आज्ञा सुन कर वह वहाँ से चला और बूँदी तथा चित्तौड़ की सीमा पर के गोकर्णतीर्थ वाले गाँव में उससे आ मिला। राणा के मन में बुराई थी, तो भी उसने ऊपरी दिल से आदर किया और 'सूरभाई' कह कर उसका सम्बोधन किया।

"एक दिन उसने कहा कि आज सूअरों की शिकार खेलेंगे। राव ने कहा, बहुत अच्छा। राणा ने अपनी पँवार वंश की राणी से कहा कि कल हम एकल सूअर को मारेंगे और तुम्हें भी तमाशा दिखावेंगे। राणी ने निवेदन किया कि उस एकल को मैंने भी देखा है; दीवाण उसे न छेड़ें, उसके छेड़ने में कुशल नहीं।

"दूसरे ही दिन सवेरे सूरजमल को साथ ले राणा शिकार को गया। शिकार के मौके पर केवल राणा, पूरणमल पूरबिया, सूरजमल और उसका एक खवास (नौकर) थे। राणा ने पूरणमल को सूरजमल पर वार करने का इशारा किया, परन्तु उसकी हिम्मत न पड़ी; तब राणा ने सवार हो कर उसपर तलवार का वार किया, जिससे उसकी खोपड़ी का कुछ हिस्सा कट गया। इसपर पूरणमल ने भी एक वार किया, जो सूरजमल की जाँघ पर लगा; तब तो लपक कर सूरजमल ने पूरणमल पर प्रहार किया, जिससे वह चिल्लाने लगा। उसे बचाने के लिये राणा वहाँ आया और सूरजमल पर तलवार चलाई। इस समय सूरजमल ने घोड़े की लगाम पकड़ कर झुके हुए राणा की गर्दन के नीचे ऐसा कटार मारा कि वह उसे चीरता हुआ नाभि तक चला गया। राणा ने घोड़े पर से गिरते-गिरते पानी माँगा तो सूरजमल ने कहा कि काल ने तुझे खा लिया है, अब तू जल नहीं पी सकता। वहीं राणा और सूरजमल, दोनों के प्राण-पक्षी उड़ गये। पाटण में राणा का दाह-

संस्कार हुआ और राणी पँवार उसके साथ सती हुई।'

यह घटना वि० सं० १५८८ (ई० स० १५३१) में हुई।'[1]

"मेवाड़ के राणा रत्नसिंह और बूँदी के राव सूरजमल का द्वन्द्व और मृत्यु जायसी के जीवनकाल की घटना है। इस मर्मवेधी घटना से समकालिक विशेष रूप से प्रभावित हुए होंगे। इसके लगभग दस वर्ष बाद—शेरशाह के प्रशासन में—जायसी ने पदमावत लिखी। पद्मावत का दूसरा नायक यही राणा रत्नसिंह है और देवपाल सूरजमल। समकालिक व्यक्तियों का नाम काव्य में देना वांछनीय नहीं समझा जाता, इसलिए जायसी ने सूरजमल को देवपाल बना दिया। कालिदास ने भी समुद्र-गुप्त और चंद्र-गुप्त की विजय-यात्राओं का वृत्तान्त रघु के दिग्विजय के द्वारा कहा है।

"द्वन्द्व के इस वर्णन को जायसी की इन चौपाइयों से मिलाइये—

चढ़ि देवपाल राव रन गाजा, मोहि तोहि जूझ एकौझा राजा।
मेलेसि साँग आइ विष-भरी, मेटि न जाइ काल कै घरी।
आइ नाभि तर साँग बईठी, नाभि बेधि निकसी सो पीठी।
चला मारि तब राजै मारा, टूट कंध धड़ भएउ निनारा।

"जायसी के अलाउद्दीन के युद्ध के वर्णन सब कल्पित हैं, यहाँ तक कि जायसी ने अलाउद्दीन द्वारा तोपों के प्रयोग का भी उल्लेख किया है—

छेंका कोट जोर अस कीन्हा, घुसि कै सरग सुरँग तिन्ह दीन्हा।
गरगज बाँधि कमानैं धरीं, ब्रज-आगि मुख दारू भरीं।
हबसी, रूमी और फिरंगी, बड़ बड़ गुनी और तिन्ह संगी।
जिन्हके गोट कोट पर जाहीं, जेहि ताकहिं चूकहिं तेहि नाहीं।
अस्ट धातु के गोला छूटहिं, गिरहिं पहार चून होइ फूटहिं।
एक बार सब छूटहिं गोला, गरजै गगन, धरति सब डोला।
फूटहिं कोट फूट जनु सीसा, ओदरहिं बुरुज जाहिं सब पीसा।

"अलाउद्दीन के समय न तोपें थीं, न तोपें चलाने वाले 'हबसी रूमी और फिरंगी'। तोपें पहलेपहल सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में पुर्तगालियों और बाबर के साथ भारत में आईं। यद्यपि पुर्तगाली १६वीं शताब्दी के आरंभ में पश्चिमी समुद्र में आ चुके थे, पर चटगाँव में वे पहलेपहल १५३३ ई० में उतरे। शेरखाँ का बंगाल के महमूदशाह से द्वन्द्व तब चल रहा था। उस प्रसंग में महमूदशाह ने पुर्त्तगालियों से सहायता माँगी। जिससे १५३४ ई०

1. ओझा—राजस्थान का इतिहास, द्वि० खं० पृ० ७०४–५।

में शेरखाँ से बंगाल को बचाने के लिए पुर्त्तगाली तोपची बंगाल-बिहार की सीमा पर सीकरीगली के दर्रे में आ जुटे थे। उत्तर भारत का साम्राज्य पाने के बाद शेरशाह ने भी तोपें ढलवाईं। यों जायसी का वर्णन १५३३ ई० के बाद की घटनाओं का हो सकता है। स्तुति खंड में जायसी ने लिखा भी है—

जो गढ़ नएउ न काहुहि चलत होइ सो चूर।
जब वह चढ़ै भूमिपति सेरसाहि जग सूर॥

"परन्तु इस रतनसेन-देवपाल-द्वन्द्व का वर्णन इतिहास से मेल खाता है, कारण कि यह समकालिक घटना थी। यही नहीं, यहाँ आ कर पद्मिनी भी 'रानी पँवार' बन जाती है। यह निर्विवाद सत्य है कि पद्मिनी ने जौहर किया था। जायसी ने अलाउद्दीन के गढ़ लेने का वर्णन यों किया है—

जौहर भईं सब इस्तिरी, पुरुष भए संग्राम।
बादसाह गढ़ चूरा, चितउर भा इसलाम।

"परन्तु इस जौहर में पद्मिनी सम्मिलित नहीं है, वह राजा के साथ सती हो चुकी है, अर्थात् वह 'रानी पँवार' बन गई।

"बाबर और विक्रमाजीत की सन्धि की शर्तों की परछाँही जायसी के बादशाह और राजा की सन्धि की शर्तों में देखी जा सकती है। सुल्तान महमूद से लिया हुआ रत्नजटित मुकुट और कमरपेटी समुद्र से मिले पाँच रत्न हैं, शम्साबाद चंदेरी है, चित्तौड़ की गद्दी और अधीनता मानना दोनों में समान है।"[1]

इस प्रकार इतिहास के आलोक में देखने पर विदित होता है कि जायसी बहुश्रुत ही नहीं बहुज्ञ भी थे। वे अपने समय में हो रहे दिल्ली और उसके आस-पास के शासन-चक्र तथा वृत्तान्तों से परिचित थे। उनको उन्होंने बड़ी चतुराई के साथ पुरानी घटनाओं में खपा दिया है।

रचना-काल—यह काव्य 'सेरसाहि देहली सुलतानू' के समय में रचा गया। वह १५४० में दिल्ली के तख्त पर बैठा, १५४२ में जायसी की मृत्यु हुई। अतः इसी बीच इसकी रचना होनी चाहिये। रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी ग्रन्थावली में ग्रन्थ-निर्माण के सम्बन्ध की अर्द्धाली का यह पाठ माना है—

सन् नौ सै सत्ताइस अहा, कथा आरंभ बैन कवि कहा।

इसके अनुसार सन् १५२० में रचना हुई। इसके औचित्य के लिए उन्होंने अनुमान किया कि कवि ने कुछ थोड़े से पद्य तो सन् १५२० ई० में ही बनाये

---

१. इन्द्रचन्द्र नारंग—पदमावत का ऐतिहासिक आधार—पृ० ४०-५०।

थे, पर ग्रंथ को १६ या २० वर्ष पीछे शेरशाह के समय में पूरा किया। इसी से भूतकालिक किया 'अहा' (था) और 'कहा' का प्रयोग किया है।[1] शुक्ल जी के मत की पुष्टि औरों ने भी की है।[2] माताप्रसाद गुप्त ने अपनी सम्पादित जायसी ग्रन्थावली में इसका यह पाठ माना है—

सन नौ सौ सैंतालिस अहै, कथा अरंभ बैन कवि कहै।

अन्य कई प्रतियों में भी यह पाठ है। उपर्युक्त रत्नसिंह-सूरजमल-द्वन्द्व का समय १५३१ है। पदमावत में उसका समावेश मानने से उसका रचनाकाल निश्चय है १५४० ई० ठीक होगा। तब 'शाहेवक्त' का वर्णन भी उचित प्रतीत होगा।

काव्य-विमर्श—पदमावत केवल मनोरञ्जन आख्यान सुनाने, हिन्दुओं के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित कर उन्हें मोहित करने, सूफी साधना का प्रतीक प्रस्तुत करने अथवा इस्लाम के विचारों को प्रच्छन्न रूप से मुस्लिमेतर लोगों के भीतर पहुँचाने के लिए ही नहीं लिखा गया। उससे ये सब हटा दिये जायँ और शुद्ध कवित्व निकाला जाय तो भी यह सिद्ध हो जायगा कि वह बहुत ही उच्च कोटि का प्रबन्ध है। उसमें विषय-वस्तु, भाव-निरूपण, रस-सञ्चार और रचना-कौशल सब है। उसका विषय प्रधान रूप से गृहस्थी के भीतर प्रेम का जो विस्तार होता है उसी का चित्रण है। जीवन का उपयुक्त सहचर पाने के अभिलाष से कथा आरम्भ होती है। इसमें उसकी प्राप्ति के लिए अपेक्षित उत्कण्ठा, एकांतनिष्ठा और आत्मसमर्पण के मनोरम चित्र हैं। साथ ही प्रेमी के अदम्य साहस, दृढ़ निश्चय और लक्ष्य-प्राप्ति के लिए सर्वस्व-त्याग के उदाहरण भी वैसे ही उत्कृष्ट हैं। विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी पात्रों के कारण नायक-नायिका के प्रेम का दिव्य रूप और भी निखर उठा है। बीच-बीच में समुद्रों की भीषणता और युद्ध की विकरालता के वर्णन भी मुख्य विषय की पुष्टि में सहायक होते हैं। पदमावती को प्राप्त करने के लिए साथी योगियों के साथ रतनसेन की सिंहल यात्रा के समय सात समुद्रों का वर्णन उसका सूली पर चढ़ना आदि यह सूचित करता है कि उन सब कठिनाइयों की चिन्ता किये बिना वह अपनी प्रेमिका के पास पहुँचने में दृढचित्त है। इसी प्रकार पदमावती के कारण ही तो चित्तौड़ के घेरे के समय युद्ध होता है और उसी के निमित्त दिल्ली और चित्तौड़ के बीच भी तलवारें चलती हैं। देवपाल से द्वन्द्व भी उसी की मर्यादा की रक्षा के लिए ही होता है। इस प्रकार यह रक्त-प्रवाह और

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—२००८ वि० पृ० ११०।

२. कमल कुलश्रेष्ठ—हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य, १९५३, पृ० ४५-४६।

बलिदान प्रेम के लिए है।

जायसी ने कहानी तो राजा और रानियों की लिखी है, किन्तु प्रेम के चित्रण में कहीं राजसी वैभव, विलास-लीला और कामुकता नहीं दिखलायी। नर-नारी के रूप, मन की दशा तथा भाव को प्रत्यक्ष करने में वे अत्यन्त प्रवीण हैं। इन सबका वर्णन करते समय कहीं और कभी यह नहीं लगता कि हम किसी उच्चवर्गीय, बनावटी वस्तु वा व्यापार का विवरण पढ़ रहे हैं। नागमती और पद्मावती की विरहाकुलता प्रदर्शित करते समय वही दृश्य-विधान है जो हम नित्य देखने में अभ्यस्त हैं और जो उपमान प्रयुक्त होते हैं वे कवि परम्परा से मुक्त और बहुधा नवीन होते हुए भी हमें लोकजीवन के अत्यन्त निकट पहुँचा देते हैं। इस प्रकार प्रेम की उद्भावना में हम पुरुष और स्त्री की स्वाभाविक बाह्य और आन्तरिक झाँकी का आकर्षक रूप देखते हुए भी भौतिकता की ओर कभी नहीं बहते। यह सच है कि इन वर्णनों में यत्र-तत्र अध्यात्म की झलक मिलती है। अलौकिक रूप और भाव की ओर संकेत होता है। परन्तु वह भी वर्ण्य के लोक-ललाम रूप को आँख से ओझल नहीं होने देता।

फिर जायसी के वर्णन-कौशल की भी सराहना किये बिना नहीं रहा जाता। उदाहरण के लिए पद्मावती के पूर्वराग, नागमती के वियोग, गोरा-बादल के शौर्य आदि के प्रसङ्ग अत्यन्त चित्ताकर्षक शैली में हृदय के भाव व्यक्त करते हैं। राजा रतनसेन की योग-साधना का पद्मावती पर क्या प्रभाव पड़ा। पूर्वराग की एक झलक देखिये—

पदमावति तेहि जोग संजोगा, परी पेम बस गहे बियोगा।
नींद न परै रैनि जौं आवा, सेज केंवाच जानु कोइ लावा।
दहै चंद औ चंदन चीरू, दगध करै तन बिरह गँभीरू।
कलप समान रैनि तेहि बाढ़ी, तिल तिल भर जुग जुग जिमि गाढ़ी।
गहै बीन मकु रैनि बिहाई, ससि-बाहन तहँ रहै ओनाई।
पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै, ऐसेहि बिथा रैनि सब जागै।
कहँ वह भौंर कँवल रस लेवा, आइ परै होइ बिरन परेवा।
से धन बिरह पतंग भइ जरा चहै तेहि दीप।
कंत न आव भिरिंग होइ, का चंदन तन लीप।

विरह-विधुरा नागमती की व्यथा-भरी पुकार कितनी मार्मिक है—

भा बैसाख तपन अति लागी, चोआ चीर चंदन भा आगी।
सूरुज जरत हिवंचल ताका, बिरह बजागि सौंह रथ हाँका।
जरत बजागिनि करु पिउ छाहाँ, आइ बुझाउ अँगारन्ह माहाँ।

तोहि दरसन होइ सीतल नारी, आइ आगि तें करु फुलवारी।
लागिउँ जरै, जरै जस मारू, फिर फिर भूँजेसि तजेउँ न बारू।
सरवर हिया घटत निति जाई, टूक टूक होइ कै बिहराई।
बिहरत हिया करहु पिउ, टेका, दीठि-दँवगरा मेरवहु एका।
कँवल जो बिगसा मानसर बिनु जल गयउ सुखाइ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै, जौ पिउ सींचै आई।

तनिक ठहर कर गोरा के दो हाथ तो देखते चलिये—

गोरै देख साथि सब जूझा, आपन काल नियर भा बूझा।
कोपि सिंघ सामुहँ रन मेला, लाखन्ह सौं नहिं मरै अकेला।
लेइ हाँकि हस्तिन्ह कै ठटा, जैसे पवन बिदारै घटा।
जेहि सिर देइ कोपि करवारू, स्यो घोड़े टूटै असवारू।
लोटहिं सीस कबंध निनारे, माठ मजीठ जनहुँ रन ढारे।
खेलि फाग सेंदुर छिरकावा, चाँचरि खेलि आगि जनु लावा।
हस्ती घोड़ धाइ जो धूका, ताहि कीन्ह सो रुहिर भभूका।

रतनसेन के बन्दी हो कर दिल्ली चले जाने पर पदमावती और नागमती का वियोग कितना हृदय-द्रावक है और उससे अभीष्ट रस की सिद्धि कैसे मधुर रूप में होती है—

पदमावति बिनु कंत दुहेली, बिनु जल कँवल सूखि जस बेली।
कुवाँ ढार जल जैस बिछोवा, डोल भरे नैनन्हि धनि रोवा।
लेजुरि भइ नाह बिनु तोहीं, कुवाँ परी, धरि काढ़सि मोही।
नैन डोल भरि ढार हिये न आग बुझाइ।
घरी घरी जिउ आव घरी घरी जिउ जाइ।

नागमतिहि पिय-पिय रट लागी, निसि दिन तपै मच्छ जिमि आगी।
भँवर भुजंग कहाँ हो पिया, हम ठेघा तुम कान न किया।
कहाँ जाउँ को कहै सँदेसा, जाउँ सो तहँ जोगिन के भेसा।
फारि पटोरहि पहिरौं कंथा, जो मोहि कोउ दिखावै पंथा।
वह पथ पलकन्ह जाइ बोहारौं, सीस चरन कै तहाँ पधारौं।

इन उद्धरणों से कवि की रचना का सौष्ठव, उक्ति-वैशिष्ट्य और वर्णन-सौकर्य भी विदित होता है। यदि जायसी में साम्प्रदायिक भावना प्रधान न होती और वे अपने बहुत पहले के अब्दुर्रहमान के संदेश रासक प्रेमाख्यान की शुद्ध परम्परा को ले कर चले होते तो और कितने अच्छे कवि होते इसका अनुमान पदमावत के उन प्रकरणों से लग जाता है जिनमें कुछ अन्य प्रतिपाद्य

नहीं है। जायसी का वस्तु-वर्णन भी अद्वितीय है। सिंहलगढ़ वर्णन में यह कौशल दर्शनीय है। सूफी प्रेम की व्यञ्जना भी कितने मनोमोहन रूप में जायसी करते थे वह भी देखते ही बनता है।

सरवर तीर पदमिनी आई, खोंपा छोरि केस मुकलाई।
ससि मुख, अंग मलयगिर बासा, नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ पासा।
ओनई घटा परी जग छाहाँ, ससि के सरन लीन्ह जनु राहाँ।
छपि गै दिनहि भानु कै दसा, लेइ निसि नखत चाँद परगसा।
भूलि चकोर दीठि मुख लावा, प्रेमघटा महँ चंद देखावा।
सरवर रूप बिमोहा हिये हिलोरहि लेइ।
पाँव छुवै मकु पावौं एहि मिस लहरहि देइ।
बिगसा कुमुद देखि ससि लेखा, भै तहँ ओप जहाँ जोइ देखा।
पावा रूप रूप जस चहा, ससि मुख जनु दरपन होइ रहा।
नयन जो देखा कवँल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन-जोति नग हीर।

आध्यात्मिक प्रेमाख्यान के उपादानों के साथ ही कवित्व के सौन्दर्य से युक्त पदमावत हिन्दी का शृङ्गार कहा जा सकता है। उसमें अवधी भाषा का बहुत ही स्वच्छ, प्रवाहपूर्ण और सरस प्रयोग हुआ है। कहना न होगा कि जिस उद्देश्य को ले कर यह काव्य रचा गया है उसमें इसकी सफलता असन्दिग्ध है। जायसी सूफी कवियों में सर्वश्रेष्ठ तो हैं ही, हिन्दी के अन्य क्षेत्रों के कवियों में भी अग्रणी हैं।

मंझन—इनके जीवन-चरित्र की कोई जानकारी नहीं। केवल मधुमालती इनकी स्मृति बनाये हुए है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति में इसकी रचना का समय यह मिलता है—

सन नौ सौ बावन जब भये, सनै बरख कुल पर हर गये।
तब हम जी उपजी अभिलाषा, कथा एक बाँधौं बस भाषा।

इसके आगे कवि ने शाहेवक्त सलीमशाह सूर की प्रशंसा की है। इससे प्रकट होता है कि यह इस्लामशाह (सलीमशाह) सूर (शासनकाल १५४५-५४ ई०) के समय में रची गयी। इस प्रकार ९५२ हिजरी (१५४५ ई०) इसकी रचना का समय ठीक ही जान पड़ता है। परन्तु जायसी ने पदमावत में अपने पूर्ववर्ती प्रेमाख्यानों का परिचय इस प्रकार दिया है—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा, सपनावति कहँ गयउ पतारा।
मधू पाछ मुगधावति लागी, गगनपूर होइगा बैरागी।

राजकुँवर कंचनपुर गायऊ, मिरगावती कहँ जोगी भयऊ।
साधे कुँवर खँडावत जोगू, मधुमालति कहँ कीन्ह बियोगू।
प्रेमावति कह सुरवर साधा, उषा लागि अनिरुध बर बाँधा।

इनमें उल्लिखित प्रेमकथाएँ पदमावत के पहले की हैं इसमें तो सन्देह नहीं। जायसी ने पदमावत ९४७ हिजारी (१५४० ई०) में बनायी। उस समय दिल्ली का सुलतान शेरशाह सूर हो चुका था। जायसी ने उसी की शाहेवक्त के रूप में स्तुति की है —

शेरशाह दिल्ली सुलतानू, चारहु खंड तपै जस भानू।

इसी शेरशाह सूर के १५४५ ई० में न रहने पर इसका पुत्र इस्लामशाह दिल्ली का सुलतान हुआ था। अतएव जिस मधुमालती का ऊपर उल्लेख हुआ है वह सम्भव है उससे भिन्न हो जिसका रचनाकाल यहाँ दिया गया है। जायसी ने मधुमालती के लिए कुँवर खंडावत के योग साधने की बात कही है। मंझन की फारसी लिपि में की चार हस्तलिखित प्रतियों में रामचन्द्र शुक्ल ने 'खंडावत', 'कुंदावत', 'कंडावत', 'गंधावत' ये नाम पढ़े। उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय के पुस्तकालय की प्रति में यह नाम 'मनोहर' पाया है।[1] कथानक में सादृश्य होने से ये सब एक काव्य हैं। सम्भव है राजकुमार का नाम पहले खंडावत रहा हो, फिर मनोहर रख दिया गया हो। अस्तु, जायसी ने इसी काव्य का उल्लेख किया है इसमें सन्देह नहीं जान पड़ता। तब यह मानना होगा कि अपनी रचना के साथ वह इतनी प्रसिद्ध हो गयी कि जायसी ने उसका नाम लेना आवश्यक समझा। जायसी के उपर्युक्त कथन में यदि रचनाओं को कालक्रम से कहा गया मानें तो भी यह उलझन नहीं सुलझती। यदि सबके अन्त में इसका नाम आता तो कदाचित् ऊपर का अनुमान कुछ विचारणीय होता। जो हो, अब तक मिली प्रतियों में मिले आख्यान के आधार पर यह कहना उचित होगा कि इसका आख्यान मृगावती से कहीं मनोहर है। कवि-कल्पना का चमत्कार भी इसमें अधिक है। इसमें आध्यात्मिक प्रेम का सङ्केत करने के निमित्त प्रकृति का उपयोग किया गया है।

यह कहा जा चुका है कि जैन कवि बनारसीदास इसे तथा मृगावती को अपने यौवन काल में सब काम छोड़ कर पढ़ा करते थे। यह बात उन्होंने अपने जीवन की सन् १६०२ के लगभग की घटनाओं का वर्णन करते समय

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवाँ संस्करण २००९ वि० पृ० ९८-९९।

कही है।[1] इसी समय के लगभग (१६१३ ई० में) रची चित्रावली में उसमान ने भी इसका नाम लिया है—

मधुमालति ह्वै रूप देखावा, प्रेम मनोहर होइ तहँ आवा।

इससे यह प्रकट होता है कि शेरशाह, हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर के राज्यकाल में यह बहुत ही लोकप्रिय काव्य था। इसकी कथा का सारांश नीचे पढ़िये—

कनेसर के राजा सूरजभान का पुत्र मनोहर रात में सो रहा था। महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती भी अपने महल में सोती थी। अप्सरायें मनोहर को सोते हुए ही मधुमालती की चित्रसारी में पहुँचा आयीं। जगने पर दोनों परस्पर आसक्त हो गये। मनोहर ने कई जन्म से मधुमालती के प्रति अपने प्रेम का उल्लेख किया। प्रेमालाप करते हुए दोनों फिर सो गये। जब जागा तब मनोहर फिर अपने महल में था। वह मधुमालती के प्रेम में योगी बन कर निकल पड़ा। समुद्र-यात्रा में तूफान आया। वह पटरे के सहारे जंगल में जा लगा। वहाँ पर एक सुन्दरी सो रही थी। जागने पर उसने अपना परिचय दिया। वह थी प्रेमा चितबिसरामपुर के राजा की कुमारी, राक्षस के हाथ पड़ी। मनोहर ने उस राक्षस का वध किया। प्रेमा को उसके पिता चित्रसेन के पास पहुँचाया। चित्रसेन ने उसे मनोहर के साथ ब्याहना चाहा। प्रेमा ने मना कर दिया, कहा यह मेरा भाई है। वह मनोहर से पहले ही कह चुकी थी कि मैं तुम्हें अपनी सहेली मधुमालती से मिला दूँगी।

दूसरे दिन मधुमालती प्रेमा के घर आयी। साथ में उसकी माँ रूपकुमारी भी थी। प्रेमा ने उसको मनोहर से मिला दिया। सबेरे रूपकुमारी ने दोनों को एक साथ देखा। मनोहर जब जगा तब कहीं और था। पर रूपकुमारी ने अपनी बेटी को इस प्रेम से विरत होने को कहा। न मानने पर शाप दे पक्षी बना दिया। बड़ी मनोहर चिड़िया उड़ गयी। जंगल में उसे राजकुमार ताराचन्द ने देखा। देखते ही मुग्ध हो गया। चिड़िया सज्ञान थी। उसने रूप-सादृश्य के कारण ताराचन्द को मनोहर समझ लिया। फिर क्या था। वह ताराचन्द के हाथ में आ गयी। एक दिन उसने उससे मनोहर और अपने प्रेम की कहानी सुनायी। ताराचन्द उसे ले कर रूपकुमारी के पास पहुँचा। उसने मन्त्रबल से उसे फिर राजकुमारी बना लिया। मधुमालती के माता-पिता ने उसे

१. बनारसीदास के 'अर्द्धकथानक' में लिखा है कि—
तब घर में बैठे रहैं नाहिन हाट बजार, मधुमालती मृगावती पोथी दोय उचार।

ताराचन्द को विवाह में देना चाहा। परन्तु उसने कहा कि यह मेरी बहन है। मैं इसे मनोहर से मिला कर रहूँगा।

रूपकुमारी ने सब बातें प्रेमा को लिख भेजीं। मधुमालती ने भी अपनी सहेली को मन की वेदना लिखी। प्रेमा दोनों के पत्र पढ़ ही रही थी कि मनोहर योगी के भेष में वहाँ आ पहुँचा। प्रेमा ने इसकी सूचना मधुमालती के पिता को दी। वह रानी और राजकुमारी के साथ वहाँ पहुँचा। मधुमालती और मनोहर का विवाह हो गया। उन दोनों के साथ ताराचन्द भी बहुत दिनों तक महारस में अतिथि रहा। एक दिन प्रेमा मधुमालती के साथ झूला झूलती थी। ताराचन्द उसी समय मृगया से लौटा। वह प्रेमा को देखते ही मूर्च्छित हो गिर पड़ा। मधुमालती और सखियाँ उसकी सुश्रूषा करने लगीं।

उपलब्ध प्रति के अपूर्ण होने के कारण इसके आगे की कथा का अनुमान करना होगा। सम्भव है ताराचन्द और प्रेमा के हाथ भी पीले हुए होंगे।

इस कथानक में दो प्रेमियों और प्रेमिकाओं का मिलन बहुत ही रोचक ढंग से वर्णित है। प्रेमा और ताराचन्द के मनोहर और मधुमालती के प्रति व्यवहार से चरित्र और शील का बहुत ही उत्कृष्ट रूप प्रदर्शित किया है। राक्षस के वश में पड़ी प्रेमा के उद्धार और शाप से पक्षी हुई मधुमालती के पुनः स्व-रूप ग्रहण से इसका सम्बन्ध लोक-कथा की चिरन्तन राजकुमारी और राजकुमार से जोड़ा जाता है। पक्षी को भी पूर्व जीवन के प्रेम का स्मरण रहता है—यह भी लोक-कथा का चिर सत्य है। इससे प्रेम की व्यापकता का जो बोध सदैव से इस प्रकार की बातें कराती आयी हैं वह इस आख्यायिका से भी सूचित होता है। इसमें सूफी भावना का समावेश हुआ है। विरह का प्रभाव देखिये—

बिरह अवधि अवगाह अपारा, कोटि माहिं एक परै न पारा।
बिरह कि जगत अँथिरथता आही, बिरह रूप यह सृष्टि सबाही,
नैन बिरह अंजन जेहि सारा, बिरह रूप दरपन संसारा।
कोटि माहिं बिरला जग कोई, जाहि सरीर बिरह दुख होई।
रतन कि सागर सागरहिं? गजमोती गज कोइ।
चँदन कि बन-बन उपजै? बिरह कि तन तन होई?

इसी प्रकार परमात्मा की ज्योति की झलक सर्वत्र दिखलायी पड़ती है—यह सूफी भाव नीचे दिये हुए अवतरण में कैसे अच्छे ढंग से व्यक्त हुआ है—

देखत ही पहिचानेउँ तोहीं, एही रूप जेहि छँदरयो मोहीं।
एही रूप बुत अहै छपाना, एही रूप रवि सृष्टि समाना।

एही रूप सकती औ सीऊ, एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ,
एही रूप प्रगटे बहु भेसा, एही रूप जग रंक नरेसा।

शेख उसमान—इन्होंने अपना उपनाम 'मान' भी लिखा है। ये सूफी धर्म के अनुयायी थे। इन्होंने अपने पीर हाजी बाबा को प्रसिद्ध सूफी फकीर निजामुद्दीन चिश्ती (मृत्यु १३२५ ई०) के शिष्यों की परम्परा में बतलाया है और पिता का नाम शेख हुसेन। अपने भाइयों के भी नाम लिखे हैं। 'चित्रावली' प्रेमाख्यान १६१३ ई० (१०२२ हिजरी) में लिखा गया। उसमें जहाँगीर का शाहेवक्त के रूप में वर्णन करने के बाद कवि ने इस प्रकार के काव्यों की प्रचलित प्रथा के अनुरूप अपने गुरु एवं वंश का परिचय दिया। ये गाजीपुर के निवासी थे। इस काव्य की कथा सर्वथा कवि-कल्पित है। इस विषय में वे कहते हैं—"कथा एक मैं हिये उपाई" और यह भी बतलाते हैं कि वह कथा "कहत मीठ औ सुनत सोहाई।" उसमान पढ़े-लिखे थे। इसकी सूचना स्वयं ही देते हैं—"अच्छर चारि पढ़े हम सिखा"। उनका यह विनम्रतापूर्वक कहने का ढंग मात्र है। काव्य की कल्पना विषयवस्तु, शैली और भाषा यह प्रकट करती है कि वे अधीत, जानकार और भाषाविद् सहृदय थे। उन्हें यह भी बोध था कि काव्य-रचना से कवि का नाम अमर रह जाता है। इसी अमरत्व की कामना ने उन्हें 'चित्रावली' की सृष्टि करने की प्रेरणा दी—

देखत जगत चला सब जाई, एक बचन पै अमर रहाई।
बचन समान सुधा जग नाहीं, जेहि पाये कवि अमर रहाहीं।
मोहूँ चाउ उठा पुनि हीये, होउँ अमर यह अमरित पीये।

शेख उसमान ने परम्परा-प्रसिद्ध सिंहल द्वीप तक ही जोगियों को नहीं पहुँचाया, अपितु स्वदेश में गुजरात तथा विदेश में काबुल, बदख्शाँ, इस्तंबोल, खुरासान, रूम, साम, मिस्र आदि नगरों तथा देशों में पहुँचा कर अपनी बहुज्ञता का संकेत दिया है। इस प्रकार इस्लाम के अनुयायी कवि ने धार्मिक तथा ऐतिहासिक ज्ञान का परिचय तो दिया ही है, उससे अपने समय में केवल पश्चिम के समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों तक आये अँगरेजों की विशिष्टता की भी सूचना दी है। हो सकता है वे सूरत आदि देख आये हों और वहाँ अँगरेजों के वेश, रहन-सहन आदि से अवगत हुए हों; सभी उच्च अथवा निम्न वर्ग के लोगों का धन-सम्पत्ति ढूँढ़ना, मद पीना तथा वराह (शूकर) भोजन। इससे प्रकट है कि उनके खान-पान में मुसलमानों वा हिन्दुओं से क्या विशेष अन्तर था और वे धन की खोज में कैसे देश-देशान्तर की यात्रा करते थे—यह उसमान जानते थे। देखिये न उनके जोगी क्या देखते हैं—

बलंदीप देखा अँगरेजा, तहाँ जाइ जेहि कठिन करेजा।
ऊँच नीच धन संपति हेरा, मद बराह भोजन जिन्ह केरा।

'चित्रावली' में योगमार्ग-समन्वित सूफी साधना का वर्णन कहानी में सर्वत्र मिलता है। योगपन्थ के शिव सिद्धिदाता हैं, परन्तु यहाँ तो वे अपने पौराणिक रूप में भी विद्यमान हैं। कहानी के आरम्भ में ही यह देखा जाता है। नैपाल-नरेश धरणीधर को पुत्र न था। उन्होंने पौराणिक राजाओं वा साधकों के समान व्रतादि किये। उससे प्रसन्न हो कर शिव ने वर दिया—

देखु होत हौं आपन अंसा, अब तोरे होइहौं निज बंसा।

इसी शिवावतार सुजान के प्रेम की कहानी 'चित्रावली' काव्य में है।

उसमान ने इस कहानी का प्रारम्भ इस विधि से कर के अपने समय और क्षेत्र में सगुण भक्ति के पौराणिक रूप को अपना रही जनता को भी आकृष्ट करने का प्रयत्न किया हो तो आश्चर्य नहीं। इस आख्यान का नायक सुजान देव (प्रेत) की सहायता से रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की चित्रशाला में पहुँच गया। वहाँ चित्रावली के चित्र को देख कर मुग्ध हुआ। अपना चित्र उरेह कर उसके पास ही रख आया। अपने महल में आने पर वह प्रेम-विह्वल हुआ। उधर बाद में उसका चित्र देख कर चित्रावली भी उस-पर आसक्त हो गयी। उसके परिचारक जोगी का भेस रख कर राजकुमार को ढूँढ़ने निकले। देस-बिदेस खोजते हुए एक ने सुजान को पा लिया। अपने साथ रूपनगर लिवा लाया। वहाँ शिवमन्दिर में सुजान और चित्रावली मिले। फिर कुछ अलौकिक व्यापार हुए—सुजान का अन्धा किया जाना, अजगर के मुँह में जाना और उससे निकलना, बनमानुस से प्राप्त अंजन के द्वारा दृष्टि-लाभ करना, हाथी के द्वारा पकड़ा जाना, और एक पक्षी के द्वारा हाथी समेत उड़ाया जाना तथा समुद्रतट पर पहुँचना आदि। वहाँ उसने सोहिल के आक्रमण का निराकरण कर के राजकुमारी कँवलावती से विवाह किया। पर प्रतिज्ञा की कि जब तक चित्रावली न मिलेगी तब तक कँवलावती से भोग न करूँगा। कँवला-वती के साथ गिरनार गया।

उधर चित्रावली ने सुजान की खोज के लिए फिर जोगी भेज रखे थे। एक की सहायता से वह बीच में ही कँवलावती को छोड़ रूपनगर पहुँचा। वहाँ रोमाञ्चकारी घटनाओं के बाद अन्त में राजा ने उसका विवाह चित्रावली के साथ कर दिया। इसके बाद कँवलावती के दूत से उसकी विरह-व्यथा सुन कर सुजान चित्रावली को साथ ले अपने देश को लौटा। बीच में कँवलावती

को ले कर समुद्र की आँधी से बचता हुआ नैपाल पहुँचा। वहाँ अपनी दोनों रानियों के साथ राज्य-सुख का भोग किया।

इस युग तक उपर्युक्त कवि सूफी धर्म के अनुरूप आख्यान रचते हुए प्रेम का वर्णन करते रहे। इन आख्यानों में सूफी साधना का प्रचलित बाह्य रूप मिलता है, जिसमें इस्लाम, फारस के उन्मद प्रेम का सूफी ढाँचा, नाथपन्थी योगमार्ग की साधना और सिद्धियाँ आदि विद्यमान थीं। साथ ही लोक-कथाओं के देव-दानव, शाप-वरदान और अनहोनी बातों का भी योग रहता था। प्रेम के लौकिक चित्रण के द्वारा सूफी आध्यात्मिक प्रेम का संकेत और उल्लेख भी किया जाता था। इस प्रकार इश्कमजाजी के माध्यम से इश्कहकीकी की व्यञ्जना की चेष्टा हुई। यह चेष्टा इस युग के आगे भी बहुत दिनों तक होती रही। आगे के प्रेममार्गी कवियों में भी मुसलमान और हिन्दू दोनों रहे। मुसलमान कवि सूफी धर्मानुयायी थे। उनके काव्यों में उपर्युक्त प्रवृत्ति मिलती है। हिन्दू कवियों ने केवल लौकिक प्रेम का शृङ्गार पक्ष ही चित्रित किया। आगे के विशिष्ट कवियों की चर्चा यथावसर होगी।

सगुणोपासना

सामान्य परिचय—इस काल में कबीर आदि निर्गुणवादी सन्तों और जायसी आदि सूफी प्रेम के निरूपक शाहसाहबों ने जनसमाज को किस प्रकार प्रभावित किया, यह बतलाया जा चुका है। परन्तु समाज का बहुत बड़ा अंश वेद-शास्त्र-पुराणादि की परम्परा का अनुयायी था। संस्कृत के द्वारा वह अपने धर्म की बातें जानता और मानता रहा। शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि आचार्यों के द्वारा धर्म की दार्शनिक व्याख्याओं ने उन्हें ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध का विविध प्रकार से बोध कराया। उन्होंने भगवद्भक्ति का भी प्रयोजन और रूप निर्दिष्ट किया। उधर सदैव से चली आ रही ब्रह्म की सूक्ष्म सत्ता की मान्यता और यम-नियम के पालन से काया को शुद्ध कर के अष्टाङ्ग योग के मार्ग से अपने भीतर ही उसके साक्षात्कार का गोरखपन्थ भी चल ही रहा था। उसमें शिव की प्रतिष्ठा होते हुए भी भक्ति को स्थान न था। सन्तमत और सूफी धर्म में यत्रतत्र भगवद्भक्ति और प्रेम-निरूपण था अवश्य, किन्तु वह स्पष्टतया किसी निराकार का ही था। फिर उनमें पहला उनके परम्परागत धर्म आदर्श आदि की निन्दा के द्वारा उन्हें विरक्त करता था तो दूसरा अपने भीतर विदेशी धर्म के प्रच्छन्न समावेश के कारण। अतएव उपर्युक्त दाक्षिणात्य आचार्यों के प्रवर्तित भक्तिमार्ग में चलने की ओर इधर के

लोग भी अधिक प्रवृत्त हुए। इसमें पुरातन कर्मकाण्ड दूसरे रूप में प्रकट हुआ। वह तब यज्ञानुष्ठान में व्यक्त होता था। पीछे वर्ष के प्रायः प्रतिदिन के लिए निर्दिष्ट व्रत और अनुष्ठान उन्हें बदले हुए रूप में लिये रहे। उधर सिद्धों और अन्य वाममार्गी सम्प्रदायों की गुह्य साधना की क्रियाओं में उनका विकृताकार प्रकट हुआ। जैन-आचारों में भी क्रिया-कलाप की सीमा नहीं। अतः भारत की यह कर्म-विस्तार-साधना का अनिवार्य अङ्ग बन चुका था। यही वैष्णव भक्ति में अर्चा बन कर साथ लगा चला। दिन रात की विविध पूजा-अर्चना की ये प्रणालियाँ लिये विष्णु वा नारायण के अवतारों की भक्ति की पूरी प्रतिष्ठा इस बीच इस क्षेत्र में हो चुकी थी। उनमें राम और कृष्ण को सब से प्रमुखता प्राप्त हुई। इनके चरित्र पुराणों में वर्णित थे ही। उनके सहारे ईश्वर के रूप में इनकी उपासना के सम्प्रदाय चले। इन सम्प्रदायों के अनेक भेदोपभेद भी हुए। राम की भक्ति के प्रचारकों में रामानन्द तथा कृष्ण की उपासना के प्रवर्तकों में वल्लभाचार्य इस युग में सबसे प्रभावशाली हुए। चैतन्य की चलायी कीर्तन परक मादक कृष्णभक्ति के मधुर रस के रूप में व्याख्याकार गोस्वामि-द्वय रूप और सनातन भी इसी काल में अवतीर्ण हुए। जैसे सिद्ध क्षेत्र और नाथपीठ देश के भिन्न-भिन्न स्थलों में स्थापित हो सिद्धों और योगियों के धर्म के गढ़ बने थे वैसे ही उपर्युक्त आचार्यों के प्रवर्तित सम्प्रदायों के भी केन्द्र स्थापित हुए। प्रमुख तीर्थ चिरकाल से धर्मक्षेत्र थे ही। काशी पूर्व की भाँति इस काल में भी सब धर्मों का प्रधान स्थल बना रहा। रामानन्द ने भी वहीं से अपने रामावत-सम्प्रदाय का शङ्खनाद किया। आगे चल कर राम के जीवन से सम्बद्ध अयोध्या में उनके मतानुयायियों तथा प्रेमियों का अड्डा बना। उधर काशी से ही अपने धर्म का सिद्धान्त प्रवर्तित करने के बाद वल्लभाचार्य ने व्रज को अपना कार्यक्षेत्र चुना। वह कृष्ण का लीला-क्षेत्र होने से चैतन्य, मध्व, निम्बार्क और अन्य कृष्ण के उपासक सम्प्रदायों ने भी वहीं आसन जमाया।

इस प्रकार निर्गुणोपासना के साथ साथ ही सगुणोपासना का भी प्रचार हो रहा था। कुछ लोग समझते हैं कि सगुण भक्ति मुसलमानों के आधिपत्य की प्रतिक्रिया है। विजित जाति के लिए भगवान को पुकारने के अतिरिक्त और चारा ही क्या था।[1] परन्तु इतिहास साक्षी है कि इसी युग तक नहीं आगे

---

१. देखिये—रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास संवत् २००८ संस्करण, पृ० ६० और आगे।

भी हिन्दुओं ने मुसलमानों से हार कर भी कभी उनको पूर्णतया आत्मसमर्पण नहीं किया। कभी पूर्ण रूप से तथा अधिक समय के लिए उनकी प्रभुता भी नहीं मानी। स्वतन्त्र रहने का प्रयत्न वे निरन्तर करते रहे। वे कभी निराश नहीं हुए। जब निराशा उनके जीवन-दर्शन का अङ्ग ही नहीं, जब वे मरने के बाद भी जीवन का अन्त नहीं मानते और राजनीति के क्षेत्र में भी वे कभी हताश नहीं दिखलायी पड़े तब उनकी भक्ति को तुर्क-विजय का प्रसाद समझना उचित नहीं प्रतीत होता। धर्म के क्षेत्र में ही हिन्दुओं ने कभी किसी के सामने सिर नहीं झुकाया। उन्हें अपनी आध्यात्मिक पुरातनता का ही नहीं उसकी सर्व-श्रेष्ठता का सदैव अभिमान भी रहा है। वे दूसरों को पचाने में भी समर्थ रहे। बौद्ध धर्म का उसके ही जन्मस्थान से मूलोच्छेद और हिन्दू भक्ति की परम्परा में विलय किसे विदित नहीं? फिर आध्यात्मिक चिन्तन और सूक्ष्म दार्शनिक विवेचन भी हिन्दू मस्तिष्क और स्वभाव की विशेषता है। अतएव ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों आदि का ऊर्ध्वचेता हिन्दू कालान्तर में बौद्ध प्रभाव को मिटाने के लिए शङ्कराचार्य बन कर प्रकट हुआ। उसके दर्शन को प्रच्छन्न बौद्धवाद कह कर रामानुजादि ने मिटाने की चेष्टा की। यों धर्म की धारा प्रवहमान रही। यह आकस्मिक संयोग है कि निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की भक्ति के प्रबल समर्थक एक ही युग में हिन्दी के क्षेत्र में उत्पन्न हुए। सो ये सगुणोपासक राम और कृष्ण के भक्त पूर्ववर्ती और समकालीन आचार्यों और विद्वानों से प्राप्त भक्ति के साथ ही उनकी शास्त्रीय खण्डन-मण्डन प्रणाली से भी अवगत थे। तभी इन्होंने उन्हीं के ढंग से निर्गुण उपासना के खण्डन की भी प्रवृत्ति दिखलायी। यहाँ तक कि गोपी-विरह के मार्मिक प्रसङ्ग में भी इन्होंने निर्गुण के निराकरण और सगुण भक्ति के समर्थन के तर्क-वितर्क का वाग्जाल फैला दिया और तुलसी जैसे समर्थ कवि ने अपने काव्य-रत्न रामचरितमानस में कथा-प्रबन्ध की योजना ही निर्गुण मतवाद को ध्वस्त कर रामभक्ति की प्रतिष्ठा करने के लिए की। उन्होंने भी कथा-प्रबन्ध में रुक-रुक कर यह खण्डन-मण्डन जारी रखा। अस्तु तत्कालीन भक्तिकाव्य न तो राजनीतिक पराधीनता का प्रसाद है और न निर्गुण सन्तों और सूफियों की प्रतिक्रिया ही। वह तो हिन्दू-शास्त्रों के क्रम-विकास का स्वाभाविक फल है, उनमें व्यक्त धर्म-पद्धतियों का सहज रूप है। उनमें तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति-जन्य समन्वय की चेष्टा वैसे ही समझनी चाहिये जैसे पहले भी समय समय पर ज्ञान, कर्म और उपासना के समन्वय की चेष्टा होती आयी है। साथ ही जिस प्रकार पहले के आचार्य अपने समय की आवश्यकताओं के अनुसार धर्मग्रंथों के

सहारे अपने धर्म की व्याख्या कर उसे कालोपयोगी बनाये रखते थे वैसे ही इस युग के भक्तों ने भी सामयिक समाज की सड़न, निर्जीवता आदि को समझा और अपने सिद्धान्तों को युगानुकूल बनाया। इस प्रकार उनकी शाश्वतता प्रकट की। उदाहरणार्थ रामानन्द का नीच कही जा रही जातियों को भी दीक्षा देना और उसी मनोवृत्ति का तुलसी के द्वारा रामचरितमानस में व्यावहारिक रूप दान, जो केवट के साथ राम के ही नहीं वशिष्ठ जैसे ऋषि एवं भरत जैसे राजपुरुष के मिलन के समय प्रकट हुआ।

ऊपर कही बातों से विदित हो गया होगा कि कृष्ण और राम की भक्ति के प्रसार में हिन्दी कवियों का भी योग था। इन दोनों अवतारों की भक्ति-विषयक रचनाएँ साथ-साथ होती रहीं। एक ही क्षेत्र और बहुधा स्थान में रह रहे कवि अपनी रुचि के अनुसार काव्य का अवलम्बन ग्रहण करते रहे। कैसा विचित्र संयोग हुआ कि कृष्ण विषयक काव्य व्रजभाषा में रचे गये, और राम विषयक अवधी में जो उनके लीला-क्षेत्रों की भाषाओं की कविकालीन उत्तराधिकारिणी थीं। कभी-कभी इसके अपवाद भी देखने में आये, किन्तु सामान्य स्थिति प्रायः यही रही। सुभीते के लिए हम कृष्ण और राम के उपासक कवियों और काव्यों का लेखा अलग-अलग देंगे।

क. कृष्णभक्ति

प्रवृत्ति—व्यास ने महाभारत, भागवत, हरिवंश आदि में श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन किया। अनेक कवियों ने उनमें वर्णित आख्यान के आधार पर काव्य नाटक चम्पू आदि बनाये। परन्तु कृष्णभक्त कवियों ने महाभारत के कृष्ण की ओर नाम मात्र को देखा। उन्होंने भागवत, हरिवंश आदि पुराणों की कृष्ण-लीलाओं को ही गाया। इसका विशेष कारण भी था। शंकर का अनुगमन करके मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि ने ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता में अपने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का मूल दिखलाने के लिए उनके भाष्य किये थे, किन्तु उन्होंने उपासना के लिए अपने मत का आधार भागवत हरिवंश आदि को ही माना। उन्होंने उसमें कृष्ण और गोपी के प्रेम को भक्ति का आदर्श ठहराया। उदाहरणार्थ वल्लभाचार्य ने भागवत की स्वरचित तत्त्व-बोधिनी टीका में अपने पुष्टि मार्ग के दार्शनिक सिद्धान्तों की भक्तिपरक व्याख्या की। यह तथा अन्य आचार्यों के भक्ति-निरूपक ग्रन्थ ही कृष्णभक्त कवियों के पथ-प्रदर्शक हुए। इन भक्तों ने आचार्यों के सिखाये-बताये भक्ति-सिद्धान्तों को लोक वाणी दी और उसके द्वारा जनता के कर्ण-कुहरों की राह उसके हृदय

में पहुँचाया। बहुत ही भावुक थे ये भक्त कवि। तन्मय हो कर कृष्ण की शिशु एवं किशोर अवस्था की लीलाओं को गाते। उनमें स्वयं मग्न रहते और गान सुनने वालों को आप्लावित कर देते। गोपी-प्रेम में वेद और लोक के बन्धनों को काट कर कृष्ण-मिलन की तीव्र और प्रबल उत्कण्ठा होती है। इन कवियों की राधा चन्द्रावली आदि नाम-धारिणी तथा अनेक अनामी गोपियाँ शास्त्र-विदित नियमों तथा कुल की मर्यादा का उलङ्घन कर घर वालों के रोकने पर भी कृष्ण के पास यमुना तट पर कदम्ब तले रास करने जाती हैं। कृष्ण के गोचारण के लिए जाने और उसके लौटने के समय सब काम छोड़ उन्हें देखने के लिए बाहर एकत्र होती हैं। घरों में घुस कर, जमुना किनारे, राह चलते जहाँ भी अवसर पाते हैं कृष्ण उनसे छेड़छाड़ करते हैं। अकेले? नहीं, अपने साथ ग्वालों की मण्डली ले कर। समाज में उन्हें कोई रोकने-टोकने वाला नहीं। किशोरी और युवती कुमारियाँ और विवाहिता नारियाँ कृष्ण के वियोग में खुल कर रोती-तड़पती हैं। कोई उनको बुरा भला नहीं कहता। कृष्ण जैसे व्रज भर की सुन्दरियों के एक मात्र प्रेमी हों। जैसे वहाँ समाज में कोई ऐसा था ही नहीं जो इस सार्वजनिक प्रेम-लीला को रोकना आवश्यक वा उचित समझता। आचार्यों ने गोपी को आत्मा और कृष्ण को परमात्मा जो बना दिया था। जब गोपी-कृष्ण का अनुराग और सम्मिलन आत्मा-परमात्मा का संयोग है तब फिर कवि जैसे चाहे वैसे उसका वर्णन करे। बहुधा विवाहित जीवन का अनुभव किये बिना ही जो घर बार छोड़ कर ऐसे धर्म का समर्थन पा जाय वह यदि कुछ कर न सके तो क्या बेचारा अपनी दबी वासना को खुल कर प्रकट भी न करे! जो जीवन का अनुभव करके विरक्त हुआ हो अथवा जिसने यम-नियम के सतत अभ्यास से मनोवृत्तियों को उदात्त बना लिया हो उसकी बात और हो सकती है, पर जिस मार्ग में चलने के लिए मन को गीतोक्त अभ्यास और वैराग्य से वश में करने का प्रयोजन न हो, केवल मान लेनी हो भगवत्प्रपत्ति और समर्पण की बात, उसका अनुगामी कब तक संयम रख पायेगा? इन्हीं मनोवैज्ञानिक कारणों से बाल-लीला और गोपी-विरह के अद्वितीय गायक सूरदास ने भी आत्म-विभोर हो कर कृष्ण के ऐसे कृत्यों को ब्योरेवार गाया है जिन्हें दूसरों के सामने पढ़ने में सङ्कोच होता है। अन्य कवियों ने भी इन व्यापारों को मन लगा कर बखाना है। इन प्रसङ्गों को भक्ति मान कर वास्तविकता से आँख मूँदना ठीक समझा जाय तो हमें कुछ नहीं कहना, किन्तु इसी मनोवृत्ति ने अगले युग तक पहुँचते पहुँचते कृष्ण और राधा को रसिकता-प्रदर्शन का प्रतीक बना कर उनकी जो कुत्सा की वह कही नहीं जा सकती।

जिस किसी को शृङ्गार से प्रेम हो वह उसे जैसे चाहे वैसे व्यक्त करे, किन्तु किसी को क्या अधिकार कि जिसे वह भगवान् और आद्याशक्ति कहता है उसके ऊपर ऐसे प्रेम नामधारी कर्म थोपता है जो वह स्वयं कर के भी कहने का साहस नहीं कर सकता। अस्तु, यही भक्ति इसी युग के अन्त होते होते कुछ लोगों के हाथ में पड़ कर सखी सम्प्रदाय तक जा पहुँची। फलतः सपत्नी के प्रेम को सामान्य समर्थन मिला और गोपियों के छिप कर कृष्ण से मिलने जाने के प्रसङ्ग बनने लगे। उनको कहने-सुनने वालों की तुष्टि हुई और भविष्यत् की नायिकाओं और अभिसारिकाओं की पृष्ठभूमि तैयार हुई। गुरु की महत्ता यहाँ भी बनी रही। यह पुरातन धर्म में 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः गुरुः साक्षात् परब्रह्म' तक पहुँच ही चुकी थी। फिर इस प्राचीन परम्परा के नये संस्करण में वह सिद्धों, योगियों और सन्तों के सद्गुरु और सूफियों के पीर का समकक्ष क्यों न रहता? वह भगवत्स्थानीय कहा गया। जब भक्त के लिए कृष्ण को आत्मसमर्पण का विधान बना तब कृष्णकल्प गुरु गुसाईं के लिए तन मन धन सब के समर्पण के औचित्य पर कैसे उँगली उठाई जाय? इस समर्पण ने अनधिकारियों के हाथ में पड़ कर क्या किया—यह हम अपने जीवनकाल में भी बहुधा देखने को पाया करते हैं। अतः मूलतः शुद्ध होते हुए भी कृष्णोपासना विकारग्रस्त मन वालों के लिए कुपथ-प्रदर्शन की विधायिका बनी। परन्तु जहाँ वासना का लगाव नहीं हुआ वहाँ तक प्रेम की तन्मयता जैसी इस युग के कृष्ण-काव्य में मिलती है वैसी फिर दुर्लभ रही। अधिकतर मुक्तक गीतों में कृष्ण के बाल और किशोर काल के चरित्र गाये गये। उनमें कथा कहने की उतनी प्रवृत्ति नहीं रही जितनी मानसिक स्थिति के प्रदर्शन की। कुछ कृष्ण-परक प्रबन्धात्मक रचनाएँ भी हुईं। वस्तु और दृश्य के चित्रण में भी कवियों को विशेष सफलता मिली। व्रजभाषा की मधुरता का उत्कर्ष भी इस युग के अनेक कवियों के पदों में द्रष्टव्य है।

साथ ही उनकी अलंकृत वर्णन-शैली भी रमणीय है। आगे इस परंपरा के कुछ प्रतिनिधि कवियों और उनके रचना-सौष्ठव से अवगत कराने की चेष्टा की जायगी।

पुष्टिमार्ग और अष्टछाप

महाप्रभु वल्लभाचार्य (१४७८–१५३० ई०) ने माना है कि जीव भगवान् की ओर उनके अनुग्रह (पोषण, पुष्टि) के द्वारा ही आकृष्ट होता है। इसी से भक्ति के अपने सम्प्रदाय को उन्होंने पुष्टि मार्ग कहा। भक्त को चाहिए

कि वह इस "मार्ग में आने के लिए लोक और वेद के प्रलोभनों से दूर हो जाय—उन फलों की आकांक्षा छोड़ दे जो लोक का अनुसरण करने से प्राप्त होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कर्मों के सम्पादन द्वारा की गई है। यह तभी हो सकता है जब कि साधक भगवान के चरणों में अपने को समर्पित कर दे। इसी समर्पण से इस मार्ग का आरम्भ होता है और पुरुषोत्तम भगवान के स्वरूप का अनुभव और लीला-सृष्टि में प्रवेश हो जाने पर अन्त। बीच का मार्ग सेवा द्वारा प्राप्त होता है, जिससे अहंता और ममता का नाश हो जाता है और भगवान् के स्वरूप के अनुभव की क्षमता प्राप्त होती है।"[1] सेवा में तन, मन और धन सबसे सेवा का विधान है। मन में प्रेम से भक्ति करने से भगवान् की पुष्टि की प्राप्ति सम्भव है। इसी की चाह पुष्टिमार्गी भक्त करता है। वह भाव के द्वारा यह मानसिक सेवा सम्पन्न करने में समर्थ होता है। वल्लभाचार्य ने बाल भाव से कृष्ण की उपासना चलायी, परन्तु उनके उत्तराधिकारी एवं पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने उसमें कान्ता भाव का भी समावेश किया। अतएव उस मार्ग में राधा और गोपी-प्रेम का समावेश हुआ। इस मार्ग में सेवा में वैभव की प्रधानता मिलती है। भगवान् के विग्रह की नित्य सेवा बड़े ठाट बाट से होती है। अनेक बार नये नये वस्त्राभूषण, साजसज्जा के साथ शृंगार तथा बहुत प्रकार के सुस्वादु पदार्थों के भोग के द्वारा वैभव का प्रदर्शन होने लगा। अन्तःकरण की शुद्धि पर उतना ध्यान न रह गया जितना बाहरी शुचिता पर केंद्रित हुआ। धन के इसी बाहरी चमत्कार में भक्तजन की मनोवृत्ति रमी रह गयी और वे कीर्त्तन के अवसर पर गोपी-लीला के मादक प्रसङ्गों को आतुर रहने लगे। भावावेश प्रकट होने लगा। बहुधा वह अनधिकारियों की दुर्वृत्तियों को छिपाने में सहायक हुआ। उक्त दोनों आचार्यों ने अनेक शिष्यों को दीक्षा दी। चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ताओं में उन सब का वृत्तांत दिया गया है। इन सब में आठ विशिष्ट भक्त चुन कर विट्ठल जी ने उनको 'अष्टछाप' कहा। साम्प्रदायिक परम्परा में इनको श्रीकृष्ण के आठ सखाओं का अवतार माना जाता है, जो गोलोक में उनके साथ नित्य लीला में रहते हैं। परन्तु लौकिक दृष्टि से ये आठों भक्त पुष्टिमार्ग में सबसे प्रमुख और संगीत में प्रवीण कवि थे। इनके पद उस सम्प्रदाय के सभी मन्दिरों में तब से अब तक बराबर गाये जाते हैं। इस कारण इनका प्रचार उन सभी प्रदेशों में है जहाँ ये मन्दिर हैं। अष्टछाप के कवियों के नाम हैं—कुम्भनदास,

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—सूरदास

सूरदास, परमानन्ददास, गोविन्द स्वामी, नन्ददास, छीतस्वामी और चतुर्भुज दास। इनमें पहले चार वल्लभाचार्य के शिष्य थे और शेष विट्ठलदास के। मध्व निम्बार्क आदि आचार्यों की प्रवर्तित कृष्णोपासना में भी यही गोपीजन-वल्लभ व्रजवासी रूप ही प्रतिष्ठित हुआ। कुछ साम्प्रदायिक सिद्धान्तों में सूक्ष्म भेद रहते हुए इन सभी के अनुयायी भक्त कवियों की रचना साहित्य के विद्यार्थियों के लिए प्रायः एक सी है। इन सबने बालकृष्ण और गोपी-प्रेम को आदर्श मान कर उन्हीं के सम्बन्ध में उद्‌गार व्यक्त किये। उनकी संख्या बहुत अधिक है। यहाँ कुछ चुने हुए श्रेष्ठ भक्त कवियों का उल्लेख होगा।

कुम्भनदास—इनका जन्म गोवर्द्धन के समीप जमुनावतौ गाँव के गौरवा क्षत्रिय कुल में १४६८ ई० (चैत्र कृ० ११, १५२२ वि०) में हुआ। पारसौली-चन्द्रसरोवर में इनके पुरखों के खेत थे। उसी से इनकी जीविका चलती थी। इनका कुटुम्ब बड़ा था। सात पुत्र थे। खेती की आय से किसी प्रकार कुटुम्ब-पालन करते। सन्तोषी और अनासक्त थे। आरम्भ से ही भगवान् के भक्त थे। गोवर्द्धन में श्रीनाथजी के प्रकट होने पर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उनको छोटे से मन्दिर में पधराया। उसी समय कुम्भनदास ने उनसे दीक्षा ली और धर्म का मर्म समझा। उनका गला बहुत सुरीला था। वे कीर्तन अच्छा गाते थे। महाप्रभु ने उन्हें कीर्तन की सेवा में नियुक्त किया। उनके पद चारों ओर प्रसिद्ध हो गये। किसी गवैये से उनका कोई पद सुन कर बादशाह अकबर ने उन्हें फतहपुर-सीकरी बुलवाया। विवश हो कुम्भनदास वहाँ गये। बादशाह के आग्रह करने पर उन्होंने उसी समय यह पद बना कर गाया—

> भक्तन को कहा सीकरी सों काम ?
> आवत जात पन्हैया टूटी बिसरि गयो हरि नाम।
> जाको मुख देखे दुख लागै ताको करन परी परनाम।
> कुम्भनदास लाल गिरिधर बिन यह सब झूठो धाम।

उनकी भगवद्‌भक्ति से प्रभावित हो अकबर ने उनसे कुछ माँगने को कहा। उन्होंने कहा कि आज के बाद मुझे कभी न बुलाना। इसी प्रकार की एक और प्रसिद्धि है कि मानसिंह इनके पास गये। उन्होंने इनको बहुत कुछ देना चाहा परन्तु इन्होंने तनिक भी लोभ न दिखाया, यद्यपि इनके पास रहने को झोपड़ी मात्र थी। अन्त में उनके आग्रह करने पर यही माँगा कि मेरे यहाँ फिर न आना। ये श्रीनाथजी के अनन्य भक्त थे। उनसे अलग रहना सह नहीं सकते थे। एक बार गोस्वामी विट्ठलनाथ जी अपने साथ इन्हें बाहर ले गये,

किन्तु अल्पकाल में ही गोवर्द्धन लौटाने को विवश हुए। इन्होंने १५८३ ई० के आसपास शरीर त्यागा।

फुटकल पदों के अतिरिक्त इन्होंने 'दानलीला' की भी रचना की। इनके पद सरस और भावपूर्ण हैं। यह नीचे के छंदों में देखिये—

कबहुँ देखहौं इन नैननु।
सुन्दर स्याम मनोहर मूरत अंग अंग सुख दैननु।
बृन्दाबन बिहार दिन दिन प्रति गोपवृन्द सँग लैननु।
हँसि हँसि हरषि पतौवन पीवन बाँटि बाँटि पथ फैननु।
कुंभनदास किते दिन बीते किये रेनु सुख सैननु।
अब गिरिधर बिन निस औ बासर मन न रहत क्यों चैननु।

माई गिरधर के गुन गाऊँ।
मेरे तौ ब्रत ये है निसिदिन और न रुचि उपजाऊँ।
खेलन आँगन आउ लाडिले, नैकहुँ दरसन पाऊँ।
कुम्भनदास इह जग के कारन लालच लागि रहाऊँ।

सूरदास—सन् १४७८ ई० (वैशाख शुक्ल पंचमी १५३५ वि०) में दिल्ली के समीप सीही के एक सारस्वत ब्राह्मण के घर में सूरदास उत्पन्न हुए। कुछ लोग इनका जन्म-काल १४५७ ई० और इन्हें ब्रह्मभट्ट मानते हैं। जन्म से ही नेत्रविहीन थे। बाल्यकाल में ही घर छोड़ पहले गऊघाट में रहते थे। भगवत् विनय के पद रच कर गाया करते थे। वहीं सन् १५०६-१० के आस-पास महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य हुए। तब उनके मुँह से भागवत की सुबोधिनी टीका और पुष्टि-मार्ग के सिद्धान्तों का श्रवण किया। महाप्रभु ने उन्हें श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा सौंपी। उनके बादशाह अकबर से भेंट के विषय में किंवदन्ती है। अनुमान किया जाता है कि १५७६ ई० के इधर-उधर मथुरा में दोनों की भेंट हुई हो। कहते हैं सूरदास ने उन्हें 'मना रे तू करि माधव सों प्रीति' और 'नाहिन रह्यो मन में ठौर' अपने ये प्रसिद्ध पद सुनाये। वल्लभाचार्यजी की शरण में आने के बाद से ये चन्द्रसरोवर के पास पारसौली गाँव में रहते थे। वहीं सन् १५८३ (संवत् १६३६-४०) में उनका गोलोकवास और अन्त्येष्टि संस्कार हुआ। अपने सम्प्रदाय के भीतर तो वे इतने प्रतिष्ठित थे कि उनके मरणासन्न होने पर गोस्वामी विट्ठलनाथ ने कहा था कि 'पुष्टि मारग को जहाज जात है सो जाको कछू लेनो होय सो लेउ'।

सूरदास के बनाये पदों में सूर, सूरदास, सूरजदास[1] और सूरस्वाम

---

१. कहीं ऐसा तो नहीं है कि उनका वास्तविक नाम सूरजदास था; सूर होने

पौनी शताब्दी तक किया। इसलिए क्या एक ही अवसर के लिए नित्य ही नये पदों की रचना सम्भव हो सकती है! विशेष कर जब लीला का प्रकरण नित्य वही हो। फिर भी नित्य एक ही पद की आवृत्ति भी तो भावुक भक्त को संतोष न देती होगी। इसी से एक ही प्रसङ्ग के कई पद मिलते हैं, परन्तु भाव-सादृश्य के साथ ही उनके भीतर प्रयुक्त युक्ति और कल्पना ही नहीं प्रायः शब्दावलि और अलंकार-योजना भी मिल जाती है। और जो हो, यह प्रबन्ध काव्य तो है नहीं जिसमें पुनरुक्ति खटकती है, एक तो मुक्तक गीत की रचना, फिर लीला-पुरुषोत्तम की लीला, जो भावुक भक्त के लिए नित्य नयी होती है, कभी बासी नहीं होती।

ऊपर यह सूचित किया जा चुका है कि सूर ने श्रीकृष्ण के शैशव तथा कैशोर काल के कार्यों को ही कीर्तन के लिए चुना था। इसका मुख्य कारण है साम्प्रदायिक बन्धन। श्रीकृष्ण के जीवन-काल का यही रूप पुष्टि-मार्ग का उपास्य है। अतः इसी में उसके अनुयायी की वृत्ति रमेगी। अपने इष्टदेव के रूप में वह कृष्ण का यही रूप लेगा और उनके शेष जीवन के विविध रूपों को आवश्यकतानुसार देखेगा, किन्तु उनकी उपासना न करेगा। सूर काव्य-रचना के लिए इस क्षेत्र में नहीं आये थे। वे तो उपासना के निमित्त पद-रचना करते थे। इससे उनका मन अन्यत्र भटका नहीं, वह निरन्तर अपने उपास्य के इन्हीं रूपों के चतुर्दिक् मँडराता रहा। उनके श्रीकृष्ण यदुवंशी राजकुल में उत्पन्न हो कर भी गोकुल के गोप-कुमार ही थे। सूर ने उनके जिस जीवन का जम कर विशद रूप में वर्णन किया है वह भी गोपों के बालकों, बालिकाओं, नारियों आदि के बीच उत्पन्न और विकसित हुआ। यद्यपि उनके पोषक पिता माता—नन्द और यशोदा—गोपों के राजा थे, और कभी-कभी उनके वैभव का संकेत भी हुआ है फिर भी भोले-भाले ग्रामीण अहीरों, उनकी गायों और उनके वनों के साथ रह रहे कृष्ण के चरित में सामान्य जन-सुलभ कार्यों का चित्रण हुआ है। इससे सूर के कृष्ण जन-जीवन के इतने निकट हैं। भक्त के द्वारा वर्णित ये कार्य उनकी लीलाएँ हैं, जिन्हें भक्त की ही आँखों से देखना चाहिये, किसी अन्य प्रकार के चश्मे के भीतर से नहीं। ऐसा होने पर ही कृष्ण और गोपियों की प्रेम-चर्चा अस्वाभाविक और लोक-बाह्य न प्रतीत होगी। कवि के दृष्टि-विन्दु को ठीक से जानने के बाद तदनुरूप विचार-कसौटी में कसने पर ही उसकी रचना के साथ उचित न्याय हो सकेगा। यहाँ मुख्य रूप से सूर के साहित्यिक महत्त्व का प्रदर्शन अभीष्ट है। अतएव इस स्थल पर हम उन सूर के द्वारा कृष्ण और गोपी-प्रेम के निरूपण पर दृष्टिपात न कर

पायेंगे जो भक्त-मण्डली में श्रीकृष्ण के परम अन्तरङ्ग सखा उद्धव के अवतार माने जाते हैं; जिन्हें उनके प्रत्येक कार्य के देखने और उनके पार्थिव कृत्यों को अपार्थिव रूप में प्रकट करने का अधिकार प्राप्त था। ऐसा करने पर ही कृष्ण और राधा के मिलन के संबंध की उन सभी बातों से छुटकारा मिल जायगा जिनमें नीबी-बन्धन खोलने और कुंज-बिहार आदि के ऐसे रसीले वर्णनों का प्राचुर्य है, जिनकी स्मृति कुरुक्षेत्र में मिलने के समय भी राधा को सताती रही। भक्त के लिए ये सभी लीलाएँ भले ही सूफी साधना के इश्कहकीकी की प्रतिरूप हों, किन्तु मादृश संसारी जीव को तो उनमें भोगवृत्ति की वास्तविक नहीं तो मानसिक तृप्ति ही दिखलायी पड़ेगी।

अतएव कवि सूरदास-कृत श्रीकृष्ण की बाललीलाओं को पहले देखते चलें। शिशुकाल की स्वाभाविक चेष्टाओं, दशाओं और क्रियाओं का वर्णन करते समय सूर अन्धे नहीं जान पड़ते। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें सचमुच भीतर की दृष्टि मिल गयी थी। कृष्ण की सुन्दरता देख कर घर-गाँव और पास-पड़ोस के आबाल-वृद्ध नर-नारी मोहित हो जाते थे। कवि ने शिशुता की विविध अवस्थाओं के अगणित मनोरम चित्र खींचे हैं। वे एक से एक बढ़ कर आकर्षक हैं। उनका वर्णन करते समय सूर उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा देते हैं, फिर भी अघाते नहीं। कहते हैं—कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई। श्रीकृष्ण अहीर के बालक ठहरे। फिर घर में जो देखते उसका अनुकरण छुटपन से ही क्यों न करते? प्रत्येक शिशु यही तो किया करता है। उनके गायों को पुकारने, उनको चराने जाने, दुहने आदि के नाट्य सब बच्चेवालों के मन को मोह लेते हैं। जब बड़े होने पर गोचारण के लिए ग्वाल-बालों के साथ जाते हैं तब तो सारा व्रज उन्हें आते-जाते देखने के लिए उमड़ पड़ता है। उस दृश्य में नागरिक मर्यादा की कृत्रिमता कहाँ? तभी न सूर उस प्रसङ्ग का वर्णन करते समय अपना हृदय उँडेल कर रख देते हैं। गोप-कुमारों के साथ श्रीकृष्ण के घर-घर में घुस कर दही माखन चुराने और गली-गली ग्वालिनों से दही लूटने के दृश्य सूर ने कितनी आँखों से देखे होंगे? शारदी पूर्णिमा के रास में लोक-नृत्य का अकलुष चल-चित्र उपस्थित करने में सूरदास को कितनी अद्भुत सफलता मिली है! गोपीजन-वल्लभ कृष्ण के साथ व्रजबालाओं के मधुर संयोग की विस्मृति क्या तब तक सम्भव है जब तक सूर के पद विद्यमान हैं?

श्रीकृष्ण के अक्रूर के साथ मथुरा जाते समय और बाद के नन्द, यशोदा, गोपियों और राधा के करुण चित्र हम भुला नहीं पाते। उद्धव के आगमन से नया दृश्य पट खुल जाता है। प्रियतम की प्रेमपाती की बात सुन

कर उल्लास की लहर सी दौड़ जाती है। मुरझाई लताएँ थोड़ी देर के लिए लहलहा उठती हैं। पाती पढ़ने के लिए हाथ में लेते ही प्रियमिलन के सुख के आँसुओं की धार बह निकलती है और 'लोचनजल कागद मसि मिलिकै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती।' तब फिर उद्धव के मुँह से प्रिय का भेजा सन्देश सुनने के लिए कान उतावले हो उठे। उद्धव ने उल्टे उन्हें ज्ञानोपदेश देना आरम्भ किया। कुछ देर तक गोपियाँ मुरौवत में आ कर उनकी अटपटी बातें सुनती रहीं, कारण वे प्रिय के दूत जो ठहरे; परन्तु फिर उन्होंने उनकी जो गत बनाई; उनकी जैसे खिल्ली उड़ाई और उनको जैसे चुप करा दिया वह आज भी हमारे सामने उनकी चुहल, व्यञ्जना और तर्क-निपुणता को उपस्थित करता है। ऐसा है वह मार्मिक प्रसङ्ग कि उसके भीतर कहीं बाहर से आ घुसे निर्गुण-निराकरण की ओर हमारा ध्यान तक नहीं जाता और न हमें सोचने देता है कि गोपी-प्रेम की अनन्यता के प्रदर्शन के बहाने यह पुष्टिमार्गी भक्ति का उत्कृष्ट चित्रण वल्लभाचार्य के मत का कवित्वपूर्ण प्रतिपादन है।[1] उद्धव का तर्क-शून्य हो गोपी-प्रेम का अनुगत होना सगुण-भक्ति की अपेक्षा निर्गुण उपासना की अव्यावहारिकता और साधारण जनता के लिए अनुपयुक्तता का अकाट्य प्रमाण ही तो है। परन्तु सहृदय पाठक तो इस उद्धव-गोपी प्रसङ्ग के मार्मिक उद्गारों में विमुग्ध हो थोड़ी देर के लिए अपने को भूल-सा जाता है। इस गोपी-प्रेम के बीच बिखरे हुए राधा-कृष्ण के बाल्यकाल से उत्पन्न साहचर्य-जन्य प्रेम के संयोग और वियोग दोनों पक्षों के जो मनोरम रेखाचित्र हैं उनसे राधा की अलौकिक मूर्ति सदैव के लिए हमारे हृदय में घर कर लेती है।

---

१. 'कृष्णाश्रय' नामक अपने एक प्रकरण ग्रन्थ में वल्लभाचार्य ने अपने समय की अत्यन्त विपरीत दशा का वर्णन किया है जिसमें उन्हें वेद मार्ग वा मर्यादा मार्ग का अनुसरण अत्यन्त कठिन दिखाई पड़ा है। देश में मुसलमानी साम्राज्य अच्छी तरह दृढ हो चुका था। हिन्दुओं का एकमात्र स्वतन्त्र और प्रभावशाली राज्य दक्षिण का विजयनगर राज्य रह गया था, पर बहमनी मुसलमानों के पड़ोस में रहने के कारण उसके दिन भी गिने हुए दिखाई पड़ते थे। इस्लामी संस्कार धीरे धीरे जमते जा रहे थे। सूफी पीरों के द्वारा सूफी पद्धति की प्रेम-लक्षणा भक्ति का प्रचार कार्य धूम से चल रहा था। एक ओर निर्गुण पन्थ के सन्त लोग वेद-शास्त्र की विधियों पर से जनता की आस्था घटाने में जुटे हुए थे। अतः वल्लभाचार्य ने अपने पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन बहुत कुछ देशकाल देख कर किया था।

(रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास २००८ वि० संस्करण, पृ० १५६-५७)

थोड़े में यह है सूर के द्वारा वर्णित प्रसङ्गों की झलक। विषय वस्तु, दृश्य-विधान और भाव-निरूपण के अद्वितीय कवि सूरदास शब्द-शिल्प के भी अद्भुत कलाकार हैं। उनके पदों में व्रज-भाषा का अकृत्रिम प्रवाह, अलङ्कार का स्वाभाविक संयोजन तथा रस-सञ्चार का सफल प्रयास अभिनन्दनीय है। उनकी रचना के सम्बन्ध में नाभादास ने ठीक ही कहा है कि

उक्ति चोज अनुप्रास बरन अस्थिति अति भारी,
बचन प्रीति-निर्बाह अर्थ अद्भुत तुक धारी।

उनकी रसमयी रचना के कुछ अवतरण नीचे कवि के काव्य-कौशल की बानगी प्रस्तुत करते हैं—

कान्ह चलत पग द्वै द्वै धरनी,
जो मन में अभिलाष करत ही सो देखति नँद घरनी।
रुनुक-झुनुक पग नूपुर बाजैं धुनि अति ही मन हरनी।
बैठि जात पुनि उठत तुरत ही सो छबि जाइ न बरनी।
कजरी को पय पियहु लला तेरी बेनी बढ़ै।
जैसे देखि और व्रज बालक ज्यों बल बैस बढ़े।
यह सुनि कै हरि पीवन लागे ज्यों त्यों लयो लढ़ै।
अँचवत पय तातो जब लाग्यो रोवत जीभ डढ़ै।
पुनि पीवत ही कच टकटोरत झूठहि जननि रढ़ै।
सूर निरखि मुख हँसति जसोदा सो सुख उर न कढ़ै।
मैया मोरी, मैं नहिं माखन खायो।
मैं बालक बैंयन को छोटो छींको किस विधि पायो!
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं बरबस मुख लपटायो।
तू जननी मन की अति भोरी इनके कहे पतियायो।
तेरे जिय कछु भेद उपज है जानि परायो जायो।
यह लै अपनी लकुट कमरिया बहुतै नाच नचायो।
सूरदास तब हँसी जसोदा लै उर कंठ लगायो।
सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो।
उबटन तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती धरम करम के नाते।
तुम तौ टेंव जानतिहि ह्वैहौ तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहि माखन रोटी भावै।

अब यह सूर मोहिं निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक लड़ैते लालन ह्वैहैं करत सँकोच।
ऊधो, जाहु तुम्हैं हम जाने।
स्याम तुम्हें ह्याँ नाहिं पठाये तुम हौ बीच भुलाने।
ब्रजबासिन सों जोग कहत हौ बातहु कहत न जाने।
बड़ लागै न बिवेक तुम्हारो ऐसे नये अयाने।
हमसों कही लई सो सुनि कै जिय गुनि लेहु अपाने।
कहँ अबला कहँ दसा दिगंबर समुख करो पहिचाने।
साँच कहो तुमको अपनी सौं बूझति बात निदाने—
सूर स्याम जब तुम्हें पठाये तब नेकहु मुसुकाने!

परमानन्ददास—सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार ये १४९३ ई० में (सोमवार मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, १५५० वि० को) कन्नौज में कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर में उत्पन्न हुए। इनके पिता दीक्षा दे कर शिष्य बनाया करते थे। इससे उनकी आर्थिक स्थिति साधारण रूप से ठीक थी। इन्होंने विवाह नहीं किया और शिष्य करने की पैतृक प्रथा का अनुकरण किया। इससे समाज में इन्हें पर्याप्त प्रतिष्ठा मिली, धन-धान्य का भी कष्ट न रहा। ये संगीत और काव्य-रचना में भी प्रवीण थे और कीर्तन करने में विख्यात थे। एक बार माघ में प्रयाग गये। वहीं जमुना पार अड़ैल (वर्तमान अरैल) में १५१९ ई० के लगभग महाप्रभु वल्लभाचार्य के अनुगत हुए। तब से उन्हीं के साथ रहने लगे। महाप्रभु के वहाँ से १५२५ ई० में व्रज जाते समय ये भी उनके साथ हो लिये। बीच में अपने घर कन्नौज ले गये। वहाँ उन्होंने आचार्य के कहने पर विरह का यह पद गा कर सुनाया जिसे सुनकर वे तीन दिन तक भावावेश में अचेत रहे—

हरि तेरी लीला की सुधि आवै।
कमल नैन मनमोहनी मूरति मन मन चित्र बनावै।
एक बार जाय मिलत मया करि सो कैसे बिसरावै।
मुख मुसकानि बंक अवलोकनि चाल मनोहर भावै।
कबहुँक निबड़ तिमिर आलिंगित कबहुँक पिक सुर गावै।
कबहुँक संभ्रम क्वासि-क्वासि कहि संग हीन उठि धावै।
कबहुँक नैन मूँदि अंतरगति मनिमाला पहिरावै।
परमानंद प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे विरह गवाँवै।

व्रज पहुँच कर कुछ दिन गोकुल में रहने के बाद गोवर्द्धन के सुरभी-कुण्ड में स्थायी निवास किया। शेष जीवन भर वहीं भगवद्-भजन, कीर्तन और

पद-रचना करते रहे। अन्त समय आने पर राधा की कृष्ण-मिलन के लिए शृंङ्गार करती हुई छवि के विषय का पद गाते हुए उनकी वाणी १५८४ ई० में (भाद्रपद कृष्ण ६, १६४१ वि० को) चिर मौन हुई।

अष्टछाप के कवियों में गोसाईं विट्ठलनाथ सूरदास के अतिरिक्त इन्हें भी सागर कहते थे। इनके रचे पद बहुत अधिक हैं। उनका सङ्कलन 'परमानंद सागर' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने ये ग्रन्थ रचे थे—परमानन्द जी कौ पद, दान लीला, उद्धव लीला, ध्रुव चरित्र तथा संस्कृत रत्नमाला। ये सब पुष्टिमार्गी परम्परा के हैं। परमानन्द ने कृष्ण की उन्हीं लीलाओं का वर्णन किया है जो इस सम्प्रदाय की भावना के अनुरूप हैं। उनमें बाललीला और गोपी-प्रेम के विविध प्रसङ्गों का चित्रण है। सूर की नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा न होते हुए भी परमानन्द में भक्त की तन्मयता थी। इससे उनके पदों में भाव-प्रदर्शन सफल हुआ है। प्रेम की संयोग और वियोग दोनों दशाओं के अनेक रमणीय विधान हुए हैं, जिनमें कुछ कुंजविहारी कृष्ण के कृत्य भी हैं। प्रकृति का उपयोग आलम्बन के रूप में हुआ है। शब्दावलि भाव की अनुगामिनी है। उसमें यथेष्ट सरसता है। उन्होंने कुछ फारसी और बुन्देलखण्डी शब्दों को भी ग्रहण किया है। मुहावरों और अलङ्कारों का प्रयोग करके उक्ति सौष्ठव की वृद्धि की है। इनके सभी पद गेय हैं। वे विविध रागों और रागिनियों में गाये जाते हैं। इस प्रकार परिमाण और कवित्व दोनों के विचार से परमानंद दास श्रेष्ठ कवि हैं

आगे उनके कुछ चुने हुए पद दिये जाते हैं—

बड़भागिन गोकुल की नारि।
माखन रोटी दै जु नचावति जगदाता मुख लेति पसारि।
सोभित बदन कमलदल लोचन सोभित केस मधुप अनुहारि।
सोभित मकराकृत कुंडल छबि, सोभित मृगमद तिलक ललारि।
सोभित गात, चरन भुज सोभित, सोभित किंकिनि करत उचारि।
सोभित नृत्य करत परमानन्द, गोप बधू वर भुजा पसारि।

मोहन मान मनायौ मेरौ।
हौं बलिहारी कमल नैन की नैंक चितै मुख फेरौ।
माखन खाउ लेउ मुख मुरली ग्वालन बालन टेरौ।
जोरी करिकै जोर आपनी न्यारी गोरी वेरौ।
कारौ कहि कहि मोहि खिजावत नहिं बरजत बल अधिक अनैरौ।
इंदु नील मनि ज्यौं तन सुंदर कहा जानै बल चेरौ।

मेरो सुत सिरताज सबन कौ सबतें कान्ह बड़ेरौ।
परमानन्द भोर भयो गावैं बिमल बिसद जस तेरौ।
ब्रज के बिरही लोग बिचारे।
बिन गोपाल ठगे से ठाढ़े अति दुर्बल तन हारे।
मात जसोदा पंथ निहारत निरखत साँझ सकारे।
जो कोउ कान्ह-कान्ह कहि बोलत, अँखियन बहत पनारे।
ये मथुरा काजर की रेखा जे निकसे ते कारे।
परमानन्द स्वामी बिन ऐसे जैसे चंदा तारे।

नन्ददास[1]—नाभादास के भक्तमाल में नन्ददास 'रामपुर ग्राम निवासी' और 'चन्द्रदास अग्रज' कहे गये हैं। कहा जाता है कि 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' के साक्ष्य पर वे सनौढिया (सनाढ्य) ब्राह्मण थे।[2] उनका जन्मकाल १५३३ वा १५३७ ई० समझा जाता है, परन्तु १५४५ ई० में अष्टछाप की स्थापना हुई और वे उसमें रखे गये। अतः यह सम्भव नहीं कि ८ वा १२ वर्ष के नन्ददास तत्कालीन भक्तों में समझे गये होंगे। कुछ लोग १५१३ ई० में उनके उत्पन्न होने का अनुमान करते हैं। सम्भवतः वे पहले से ही पढ़े-लिखे विद्वान् और शृंगारी कवि थे। उनकी रसिकता की कहानियाँ भी सुनी जाती हैं। १५५६ के आसपास पुष्टिमार्ग का अवलम्बन करने पर उनकी वृत्ति लौकिक वासना से भगवत्प्रेम की ओर उन्मुख हुई। तब से वे गोवर्द्धन में मानसी गङ्गा के पास रहने लगे और वहीं १५८२–८३ ई० (१६३९–४० वि०) के लगभग गोलोकवासी हुए।

---

१. अब तक पुष्टिमार्ग का जो साहित्य मिला है उसमें सर्वत्र सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा स्थापित करने की ही चेष्टा दिखलायी पड़ती है। इधर कुछ समय पहले सोरों (जिला एटा) में एक एक कर के अनेक पुस्तकें प्रकट होती गयीं। उन सब में कहीं न कहीं उन सभी जनश्रुतियों का समर्थन मिल गया जो तुलसीदास का जन्म स्थान सोरों को प्रमाणित करने के लिए आवश्यक था। इन सभी पुस्तकों की जितनी छान-बीन हुई है उससे यही मानना श्रेयस्कर है कि उनका पूरा भरोसा न किया जाय। अतः यहाँ ब्योरे के फेर में न पड़ कर सामान्य परिचय से सन्तोष किया गया है।

२. दीनदयाल गुप्त—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—खण्ड १, पृ० २५६। वहीं यह भी लिखा है कि काकरोली विद्याविभाग में स्थित १६९७ वि० की ८४ वैष्णवन की वार्ता के साथ लगी गुसाईं जी के चार मुख्य सेवकन की वार्ता में नन्ददास के सनाढ्य ब्राह्मण होने का उल्लेख है। परन्तु वियोगी हरि जी ने संवत् १९४७ की छपी दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता से उद्धरण दे कर लिखा है कि वहाँ नन्ददास की जाति की चर्चा ही नहीं है। (ब्रजमाधुरी सार, १९९६, पृ० २०)

अष्टछाप के कवियों में नन्ददास ही सब से अधिक काव्य-मर्मज्ञ और विद्वान् थे। उन्होंने सम्प्रदाय ग्रहण करने के बाद पद भी बनाये, किन्तु अन्य विविध प्रकार की रचनाओं के कारण उनकी अधिक प्रतिष्ठा है। उन्होंने कुछ कोष, नायिकाभेद, प्रेमाख्यान आदि भी रचे थे। उनसे उनके पाण्डित्य एवं रसिक होने का प्रमाण मिलता है। **अनेकार्थ मंजरी** (अथवा अनेकार्थनाम माला, या नामचिन्तामणि माला) और नाम मंजरी (मान मंजरी, नाम माला, नामचिन्तामणि माला) शब्दकोष हैं। पहले में दोहा छन्द में पर्यायवाचक शब्दों के साथ ही अन्त में भक्ति अथवा कृष्ण-प्रेम सम्बन्धी कोई उद्गार प्रकट किया गया है और दूसरे में अमरकोष के आधार पर दोहे के पहले दल में शब्दार्थ है और दूसरे में राधा के शृङ्गार एवं मान-मोचन का वर्णन है। कवि के कथनानुसार इसमें 'मानवती के मान के मिले अर्थ सब आय।' इस प्रकार ये केवल शब्द संग्रह नहीं हैं, अपितु कृष्ण-भक्ति के पुष्टिमार्गी रूप के प्रचारक भी हैं।

सारंग—छिती, तलाब, भुजङ्ग पुनि को बड़ भानु समान,
सारँग श्रीभगवान को भजिये कृपानिधान।
मधु—मधु बसंत मधु चैत्र द्रुम मधु मदिरा मकरंद,
मधु जल मधु पै मधु सुधा मधुसूदन गोविंद।
(अनेकार्थमञ्जरी)

रसमंजरी में कवि "बरनत बनिताभेद जहँ प्रेम-सार-बिस्तार।" "रसमय रस कारन रसिक" नन्दकुमार की वन्दना करने के बाद कवि कहता है कि 'रूप प्रेम आनन्द रस जो कछु जग में आहि, सो सब गिरिधर देव को निधरक बरनौं ताहि।' इसमें नायिका, नायक और दूती भेद तथा भाव, हाव, हेला तथा रति का वर्णन किया है। यह केवल लक्षण ग्रन्थ है। परवर्ती नायिका-भेदों के समान इसमें उदाहरण नहीं दिये गये। उदाहरणार्थ—

बाँध सँकेत पीय नहिं आवै, चिंता कर तिय अति दुख पावै,
आरति कर संताप जनाई, तन तोरत अति लेत जँभाई,
भर भर नैन अवस्था कहै, उत्कंठिता नायिका वहै।

रूपमंजरी—इसमें रूपमञ्जरी नाम की विवाहिता राजकन्या की प्रेमकथा है। उसकी सखी नाममञ्जरी उसे सांसारिक प्रेम को छोड़ कृष्ण के प्रति अनुराग करना सिखाती है। वह स्वप्न में कृष्ण से मिलने लगी और अन्त में घरबार छोड़ वृन्दावन जा कर कृष्ण के साथ रास का सुख भोगने लगी। इस प्रकार यहाँ पुष्टिमार्गी साधना का आख्यान रूप में वर्णन है। इसमें पड्-

ऋतु वर्णन भी है तथा प्रेम की विरहाकुलता का मार्मिक चित्रण भी है। इसके सौन्दर्य की एक झलक देखिए—

अब सुनो ताकौ सहज शृंगार, बरनौं जगपति कौ अविकार।
गौर बरन तनु सोभित नीकौ, औंटये कंचन कौ रँग फीकौ।
चंपक कुसुम कहा छबि पावै, बरन हीन बास बुरी आवै।
उबटन उबरी अंग न्हवाई, ओपी दामिनि लोपी माई।
सीस पुहुप गूँथन छबि छाई, मनो मदन मृग कानन आई।
बैंनी बनी कि साँपिन आहि, बुरी दृष्टि देखै तिहि खाहि।
सोहत बेंदी जराय कि ऐसी, बाल भाल मनि प्रगटी जैसी।
भ्रुव धनु देखि मदन पछितायौ, हर-संगर में ये नहिं पायौ।
अब याके बल करौं लराई, हरौं छिनक में हर-हरताई।
बालपने पग चंचलताई, अबिचल छबि लै नैंननि आई।
इत उत चलत चहत अनुरागे, बात करन कानन सों लागे।
मृगज लजे खंजन लजे, कंज लजे छबि छीन।
दृगन देखि दुख छीन ह्वै, मीन भये जल लीन।

विरह मंजरी—इसमें बारहमासा-शैली का प्रयोग करके कवि ने किसी ब्रजनारी के कृष्ण-प्रेम का वर्णन किया है। वह चन्द्रमा को दूत बना कर अपनी व्यथा कृष्ण को सुनाने का अनुरोध करती है। यह वियोग वास्तविक नहीं। प्रेमिका के भावावेश का प्रसाद है जिसमें वह कुछ काल के लिए समझ बैठती है कि कृष्ण ब्रज से द्वारका चले गये हैं। ब्रज को नित्य विहारभूमि मानने वाले पुष्टिमार्ग में इस प्रकार का भाव-वियोग उचित ही है। इसका यह वर्णन द्रष्टव्य है—

अहो चंद गति मंद न गहो, सुंदर गिरधर पिय सों कहो।
आई सरद सुहाई राति, प्रफुलित बेलि मल्लिका जाति।
उदित भयौ उडुराज सदा कौ, रहत अखंडत मंडल जाकौ।
छूटि रही छबि बिमल चाँदनी, सुभग पुलिन कालिंद-नंदिनी।
सुंदर मृदुल बालुका सच्यौ, जमुना स्वकर तरंगन रच्यौ।
कल्प तरु तर मंजुल मुरली, मोहन अधर सुधारस जुरली।
ठाढे ह्वै पिय बहुरि बजावो, ता कर ब्रज सुन्दरी बुलावो।
पर जर उठत सरीर सब चोबा-चंदन लागि,
बिधि गति जब विपरीत तब पानी हू में आगि।

श्याम सगाई—पुष्टिमार्ग में राधा परकीया नहीं हैं। सूर ने

'लरिकाई की प्रीति' का सहज विकास दिखा कर कुरुक्षेत्र में उसके चरमोत्कर्ष का प्रदर्शन किया है, जहाँ वे श्रीकृष्ण से बरसों के बाद मिलने पर कुछ कह न सकीं और बाद में इसके लिए पछताती रह गयीं। यहाँ यशोदा के प्रस्ताव पर कीर्ति ने अपनी बेटी को कृष्ण से ब्याहना स्वीकार किया। यह प्रकरण भागवत में नहीं है, फिर भी सम्प्रदाय के अन्तर्गत है। सगाई हो जाने पर

सुनत सगाई स्याम ग्वाल सब अंगनि फूले,
नाचत गावत चले प्रेम रस में अनुकूले।
जसुमति रानी घर रज्यो मोतिन चौक पुराइ,
बजत बधाई नंद के नंददास बलि जाइ
कि जोरी सोहनी।

इनके अतिरिक्त **गोवर्द्धन लीला** और **सुदामा चरित्र** में श्रीकृष्ण के जीवन की दो प्रसिद्ध घटनाओं का साधारण रूप से वर्णन है। पहले में कृष्ण के पौरुष, गोवर्द्धन-पूजा का उपक्रम, इन्द्रकोप आदि का अच्छा चित्रण है और दूसरे में कवित्व और मर्मस्पर्शी वर्णनों का प्रायः अभाव है। सम्भव है यह इन नन्ददास का रचा हुआ न हो। **दशमस्कन्ध** में कृष्णावतार की कथा कही गयी है। काव्य की दृष्टि से यह भी सामान्य ही है। **रुक्मिणी मंगल** भागवत-वर्णित आख्यान है। इसमें घटनाओं का विस्तार उतना नहीं जितना भावों और दृश्यों का है। युद्ध-प्रसङ्ग नहीं है, शृङ्गार में भी विरह-वर्णन कवि को अधिक प्रिय है। यह नन्ददास की प्रौढता-सूचक कृति है। तुलसी के जानकी और पार्वती मङ्गल के समान इनका गान भी कल्याण-प्रद है—

जो यह मंगल गावै चित दै सुनै सुनावै,
सो सब मंगल पावै हरिरुक्मिनि मन भावै।

इस प्रकार नन्ददास कृष्ण के सम्बन्ध के फुटकल पदों को एक प्रकार से छोड़ कर वर्णनात्मक काव्यों में आरम्भ से ही काव्य रचना करते रहे। उन्होंने अपने कवित्व का सबसे मनोहर और प्रौढ़ रूप रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत में दिखलाया। **रासपंचाध्यायी** में शृङ्गार के भीतर दिव्य प्रेम का झीना आवरण है। भागवत के आधार पर इसकी रचना हुई है। फिर भी उसमें कहीं-कहीं नयी योजनाएँ भी हैं, जैसे प्रथम अध्याय में वृन्दावन की शोभा का वर्णन। शैली और वर्णन-कौशल तो सर्वथा कवि का ही है। प्रकृति को उद्दीपन के लिए चित्रित किया गया है। इसमें संयोग की आत्म-विस्मृति और वियोग की तीव्रता के वर्णन अद्वितीय हैं। साथ ही भाषा का परिष्कृत प्रवहमान रूप दर्शनीय है। कुछ उद्धरण लीजिये—

ताही छिन उडराज उदित रस रास सहायक,
कुमकुम मंडित बदन प्रिया जनु नागरि नायक।
कोमल किरन अरुन मानों बन व्याप रही त्यों,
मनसिज खेल्यो फागु घुमड़ि घुरि रह्यो गुलाल ज्यों।
तब लीनी कर कमल जोग माया सी मुरली,
अघटत घटना-चतुर बहुरि अधरन सुर जु रली।
मोहन मुरली नाद स्रवन कीनों सब किनहूँ,
जथा-जथा बिधि रूप तथा-बिधि परस्यो तिनहूँ।
सुनत चलीं ब्रज बधू गीत-धुनि को मारग गहि,
भवन भीत द्रुम कुंज पुंज कितहूँ अटकी नहिं।
नाद अमृत कौ पंथ रंगीलो सुच्छुन भारी,
तेहि मग ब्रज तिय चलैं आन कोउ नहिं अधिकारी।

× × ×

पीय ग्रीव भुज मेलि केलि कमनीय बढ़ी अति,
लटकि लटकि कै निर्त्यत कापै कहि आवै गति।
छबि सों निर्त्यत मटकन लटकन मंडल डोलत,
कोटि अमृत सम मुसकन ताथेइ बोलत।
पिय के मुकुट की लटकन मुरली नाद भई अस,
कुहक कुहक मनु नाचत मंजुल मोर भरे रस।
सिर तें कुसुमन बरषत हरषत अति अनंद भर,
मानो पदगति रीझि अलक पूजन फूलन कर।
पवन थक्यौ ससि थक्यौ थक्यौ उडु मंडल सगरौ,
पाछें रवि रथ थक्यो चल्यो नहिं आगे डगरौ।

सिद्धान्त पञ्चाध्यायी में कवि ने रासलीला का वर्णन करके उसमें प्रयुक्त कृष्ण, वेणु, गोपी, वृन्दावन और रास का आध्यात्मिक अर्थ बतलाया है। इसमें कवित्व की ओर ध्यान न दे कर नन्ददास ने पुष्टि-मार्गी प्रणाली में रासलीला-तत्त्व समझाया है। यथा,

शब्द ब्रह्ममय बेनु बजाय सबै जन मोहे,
सुर नर मुनि गंधर्व कछु न जाने हम को हे।

और अन्त में स्पष्ट कह दिया है कि—

नाहिंन कछु श्रृंगार कथा इहि पंचाध्यायी,
सुन्दर अति निरवृत्ति परा तैं इती बड़ाई।

भँवर गीत—भागवत से उद्धव-सन्देश का भ्रमर-गीत प्रसङ्ग ले कर नन्ददास ने इस प्रबन्ध-काव्य की रचना की। सूरदास के इस प्रकरण के पद अनुपम हैं। उनके ही पथ के अनुगामी नन्ददास के 'भँवर गीत' का भी जोड़ मिलना असम्भव है। इसमें गोपी-विरह की तीव्रता और प्रेम की अनन्यता, के साथ ही निर्गुणवाद की अव्यावहारिकता एवं सगुण-भक्ति की श्रेष्ठता प्रदर्शित है। रोला के दो चरण और दोहा के योग के साथ टेक दे'कर उपजाति वृत्त की यह कल्पना श्याम सगाई में प्रकट हो कर इस काव्य में परिपक्व हुई। इसमें व्यंग्य, तर्क और युक्ति की चातुरी देखते ही बनती है। इसकी भाषा की स्वच्छता भी अपूर्व है। इसके कुछ उदाहरण लीजिये—

ताही छिन इक भँवर कहूँ तें उड़ि तहँ आयो,
ब्रज बनितन के पुंज माहिं गुंजत छबि छायो।
चढ्यो चहत पग पगनि पर अरुन कमल दल जानि,
मनु मधुकर ऊधो भयो प्रथमहि प्रगट्यो आनि।
मधुप कौ भेष धरि।
ताहि भँवर सों कहैं सबै प्रति उत्तर बातैं,
तर्क-वितर्कन-जुक्त प्रेम रस रूपी घातैं।
जनि परसौ मम भँवरे तुम मानत हम चोर,
तुमहीं सों कपटी हुते मोहन नंदकिसोर।
यहाँ तें दूरि हो।
कोउ कहै री मधुप भेस उनकौ ही धारयौ,
स्याम पीत गुंजार बैन किंकिन झनकारयौ।
वा पुर गोरस चोरि कै फिरि आयो यहि देस,
इनकों जनि मानहु कोऊ कपटी इनको भेस।
चोरि जनि जाय कछु।

समष्टि रूप से नन्ददास भावों के प्रकाशन में प्रवीण, तदनुरूप भाषा के प्रयोग में निपुण और अलंकृत शब्दावलि के धनी कवि थे। तभी उनके विषय में यह प्रसिद्धि है कि 'और सब गढ़िया नंददास जड़िया।'

हितहरिवंश—गौड़ ब्राह्मण केशवदास मिश्र के तनय हित-हरिवंश मथुरा के समीप बाद गाँव में १५०२ ई० में उत्पन्न हुए। ये गृहस्थ थे। पहले माध्व सम्प्रदाय के अनुयायी थे। बाद में इन्होंने श्रीराधा-वल्लभी सम्प्रदाय चलाया। कहते हैं इसकी प्रेरणा स्वयं राधा ने की थी और उन्होंने इनको सोते में मन्त्र-दीक्षा दी थी। हित सम्प्रदाय में राधा की

उपासना ही प्रमुख है। भक्तगण इन्हें श्रीकृष्ण की वंशी का अवतार मानते हैं। हितजी संस्कृत के विद्वान् तथा व्रजभाषा के सरस कवि थे। संस्कृत में राधासुधानिधि और व्रजभाषा में हितचौरासी इनकी कृतियाँ है। इन्होंने सिद्धान्त-सम्बन्धी कुछ पद भी रचे थे। इन्होंने राधा-कृष्ण के शृङ्गार का जो वर्णन किया है उसे आध्यात्मिक दृष्टि से विशुद्ध प्रेम का प्रतीक कहा है। रस-विहार में जो शृङ्गार का अपेक्षाकृत खुला रूप दिखलाया है उसे प्रकृति-पुरुष का दिव्य रहस्य बतलाया है। नन्ददास ने भी सिद्धान्त पञ्चाध्यायी के द्वारा उसकी आध्यात्मिक व्याख्या की थी और भागवत के सभी भक्त इस प्रसङ्ग का यही अर्थ करते हैं।

हित सम्प्रदाय में अनेक भक्त कवि हुए हैं। उनमें हरिराम व्यास (जन्म १५६३ ई० के लगभग) सब से श्रेष्ठ हैं। ध्रुवदास (लगभग १५६३–१६८३) भी स्वप्न में इनसे दीक्षा पाना कह कर इनको ही अपना गुरु मानते थे। इसी सम्प्रदाय में चाचा हित वृन्दावनदास (जन्म १७०८ ई०) भी अच्छे कवि हो गये हैं—अन्य भी अनेक कवि हुए। इस प्रकार हितहरिवंश के द्वारा व्रजसाहित्य की श्रीवृद्धि हुई। इनकी रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

रहौ कोऊ काहू मनहि दियैं
मेरे प्राननाथ श्रीस्यामा सपथ करौं तिन छियैं।
जे अवतार-कदंब भजत हैं धरि दृढ व्रत जु हियैं
तेऊ उमगि तजत मर्जादा बन-बिहार-रस पियैं।
खोये रतन भिरत जे घर घर कौन काज इमि जियैं
हित हरिबंस अनत सचु नाहीं बिन या रसहिं लियैं।
तनहि राखु सतसंग में मनहिं प्रेमरस भेव
सुख चाहत हरिबंस हित कृष्ण कल्पतरु सेव।
निकसि कुंज ठाढ़े भये भुजा परस्पर अंस
राधा बल्लभ मुख कमल निरखत हित हरिबंस।
सबसौं हित निहकाम मन बृन्दाबन बिस्राम
राधाबल्लभ लाल कौ हृदय ध्यान मुख नाम।

आजु नीकी बनी राधिका नागरी।
ब्रज जुवति जूथ में रूप अरु चतुरई सील सिंगार गुन सबनि तें आगरी।
कमल दच्छिन भुजा बाम भुज अंसु सखि गावती सरस मिलि मधुर सुर राग री।
सकल बिद्या बिहित रहसि हरिबंस हित मिलत नव कुंज बर स्याम बड़ भाग री।

मीराबाई—इनका जन्म कुकड़ी गाँव में ई० सन् १४६८ के लगभग हुआ। इनके पिता राठौर रत्नसिंह जोधपुर के संस्थापक राव जोधाजी के पौत्र थे। शिशुकाल में ही माता के न रहने पर पितामह राव दूदाजी ने मेड़ता में इन्हें पाला पोसा। कहते हैं उन्नीस वर्ष की होने पर इनका विवाह मेवाड़ के राजकुमार भोजराज से हुआ। वे प्रसिद्ध राणा साँगा (१५०६–१५२८ ई०) के ज्येष्ठ पुत्र थे। विवाह के अल्पकाल के बाद ही मीरा के सिर पर वैधव्य का प्रहार हुआ। कुछ समय पीछे उनके पिता भी खानवा के युद्ध में काम आये और अगले वर्ष श्वशुर भी चल बसे। इस प्रकार पारिवारिक विपत्तियों के कारण उनका मन संसार से फिर गया। वैसे यह भी प्रवाद है कि छुटपन में ही वे श्रीकृष्ण की कान्त भाव से उपासना करने लगी थीं। अब तो उनको भक्ति का ही अवलम्ब हुआ। राजसी जीवन से एकदम विरक्त हो वे प्रभु की अर्चना-वन्दना में निमग्न रहने लगीं। उनके पास साधुओं का आना-जाना बढ़ गया। यह बात राजवंश की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल थी। उन्हें इससे विरत करने के लिए बहुतेरा समझाया-बुझाया गया, पर सब निष्फल। अन्त में ऊब कर उनको विष देने, साँप से डसाने आदि की चेष्टाएँ की गयीं। उनसे भी वे बच गयीं। सम्भव है ये बातें उनकी महिमा बढ़ाने के लिए श्रद्धालु भक्तों ने चला दी हों। जनश्रुति है कि पारिवारिक अत्याचार से त्रस्त हो कर उन्होंने तुलसीदास को पत्र लिख कर अपने कर्त्तव्य के सम्बन्ध में उनकी सम्मति माँगी। उत्तर में उन्होंने 'विनय-पत्रिका' का प्रसिद्ध पद—

'जाके प्रिय न राम बैदेही, तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।'

पद लिख भेजा। परन्तु इन दोनों के समय में इतना व्यवधान है कि यह प्रसङ्ग मनगढ़न्त प्रतीत होता है। इसी प्रकार कहा जाता है कि मीरा सन्त रैदास की शिष्या थीं। भक्त-मण्डली में प्रचलित किंवदन्तियाँ तो इसका समर्थन करती ही हैं, स्वयं मीरा के कुछ पद इस सम्बन्ध के प्रमाण-स्वरूप सामने रखे जाते हैं। उनकी साखी लीजिये। मीरा कहती हैं—

'रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु दीन्ह सुरत सहदानी।'

अथवा

'गुरु मिलया रैदास जी दीन्ही ज्ञान की गुटकी।'

रैदास १३०० ई० के आसपास हुए थे। भला वे कैसे मीरा के दीक्षागुरु हो सकते हैं? यदि उपर्युक्त उक्तियाँ प्रक्षिप्त नहीं तो सम्भव है कोई अन्य रैदास

उनका गुरु हो।[1] मीराबाई ने १५४६ ई० के लगभग द्वारका में शरीर त्यागा।

मीरा के पदों में बहुत स्थलों पर वैसा निर्गुण भाव प्रकट किया गया है जैसा कबीर आदि सन्तों की रचना में मिलता है। उन्होंने 'गगन मंडल में सेज पिया की केहि बिधि मिलना होय' जैसी उक्तियों, तथा सुरत शब्दयोग, सुरत निरत, अमर रस, त्रिकुटी महल, अणहद की झंकार आदि सन्त-परम्परा में विशिष्ट अर्थों में गृहीत पदावलि का तद्वत् प्रयोग किया है। इससे उन्हें निर्गुण सम्प्रदाय के प्रभाव से मुक्त नहीं किया जा सकता। सम्भव है उन्होंने साधु-समागम में कुछ निर्गुनिये सन्तों का सत्सङ्ग भी किया हो। राजस्थान गोरखपन्थी योगियों एवं कबीर· रैदास आदि सन्तों का सदैव अड्डा रहा है। इनका प्रभाव सन्तमत का अनुगमन किये बिना भी ग्रहण किया जा सकता है। फिर सूफी ढंग की प्रेम-साधना और चैतन्य की कीर्तन-शैली की आत्म-विभोर करने वाली प्रेमा भक्ति का उनपर कम प्रभाव न था। आज भी मीरा का नाम लेते ही उन्मादिनी भक्ति की सजीव प्रतिमा हमारे सामने प्रत्यक्ष हो जाती है। इसका कारण है उनका अपने पदों को गाते समय एकदम तन्मय हो कर आत्म-विभोर हो जाने की परम्परागत धारणा। तमिळ के द्वादश आळवार भक्तों में आंडाल की माधुर्य भाव की उपासना भक्त-मण्डली में विख्यात है। उत्तर की मीरा भी इसी माधुर्य भाव की उपासिका थीं। वे कृष्ण के गोपी-प्रेम की प्रतिमूर्ति बनीं और इसी रूप में प्रतिष्ठित हुईं। हमारे यहाँ

'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा, बारि-बीचि इव गावहिं वेदा'

यह मान्यता सदा रही है। दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं। वस्तुतः

'अगुन अरूप अलखगति जोई, भगत प्रेमबस प्रगट सो होई।'

अतएव दोनों की उपासना में परस्पर विरोध नहीं, अधिकारी भेद से प्रत्येक का औचित्य है। सगुणोपासक भी भावना के द्वारा ही अपने उपास्य देव के रूप की धारणा करता है। वह स्थूल तो होता नहीं, भक्त उसके मूर्त रूप में अमूर्त को देखता है। अतएव मीरा के निर्गुण गान उनके कृष्ण के प्रेम से ओत-प्रोत गीतों के ही दूसरे रूप हैं। उनमें प्रयुक्त निर्गुण मत वालों की शब्दावलि का कोई विशिष्ट अर्थ नहीं जान पड़ता।

मीरा के पद राजस्थान, गुजरात, उत्तर भारत में सर्वत्र साधुओं और गृहस्थों के बीच लोकप्रिय हैं। गेय होने के कारण संगीतज्ञों ने उन्हें हिन्दी क्षेत्र के बाहर भी व्याप्त कर दिया है। उन्हें गाते और सुनते समय सभी मुग्ध

---

1. परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, २००८ वि० पृ० २३६।

हो कर थोड़ी देर के लिए आत्म-विस्मृत हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि वे मीरा के हृदय से निकले सीधे-सच्चे उद्‌गार हैं और उनमें उनके हृदय का स्पंदन है। कुछ पद राजस्थानी में हैं, कुछ ब्रज में। ब्रज के पदों में भी राजस्थानी पदावलि का समावेश है। कल्पना की ऊँची उड़ान, कवित्व की प्रतिभा, रचना-कौशल की चमत्कृति आदि न होते हुए भी मीरा के सरस पद सहृदय समाज के गले का हार हैं। उनकी जैसी तन्मयता अन्यत्र नहीं मिलती। इनके कुछ पद देखिये—

साजन सुध ज्यूँ जाने त्यूँ लीजै हो।
तुम बिन मेरे और न कोई कृपा रावरी कीजै हो।
दिवस न भूख रैन नहिं निन्द्रा यूँ तन पल पल छीजै हो।
मीरा कहै प्रभु गिरिधर नागर मिल बिछुरन नहिं कीजै हो।

दरस बिन दूखन लागे नैन।
जब के तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहुँ न पायो चैन।
सबद सुनत मेरी छतिया काँपै मीठे-मीठे बैन।
कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैन।
बिरह कथा कासों कहूँ सजनी बह गई करवत ऐन।
मीरा के प्रभु कबरे मिलोगे दुख मेटन सुख दैन।

घुँघरू बाँध मीरा नाची रे पग घुँघरू।
लोग कहै मीरा हो गई बावरि, सास कहे कुलनासी रे।
ज़हर का प्याला राणा जी ने भेजा, पीवत मीरा हाँसी रे।
मैं तो अपने नाराणा की, हो गई आपहि दासी रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बेग मिला अविनासी रे।

हे री मैं तो प्रेम दिवाणी,
मोरा दरद न जाणै कोई।
घायल की गति घायल जाणै, की जिण लाई होई।
जौहरि की गति जौहरी जाणै, की जिन जौहर होइ।
सूली ऊपर सेज हमारी, सोवण किस बिध होइ।
गगन मँडल पै सेज पिया की, किस बिध मिलणा होइ।
दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोइ।
मीरा की प्रभु पीर मिटैगी, जब बैद सँवलिया होइ।

रसखानि—इनके विषय में निश्चयात्मक रूप से यही विदित है कि ये दिल्ली के राजवंश में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने स्वरचित 'प्रेम-वाटिका' का रचनाकाल यों दिया है—

बिधु सागर रस इन्दु सुभ बरस सरस रसखानि,
प्रेम बाटिका रचि रुचिर चिर हिय हरष बखानि।

इसका आशय यह कि इन्होंने इस काव्य को संवत् १६७१ (१६१४ ई०) में बनाया। उस समय जहाँगीर राज्य करता था। इसी प्रेम-बाटिका में रसखानि ने आत्म-परिचय में कहा है—

देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा-बंस की ठसक छोड़ि रसखान।
प्रेम निकेतन श्रीबनहिं आइ गोबर्धन धाम,
लह्यो सरन चित चाहिकैं जुगल सरूप ललाम।

इससे यह तो स्पष्ट होता है कि वे बादशाही खानदान में उत्पन्न हुए और गोवर्धन में आ कर श्रीनाथ के शरणापन्न हुए थे। इसके आधार पर उनके पठान राजवंश से सम्बद्ध होने का अनुमान किया जाता है।[1] यह सच है कि शेर-शाह सूर के पठान वंश ने हुमायूँ से दिल्ली की बादशाहत छीन कर १५४० से १५५५ तक उसपर राज्य किया था। इस्लामशाह (१५४५–५४) तक उसकी सत्ता दृढ़ रही, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी अशक्त निकले और उधर हुमायूँ ने फिर आक्रमण करके १५५५ ई० में दिल्ली पर अधिकार जमा लिया। यह दिल्ली की साहिबी के हित गदर का समय अवश्य था और रसखानि इन झगड़ों से घबरा कर फकीर हो गये। सम्भव है वे इस्लामशाह के समय के राजकुल में कोई रहे हों। पठानों में भारतीय धर्म के प्रति प्रेम तुर्कों से कहीं अधिक था। वे इस देश की मिट्टी से ही पैदा हुए थे। शेरशाह और इस्लामशाह के साहित्य प्रेम के विषय में सूफी कवियों के प्रसङ्ग में संकेत भी हो चुका है। अतः राजवंश के रसखानि विरक्त होने के पहले हिन्दी और हिन्दू-धर्म से अवश्य ही घनिष्ठ सम्पर्क रखते होंगे। तभी वे कृष्ण की भक्ति की ओर प्रवृत्त हुए। दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में जितने भक्तों की चर्चा है वे प्रायः सभी पहले किसी न किसी से प्रेम करते थे, फिर पुष्टिमार्ग के प्रभाव से कृष्ण-प्रेमी हुए। जाने कहाँ तक ये सम्प्रदाय की महिमा बढ़ाने के लिए गढ़े प्रसङ्ग हैं या सच्चे वृत्तान्त हैं। जो हो, उसके

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, २००८ वि० पृ० १६१।

अनुसार रसखानि भी सांसारिक वासना से कृष्ण-प्रेम की ओर मुड़े। 'प्रेमदेव की छबिहि लखि भये मियाँ रसखान।' पुष्टिमार्गी गोस्वामी विट्ठलदास ने इन्हें विधर्मी होने पर भी दीक्षा दे कर भक्ति के पथ में ला कर खड़ा कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि ये प्रेम की मूर्ति कृष्ण के अनन्य प्रेमी थे। इनकी रचना उनके प्रेम से सराबोर है। वह अत्यन्त भावपूर्ण और सरस है। उसमें व्रज-भाषा जैसी निखरी है वैसी थोड़े से ही कवियों की कृतियों में हो सकी है। उपर्युक्त प्रेम-वाटिका के अतिरिक्त इन्होंने सुजान-रसखान की रचना की थी। पहली में दोहा और दूसरी में कवित्त-सवैया छन्द का प्रयोग किया गया है। इनके कुछ सवैये तो बहुत ही लोक-प्रिय हैं। कुछ चुने हुए प्रसिद्ध उदाहरण लीजिये—

मानुष हों तो वही रसखानि बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन,
जौ पसु हों तो कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।
पाहन हों तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरन्दर धारन,
जौ खग हों तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी फूल कदंब की डारन।

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर कौ तजि डारौं,
आठहुँ सिद्धि नवो निधि को सुख नंद की गाइ चराइ बिसारौं,
इन आँखिन सों रसखानि कबौं व्रज के बन बाग तडाग निहारौं,
कोटिक हौं कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं।

धूरि भरे अति सोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुंदर चोटी,
खेलत खात फिरैं अँगना पग पैजनी बाजतीं पीरी कछोटी।
वा छबि को रसखानि विलोकत बारत काम कलानिधि कोटी,
काग के भाग कहा कहिये हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी।

कानन दै अँगुरी रहिबो जबहीं मुरली धुनि मंद बजैहै,
मोहिनी तानन सों रसखानि अटा चढ़ि गोधन गैहै तो गैहै।
टेरि कहौं सिगरे व्रज लोगनि काल्हि कोऊ कितनो समुझैहै,
माई री वा मुख की मुसुकानि सँभारी न जैहै न जैहै न जैहै।

बैन वही उनको गुन गाइ औ कान वही उन बैन सों सानी,
हाथ वही उन गात सरै अरु पाइ वही जु वही अनुजानी।
जान वही उन प्रान के संग औ मान वही जु करै मन-मानी,
त्यों रसखानि वही रसखानि जु है रसखानि सो है रसखानी।

गोरज बिराजै भाल लहलही बनमाल आगे गैयाँ पाछे ग्वाल गावै मृदु तान री,
तैसी धुनि बाँसुरी की मधुर-मधुर तैसी बंक चितवनि मंद मंद मुसुकानि री।

कदम बिटप के निकट तटिनी के तट अटा चढ़ि देखु पीतपट-फहरानि री,
रस बरसावै तन तपन बुझावै नैन प्राननि रिझावै वह आवै रसखानि री।

ऊपर वर्णित कृष्ण-भक्त कवियों के अतिरिक्त अनेक और भी उच्च कोटि के कवियों ने कृष्णोपासना के साथ तद्विषयक फुटकल पदों और काव्यों की रचना की थी। उनमें कृष्णदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविन्द-स्वामी वल्लभकुल के स्थापित किये 'अष्टछाप' के अवशिष्ट कवि हैं। इन्होंने भी सूर आदि की शैली में लीला के मधुर पद बनाये थे। गदाधर भट्ट, श्रीचैतन्य-महाप्रभु के अनुगत कृष्णोपासक हैं। इनके रसमय पदों में प्रेम की विह्वलता विशेष रूप से देखने को मिलती है। इसी सम्प्रदाय के सूरदास मदनमोहन की रचनाओं का भी बड़ा सम्मान है। निम्बार्कमत के अन्तर्गत टट्टी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हरिदास स्वामी का नाम तानसेन के संगीत-गुरु होने के नाते अत्यन्त प्रसिद्ध है। उनके पदों में रागरागिनी का तत्त्व भी अनूठा है। निम्बार्क मतानुयायी श्रीभट्ट के पदों में भी व्रज-माधुरी का अलौकिक आनन्द मिलता है। हित हरिवंश के राधावल्लभी सम्प्रदाय में अनेक श्रेष्ठ कवि हो गये हैं। उनका निर्देश यथा-स्थान कर दिया गया है। उनमें हरिराम व्यास (व्यासजी) की कविता भी अपने ढंग की निराली है। इन सब कवियों ने कृष्ण-प्रेम को ऐसे सरस राग में गाया कि तत्कालीन समाज के बहुत बड़े भाग में इनके स्वर गूँज उठे और वह कृष्ण-भक्ति की रसमयी धारा में प्रवाहित हो गया। इनकी परम्परा आगे भी अक्षुण्ण रही। उसका परिचय यथावसर मिलेगा। इन्हीं के प्रवाह से व्रजभाषा देश में बहुत दिनों तक काव्य-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित रही और इन्होंने भक्ति का जो पथ दिखलाया था उसपर साम्प्रदायिक संकीर्णता के बाहर भी अगणित रससिद्ध कवि हुए। व्रजभाषा के इस भक्ति-साहित्य का समकक्ष साहित्य मिलना दुर्लभ है। किसी युग में इतने प्रतिभाशाली कवियों का जमघट भी नहीं मिलता और न इस युग के शृङ्गार सूरदास के सदृश कवि ही फिर प्रकट हुआ।

ख. राम-भक्ति

प्रवृत्ति—नारायण की भक्ति (प्रपत्ति) की भावना से जीव माया के बन्धन से मुक्त हो कर बैकुण्ठ जा कर उनका किङ्कर हो सकता है। इसके बाद उसे भगवान् दीक्षा देते हैं। तब वह ब्रह्म का अंश जीव अंशी हो कर सच्चिदानन्द रूप पा जाता है। यह ज्ञानाश्रित भक्ति-मार्ग रामानुजाचार्य (१०८४-११६४) दिखला चुके थे। उनके 'श्रीसम्प्रदाय' में माना जाता है कि वर्णाश्रम धर्म के

विहित कर्मों के पालन से चित्तशुद्धि होने पर ही ब्रह्म की जिज्ञासा हो सकती है। परन्तु पूरी शरणागति के बिना कैवल्य सम्भव नहीं। इससे सतत भगवत्कृपा की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिये। सब वर्ण इसके अधिकारी हैं किन्तु द्विजमात्र इसकी साधना स्वतः कर सकते हैं। कारण, वह ज्ञान पर निर्भर है। अन्य वर्ण वालों को गुरु और भगवान् की कृपा से मोक्ष की प्राप्ति होगी। इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक थे शठकोपाचार्य। उन्होंने दाशरथि राम की शरणापन्नता का उल्लेख किया है परन्तु रामानुज के द्वारा लक्ष्मीनारायण की उपासना ही चली। इस प्रकार इस विशिष्टाद्वैत दर्शन से अनुमोदित विष्णु-भक्ति का विशिष्टता से युक्त पथ सब के लिए खुल जाने पर अधिकार-भेद बना रहा, द्विज और द्विजेतर एक साथ इसपर चल न सके। यह भेदभाव मिटाया रामानन्द ने, जो उत्तर भारत में चल रहे इसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने भक्ति के मार्ग में आगे-पीछे रहने का अधिकार वर्ण-व्यवस्था से एकदम छीन लिया। उसके कारण चल रहा ऊँच-नीच का भेद दूर करके उन्होंने सब को समान रूप से हरि के भजन का अधिकारी माना। श्रीसम्प्रदाय में हमारे आधुनिक युग तक मान्य खान-पान के नियमों के कठोर बन्धन शिथिल किये। तात्त्विक दृष्टि से सभी हिन्दू वर्ण एक ही ब्रह्म के विराट शरीर के विविध अवयवों से उत्पन्न होने के कारण समान हैं। सब लोग इसको मानते भी हैं किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं दिखलाते। रामानन्द समानता का उपदेश दे कर ही नहीं रह गये। कहते हैं उन्होंने बारह शिष्य किये। उनमें सेन नाई, पीपा, रैदास, धन्ना निम्न वर्णों के थे, कबीर जुलाहा थे तथा तेरहवीं पद्मावती शिष्या भी थी। अब तक सम्प्रदाय के पीठ अथवा मठ ही श्रद्धालु लोगों की धर्म-पिपासा शान्त करते थे। रामानन्दजी ने अपने गृहत्यागी अनुयायियों को 'वैरागी' वा 'अवधूत' नाम दिया। वे किसी एक स्थान पर स्थायी निवास न करके देश-देश घूमते हुए लोक-कल्याण की राह दिखाते। रामानन्द की एक और देन है। अब तक धर्म के सिद्धान्त-ग्रन्थ संस्कृत में रचे जाते थे। उनकी कुंजी कुछ विद्वान् पण्डितों के ही हाथ में रहती थी, सब लोग स्वेच्छानुसार उनको खोल कर विचार करने में समर्थ न थे। रामानन्द ने लोक-भाषा में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। अतः कथनी और करनी एक करने वाला उनका व्यक्तित्व इतना महान् था कि उस युग में जिन लोगों ने उनके चलाये राम के सगुण रूप की उपासना को ग्रहण नहीं किया उन्होंने भी राम के नाम का अवलम्ब ले कर उसे निर्गुण ब्रह्म के पर्याय की भाँति प्रयुक्त किया। 'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना' परन्तु 'राम नाम

का मरम है आना' कहने वाले कबीर और उनके समकालीन तथा परवर्ती सभी सन्तों की साखी है कि 'तिहुँ लोक' अर्थात् समस्त देश में नहीं तो जहाँ तक उन लोगों की गति और दृष्टि की पहुँच थी वहाँ तक सर्वत्र दाशरथि राम की भक्ति का प्रचार था। यह काम रामानन्द और उनके सच्चे परिव्राजक वैरागियों ने किया। आगे चल कर उनके अनुयायियों ने 'रामावत' सम्प्रदाय को उन्हीं के नाम पर 'रामानन्द सम्प्रदाय' कहा और उनकी स्वतन्त्र परम्परा का निर्माण किया, मठों की सृष्टि की, परन्तु अब तक उनका बहुत बड़ा वर्ग कहीं भी जम कर नहीं रहता, विचरता रहता है, अल्पाति-अल्प सामान ले कर चलता है और वर्ण-भेद को न मानता हुआ राम की भक्ति में लीन रहता है। उनके प्रभाव में आये गृहस्थ भी तदनुरूप आचरण करते हैं। वे 'हरि को भजै सो हरि का होई' मानते हुए जातिपाँति पूछे बिना सभी वैरागी साधुओं का समान रूप से सम्मान करते हैं। इस प्रकार उपासना की सङ्कीर्णता दूर कर के रामावत सम्प्रदाय ने तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थिति के अनुरूप सर्वजनसुलभ भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। साधना की ऐसी पद्धति चलायी जो सब को सुगम थी और अर्चना की प्रणाली की जो जटिलता उस समय के अन्य भक्तिपथ में आ गयी थी उसे भी बहुत कुछ दूर किया। विष्णु ने मनुष्य के रूप में राम का अवतार लिया और लोक से राक्षस-वृत्ति के प्रतीक मनुजों का संहार कर के अपने नित्य प्रति के आचरण के द्वारा धर्म का व्यावहारिक रूप दिखलाया—यह आदर्श जनता के सामने रखा। इस प्रकार यह प्रकट किया कि धर्म का लक्ष्य केवल अन्तस्साधना के द्वारा पिण्ड के भीतर ब्रह्माण्ड देखना, अन्तर्ज्योति के प्रकाश से लौ लगाना अथवा शरीर छोड़ने के बाद ब्रह्म को पाना या उसमें मिल जाना ही नहीं है, वह लोक-व्यवहार के लिए भी आवश्यक है। राम मुक्ति सद्गति आदि देते हैं—निर्गुण राम भी वही तो करते हैं—परन्तु लोक में परिवार समाज आदि के साथ कैसे रहना-चलना चाहिये यह सिखाते नहीं कर के दिखाते हैं। यह बात प्रसिद्ध राम-भक्त तुलसी ने अपनी रचनाओं के द्वारा, विशेष कर रामचरितमानस के विशद प्रबन्ध में, पूर्णतया स्पष्ट की। अस्तु जहाँ निर्गुण भक्ति के मार्ग में व्यक्तिगत साधना प्रधान थी और सगुण रूप में कृष्ण की उपासना में वेद और लोक की उपेक्षा वा अवहेलना व्यवहार पक्ष में कुछ अनिष्ट का सृजन करती थी वहाँ राम की भक्ति व्यक्तिगत आध्यात्मिक उन्नति के साथ ही लोका-बाह्य न थी। इसमें आत्म-कल्याण का अभिलाषी राम के आदर्श के अनुरूप अपने निजी आचरण की पवित्रता के साथ सामाजिक व्यवस्था और आचरण का भी ध्यान रखता है।

वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा रखते हुए धर्म के सामान्य व्यवहार में उदारता का पोषक है। अतएव उपर्युक्त निर्गुण उपासक सन्तों तथा रामावत सम्प्रदाय के भक्ति-पथ में जो समन्वय का दृष्टिपथ बना उसी का पूर्णतया अनुगमन आज भी समस्त उत्तर भारत का हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्र करता है। यह हिन्दुओं की उदार प्रवृत्ति रामानन्द और उनके अनुगत भक्तों तथा कवियों का वरदान है।

रामानंद—प्रयाग के निवासी किसी कान्यकुब्ज के घर में उत्पन्न हुए। कुछ लोग १३०० ई० के लगभग उनके जन्म का समय मानते हैं और १४१० ई० के समीप निधन का[1]। काशी में विद्याध्ययन के उपरान्त श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के राघवानन्द के शिष्य हुए। ये भक्ति का विशेष प्रचार करने तथा अपने योग-संबंधी अलौकिक शक्तियों के प्रदर्शन के कारण बहुत प्रतिष्ठित हुए। वर्णाश्रम धर्म को मानते हुए भी उन्होंने उच्च-नीच सबको भगवान् की भक्ति में समान अधिकारी माना और शूद्रों तथा विधर्मियों तक को दीक्षा दी। परंपरा सेना, रैदास, धन्ना, कबीर आदि को इनका शिष्य कहती है। इनमें कुछ की वाणी से रामानन्द के प्रति गुरुभाव का अनुमान लगाया जाता है, किन्तु किसी ने न तो स्पष्टतया गुरु माना और न रामावत सम्प्रदाय के भक्तिभाव को ही अपनाया। इस आधार पर हमारा मन इन्हें रामानन्द का शिष्य मानने को नहीं करता। सम्भव है इन लोगों का महत्त्व बढ़ाने के लिए इनको रामानन्द के शिष्य कहने की चाल पड़ गयी हो।

रामानन्द संस्कृत के विद्वान् थे। उसमें उनके रचे वैष्णवमताब्ज-भास्कर और श्रीरामार्चनपद्धति हैं। कुछ काल पूर्व सम्प्रदायों की पुरानी प्रणाली पर उनके नाम से रच कर ब्रह्मसूत्र और गीता के भाष्यों का भी प्रचार किया गया। यह उनके सम्प्रदाय को रामानुज सम्प्रदाय से सर्वथा स्वतन्त्र सिद्ध करने के लिए किया गया प्रयत्न है। हिन्दी में भी उनके कुछ थोड़े से पद मिले हैं। कहा नहीं जा सकता कि ये उन्हीं के रचे हैं। हनुमान की स्तुति का यह कुछ अंश कदाचित् उनकी ही रचना है—

आरति कीजै हनुमान लला की दुष्ट दलन रघुनाथ कला की
जाके बल भर ते महि काँपै रोग सोग जाकी सिमा न चाँपै

---

१. फर्कुहर ने इनका समय १४०० से १४७० ई० माना है और रामचन्द्र शुक्ल के मत से ईसवी १५वीं शताब्दी के दूसरे से १६वीं के पहले चरण के बीच इनका अस्तित्व था। हमने अगस्तसंहिता में दिये हुए समय को स्वीकार किया है। इसे मानने पर कबीर आदि सन्तों को इनका समकालीन मानना कठिन न होगा।

अंजनीसुत महाबलदायक साधु संत पर सदा सहायक।
गाढ़ परे कपि सुमिरों तोहीं होउ दयाल देहु जस मोहीं।
लंक बिधंस कियो रघुराई रामानंद आरती गाई।
सुरनर मुनि सब करहिं आरती जै जै जै हनुमान लला की।

कह नहीं सकते कि ग्रन्थ साहब में उद्धृत निम्नांकित निर्गुण पथ का प्रदर्शक पद भी इन्हीं रामानन्द ने बनाया था अथवा नहीं—

कहाँ जाइ हो घरि लागो रंग, मेरो चित चंचल मन भयो अपंग।
जहाँ जाइये तहाँ जल पषान, पूरि रहे हरि सब समान।
बेद स्मृति सब मेल्हे जोइ, उहाँ जाइये हरि जहाँ न होइ।
एक बार मन भयो उमंग, घसि चोवा चंदन चारि अंग।
पूजत चाली ठाइँ ठाइँ, सो गुरु बताओ ब्रह्म आप माइँ।
सतगुर मैं बलिहारी तोर, सकल विकल भ्रम जारे मोर।
रामानंद रमै एक ब्रह्म, गुन कै एक सबद काटै कोटि क्रम्म।

अग्रदास—रामानन्द के शिष्य अनन्तानन्द थे। उनके शिष्य हुए कृष्णदास पयहारी। वे राजस्थान के दाधीच्य (दाहिमा) ब्राह्मण थे। कहते हैं इन्हें यौगिक विभूतियाँ प्राप्त थीं। उनसे इनके प्रति लोग आकृष्ट होते थे। इन्होंने गलता (जयपुर राजस्थान) में सम्प्रदाय की गद्दी की स्थापना की। सम्प्रदाय की सर्वप्रथम गद्दी होने से उसकी विशेष प्रतिष्ठा है। इन्होंने ब्रजभाषा में जुगलमैन चरित्र, ब्रह्मगीता तथा प्रेमतत्त्वनिरूपता की रचना की थी। इनके ही शिष्य अग्रदास थे। वे १५७५ ई० में विद्यमान थे। उनके बनाये हुए ये ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—रामभजन मंजरी, पदावली, हितोपदेश भाषा, उपासना बावनी, ध्यान मंजरी, अष्टयाम, अग्रसार, रहस्यत्रय और कुण्डलिया। उनकी रचना के उदाहरण—

पहरे राम तुम्हारे सोवत, मैं मतिमंद अंध नहिं जोवत।
अपमारग मारग महि जान्यो इंद्री पोषि पुरुषारथ मान्यो।
औरनि के बल अनत प्रकार, अगरदास के राम अधार।

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा,
तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा।
मेचक कुटिल बिसाल सरोरुह नैन सुहाये,
मुख पंकज के निकट मनो अलि छौना छाये।
नदी किनारे रूखड़ा जब कब होइ बिनास।
जब कब होइ बिनास देह कागद की छागर,

आयु घटै दिन रैन सदा आमय को आगर।
जरा जोरवर श्वान प्रान को काल शिकारी,
मूषक कहाँ निशंक मृत्यु तकि रही मँजारी।
अग्र भजन आतुर करो जौ लों पंजर श्वास,
नदी किनारे रूखड़ा जब कब होइ बिनास।

रघुबर लागत है मोहि प्यारो
अवधपुरी सरयू तट बिहरै दशरथ प्राण पियारो,
क्रीट मुकुट मकराकृत कुंडल पीतांबर पटवारो।
नयन विशाल माल मोतियन की सखि तुम नेक निहारो,
रूप स्वरूप अनूप बनो है चित ते टरत न टारो।
माधुरि मूरति निरखो सजनी कोटि भानु उजियारो,
अग्र अली प्रभु की छबि निरखे जीवन प्राण हमारो।

नाभादास—ये गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे। सम्भवतः १६०० के लगभग थे। उक्त अग्रदास के शिष्य थे। कोई इन्हें डोम कहता है कोई क्षत्रिय। ये बहुश्रुत और बहुज्ञ थे। इन्होंने १६०० ई० में रचित भक्तमाल में भक्तों का परिचय दिया है। उसमें उनके चमत्कारों और भक्त के रूप में प्रतिष्ठित होने के विषय में वस्तुस्थिति, प्रचलित जनश्रुतियाँ आदि सुरक्षित हैं, साथ ही भक्त कवियों की रचनाओं और उनकी विशेषताओं का उचित और ठीक उल्लेख है। इससे जान पड़ता है कि उन्होंने उन लोगों की रचनाओं का अध्ययन कर के अपना निष्कर्ष निकाला था। इससे उनकी आलोचनात्मक दृष्टि और परख का पता चलता है। भक्तमाल में सम्प्रदाय विशेष के विचार से केवल उसी के अनुयायी भक्तों का परिचय नहीं दिया गया। सब प्रकार के भक्त उसमें वर्णित हैं। दूसरे, उनका परिचय देते समय कवि ने अपनी दृष्टि साम्प्रदायिक नहीं रखी। उहोंने निर्लिप्त भाव से प्रत्येक भक्त के गुण, महत्त्व और हुआ तो कवित्व का भी उल्लेख किया है। उनकी सम्मति संकुचित नहीं, उदार आलोचक की सी पैनी और निष्पक्ष है। इसके अतिरिक्त उनका बनाया 'अष्टयाम' भी कहा जाता है। उन्होंने व्रजभाषा गद्य में भी अष्टयाम की रचना की थी। रामभक्ति के सम्बन्ध के कुछ पद भी रचे थे। उनकी भाषा परिमार्जित और शैली स्थिर निर्णयात्मक है। उनकी कविता के कुछ उदाहरण नीचे उद्धत हैं—

सूरदास—उक्ति चोज अनुप्रास बरन अस्थिति अति भारी
बचन प्रीति निर्बाहि अर्थ अद्भुत तुकधारी

प्रतिबिंबित दिवि दृष्टि हृदय हरिलीला भासी
जन्म कर्म गुन रूप सबै रसना जु प्रकासी
बिमल बुद्धि गुन और की जो वह गुन स्रवननि धरै
श्री सूर-कबित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै।

हरिदास—जुगल नाम सों नेम जपत नित कुंज बिहारी
अवलोकत नित रहैं केलि सुख के अधिकारी
गान कला गंधर्व स्याम स्यामा को तोषै
उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषै
नित नृपति द्वार ठाढ़े रहैं दरसन आसा जास की
अस आस धीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की।
(भक्तमाल)

अवधपुरी की सोभा जैसी, कहि नहिं सकहिं शेष श्रुति तैसी।
रचित कोट कलधौत सुहावन बिबिध रंग मति अति मन-भावन।
चहुँ दिसि बिपिन प्रमोद अनूपा, चतुर बीस जोजन रस रूपा।
सुदिसि नगर सरजू सरि पावनि, मनि मय तीरथ परम सुहावनि।
बिगसे जलज भृंग रस भूले, गुंजत जल समूह दोउ कूले।।
परिखा प्रति चहुँ रिसि लसति कंचन कोटि प्रकास,
बिबिध भाँति नग जगमगत प्रति गोपुर पुर पास।
(अष्टयाम)

तुलसीदास—इनका जन्म १५४३ ई० (श्रावण शुक्ला सप्तमी १५५४ वि०) में उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत बाँदा जिला के राजापुर गाँव में हुआ।[1] कुछ लोग उन्हें सनाढ्य शुक्ल मानते हैं और अन्य सन्दिग्ध प्रमाणों के अतिरिक्त

'दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर बास भलि संगति भली'

---

१. मूल गुसाईं चरित और तुलसी चरित तथा मानसमयंक के कर्त्ता वन्दन पाठक उक्त जन्म तिथि संवत् १५५४ मानते हैं, शिवसिंह सरोज के रचयिता तथा रामगुलाम द्विवेदी क्रमशः १५२६ और १५३२ ई० मानते हैं। कुछ ही दिन पूर्व प्राप्त 'गौतम चन्द्रिका' के अनुसार तुलसी—१५४३ ई० में उपर्युक्त तिथि को उत्पन्न हुए। कुछ लोग मानस के आरम्भ में ही कथित 'मैं पुनि निजगुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत' में आये सूकरखेत को आजकल एटा जिला में गंगातट का सोरों कह कर उसे ही जन्म-स्थान मानते हैं। इसके लिए कुछ ही दिनों के भीतर अनेक पुराने कहे जाने वाले, पर अविश्वसनीय ग्रंथ प्रकट हो गये थे। परन्तु मूलगुसाईं चरित तथा गौतम चन्द्रिका

उन्हीं की कही इस बात का भी सहारा लेते हैं, परन्तु यह सुकुल शुक्ल-वाचक नहीं सत्कुल-वाचक है जो कवितावली में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

भलि भारत भूमि भले कुल जन्म समाज सरीर भलो लहि कै।

अधिक लोग इन्हें सरयूपारीण ब्राह्मण मानते हैं। इनके पिता के नाम का निश्चय नहीं। उनके आत्माराम दुबे, परशुराम मिश्र, अम्बादत्त और अनप—ये चार नाम अब तक कहे जाते हैं। माता का नाम हुलसी प्रसिद्ध है। पत्नी का विख्यात नाम रत्नावली है। कहीं ममता भी मिलता है। दीक्षा-गुरु नरहरिदास और विद्या-गुरु शेष सनातन थे। कहते हैं कि ये अभुक्त मूल नक्षत्र में पैदा हुए थे। इससे फलित ज्योतिष के अनुसार इनको पितृहन्ता होने के भय से शिशु-काल में ही त्याग दिया गया था। इसके समर्थन में कुछ विद्वान् उनकी निम्नाङ्कित उक्तियाँ प्रसङ्ग से अलग करके सामने लाते हैं। वे उन्हें आत्म-चरितात्मक मानते हैं और इनका अभिधा से गृहीत अर्थ समझते हैं—

जायो कुल मंगन बधायो न बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को
मातु-पिता जग जाइ तज्यो बिधिहूँ न लिखी कछु भाल भलाई।

(कवितावली)

जननि जनक तज्यो जनमि करम बिनु बिधि हू सृज्यो अवडेरे।
...तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ।

(विनय-पत्रिका)

इस प्रकार उनके शिशुकाल से ही असहाय हो जाने के बाद दाने-दाने के लिए दाँत दिखाते हुए दरिद्रता की प्रतिमूर्ति बन कर भीख माँगने का भी उल्लेख किया जाता है। इसकी पुष्टि के लिए कवितावली से ले कर,

बारे तें ललात द्वार द्वार दीन जानत हो चारि फल चार ही चनक को।

की साखी दी जाती है। वस्तुतः ये असहाय्य और दैन्य-सूचक कथन संसार में अपना सहारा किसी को न मानने की भक्ति-भावना के प्रदर्शक हैं। इनका लाक्षणिक अर्थ लेना ही उचित होगा। तब यह समझ में आयेगा कि लोक

के उपलब्ध अवतरण बतलाते हैं कि वह सरयू-घाघरा के संगम पर बसा है। गोंडा जिला में वह स्थान अब भी है। गौतम चंद्रिका में यहाँ शांडिल्य ऋषि का आश्रम कहा गया है। आजकल भी पौष मास भर यहाँ भारी मेला लगता है, जहाँ वैरागी साधु मण्डली जा कर रहा करती है। चन्द्रबली पांडे ने अयोध्या को तुलसी का जन्म-स्थान माना है। तदर्थ कोई मान्य ऐतिहासिक प्रमाण नहीं प्रस्तुत किये। अधिक लोग राजापुर ही जन्मस्थान मानते हैं।

में निराश्रित तुलसी किस प्रकार राम के अनुग्रह से क्या से क्या हो गये—

घर घर माँगत टूक पुनि, भूपति पूजत पाय,
ते तुलसी तब राम बिन ते अब राम सहाय।

अस्तु, प्रवाद है कि इसी असहाय अवस्था में तुलसी नरहरिदास को मिल गये। उन्होंने साथ ले लिया। उन्हीं के मुख से शिशुकाल में ही तुलसी ने राम-कथा सुनी—एक बार नहीं, प्रायः नित्य ही। कहते भी हैं—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत,
समुझी नहिं तस बालपन, तब अति रहेउँ अचेत।

परन्तु गुरु तो रामतत्त्व समझाना ही चाहते थे। इसीलिए उन्होंने बार-बार उस कथा को सुनाया और तब तुलसी को उसका बोध हुआ—

तदपि कही गुरु बारहिं बारा, समुझि परी कछु मति अनुसारा।

इस प्रकार बाल्यकाल में ही राम का मर्म जानने और उसके अनुरूप साधना करते हुए अन्त में उन्होंने 'सीय राम मय सब जग जानी' की अनुभूति की होगी। जान पड़ता है 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' रामायण उन्होंने इसी समय सुनी होगी और बाद में शेष सनातन से पंचगंगा घाट, काशी में पन्द्रह वर्ष तक विधिवत् वेद, वेदाङ्ग, शास्त्र, इतिहास, पुराण आदि पढ़ने के अनन्तर उसका शास्त्रीय ज्ञान सम्पादन किया होगा।

कहते हैं इस प्रकार पूरे पण्डित हो कर वे राजापुर लौटे। वहाँ उनका विवाह हो गया। वे अपनी पत्नी के प्रति अत्यन्त आसक्त थे। सम्भवतः इस आसक्ति का ही सङ्केत उनकी इस उक्ति में हैं—

बालपने सूधे मन राम सनमुख गयो राम नाम लेत माँगि खात।
टूक टाक हौं, परयो लोक रीति में पुनीति प्रीति राम राय मोहबस
बैठो तोरि तरक तराक हैं।

एक दिन वह अकस्मात् अपने मायके चली गयी। तुलसी भी उसके पीछे-पीछे ससुराल जा पहुँचे। यह देख उनकी पत्नी कुछ लजा गयी। उसने न जाने किस अन्तःप्रेरणा से कह दिया—

लाज न लगत आपु को दौरे आयेहु साथ
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहाँ हौ नाथ!
अस्थि चर्म मय देह मम तामें जैसी प्रीति
तैसी जौ श्रीराम महँ होति न तौ भवभीति।

फिर क्या था। भीतर छिपी हुई रामभक्ति को धक्का लगा। तुलसी उलटे पाँव लौट पड़े। घर-बार छोड़ विरागी हो गये। लौकिक प्रेम की उत्कट तीव्रता ने

भगवत्प्रेम के पथ पर ला कर खड़ा कर दिया। आगे चल कर कभी उन्होंने इसको स्वीकार भी किया—

हम तो चाखा प्रेम रस पतनी के उपदेस।

कहते हैं विरागी होने पर तुलसी कुछ न कुछ पूजा-अर्चना के संग्रही तो थे ही। उनके विराग को पूर्ण करने को इसी देवी ने उन्हें एक बार फिर सतर्क किया था। तब उसने कहा था—

खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै विमल बिवेक बिराग।

अयोध्या पहुँचने के बाद चारों धामों की यात्रा की। इस प्रकार सारे देश का भ्रमण किया। पहले किशोरावस्था में भी अपने गुरु के साथ वे तीर्थयात्रा कर चुके होंगे। पर अब कोई अट्ठाइस वर्ष की वय में जब वे देश भर के तीर्थों के दर्शन करने निकले तब उन्हें धर्मक्षेत्रों की वस्तुस्थिति समझने की क्षमता थी। उन्होंने धर्म के विविध सम्प्रदायों के तत्कालीन रूप को देखा होगा, समाज की दशा प्रत्यक्ष की होगी, राजनीतिक स्थिति समझी होगी और सब वर्गों तथा स्तरों के लोगों की भौतिक एवं आध्यात्मिक विचार तथा चेतना का ज्ञान प्राप्त किया होगा। 'गौतम चन्द्रिका' में लिखा है कि इसी यात्रा से लौटने पर इकतीस वर्ष की वय में उन्होंने अयोध्या में रामचरितमानस का श्रीगणेश किया। उसमें विविध संवादों के प्रसङ्ग में उठी राम के ईश्वरत्व के विषय में शङ्का के समाधान का जो प्रबन्ध बाँधा गया है उससे स्पष्ट है कि तुलसीदास उस समय के धर्म-सम्प्रदायों के अनिष्टकर प्रभाव से पूर्णतया अवगत थे। उन्होंने सिद्धों और योगियों का रूप देखा—

असुभ भेष भूषन धरैं भच्छ अभच्छ जे खाहिं।
ते जोगी ते सिद्ध नर पूजित कलिजुग माहिं।

इन जोगियों के नेता गोरख ने क्या कर डाला था—

गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग
निगम नियोग ते केलि ही छरो सो है।

और देखा साखी शब्द दोहा कहने वाले निर्गुनिये सन्तों, कहानी उपाख्यान के द्वारा प्रेम की पीर सुनाने वाले सूफियों और रसायन सिद्ध करने वालों का प्रभाव—

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं बेद पुरान।

और वे

स्रुति सम्मति हरि-भक्ति पथ संजुत बिरत-बिवेक।
तेहि परिहरहिं बिमोहबस कल्पहि पंथ अनेक।

तथा

धातुवाद निरुपाधि बर सदगुरु लाभ सुमीत।
देव दरस कलिकाल में पोथिन दुरे सभीत॥

वाममार्गियों का भी प्रभाव कम नहीं था—

तजि स्रुति पंथ बाम पथ चलहीं, बंचक बिरचि बेष जग छलहीं।

इन धर्मध्वजों का असली रूप क्या था और इन्होंने अपने पाखंड से परमार्थ की क्या गति बना दी थी—

चोर चतुर बटपार नट प्रभुप्रिय भँडुवा भंड,
सब-भच्छक परमारथी कलि सुपंथ पाषंड।

इसका सर्वधारण पर क्या प्रभाव पड़ा? व्यवस्था बिगड़ गयी, सभी ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे सिद्ध ज्ञानी हो गये। सभी कबीर बन कर ब्राह्मण को ललकारने लगे—

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम तैं कछु घाटि!
जानहिं ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि दिखावहिं डाटि।

राम को खोजने निकले तुलसी ने देवालयों, तीर्थों, पुरियों में सनातन धर्म का जो रूप देखा उसका वर्णन नहीं किया। केवल संकेत से उसके विषय में इतनी सूचना दी कि

सुरसदननि तीरथ पुरिन निपट कुचाल कुसाज,
मनहु मवासे मारि कलि राजत सहित समाज।

जिसने चाहा कोई बाना धारण कर लिया और लगा लोगों से पुजाने। किसी अलखिये जोगी को 'अलख' 'अलख' कहते देख कर उन्होंने जो 'नीच' कहते हुए खीझ कर कहा था कि—

हम लख हमहिं हमार लख हम हमार के बीच,
तुलसी अलखै का लखै राम राम जपु नीच।

उसमें इसी पाखण्ड के बढ़ते प्रभाव की सूचना मिलती है।

इसका परिणाम यह हुआ कि वर्णाश्रम के क्षेत्र से भगदड़ मच गयी, अव्यवस्था छा गयी, कर्म उपासना को कुवासना ने घेर लिया, ज्ञान केवल बातों में रह गया और वैराग्य वेश में—

बरन-धरम गयो, आस्रम निवास तज्यो त्रासन चकित सो परावनो परो सो है,
करम उपासना कुबासना बिनास्यो, ज्ञान बचन, बिराग बेष जगत हरो सो है।

इस प्रकार गड़बड़ी होने पर जो जिधर चाहता उधर ही चल पड़ता।

जान पड़ता है कोई समझाने-बुझाने पर भी रामायण का पुनीत आदर्श सुनने को तैयार नहीं होता था, वाद-विवाद करने पर तुल जाता था—

रामायन अनुहरत सिख जग भयो भारत रीति,
तुलसी सठ की को सुनै कलि कुचालि पर प्रीति।

राजा जो व्यवस्था करने तथा समाज की कुचाल को रोकने का उत्तरदायी था, वह उलटे छलने लगा।[1]—

वेद पुरान बिहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है,
काल कराल नृपाल कृपालन राजसमाज बड़ोई छली है,
बर्न-बिभाग न आस्रम धर्म दुनी दुख दोष दरिद्र दली है।

राजा छली ही नहीं प्रजा की भूमि छीन कर जीविका विहीन करने वाले हुए—

भूमि चोर भूप भये

महा-महीपाल ने और भी क्या कररखा था? दण्डनीति का बोलबाला था—

गोंड गँवार नृपाल महि यमन महा महिपाल,
साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल।

इसका फल यह हुआ कि सभी वर्गों के लोग पेट के पुजारी हो गये। पेट भरने के लिए जैसे बने वैसे काम करने में कोई आनाकानी न करता! जितने पेशे थे सब में उचित अनुचित का विचार छोड़ कर धन कमाना श्रेयस्कर समझा जाने लगा। पेट की पूर्ति के लिए बेटा बेटी तक सौंपे जाने लगे—

किस बी किसन कुल बनिक भिखारी भाट, चाकर चपल नट चोर चार चेटकी
पेट को पढ़त गुन गढ़त चढ़त गिरि अटत गहन गन अहन अखेटकी
ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करी पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी

अतएव समाज में भले आदमियों का जीना दूभर हो गया, दुष्ट फूलने-फलने लगे—

फलैं फूलैं फैलैं खल सीदैं साधु पल पल खाती दीपमालिका ठठाइयत सूप हैं

तथा

साधु सीद्यमान जानि रीति पान-पीन की।

धर्म और समाज की यह दशा देखने और राजा से इसके सुधार की कोई आशा न देख तुलसी ने अपने कर्त्तव्य का निश्चय किया। उन्होंने लोक-धर्म के रूप का निश्चय किया। वही उनकी साधना का प्रधान लक्ष्य हुआ।

---

१. मिलाइये—अकबर के हिन्दू धम के प्रति प्रत्यक्षतः आकर्षण, किन्तु वस्तुतः पैगम्बर बनने की छिपी लालसा को ले कर किये गये उसके धर्म-सम्मेलनों से।

इसकी पूर्ति के लिए उन्होंने दाशरथि राम को ही सब से अधिक उपयुक्त समझा। अतः मन की तुष्टि के लिए कभी चित्रकूट में और कभी अयोध्या में राम का भजन करते हुए उन्होंने यह सोच लिया कि कैसे कार्य किया जाय। उन्होंने समाज के सभी वर्गों—स्त्रियों, पुरुषों, सामान्य जनों, विद्वानों आदि—के लिए राम के ठीक रूप को स्पष्ट करने का बीड़ा उठाया। कान फूँक कर चेले मूँड, उन्हीं के मुँह से अपनी बातों का प्रचार करना कदाचित् उन्हें नहीं जँचा। वे देख चुके थे कि चेले कैसे और कितनी जल्दी गुरु बन कर चेला बनाने की परम्परा चलाते और सम्प्रदाय के भीतर उपसम्प्रदाय बढ़ाते रहते हैं। अतएव उन्होंने चेलों का दल खड़ा नहीं किया। विविध शैलियों में विविध आकार-प्रकार के छोटे-बड़े सरस काव्यों के द्वारा जनता के हृदय और मस्तिष्क के भीतर घर करने का नया मार्ग ढूँढ निकाला। जो जिस रुचि तथा मानसिक स्थिति का व्यक्ति वा समुदाय जैसी कविता-शैली से परिचित था उसके लिए वैसी ही शैली में, उसकी बौद्धिक क्षमता का ध्यान रखते हुए रामचरित लिखा। उनके समय तक हिन्दी काव्य-रचना की ये शैलियाँ चल रही थीं—कृष्ण-प्रेम और भक्ति के कवियों तथा भक्तिमार्गी सन्तों के द्वारा गृहीत लीला तथा विनय के पदों की प्रणाली, सिद्धान्त; धर्म, नीति, लोकव्यवहार आदि के उपयोगी उपदेश आदि के लिए चल रही दोहा-सोरठा की शैली; वीर, उत्साह आदि की व्यञ्जक छप्पय तोमर-नाराच आदि छन्दों की पद्धति; सरस एवं ओज-पूर्ण प्रसङ्ग-परिचायिका सवैया-कवित्त की रचना-विधि; स्त्रियों में चल रही सोहर छन्द की लोकप्रिय रीति; बरवै जैसे जनकण्ठ में बसे छन्दों की गति तथा माङ्गलिक अवसरों पर गाये जा रहे मङ्गल काव्यों की शैली और दोहा-चौपाई-प्रधान चरित तथा आख्यान काव्यों की प्रणाली। तुलसी ने समान अधिकार के साथ इन सभी शैलियों को राम-चरित से अलंकृत किया। उन दिनों काव्य की रचना अवधी और व्रज में होती थी। जायसी आदि सूफियों तथा सूर आदि कृष्णभक्तों ने इन भाषाओं पर असाधारण अधिकार प्रदर्शित किया था। परंतु कोई ऐसा कवि नहीं था जिसने इन दोनों ही भाषाओं में रचना की हो।[1] फिर अवधी के पूर्वी और पश्चिमी रूपों में तो अब तक उन्हीं ने उच्चकोटि की रचना

---

१. केवल रहीम इसके अपवाद हैं। उन्होंने अवधी में बरवै तथा व्रज में अन्य प्रकार की रचनी की है। किन्तु वे भक्त-परम्परा के कवि तो थे नहीं, उनके भक्ति सम्बन्धी उद्गार केवल तत्कालीन लोक-प्रभाव के फल-स्वरूप है। उनका उद्देश्य साम्प्रदायिक भक्ति का प्रचार भी नहीं था। यहाँ चर्चा हो रही है भक्ति के क्षेत्र में प्रभाव-सम्पन्न कवियों की। उन सब में तुलसी भाषा के सबसे बड़े अधिकारी कवि थे।

की है। कहना न होगा काव्य-शैलियों और काव्य-भाषाओं का इतना बड़ा धनी उस काल में तो कोई था ही नहीं, अब तक हिन्दी साहित्य में उनका समकक्ष नहीं देखा गया। और धार्मिक साहित्य के भीतर कवित्व का इतना उत्कर्ष तो कहीं अन्यत्र मिलता ही नहीं। इस प्रकार अवधी और व्रज के समस्त क्षेत्र में ही, उनके प्रभाव के व्यापक भूभाग में बसने वाले ग्रामीण-नागरिक, निरक्षर-पण्डित, सामान्यजन-ज्ञानी पुरुष, नर-नारी सब को उन्होंने अपनी कृतियों के मार्ग से राम के सम्मुख ला कर खड़ा कर दिया। वे अकेले ही विविध रूप धारण करके अपने काव्यों की सरलता, सरसता एवं उत्कृष्टता के कारण सब के प्रिय बन गये।

कितनी दूरदर्शिनी थी उनकी दृष्टि और कितनी विशाल थी उनकी काव्य-रचना की क्षमता। फिर क्या था, लोगों को अपनी ओर खींचने में सफल हुए नहीं कि उन्हें उनको धर्म के व्यावहारिक रूप की सच्ची झाँकी दिखलाने लगे। लोगों ने देखा कि हमारे परम्परागत धर्म का वास्तविक पथ क्या है। वे उस हुए पर आ लगे।

यहाँ आने पर लोगों ने देखा कि हमारे वेद-शास्त्र-पुराणादि में जिस ब्रह्म के निराकार और साकार रूप का निरूपण हुआ है उसी के प्रतीक दाशरथि राम हैं। शिव के मत से—

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।

कारण,

अगुन अरूप अलख अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सो होई।

शिव उन्हीं का नाम दिनरात जपते हैं।[1] उनकी वन्दना करते हैं—

पुरुष प्रसिद्ध प्रकाश निधि प्रगट परापर नाथ
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ।

उधर रामचन्द्र समुद्र-संतरण के पूर्व अपने ईश्वर (रामेश्वर) शिव की पूजा करते हैं—"लिंग थापि विधिवत करि पूजा" और कहते हैं कि "शिव समान प्रिय मोहि न दूजा" तथा घोषित करते हैं कि—

रहीम सफल कवि होते हुए भी भक्ति-भावना वा कवित्व किसी विचार से उनके प्रति-स्पर्द्धी नहीं हो सकते।

१. पार्वती ने शिव से कहा था—

प्रभु जे मुनि परमारथबादी, कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी।
सेष शारदा बेद पुराना, सकल करहिं रघुपति गुनगाना।
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती, सादर जपहु अनँग-आराती।

सिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा।
शंकर विमुख भगति चह मोरी, सो नारकी मूढ़ मति थोरी।

अस्तु अपने प्रभु का आदेश मान रामभक्त विनय के प्रसिद्ध 'हरि शंकरी' पद[1] को मन्त्रवत् गान करते हुए हरि-हर की अभेदता का प्रतिपादन करने लगे और शिवभक्तों ने राम को मानना आरम्भ किया। इसी प्रकार कृष्ण और राम के ऐक्य को उन्होंने कृष्ण गीतावली के माध्यम से प्रत्यक्ष किया। अतएव उन्हें समझ में आ गया कि राम-भक्ति हमारे वेद-शास्त्र में विहित है और उससे अपने यहाँ के किसी सम्प्रदाय से विरोध नहीं। तुलसी ने उन्हें बतलाया कि—

आगम-बिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन, रोग बियोग घरो सो
बिगरत मन संन्यास लेत जल नवित आम घरो सो
बहुत मत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।

अतएव—

गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहिं राजत राज-डगरो सो।

इस प्रकार उन्होंने आपस में झगड़ते हुए बहुत से पन्थों के सङ्कीर्ण पथ से हटा कर लोगों को रामभजन के राज मार्ग में ला कर खड़ा कर दिया। इस मार्ग में गुरु का पूर्ण महत्त्व है और उसके पदरज के मृदु अंजन से विवेक-विलोचन विमल होने पर ही

सूझहिं रामचरित मन-मानिक, गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक

परन्तु यह नहीं कहा गया कि उसके बिना साधन पथ का पथिक राह ढूँढ़ ही नहीं पायेगा। यह तो राजपथ है, जिसपर चलने की रोक टोक नहीं, सभी जब और जिस प्रकार चाहें इसपर चलने के अधिकारी हैं—

भाव कुभाव अनख आलस हूँ राम जपत मङ्गल दिसि दसहूँ।

इस पथ की पूर्ण प्रशस्तता बनाये रखने के लिए उन्होंने द्रष्टा वा सिद्धि बन कर इसकी कुञ्जी अपने हाथ में नहीं रखी और न उसे अपने पुत्र वा शिष्य-परम्परा

---

१. इसके आरम्भ और अन्त के चरण हैं और पूरा पद विनयपत्रिका में देखा जा सकता है—

दनुजबन दहन गुन गहन गोविन्द नंदादि आनंददाताऽविनासी
संभु सिव रुद्र संकर भयंकर भीम घोर तेजायतन क्रोधरासी
रुचिर हरिसंकरी नाम मंत्रावली द्वंद्वदुख हरनि आनन्दखानी
बिष्णु शिवलोक सोपान सम सर्वदा वदति तुलसीदास विसद बानी

को सौंपा। अपने ऊपर ढाल कर उन्होंने उन दिनों के बने भक्तों से सतर्क रहने को कहा, कारण उनको रामभक्ति मिल ही नहीं सकती—

भेष सु बनाइ, सुचि बचन कहैं चुवाइ,
जाइ तौ न जरनि धरनि धन धाम की।
कोटिक उपाय करि लालि पालियत देह,
मुख कहियत गति राम ही के न नाम की।
प्रगटै उपासना, दुरावै दुरबासनाहिं,
मानस निवास-भूमि लोभ मोह काम की
राग रोष ईरषा कपट कुटिलाई भरे,
तुलसी से भगत भगति चाहैं राम की!

अतएव उन्होंने सब झगड़े छोड़ निष्कर्ष रूप में जीवन का यह फल बतलाया—

सियराम सरूप अगाध अनूप बिलोचन-मीनन को जलु है।
श्रुति रामकथा, मुख राम को नाम, हिये पुनि रामहि को थलु है।
मति रामहि सों, गति रामहिं सों, रति राम सों, रामहि को बलु है।
सबकी न कहैं, तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फलु है।

वे कुछ समय तक अयोध्या में रहे। वहीं १५७४ ई० में रामचरित मानस लिखने बैठे। अयोध्या मोक्षदा पुरी है। राम ने श्रीमुख से कहा भी था—

मम धामदापुरी सुखदायिनी

वहाँ रहने का विचार तुलसी ने कुछ सोच समझ कर ही छोड़ा होगा। अयोध्या रामोपासकों के लिए केन्द्र थी, किन्तु काशी तो चिरकाल से हिन्दुओं के लिए मोक्षदायिनी ही नहीं धर्म-चिन्तन की पुरी रही है। वह सभी सम्प्रदायों के लिए अब तक समान रूप से मान्य चली आ रही है। वहाँ देश के कोने कोने से सब वर्गों के लोग आते रहते थे। अतः उनके द्वारा अपनी बात सब क्षेत्रों और वर्गों तक पहुँचाना सुगम था। उससे बढ़ कर कोई दूसरा स्थान नहीं था जहाँ से उन दिनों अपने सिद्धान्तों का प्रसार किया जा सकता। अतः तुलसी ने उसी को चुना। काशी में कई स्थानों पर रहने और वहाँ से किसी न किसी कारण हटते हुए अन्त में अस्सी घाट में रहने लगे। वहीं आज भी गंगातट पर उनकी कुटी विद्यमान है। वहीं उन्होंने मानस पूरा किया, विनयपत्रिका एवं अन्य रचनाओं का निर्माण किया। जान पड़ता है वहाँ उनका प्रभाव बहुत था। तभी उनका विरोध भी बहुत होता रहा

होगा। वर्णाश्रम के समर्थक होने पर भी थे तो वे वैरागी वा अवधूत ही। अतएव उनके प्रति कुछ ओछे आक्षेप भी किये गये। इस विरोध की प्रतिक्रिया से उनकी दृढता और भी बढ़ती गई। देखिये वे क्या कहते हैं—

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहो जुलहा कहो कोऊ
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै कछु कोऊ
माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो लैबे को एक न दैबे को दोऊ।

दुष्टों के तिरस्कार के साथ ही सज्जनों का सम्मान भी उन्हें खूब मिला था—
कोऊ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ो कोऊ कहै राम को गुलाम खरो खूब है।
अथवा
रामनाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप तुलसी से जग मानियत महामुनी सों।
और

घर घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय।

लोग आदर सूचित करने के लिए उन्हें गोसाईं अथवा गोस्वामी कहने लगे थे। उन्होंने रोगाक्रान्त होने पर अपने 'पति पाइ भरुहाइगो' का उल्लेख करते हुए स्वयं भी कहा है कि "तुलसी गोसाईं भयो, माड़ै दिन भूलि गयो..." इसका अर्थ यह नहीं कि वे दशनामी गोसाईं हो गये। हमारी समझ में लोग इन्हें भी तत्कालीन कृष्णोपासक सम्प्रदायों के आचार्यों के समकक्ष श्रेष्ठ समझते थे और इसीसे गोस्वामी तुलसीदास कहने लगे होंगे। उनके भक्तों और प्रेमियों में भक्तमाल के रचयिता नाभादास थे। उन्होंने उन्हें वाल्मीकि का अवतार कह कर सम्मानित किया—

कलि कुटिल जीव निस्तारहित बालमीकि तुलसी भयो।

अद्वैतदर्शन के तत्कालीन विद्वान् मधुसूदन सरस्वती, आमेर के महाराज मानसिंह, खानखाना अब्दुर्रहीम आदि उनके प्रेमी मित्र थे। भदैनी के जमींदार टोडर तो उनके बड़े ही भक्त थे। तुलसी की नरकाव्य न करने की प्रतिज्ञा इन्हीं के अवसान के समय टूटी थी। उस अवसर पर व्यथित हो तुलसी ने चार दोहों में इनका स्मरण कर के इन्हें अमर कर दिया है। उनमें एक दोहा देखिये—

तुलसी उर थाला बिमल टोडर गुन गन बाग।
ये दोउ नैनन सींचिहौं समुझि समुझि अनुराग।

जो हो, साधु-समाज तथा राजन्य वर्ग के द्वारा समादृत होने के कारण कुछ 'बिन काज दाहिने बायें' रहने वाले अथवा विरोधी लोग उनको सताने में ही आनन्द लेने लगे। वे कहते हैं—

माँगि मधुकरी खात ते सोवत गोड़ पसारि।
पाय प्रतिष्ठा बढ़ि परी ताते उपजी रारि॥

फिर भी वे अपने पथ से विचलित नहीं हुए। उनका घोष है—

प्रीति राम राय सों प्रतीति राम राय की
प्रसाद राम नाम के पसार पायँ सूतिहौं।

इतना ही नहीं, वे राम के भरोसे कभी किसी से नहीं डरे—

जो पै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और के कहा सरै
तुलसीदास रघुवीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै।

इस प्रकार राम का भजन और कीर्त्तन करते हुए एवं 'राम चरन रस मत्त रहत अहनिसि व्रतधारी' तुलसी सम्भवतः अन्तिम दिनों में बाहु की पीड़ा से व्यथित हुए। इस व्यथा से दुःखी हो अपने दोषों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर देखते हुए तुलसी ने 'हनुमान बाहुक' के मार्मिक कवित्त लिखे। उन्हीं दिनों काशी में महामारी का प्रकोप भी हुआ था, उन्होंने उस समय जो दुर्दशा देखी थी उसका भी शब्दचित्र खींच दिया है। सम्भव है इसी बाहुपीड़ा अथवा महामारी के आक्रमण से उनका शरीर छूटा हो।

तुलसी की निधन-तिथि के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

संवत् सोलह सै असी असी गंग के तीर,
सावन स्यामा तीज सनि तुलसी तज्यो सरीर।

इस प्रकार ई० सन् १६२३ में उनके प्राण पखेरू उड़े।

प्रवाद है कि प्राण-प्रयाण के समय 'क्षेमकरी' चिड़िया दिखलायी पड़ी। उन्होंने महायात्रा का शुभ शकुन समझा। 'दोहावली' में कह भी आये थे कि

नकुल सुदरसन दरसनी, छेमकरी चक चाष,
दस दिसि देखत सगुन सुभ पूजिहिं मन अभिलाष।

अस्तु, अपने मनोभिलाष की पूर्ति की यह दैवी सूचना पा कर उन्होंने निश्चिन्त हो कहा कि

कुंकुम रंग सुअंग जितो मुखचंदन सों होड़ परी है,
बोलत बोल समृद्ध चवै अवलोकत सोच विषाद हरी है।
गौरी कि गंग विंहगिनि बेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है,
पेषु सप्रेम पयान समै सब सोच बिमोचन छेमकरी है।

तदनन्तर उन्होंने हिन्दू परम्परा के अनुसार मुँह में तुलसी-सोना डालने का अनुरोध करते हुए राम नाम लिया और आँखें मूँद लीं। उनके अन्तिम बोल थे—

राम नाम जस बरनि कै भयो चहत अब मौन,
तुलसी के मुख दीजिये अबहीं तुलसी सौन।

रचनाएँ—तुलसीदास ने कविता न तो यश पाने या अर्थ कमाने के लिए की, न लोक-रञ्जन या सम्प्रदाय-संस्थान के लिए। उन्होंने वस्तुतः 'स्वान्तः सुखाय' एवं 'निज गिरा पावन-करन कारन राम-जस कह्यो।' उन्होंने काव्य का प्रयोजन बतलाते हुए सूचित किया कि

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई, सुमिरत सारद आवति धाई;
परन्तु, राम चरित सर बिनु अन्हवायें, सो स्रम जाइ न कोटि उपायें।
अतएव, कबि कोबिद अस हृदय बिचारी, गावहिं हरिजस कलि मल हारी,
कारण, कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लगत पछिताना।

इस प्रकार नर-काव्य सज्जनों के लिए अग्राह्य भी होता है। अतएव सुकवि उसके फेर में न पड़ कर शारदा के अनुग्रह से हृदय से उत्पन्न सद्विचार-जन्य कविता में रामचरित पिरो कर उनका कण्ठहार प्रस्तुत करता है—

हृदय सिंधु मति सीप समाना, स्वाती सारद कहहिं सुजाना।
जौं बरषइ बर बारि बिचारू, होहिं कबित मुकुतामनि चारू।
जुगुति बेधि पुनि पोहिअहि राम चरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग।

तुलसी की काव्य-रचना का यही आदर्श था। उन्होंने देव-काव्य ही बनाया, राम के सम्बन्ध में ही कविता की। उनके नाम से यों तो अनेक काव्य प्रचलित हैं, परन्तु ये बारह सभी तुलसीकृत मानते हैं—रामचरितमानस, कवितावली (अथवा कवित्त रामायण, जिसमें हनुमानबाहुक भी सम्मिलित है), गीतावली, रामलला नहछू, बरवै रामायण, जानकी मङ्गल, रामाज्ञा, वैराग्य सन्दीपनी, कृष्ण गीतावली, पार्वतीमङ्गल, दोहावली और विनयपत्रिका। इनके अतिरिक्त कुण्डलिया रामायण, छप्पय रामायण, कड़खा रामायण, रोला रामायण, झूलना रामायण, छन्दविली रामायण, मङ्गल रामायण, मङ्गलावली, राममुक्तावली, रामरत्नावली, नामकलाकोष, ज्ञानकोष परिकरण, ज्ञानदीपिका, हनुमान चालीसा, सङ्कटमोचन आदि को भी लोग उन्हीं की रचना मानते हैं। धन के लोभ से राजाओं के नाम से कविता करनेवालों का काम समझ में आ सकता है, किन्तु इन काव्यों अथवा रामचरितमानस के क्षेपकों को बिना किसी पुरस्कार के पाये ही लोगों ने अपना अस्तित्व तक मिटा कर उन्हीं के नाम का सिक्का—भले ही वह खोटा हो—चलाना क्यों चाहा—यह समझ में नहीं आता। इन काव्यों में कुछ प्रबन्ध हैं, शेष मुक्तक। कुछ ऐसे भी हैं जिनमें

बीथिका बजार प्रति अटनि अगार प्रति,
पँवरि पगार प्रति बानर बिलोकिये।
अध ऊर्ध्व बानर बिदिसि दिसि बानर है,
मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिये।
मूँदे आँख हीय में उघारे आँखि आगे ठाढ़ो,
धाइ जाइ जहाँ तहाँ और कोऊ को किये।
लेहु अब लेहु तब कोऊ न सिखाओ मानो,
सोई सतराइ जाइ जाहि जाहि रोकिये।

गीतावली की रचना व्रजभाषा में हुई है। इसकी रामकथा में कुछ ऐसी बातें हैं जो मानस में नहीं हैं। यहाँ उत्तरकाण्ड में राजतिलक के बाद राम के फाग खेलने हिंडोला-झूलने आदि का विशद चित्रण है और सीता-परित्याग की भी चर्चा है। इसमें राम के जन्म के समय के उत्सवों, उनकी बाल-क्रीड़ाओं का बहुत ब्योरेवार वर्णन है। वनयात्री राम-सीता के साथ मार्ग के गाँवों की स्त्रियों की बातचीत भी मार्मिक है। इसके प्रकृति-चित्रण तथा मुद्राओं के वर्णन भी बहुत सुन्दर हैं। उदाहरणार्थ--

वात्सल्य--

ललन लोने लेरुआ बलि मैया।
सुख सोइये नींद बेरिया भई चारु चरित चारयो भैया।
कहत मल्हार लाइ उर छिन छिन छगन छबीले छोटे छैया,
मोद कन्द कुल कुमुद चन्द्र मेरे रामचन्द्र रघुरैया।

प्रकृति-चित्रण--

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषा ऋतु प्रबेस बिसेष गिरि देखत मन अनुरागत।
चहुँ दिसि बन संपन्न बिहँग मृग बोलत सोभा पावत,
जनु सुनरेस देस पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत।
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातुरँगमगे सृंगनि,
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर मुनि भृंगनि।
सिखर परस घन-घटहिं मिलति बगपाँति सो छवि कवि बरनी,
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी।
जलजुत विमल सिलनि झलकत नभ बन प्रतिबिम्ब तरंग,
मानहुँ जग रचना विचित्र बिलसति बिराट अँग अंग।

मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि भरि भरि जल आछे,
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे राम भगति के पाछे।

मायामृग का पीछा करते हुए राम की मुद्रा—

जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गौंहैं तकत सुभौंह सकोरे।

राम के आगमन की प्रतीक्षा में शबरी की आतुर आँखें—

छन भवन, छन बाहर बिलोकति पंथ भ्रू पर पानि दै।

रामलला नहछू—यह ठेठ अवधी का सोहर छन्द में रचा छोटा सा काव्य है। पदावलि कोमल है। वस्तुओं और व्यापारों के चित्र स्पष्ट और रमणीय हैं। आज यह स्त्रियों के बीच उपनयन और विवाह के अवसरों पर पूर्वी उत्तर प्रदेश में प्रचलित लोक-गीत है। नख काटने वाली नाइन की झलक देखिये—

नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो,
देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो।
नाउनि अति गुनखानि तौ बेगि बोलाई हो,
करि सिंगार अति लोन तौ बिहसति आई हो।
कनक चुनिन सों लसति नहरनी लिये कर हो,
आनँद हिय न समाइ देखि रामहि बर हो।
काने कनक तरीवन, बेसरि सोहइ हो,
गजमुकुता कर हार कंठमनि मोहइ हो।
कर कंकन कटि किंकिनि नूपुर बाजइ हो,
रानी कै दीन्हीं सारी तौ अधिक बिराजइ हो।

बरवै रामायण—इसमें पूर्वी अवधी के प्रिय छन्द बरवै के द्वारा थोड़े में राम-कथा के मार्मिक प्रसङ्गों का चित्रण है। सीता का सौन्दर्य-वर्णन तथा स्त्रियों की उक्तियाँ विशेष आकर्षक हैं। इसमें व्यतिरेक, मीलित, उन्मीलित और कुछ अन्य अर्थालङ्कारों के द्वारा बड़े रम्य चित्र अङ्कित हुए हैं। इसकी कुछ सरस उक्तियाँ देखिये—

गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माँह,
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह।
चम्पक हरवा अंग मिलि अधिक सोहाइ,
जानि परै सिय हियरे जब कुँभिलाइ।
जटा मुकुट कर सर धनु सँग मारीच,
चितवनि बसति कनखियनु अँखियनु बीच।

अब जीवन कै है कपि आस न कोइ,
कनगुरिया कै मुँदरी कंगन होइ।

जानकी मङ्गल—इसकी रचना मङ्गल छन्द में हुई है। इसमें सीता-राम के विवाह का स्त्रियों के बीच वैवाहिक अवसरों पर गाने के योग्य सरस वर्णन है। यत्रतत्र काव्य-सौष्ठव भी है। कुछ उदाहरण,

गिरि तरु बेलि सरित सर बिपुल बिलोकहिं,
धावहिं बाल सुभाय बिहँग मृग रोकहिं।
सकुचहिं मुनिहि सभीत बहुरि फिरि आवहिं,
तोरि फूल फल किसलय माल बनावहिं।
होति बिरह सर मगन देखि रघुनाथहिं,
फरकि बाम भुज नयन देत जनु हाथहिं।
सीय सकुच बस पिय तन हेरइ,
सुरतरु रुख सुरबेलि पवन जनु फेरइ।

रामाज्ञा प्रश्न—इसमें शुभ और अशुभ-फल सूचक दोहों में राम-कथा कही गयी है। इसमें ब्राह्मण के पुत्र को जिलाने, वक-उलूक तथा यती-श्वान संवाद के साथ ही लवकुश जन्म और सीता के पृथिवी-प्रवेश के सम्बन्ध के भी दोहे हैं। वे वर्णन-सौकर्य और पद-लालित्य से परिपूर्ण हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

सरित सरोवर सजल सब, जलज बिपुल बहु रंग
समउ सुहावन सगुन सुभ, राजा प्रजा प्रसंग।
जलद छाँह मृदु मग अवनि, सुखद पवन अनुकूल
हरषत बिबुध बिलोकि प्रभु, बरसत सुरतरु फूल।
राम राज राजत सकल धरम निरत नर नारि
राग न रोष न दोष दुख सुलभ पदारथ चारि।
जती स्वान संबाद सुनि सगुन कहब जिय जानि
हंस बंस अवतंस पुर बिलग होत पय पानि।

वैराग्य सन्दीपनी—यह दोहा और सोरठा में रची गयी है। इसमें राम की वन्दना और महिमा के अतिरिक्त सन्तों के स्वभाव, महिमा तथा शान्ति का वर्णन है। दोहावली तथा रामाज्ञा प्रश्न के कुछ दोहे इस काव्य में भी सङ्कलित हैं। कुछ उद्धरण देखिये—

अहंवाद मैं तैं नहीं दुष्टसंग नहिं कोइ,
दुख ते दुख नहिं ऊपजै सुख तैं सुख नहिं होइ।

सोइ पंडित सोइ पारखी सोई सन्त सुजान,
सोई सूर सचेत सो सोई सुभट प्रमान
सोइ ग्यानी सोइ गुनी जन सोई दाता ध्यानि,
तुलसी जाके चित्त राग-द्वेष की हानि।
तुलसी यह तन है तवा तपत सदा त्रय ताप,
सान्ति होति जब सान्ति पद पावै रामप्रताप।

दोहावली—इसमें दोहों के अतिरिक्त कुछ सोरठे भी हैं। उनमें बहुत से मानस, वैराग्य-सन्दीपनी तथा रामाज्ञा प्रश्न में भी तद्वत् हैं। गोस्वामी जी के रामभक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त और विश्वास, भक्त की रीति और उसका प्रभाव, रामराज्य का रूप, कवि का आत्मपरिचय, काशी तथा देश में धर्म, समाज, राजा आदि का वर्णन इसमें मिलता है। तुलसी के राम-प्रेम की अनन्यता का बड़ा ही सरस प्रदर्शन चातक-प्रेम की कवि-प्रसिद्धि के द्वारा हुआ है। इनमें बहुत से दोहों की सूक्ति और नीति सम्बन्धी बातों ने उन्हें लोकोक्ति का रूप दे दिया है। इसके कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत हैं—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास,
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास।
तुलसी चातक माँगनो एक एक घन दानि,
देत जो भू भाजन भरत लेत जो घूँटक पानि।
नहिं जाचत नहिं संग्रही सीस नाइ नहिं लेइ,
ऐसे मानी माँगनेहि को वारिद बिन देइ।
जियत न नाई नारि चातक घन तजि दूसरेहि,
सुरसरिहू को बारि मरत न माँगेउ अरघ जल।

पार्वती मङ्गल—अरुण तथा हरिगीतिका छन्दों में शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन है। मानस में भी यह प्रसङ्ग है, किन्तु यहाँ उसके आख्यान से कुछ परिवर्तन भी है। यथा, मानस के अनुसार तपस्या करते समय पार्वती के प्रेम की अटलता की जाँच करने सप्तर्षि गये थे, परन्तु जानकी-मङ्गल में यह काम ब्रह्मचारी का रूप धर कर स्वयं शिव ने किया था। पर-पुरुष से सम्भाषण मर्यादा-विरुद्ध होता है। इससे ब्रह्मचारी के शिव से मन हटाने के तर्कों का उत्तर सीधे न दिलवा कर सखी के द्वारा दिलाया है। देखिये कवि कैसे इसका मार्मिक चित्र खींचता है—

बटुकरि कोटि कुतर्क जथा रुचि बोलइ,
अचलसुता मन अचल बयारि कि डोलइ!

साँच सनेह साँचि रुचि जो हठ फेरइ।
सावन सरित सिंधु रुख सूप सों घेरइ।
मनि बिनु फनि, जलहीन मीन तनु त्यागइ,
सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ।
करन कटुक बटु बचन बिसिख सम हिय हये,
अरुन नयन चढ़ि भृकुटि अधर फरकत भये।
बोली फिरि लखि सखिहि काँपु तन थर थर,
आलि बिदा करु बटुहि बेगि बड़ बरबर।
कहुँ तिय होहिं सयानि सुनहिं सिख राउरि,
बौरेहि के अनुराग भइउँ मैं बाउरि।
भइ बड़ बार आलि कहुँ काज सिधारहिं
बकि जनि उठहिं बहोरि कुजुगुति सँवारहि।

श्रीकृष्ण गीतावली—गीतावली की अपेक्षा कहीं अधिक मँजी हुई ब्रजभाषा की सरस पदावलि में श्रीकृष्ण सम्बन्धी यह आख्यान काव्य है। इसमें उनकी बाललीला, इन्द्रकोप, गोवर्द्धन-धारण, गोपी-विरह और उद्धव-संवाद, भ्रमरगीत, द्रौपदी का चीर-हरण आदि बड़े ही मधुर शब्दों में वर्णित हैं। उद्धव-गोपी-संवाद में इस कवि ने भी निर्गुण मत का खण्डन और सगुण मत का मण्डन किया है। उक्ति कितनी मार्मिक है—

जल बूड़त अवलंब फेन को फिरि फिरि कहा कहत हो?

श्रीकृष्ण का भगवत् रूप सदैव कवि के ध्यान में रहा है। इनके पद किसी भी श्रेष्ठ कृष्ण-भक्त से उन्नीस नहीं हैं।

दो एक उदाहरण लीजिये—

गोपी-उपालम्भ

तोहिं स्याम की सपथ जसोदा आइ देखु गृह मेरे
जैसी हाल करी यहि ढोटा छोटे निपट अनेरे
गोरस हानि सहौं न कहौं कछु यहि ब्रजबास बसेरे
दिन प्रति भाजन कौन बेसाहै! घर निधि काहू केरे!
किया निहारो हँसत, खिझै तें डाटत नयन तरेरे
अब ही तें ये सिखे कहाँ धौं चरित ललित सुत तेरे
बैठो सकुचि साधु भयो चाहत मातु बदन तन हेरे
तुलसिदास प्रभु कहौ ते बातैं जे कहि भजे सबेरे?

इन्द्र का मद चूर करने के बाद—

टेरि कान्ह गोवर्धन चढ़ि गैया
मथि मथि पियो बारि चारिक में भूख न जाति अघाति न घैया
सैल सिखर चढ़ि चितै चकित चित अति हित बचन कह्यो बल भैया
बाँधि लकुट पट फेरि बोलाई सुनि कल बेनु धनुँ धुकि धैया
बलदाऊ देखियत दूरि तें आवत छाक पठाई मैया
किलकि सखा सब नचत मोर ज्यों कूदत कपि कुरंग की नैंया
खेलत खात परस्पर डहकत छीनत कहत कर रोगदैया।

विनयपत्रिका (राम गीतावली)—यह गोस्वामी जी के आत्म-निवेदन की चिट्ठी है जो राजाधिराज राम के पास पहुँचाई गयी है। इसमें श्री गणेशाय नमः से प्रारम्भ कर के राजदरबार में प्रार्थनापत्र पहुँचाने के लिए अपेक्षित सभी युक्तियों का निर्वाह करते हुए कवि ने बड़े कौशल से जीव की व्यथा भगवान् को सुनायी है। अन्तिम पद में भक्त तुलसी के राज-दरबार में पहुँच कर राम के द्वारा अपनी विनय-पत्रिका की स्वीकृति-प्राप्ति का भी दृश्य अंकित है। देखिये, पहले ही कवि सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और हनुमान सब की स्तुति कर सब से अपनी दीनता दूर कराने में सहायता करने की प्रार्थना कर चुके हैं। विनय की पत्रिका राम के सामने उपस्थित है। उसमें भक्त की विनती है कि 'विनयपत्रिका दीन की बापु आपही बाँचो।' अब राजसभा में यही प्रसङ्ग छिड़ा है—

मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है—
"कलिकालहुँ नाथ, नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है।"
सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है
कृपा गरीबनिवाज की, देखत गरीब को साहब बाँह गही है
बिहँसि राम कह्यो, "सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है।"

तदनन्तर चट सामने पहुँच कर

मुदित माथ नावत, बनी तुलसी अनाथ की, परी रघुनाथ हाथ सही है।

इसमें पत्रिका का पूरा रूपक बड़े ही कौशल के साथ वर्णित है। तुलसी ने समस्त देवी-देवताओं से विनय कर के एक ही वरदान माँगा है—

माँगत तुलसिदास कर जोरे बसहिं राम सिय मानस मोरे।

इससे उनकी अनन्य भक्ति की सृष्टि के साथ ही सर्वदेवोपासना के भीतर निहित ऐक्य का भी सङ्केत मिलता है। इसमें भक्त के हृदय में उठे विविध भावों का बड़ा ही खरा और सटीक वर्णन है। दीनता, मान-मर्षणा, भय-दर्शना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा-विनय की सात भूमिकाएँ पार

करके भक्ति की सिद्धि प्राप्त होती है। इन सब के सम्बन्ध के आत्म-निवेदन पढ़ते समय कितने ही भक्त आज भी विह्वल हो जाते हैं। इसमें तुलसी का अटूट विश्वास पग-पग पर दिखलायी पड़ता है। इसके अनेक पद संस्कृत की समस्त पदावली में हनुमान, काली, राम आदि की स्तुति-विषयक भी हैं। भक्त तुलसी के इस एकान्त निवेदन में उनके अभिलाष लोक-संग्रही रूप में ही व्यक्त हुए हैं, वहाँ लोकबाह्य आचार का संकेत भी नहीं मिल सकता। उन्हें भगवत्कृपा की असीमता और सर्व-समर्थता पर पूरी आस्था है और है राम की उदारता, दीनवत्सलता एवं अपरिमित शक्ति का अडिग विश्वास। प्रौढ संस्कृत-निष्ठ पदावलि और कवित्वमय शैली में लिखी यह रचना व्रजभाषा में अत्यन्त उत्कृष्ट है। हिन्दी में अब तक किसी अन्य भक्त कवि ने इतना हृदयस्पर्शी और सर्वाङ्ग-सम्पन्न विनय-सम्बन्धी आत्म-निवेदन नहीं किया। निम्नाङ्कित अवतरणों से इसके कवित्व का भी अनुमान किया जा सकता है—

ऐसी मूढता या मन की।
परिहरि रामभगति सुरसरिता आस करत ओसकन की।
धूम समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की,
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन की।
ज्यों गच काँच बिलोकि सेन जड छाँह आपने तन की,
टूटत अति आतुर अहार बस छति बिसारि आनन की।
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि जानत हौ गति मन की,
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख करहु लाज निजपन की।

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे?
काको नाम पतित पावन जग? केहि अति दीन पियारे?
कौन देव बराय बिरद-हित हठि हठि अधम उधारे?
खग मृग व्याध पषान बिटप जड जमन कवन सुर तारे?
देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे!

अब लौं नसानी अब न नसैहौं,
रामकृपा भव निसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं।
पायो नाम राम चिंतामनि उर-कर तें न खसैहौं,
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं।
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन निज बस ह्वै न हँसैहौं।
बन मधुकर पन करि तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं।

ऐसो को उदार जग माहीं,
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ज्ञानी,
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी।
जो संपति दससीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं,
सो सम्पदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित प्रभु दीन्हीं।
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो,
तौ भजु राम, काम सब पूरन करहिं कृपानिधि तेरो।
कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपाल कृपा तें संत सुभाव गहौंगो,
जथालाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो!
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो,
बिगत मान सम सीतल मन, परगुन, नहिं दोष कहौंगो।
परिहरि देह जनित चिन्ता दुख सुख समभाव सहौंगो,
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो।

रामचरितमानस—यह गोस्वामीजी के उपर्युक्त सभी रामचरितों से विशद और सर्वथा पूर्ण प्रबन्ध है। इसके आरम्भ में कवि ने अपने सब पूर्ववर्तियों का सादर स्मरण किया है जिनके द्वारा, जान पड़ता है, उन्हें रामायण का ज्ञान हुआ है—

मुनिन्ह प्रथम हरिकीरत गाई, तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई।
ब्यास आदि कबि पुंगव नाना, जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना।

तथा

कलि के कबिन करउँ परनामा, जिन्ह बरने रघुपति गुन नाना।
जो प्राकृत कबि परम सयाने, भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने।
बंदउँ मुनि पदकंज रामायन जेहि निरमयउ।
बंदउँ चारिउ बेद भवबारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहिं न सपनेहु खेद बरनत रघुबर बिसद जस।

इससे प्रकट है कि राम का चरित उन्हें परम्परा-प्राप्त है। उन्होंने वेद, पुराण, वाल्मीकीय रामायण के अतिरिक्त प्राकृत एवं भाषा के सभी कवियों के काव्यों, नाटकों, चम्पुओं आदि से कथा वस्तु ले कर उसे 'निज मति अनुहारि' 'कथा प्रबन्ध विचित्र' बनाई 'रामचरितमानस' नाम से प्रकट किया। उसमें

कथा ही नहीं सभी बातें 'नानापुराणनिगमागम सम्मत' हैं। कवि ने आप विचारे ज्ञान से आख्यान नहीं गढ़ा और न उसमें सुने-सुनाये तथ्य रख कर नया ढाँचा खड़ा करने का यश लूटना चाहा है। उन्होंने पुराने ईंट-गारे से यह भव्य प्रासाद खड़ा किया है, किन्तु वास्तु-कला उन्होंने किसी से भी उधार नहीं ली। उन्होंने—

सुठि सुंदर संवाद वर बिरचे बुद्धि बिचारि।

मानस के अनुसार शिव ने लोमश से, उन दोनों ने अलग-अलग अवसरों पर काकभुशुण्डि से और भुशुण्डि ने याज्ञवल्क्य से यह कथा पहले कही थी। उसी को लेकर उन शिव-पार्वती, काकभुशुंडि-गरुड और याज्ञवल्क्य-भरद्वाज के संवादों में सर्वत्र यह सन्देह प्रकट किया गया कि दशरथ-सुत राम नर हैं कि परात्पर ब्रह्म। तुलसीदास 'सुजन' श्रोताओं को यह संवादात्मक 'संदेह मोह भ्रम हरनी' रामकथा सुनाते हैं। इसी के निवारण के लिए रामचरितमानस का आविर्भाव हुआ। इसी से

यहि महँ आदि मध्य अवसाना, प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।

इसी कारण इसमें कथा के बीच-बीच जब कभी ऐसे प्रसङ्ग आते हैं जिन्हें सुन कर श्रोता (पार्वती, गरुड वा भरद्वाज तथा सुजन) के सन्देह वा भ्रम में पड़ जाने की आशंका जान पड़ती है तभी तुलसीदास ठहर कर राम के वास्तविक रूप की ओर ध्यान दिलाते हैं, तब आगे बढ़ते हैं। दूसरे मानस के जितने भी देवता, ऋषि, मुनि आदि पात्र हैं सभी राम के भक्त हैं। सब उनको भगवान् मानते हैं, वेद भी उनकी स्तुति करते समय 'सगुन निर्गुन रूप' तथा 'अव्यक्तमूलमनादि' कह कर उनके 'सगुन जस' को नित्य गाने का अभिलाष करते हैं। मानस में जितने भी मनुष्य हैं चाहे वे उनके परिवार के छोटे बड़े कोई हों, उच्च वा निम्नवर्ग के हों, यहाँ तक कि परम शत्रु ही क्यों न हों, सभी राम के ईश्वरत्व को प्रकट रूप से स्वीकार करते हैं अथवा रावण, मारीच आदि के समान अकेले में मानते हैं। कवि जहाँ भी अवसर पाते हैं राम की स्तुति कराते चलते हैं। यह स्तुतियाँ ऐसी स्तोत्र-शैली में हैं कि इनके द्वारा सामान्य पाठक राम की ईश्वरता को मान कर उनका आगे का चरित्र पढ़ता है। कथा समाप्त होने पर प्रत्येक पौराणिक श्रोता कुछ यों कहता है—'गयेउ मोर संदेह।' सम्भवतः तुलसी के सुमति श्रोतृ-वृन्द भी इसी धारणा को ले कर कथा के अन्त में उठते रहे होंगे। आज किसी को राम के निर्गुण होते हुए भक्त के प्रेमवश सगुण रूपधारी होने में सन्देह नहीं रह गया। यह है तुलसी के विषय-प्रतिपादन की शैली की अभूतपूर्व सफलता। राम का यह पूर्ण ब्रह्मत्व

या नारायणत्व भी तुलसी की कल्पना या भावना का फल नहीं है। इसे भी उन्होंने पुराणों, वाल्मीकीय रामायण, एवं अन्य रामायणों से ग्रहण किया और सर्वाधिक अध्यात्म रामायण से पाया था। अर्थात् राम और ब्रह्म का अभेदत्व पुरातन विश्वास के अनुरूप था। बीच में कबीर आदि सन्तों ने राम को निर्गुण कह कर इतना ढोल पीटा था कि तुलसी के समय तक बहुतेरे लोग बिना समझे-बूझे उन्हीं की प्रतिध्वनि बन कर सर्व-साधारण को भ्रम में डाल चुके थे। गोस्वामीजी ने इसी को मिटाने के लिए श्रुति-सम्मत हरि भक्ति के पथ से झाड़-झंखाड़ साफ करके उसे गमनागमन के योग्य बनाया। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि मानस मुख्यतः धार्मिक काव्य है। इसमें भक्ति प्रधान है। तुलसी की भक्ति-भावना के अनुसार राम का जो आध्यात्मिक रूप है वही नहीं प्रकट हुआ, किन्तु उनकी कल्पना और भावना में नरत्व का जो चरम उत्कर्ष हो सकता था उसके प्रतिरूप दशरथ-सुवन राम हैं। वे पूर्ण ब्रह्म और पूर्ण नर दोनों हैं। इन नर-नारायण की भक्ति ही रामचरित-मानस में वर्णित है। वैसे तो रामचरित-मानस के सभी पात्रों में भक्त के थोड़े-बहुत लक्षण मिलते हैं किन्तु उन सब की समष्टि हैं भरत। उनके त्याग, अनन्य प्रेम, आत्मोत्सर्ग आदि के साथ कर्मनिष्ठ, स्वधर्म तथा कर्त्तव्य-परायण होने के जिस सौम्य रूप का दर्शन मानस के दूसरे सोपान के उत्तरार्द्ध में अत्यन्त विस्तार-पूर्वक तथा सप्तम सोपान के आरम्भ में थोड़े में होता है वह न तो वाल्मीकीय रामायण में है और न अध्यात्म में ही और न कहीं अन्यत्र। वह तो भक्त तुलसी की सफल तूलिका से प्रसूत उनके आदर्श का सजीव चित्र है।

इस प्रकार उपदेश और उदाहरण दोनों के द्वारा राम की भक्ति का प्रतिपादन करने के साथ तुलसी ने मानस में लोक-व्यवहार के लिए आवश्यक कर्त्तव्यों का भी निर्देश किया। वह भक्ति किस काम की जिससे अपना आचरण और चरित्र न सुधरा और समाज को सत्पथ न मिला। यदि भक्ति पाखण्ड अनाचार आदि को प्रश्रय देने का साधन हो जाय तो उससे परलोक बनना तो दूर रहा लोक भी चौपट हो जायगा। अतएव तुलसी ने समाज-विरोधी तत्त्वों को दूर करने का ध्यान भी रखा। व्यष्टि और समष्टि के लिए आचरण के योग्य व्यवहार की शिक्षा मानस के पात्रों के मुख से अवसरानुकूल सदैव सुनायी पड़ती है। उदाहरणार्थ उसमें सन्तों के लक्षण कहते और उनके प्रतिरूप भरत आदि के चरित का चित्रण करते समय तथा नवधा भक्ति के रूप का विवेचन करते समय जो बातें कही गयी हैं उनसे चरित्र-निर्माण का पथ दिखलाने की चेष्टा हुई है। पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के लिए किस

प्रकार का आचरण लोक के हितकर है और किस प्रकार का अहितकर यह भी कवि ने मानस के विविध पात्रों के आचरण तथा व्यवहार से भलीभाँति स्पष्ट कर दिया है।

यदि मानस की कथा में उपर्युक्त तत्त्व ही रहते तो भी उसके प्रबन्ध-सौष्ठव के कारण वह पूर्ववर्ती एवं समसामयिक सभी धर्माधिष्ठाताओं की कृतियों से अधिक प्रभावशाली होता। वे पहले धर्माचार्य थे जिन्होंने अपने धर्म का रूप इस प्रकार विशद, स्पष्ट और सुबोध शैली में वर्णनात्मक कथा के द्वारा खोल कर समझाया था। उनके बाद भी किसी ने ऐसा अच्छा निरूपण नहीं किया। इसी से उनका मानस हिन्दू धर्म के समस्त सिद्धान्तों का निचोड़ है, वह धर्मशास्त्र, आचारशास्त्र, नीतिशास्त्र है और धर्म ग्रन्थ, जिसके अनुष्ठान से लौकिक कामनाएँ पूरी होतीं और जिसके नियमबद्ध पाठ से परलोक बनता है अर्थात् जो 'लोक लाहु परलोक निबाहू' दोनों है। परन्तु मानस इतना ही नहीं। वह शुद्ध कवित्व के विचार से भी अद्वितीय है। उसका प्रबन्ध इतना गठा है कि उसमें निरन्तर सिद्धान्त विशेष के प्रतिपादन के होते हुए भी कहीं ढिलाई नहीं है। उसका आरम्भ ही इतना सुव्यवस्थित और आलङ्कारिक है कि पाठक वा श्रोता उसके साथ बह चलता है अपना हृदय उसी के हाथ सौंप कर। प्रथम सोपान का वन्दना-प्रकरण कितना अलंकृत है; उसके बाद ही मानस का रूपक और कविता-सरिता का साङ्गोपाङ्ग लम्बा वर्णन किसी भी उत्कृष्ट काव्य का शृङ्गार है। फिर द्वितीय सोपान के वनगमन के प्रसङ्ग के विविध चित्र और चित्रकूट में भरत-राम की भेंट की सभाएँ काव्य-कौशल के अनुपम उदाहरण हैं। प्रथम सोपान में रामचन्द्र गुरु विश्वामित्र की आज्ञा से लक्ष्मण को जनकपुर दिखलाने ले गये थे। उन्हें देख कर पुरवासी बालक तथा नारियों ने क्रमशः उनसे तथा आपस में जो प्रेममयी बातें की थीं और इस द्वितीय सोपान में वन के मार्ग में आपस में तथा सीता से जो बातें गाँव की स्त्रियों ने की थीं उनकी सृष्टि तुलसी की सहृदयता ने की है। वैसी मधुर और हृदय-हारिणी बात-चीत दुर्लभ है। दूसरे प्रसङ्ग से कुछ चिरस्मरणीय अंश सुनते चलिये —

सीय समीप ग्राम तिय जाहीं, पूछत अति सनेह सकुचाहीं।
बार-बार सब लागहिं पायें, कहहिं बचन मृदु सरल सुहायें।
राजकुमारी बिनय हम करहीं, तिय सुभायँ कछु पूँछत डरहीं।
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी, बिलगु न मानब जानि गँवारी।
राजकुँअर दोउ सहज सलोने, इन्हते लही दुति मरकत सोने।

स्यामल गौर किसोर बर सुंदर सुषमा ऐन।
सरद सर्बरीनाथ मुखु सरद सरोरुह नैन।
कोटि मनोज लजावनि हारे, सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।
सुनि सनेहमय मंजुल बानी, सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी।
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी, दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनी।
सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी, बोली मधुर बचन पिकबयनी।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे, नामु लखनु लघु देवर मोरे।
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी, पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सैननि।
भईं मुदित सुनि ग्राम बधूटी रंकन्ह राय रासि जनु लूटी।
अति सप्रेम सिय पायँ परि बहुबिधि देहिं असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम जब लगि महि अहि सीस।

तुलसी ने काव्योपयोगी प्रसङ्गों का विस्तार से वर्णन किया है, किन्तु निरर्थक प्रकरण चलते कर गये हैं। उन्होंने अप्रिय प्रसङ्गों की सूचना मात्र दी है, कभी उनका वर्णन नहीं किया। जैसे

कही लखन कछु अनुचित बानी, प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी।

और न उन प्रसङ्गों को फिर विस्तृत रूप में कहा है जिन्हें एक बार वे बतला चुके थे। प्रयोजन आने पर उसका उल्लेख मात्र किया है। जैसे अशोकवाटिका में हनुमान ने सीता को 'आदिहु ते सब कथा सुनाई' से ही काम निकाल लिया गया। यही बात वाल्मीकि ने तेंतालीस श्लोकों में कही है।

मानस में चरित्र-चित्रण तुलसी की अपनी विशेषता है। उनके पात्र अलौकिक कृत्य करते हुए भी पैर पृथ्वी पर ही रखते हैं। उनके कुछ पात्रों में दैवी वा आसुरी शक्तियाँ हैं अवश्य, किन्तु वे मानवोचित गुणों या दुर्गुणों से भी अछूते नहीं। इससे उनका अस्तित्व हमारे निकट असम्भव नहीं।

वे मानव-स्वभाव और प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में भी परम निपुण थे। उन्होंने भक्ति-रस प्रधान मानस में अन्य रसों का यथोचित समावेश किया है। जैसे वे धर्म एवं लोक के व्यवहार में मर्यादावादी थे वैसे ही काव्य के क्षेत्र में पूर्ण विवेकशील थे। रससिद्ध कवि होते हुए भी रसराज के निरूपण में उनका कौशल देख कर दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ती है। उन्होंने उसको जिस मर्यादापूर्ण रूप में प्रस्तुत किया है वह उनकी सहृदयता के साथ ही कुशलता का भी परिचायक है। सूर भी भक्त ही थे। कृष्ण उनके भी भगवान् थे और राधा उनकी परमाराध्या थीं। परन्तु उन दोनों के शैशव के ही चित्रों को सर्व-

साधारण के सामने रखा जाय तो बहुतेरे लज्जा से आँखें नीची कर लेंगे। फिर किशोर अवस्था के राधा-कृष्ण के काम तो समाज के सामने रखे ही न जायँ इसी में कल्याण है। आज भी कौन, साधारण नहीं, कृष्णभक्त पिता है, जो अपनी पुत्री को सूर-कृत यह कृष्ण लीला सुना और समझा सकेगा? कम से कम हमें साहस नहीं कि उद्धरण देकर अपनी बात की यथार्थता प्रतिपादित कर सकें। जिसे विश्वास न हो वह हमारी बात न माने। जब सूर की यह स्थिति है तब और किस कृष्ण-भक्त की रची ये गुह्य लीलाएँ देखने-सुनने के योग्य हैं। किन्तु तुलसी ने सीता-राम के जीवन के जो चित्र अङ्कित किये उन्हें सभी देख सकते हैं। उनकी कल्पना के द्वारा जनकपुर में सीता और राम की पहली भेंट का जो मनोरम प्रसङ्ग वर्णित है वह रसमय है, किन्तु उसको सभी सब समय और सब के सामने पढ़ सुन सकते हैं। तुलसी के सदृश मर्यादापूर्ण शृंगार का वर्णन दुर्लभ है।

हम तुलसी की भाषा के विविध रूपों तथा छन्द-विधान की चर्चा कर चुके हैं। रामचरित मानस में भाषा और छन्द विधान के सम्बन्ध में उनकी अद्भुत क्षमता का बोध होता है। इसमें प्रधानता तो है पश्चिमी अवधी की, परन्तु उसमें बैसवाड़ी, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी आदि अवधी के अन्य रूपों के भी प्रयोग यत्र तत्र मिलते हैं। साथ ही हिन्दी के अन्य प्रादेशिक रूप भी कहीं-कहीं आ मिलते हैं। फिर संस्कृत के पुट में तो इस काव्य की भाषा के लिए तुलसी की विशेष देन है। ऐसी प्रांजल भाषा कहाँ मिलेगी। दोहा-चौपाई में ही प्रधानतया रचे इस महाकाव्य में भाव और रस के अनुरूप शब्दों के साथ ही छन्दों की भी योजना हुई है। ऐसे छन्द विविध प्रकार के हैं। परन्तु इनके प्रयोग में कवि ने कहीं भी अपने छन्दःशास्त्र के पाण्डित्य के प्रदर्शन की वह प्रवृत्ति नहीं दिखलायी जो 'रामचन्द्रिका' में केशव ने की थी। ये बड़े ही स्वाभाविक ढंग से आये हैं। उनकी रचनाओं में काव्य का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए ही अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है। व्यक्ति वा वस्तु का रूप, गुण और कार्य उत्कृष्ट ढंग से सामने लाने के लिये ही उन्होंने अपनी रचना में अलंकृत प्रयोग किये हैं। कहीं भी केवल उक्ति में चमत्कार बढ़ाने के लिए उन्होंने अलङ्कारों के साथ खिलवाड़ नहीं किया। 'सरल कवित्त कीरति भनिति सोइ आदरहिं सुजान'—रचना का यह आदर्श उन्होंने कभी आँखों से ओझल नहीं होने दिया। अस्तु, कविता के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों के विचार से रामचरितमानस परमोत्कृष्ट काव्य है। उसकी रचना करके कवि ने साहित्य की श्रीवृद्धि की है। यह प्रबन्ध इतना उत्तम है कि समस्त

हिन्दी के क्षेत्र में इसका घर घर प्रचार है। इसकी लाखों, नहीं करोड़ों प्रतियाँ छप चुकी हैं, इसकी सैकड़ों टीकाएँ हैं, न जाने कितने लोगों ने इसकी कथा बाँचने की जीविका ग्रहण कर रखी है। अपनी कथा के समय वे अन्यत्र से भी बड़े-बड़े रोचक प्रसङ्ग ला कर सुनाया करते हैं। सम्भव है कुछ ऐसों ने ही मानस में स्थान-स्थान पर क्षेपक लिख दिये हों। वे मखमल पर टाट के थेगले (पैबन्द) जैसे होने से तुरन्त मालूम हो जाते हैं, परन्तु यह तो सूचित करते हैं कि तुलसी के मानस में मिलाने के लिए भले ही न जाने कितने गुमनाम कवियों ने रचनाएँ न की हों किन्तु उन्हें औरों ने उसमें रख दिया हो। जैसे व्यास के नाम से रचे पुराणों और उनके भीतर के क्षेपकों की बहुलता है वैसे ही तुलसी के मानस में भी मिले क्षेपक उसके धार्मिक महत्त्व के साथ एक बात और सूचित करते हैं। यही ऐसा काव्य है जो इतने दिनों के बाद भी अपना पूरा आकार तो बचाये चला ही आ रहा है, साथ ही बढ़ता भी जा रहा है। वहीं दूसरी ओर सूरसागर जैसा विशाल ग्रन्थ पुष्टिमार्ग का आश्रय पा कर भी क्षीण होते होते आज इतना छोटा रह गया है। क्या इससे यह नहीं प्रकट होता कि रामचरितमानस कितना लोक-प्रिय है। इसकी लोक-प्रियता हिन्दी के क्षेत्र में ही नहीं सीमित है। इसके उड़िया, बँगला, उर्दू आदि में ही इसके अनुवाद नहीं हुए, अपितु अँगरेजी और रूसी तक में हुए हैं। इससे इसकी विश्वव्याप्ति होने लगी है। साहित्य के क्षेत्र में भी इसका प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इसके अध्ययन की ओर विद्वन्मण्डली प्रवृत्त हो चुकी है। उनके प्रयत्न से यह संसार के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों की श्रेणी में मान्य हो रहा है। समय के साथ तुलसी के इस काव्य की महत्ता अधिकाधिक बढ़ती जा रही है।

मानस में काव्योचित इतने प्रसङ्ग और विषय हैं कि इस सीमित स्थान में उपर्युक्त संकेत करके मन को रोकना पड़ रहा है। नीचे उससे दो-एक सरस उद्धरण दिये जाते हैं। अपनी सखियों के साथ जानकी गिरिजा पूजने गयी थीं। उनका मन्दिर जिस वाटिका में था उसी में राम-लक्ष्मण गुरु के लिए फूल चुनने पहले ही पहुँच चुके थे। वहीं राम और सीता ने पहले पहल एक-दूसरे को देखा। अकेले में नहीं, जैसा बहुधा प्रेमकाव्यों में वर्णित होता था और है, सबके सामने। फिर दोनों आकृष्ट हुए—'प्रीति पुरातन' के प्रभाव से। सीता को नारद इस मिलन की पहले ही सूचना दे चुके थे। वही उन्हें स्मरण आयी। और राम का सहज पुनीत मन क्यों आकृष्ट हुआ उसका कारण 'जान विधाता'। इस मिलन की एक झलक देखिये। एक दिन पहले ही दोनों भाई जनकपुर घूम आये थे। उनके अलौकिक सौंदर्य की चर्चा घर-घर

हो रही थी। जानकी की किसी सखी ने भी उसे सुना। संयोग से वह 'सिय संग बिहाई' 'गई रही देखन फुलवाई।' वहीं राम को देख कर वह सीता के पास लौटी। कहा—

देखन बाग कुँअर दोइ आये, वय किशोर सब भाँति सुहाये।
स्याम गौर किमि कहौं बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी।
सुनि हरषीं सब सखी सयानी, सिय हिय अति उत्कंठा जानी।
एक कहइ —"नृप सुत तेइ आली, सुने जे मुनि सँग आये काली।
जिन्ह निज रूप मोहिनी डारी, कीन्हे स्वबस नगर नर नारी।
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू, अवसि देखिअहिं देखन जोगू।"
तासु बचन अति सियहि सोहाने, दरसि लाग लोचन अकुलाने।
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई, प्रीति पुरातन लखइ न कोई।

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीति,
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत।

कङ्कन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही, मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्हीं।
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा, सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।
भये बिलोचन चारु अचंचल, मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल।
देखि सीय सोभा सुख पावा, हृदय सराहत बचनु न आवा।
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई, बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई।
सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई, छबि गृह दीप सिखा जनु बरई।
सब उपमा कबि रहे जुठारी, केहि पटतरौं बिदेह कुमारी।

सिय सोभा हिय बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि,
बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहारि।

तात जनक तनया यहि सोई, धनुषजग्य जेहि कारन होई।
पूजन गौरि सखी लै आई, करत प्रकासु फिरइ फुलवाई।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा, सहज पुनीत मोर मन छोभा।
सो सब कारनु जान बिधाता, फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता।
रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ, मन कुपंथ पग धरहिं न काऊ।
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी, जेहि सपनेहुँ परनारि न हेरी।

करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरंद छबि करइ मधुप इव पान।

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता, कहँ गये नृप किसोर मनु चिंता।
जहँ बिलोक मृगसावक नैनी, जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी।
लता ओट तब सखिन्ह लखाये, स्यामल गौर किसोर सुहाये।
देखि रूप लोचन ललचाने, हरषे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति छबि देखें, पलकन्हि हूँ परिहरीं निमेखें।
अधिक सनेह देह भइ भोरी, सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहिं उर आनी, दीन्हे पलक कपाट सयानी।
जब सिय सखिन प्रेम बस जानी, कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी।
लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ,
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ।[1]

अब थोड़ा भ्रातृ-वियोग की मूर्तिमन्त झाँकी देखिये। चौदह वर्ष के वनवास के एक-एक दिन गिनते-गिनते 'भरत अवध बसि तप तन कसहीं।' परन्तु अन्तिम दिन उनके भावुक भक्त हृदय की यह स्थिति हुई कि—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा, समुझत मन दुख भयेउ अपारा।
कारन कवन नाथ नहिं आयउ, जानि कुटिल किधौं मोहिं बिसरायउ।
अहह धन्य लछिमन बड़ भागी, राम पदारबिंद अनुरागी।
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा, ताते नाथ संग नहिं लीन्हा।
जौं करनी समुझैं प्रभु मोरी, नहिं निस्तार कल्प सत कोरी।
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ, दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ।
मोरे जिय भरोस दृढ सोई, मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई।
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना, अधम कवन जग मोहिं समाना।
राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत।
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात।

उपसंहार—इस प्रकार यह देख लिया गया कि तुलसीदास भक्त होते हुए भी सहृदय कवि थे। उनकी भक्ति और कविता स्वान्तः सुखाय थी, वह किसी लक्ष्य विशेष का साधन न थी, स्वतः साध्य थी। फिर

---

१. बड़ा ही मनोमुग्धकारी है आगे का वर्णन। स्थल सङ्कोच से आगे बढ़ने से अपने को रोका जा रहा है। सहृदय पाठक एक बार वह मूल में देखें और उसके काव्य पर जरा ध्यान से विचार कर लें।

भी तुलसी का अन्तःकरण इतना विशाल था कि उसमें समस्त लोक का समावेश था। वहाँ कोई ऐसी बात उठ ही नहीं सकती थी जो सब के लिए न हो। इसी से उनकी भक्तिप्रधान, किन्तु कवित्व से सराबोर रचनाओं से सबको सुख मिला। सुख भी कैसा? क्षणिक मनोरञ्जन से उत्पन्न आनन्द नहीं, अभ्यन्तर को तृप्त करने वाला ब्रह्मानन्द-सहोदर सुख—ब्रह्म के सगुण रूप के साक्षात्कार का सुख और उसका ही समकक्ष माना गया काव्यानन्द। इस काव्यानन्द का आविर्भाव मन को बहलाने के लिए नहीं किया गया। इसके द्वारा आभ्यन्तर तथा बाह्य समस्त जीवन के परिष्कार का विधान हुआ। वह व्यष्टि मात्र के मानसिक एवं व्यावहारिक परिष्कार तक ही सीमित न रहा, प्रत्युत समष्टि को सर्वथा शुद्ध करने में समर्थ हुआ। उसने धर्म का ऐसा रूप दिखलाया जो सबके लिए ग्राह्य और प्राप्य था, और जिसके अनुकूल जीवन का व्यवहार-पक्ष बनाने की प्रेरणा मिली। वह व्यवहार-पक्ष लोक-संग्रही हुआ, लोक की उपेक्षा करके स्वेच्छाचारी न रह पाया। धर्म का जो धात्वर्थ होता है उसके अनुरूप वह अपने अनुयायी को धारण करने में पूर्णतया सक्षम हुआ। धर्माचरण का यह रूप किसी व्यक्ति विशेष की अपनी सूझ का परिणाम न था। यह था वेद शास्त्र सम्मत सनातन आर्य-पथ, इस देश का परंपरागत धर्म। इस प्रकार तुलसी की रचनाओं में आध्यात्मिक साधना लोक-विमुख न हो कर लोक के लिए अनुकरणीय बनी। इसने परलोक बनाने के साथ ही लोक को नित्य प्रति के उपयोगी और हितकर आचरण की ओर भी प्रवृत्त रखा। इसके लिए घर-बार छोड़ विरक्त होना अनिवार्य न रहा, गृहस्थी में रह कर सदाचारपूर्ण जीवन और व्यवहार करते हुए सबको भगवान् के भजन करने का अधिकार मिला। इसमें बुद्धिवाद और ज्ञान को गौण स्थान दिया गया, कर्मकाण्ड की ओर से हटा कर 'सीधे मन सीधे बचन सीधी सब करतूति' के द्वारा भगवत्प्राप्ति का मार्ग प्रत्येक नर-नारी के लिए प्रशस्त किया गया।

इसी कारण इसे तुलसी ने 'राजडगर' (सरकारी सड़क) कहा—ऐसी डगर जिसपर चलने के लिए किसी ठेकेदार की अनुमति, अनुकम्पा, सहायता, स्वीकृति आदि की आवश्यकता नहीं और जिसपर प्रत्येक व्यक्ति अबाधगति से चल कर गन्तव्य स्थल पर पहुँच सकता है सीधे अपने प्रभु के पास। कर्मप्रधान रचनाकार होते हुए भी तुलसी ने ऐसे आदर्श चरित्रों का निर्माण किया जिनकी बातें और क्रियाएँ लोक को सत्पथ प्रदर्शित करती हैं। उनके अनुगमन के द्वारा धर्म की सिद्धि हो सकती है—लोक और परलोक दोनों बन सकते हैं। फिर उन्होंने कवित्व का जैसा उत्कर्ष दिखलाया वह असाधारण है। उन्होंने उसके

भाव और कला दोनों पक्षों का नयनाभिराम रूप निर्माण किया। भारतीय धर्म और साहित्य का सर्वस्व, उसका सार उन्होंने अपनी रचनाओं में निचोड़ कर रख दिया। साथ ही अपनी प्रतिभा के बल से उसको ऐसा भव्य आकार दिया जिसमें पुरातन और नूतन का अद्भुत किन्तु आकर्षक सम्मिश्रण है। अपनी कविता के द्वारा उन्होंने समाज की प्रत्येक श्रेणी, जाति एवं समुदाय के लोगों के भीतर प्रवेश किया। मध्ययुग के कवियों में वही ऐसे थे जिनकी रचना लोकहित के निमित्त हुई। वही ऐसे कवि हैं जिन्हें उन दिनों देश और समाज की दुर्दशा ने ठेस पहुँचाई थी और जिन्होंने उसको दूर करने के लिए अपनी वाणी का उपयोग किया तथा व्यक्तिगत साधना और मोक्ष की अपेक्षा सार्वजनिक लोक-लाभ और परलोक-निर्वाह का ध्यान रखना श्रेयस्कर समझा। उन्हीं की रचना में 'साधुमत', लोकमत, राजनीति और वेद के तत्त्व का सम्यक् रूप से समन्वय है। ऐसा सर्वद्रष्टा और प्रभविष्णु कवि दूसरा हुआ ही नहीं। इन्हीं सब बातों से तुलसी धर्मध्वज महात्मा, समाज-रक्षक लोकनायक एवं काव्यकौशल के परम प्रवीण शिल्पी साहित्य-स्रष्टा माने जाते हैं। उनके सदृश दूसरा व्यक्ति मध्ययुग में तो हुआ ही नहीं, लोक में प्रभाव तथा साहित्य के उत्कर्ष की दृष्टि से आज तक भी हिन्दी में क्या अन्य किसी भारतीय भाषा में नहीं हुआ। यदि मानव जीवन पर स्थायी और व्यापक लौकिक तथा आध्यात्मिक प्रभाव की दृष्टि से देखा जाय तो कदाचित् ही संसार का कोई भी कवि उनका समकक्ष कहा जा सके।

अन्य रामभक्त कवि—तुलसीदास ने राम की भक्ति का इतने विस्तार से इतनी पद्धतियों में निरूपण किया कि कदाचित् कवियों के लिए उसके भीतर अपने कृतित्व के प्रदर्शन के लिए क्षेत्र ही नहीं दिखलायी पड़ा। यह भी हो सकता है कि उन्हें अपनी सभी भावनाओं के प्रतीक उनकी रचनाओं में उपलब्ध थे और वे उनके द्वारा ही वे तृप्ति लाभ करते थे। फिर वह इतनी उत्कृष्ट कृति थी कि उसके सामने किसी को अपनी रचना प्रस्तुत करने का साहस भी न होता रहा होगा। जो हो, अकेले तुलसीदास ने रामकाव्य को सर्वाङ्गीण बना दिया। उन्होंने काशी में 'रामलीला' के प्रदर्शन की परिपाटी भी चलायी थी। उसमें मानस के आधार पर, उसके दोहे-चौपाई आदि के द्वारा कथानक की सूचना एवं संवादों की योजना होती है। वहाँ रामनगर में अब भी बड़ी धूमधाम से मानस पर आधृत रामलीला होती है। कुछ वर्ष पहले तक राजापुर में भी रामलीला की यही शैली प्रचलित थी। इस प्रकार नाटकीय प्रदर्शन के लिए भी मानस का उपयोग होता है। परन्तु रामचरित को ले कर संस्कृत के तद्विषक

नाटकों के अनुकरण में कुछ कवियों ने नाटक भी रचे। उनमें गद्य-पद्यात्मक-संवाद हैं। **प्राणचन्द चौहान** ने १६१० ई० में महारामायण नाटक लिखा और कृष्णदास के पुत्र **हृदयराम** ने १६६२ ई० में हनुमन्नाटक बनाया। यह संस्कृत के इसी नाम के नाटक के आधार पर बनाया गया। इसके कथोपकथन कवित्त-सवैया में हैं। वे बहुत ही सरस हैं। इसकी व्रजभाषा व्यवस्थित और प्राञ्जल है। इसके दो उद्धरण देखिये—

जानकी को मुख न बिलोक्यो ताते कुण्डल न,
जानत हौं वीर पाँव छुवै रघुराई के।
हाथ जो निहारे नैन फूटियो हमारे,
ताते कंकन न देखे, बोल कह्यो सत भाइ के।
पायँन के परिबे कौ नाते दास लछमन,
यातें पहिचानत हैं भूषन जे पायँ के।
बिछुआ हैं एई, अरु झाँझ हैं एई जुग,
नूपुर हैं तेई राम जानत जराइ के।

एहो हनू, कह्यो श्रीरघुबीर, कछू सुधि है सिय की छिति माहीं?
है प्रभु लंक कलंक बिना सु बसै तहँ रावन बाग की छाहीं।
जीवित है? कहिबेई को नाथ! सु क्यों न मरी हमतें बिछुराहीं?
प्रान बसैं पद पंजक में जम आवत है, पर पावत नाहीं।

कुछ लोगों ने राम के विख्यात भक्त हनुमान के सम्बन्ध में रचना की। स्वयं तुलसी का हनुमानबाहुक प्रसिद्ध है। किसी ने संकट मोचन, हनुमान चालीसा भी बना कर तुलसीदास के नाम से चला दिया। रायमल्ल पांडे ने १६३६ ई० में 'हनुमान-चरित' लिखा। इसी प्रकार बरेली निवासी लालदास (१६४४ ई०) ने 'अवध-विलास' की रचना की। ये सब रचनाएँ रामभक्ति की परम्परा को बढ़ाये चलीं। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दियों में इस भक्ति का रूप कुछ विकृत हुआ। इसमें भी माधुर्य और परकीया रति का भाव घुस आया। तुलसी के मानस के पुनीत मानस में यह दूषित जल मधुर रस के नाम से आ घुसा। तदनन्तर नवयुग में रामचरित लोक-हितकारी सामाजिक आदर्शों से अनुप्राणित हो कर जीवन का सतत सङ्गी बनने के लिए अग्रसर हुआ। इन सब की चर्चा आगे यथास्थान होगी।

इस प्रकार हमने देखा कि भक्ति के विविध रूपों की प्रतिष्ठा क्या कह कर की गयी थी, उसका क्या लक्ष्य निर्धारित हुआ था और क्या परिणाम हुआ। अन्तस्साधना के लिए दैवी अवलम्ब मत-मतान्तर का आधार बना,

एक के पाने के अनेक पथ के रूप में भिन्न-भिन्न रुचि, मति और गति वाले लोगों की आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति न करके ये विविध धर्म-सम्प्रदाय परस्पर प्रतिद्वन्द्विता के अखाड़े बन गये। साधना की गुह्य पद्धतियों ने रहस्यमयी उक्तियों के द्वारा भावाभिव्यक्ति की राह खोल दी। फलतः कविता में अस्पष्टता आयी और उसके मनमाने अर्थ किये जाने लगे। उधर गुह्य साधना ने ऊपर ले जाने के स्थान पर नीचे गिराने का मार्ग निर्मित किया। वह भोग-वृत्ति की पूर्ति करने लगी। लुक-छिप कर किये जा रहे इन वाम-पन्थी कौलाचारों की प्रतिक्रिया ने कुछ समय के लिए वैराग्य प्रधान योगमार्ग का प्रभुत्व स्थापित किया, किन्तु मनुष्य की सहज स्त्रैणता ने फिर सिर उठाया। वह निराकार प्रियतम के प्रेमाख्यानों तथा साकार कृष्ण की लीलाओं के द्वारा पुनः धर्म का आश्रय पा कर प्रकट हो गयी। धर्म ने जो अनर्थकारी रूप ग्रहण किया उसके समस्त कलुष को भस्म करने के लिए तुलसी का परम तेजस्वी प्रभाकर प्रकट हुआ। उसने आशातीत काम किया। सब प्रकार के पाखंड तथा अनाचार का भण्डाफोड़ करने के बाद उन्होंने पुरातन धर्म को समयानुकूल रूप में फिर प्रतिष्ठित किया। उनका प्रभाव बहुत व्यापक और कुछ अधिक स्थायी रहा, और हमारी विवेचना के काल के भीतर तो वही धर्म और साहित्य के क्षेत्रों में एकाधिपति सम्राट्वत् रहे।

शाही तथा राज-दरबारी एवं अन्य कवि

प्रवृत्ति—इस युग में भक्ति का इतना अधिक प्रभाव था कि जिन लोगों ने साम्प्रदायिक ढंग की धार्मिक कविता नहीं की उन्होंने भी भक्ति सम्बन्धी काव्यों की रचना की। राम और कृष्ण की भक्ति ही सर्वसाधारण में अधिक प्रभावशालिनी हुई थी। अतएव उनके विषय में प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार की ऐसी रचनाएँ हुईं जिनमें कवि का लक्ष्य काव्य था, धर्म-प्रचार नहीं। राम और कृष्ण में तात्त्विक दृष्टि से भेद नहीं—यह बात तुलसी की ही वाणी से नहीं प्रस्फुटित हुई थी, सूर, नन्द, हितहरिवंश आदि साम्प्रदायिक कृष्णोपासकों की भी यही अभिव्यक्ति थी। सामान्य रूप से यही बात सम्प्रदायों के घेरे के बाहर के कवियों के विषय में भी कही जा सकती है। सभी देवी देवताओं, तीर्थों, गङ्गा आदि की महिमा का भी भक्ति-पूर्वक गान होता रहा। साथ ही कृष्ण और राधा की लीलाओं के नाम पर जो विलास-क्रीड़ाएँ भक्तों ने वर्णन कीं उनका प्रभाव कहिये या यों ही, शाही दरबार के कवियों ने उन्हें प्रेम के इस रूप के नायक तथा नायिका का स्थान दे दिया जो आगे चल कर

स्थायी सा हो गया। वैष्णव धर्म के साथ ही जैन धर्म के सम्बन्ध में काव्य-रचना की पुरानी परम्परा चलती आ रही थी। इस युग में अन्य विषयों की भी प्रबन्धात्मक तथा स्फुट कविताएँ लिखी गयीं, जिनमें वीर, शृंगार और नीति विषयक कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी बीच नायिका-भेद, अलङ्कार और रस के निरूपण की रचनाओं का आरम्भ हो गया, जिनका विशेष रूप से निर्माण आगे चल कर हुआ। इस समय के भीतर ब्रजभाषा को काव्य-भाषा का रूप मिल गया था। हिन्दू राजाओं के आश्रय में काव्य-रचना को प्रोत्साहन मिल ही रहा था। उधर मुगलों ने भी अपनी सभा में ब्रजभाषा के कवियों को आश्रय दिया, जिन्होंने काव्य भण्डार-भरने में योग दिया। इन मुगलों के महलों में हिन्दू रानियाँ होने से उनकी सन्तति का सम्बन्ध हिन्दी से और भी घनिष्ठ हुआ। इस प्रकार उधर धर्म-प्रचारक सूफी अवधी में काव्य-रचना कर रहे थे तो इधर मुगल बादशाह और उनके दरबारी हिन्दू सरदार ही नहीं मुसलमान अमीर भी ब्रजभाषा में रचना करते थे। इस प्रकार जनता के कवियों के साथ-साथ शाही तथा राज-दरबारों के कवियों ने भी उपर्युक्त प्रकार की विविध विषय-समन्वित कविताएँ कीं। इससे तत्कालीन राज-समाज में ब्रजभाषा के सम्मान की जानकारी होती है। राजस्थानी भाषा में भी काव्य-प्रवाह जारी रहा। अब कुछ प्रमुख कवियों से परिचय प्राप्त कीजिये।

नरहरि बंदीजन—(१५०५–१६१० ई०) इनका जन्म पखरौली गाँव (तहसील डलमउ जिला रायबरेली) में हुआ। ये यौवनावस्था में असनी (फतेहपुर) में रहने लगे। वहीं इनका निधन हुआ। ये कश्यपगोत्री ब्रह्म भट्ट थे। ये संस्कृत और फारसी के जानकार तथा ब्रज भाषा के अच्छे कवि थे। ये सम्भवतः बाबर और हुमायूँ के दरबार में भी रहे। कारण, उनकी प्रशंसा में प्रशंसात्मक तथा सहानुभूति-सूचक इनकी रचनाएँ मिलती हैं। इन्होंने शेरशाह सूर तथा उसके पुत्र इस्लामशाह (सलीमशाह) से सम्मान प्राप्त किया। हुमायूँ के फिर दिल्ली पर अधिकारी होने के बाद उसके राजकवि हुए। देखिये न

सेरनसाह सलेम पुहुमि एकछत्र राजु किय;
तिन मोहिं कहँ करि कृपा भानु धनु षिति षिताबु दिअ।
तिन्हके मरत नहिं मुएउ लाज गहि बनन सिधायउँ,
तिहकि सुतन परि बिपति तहाँ केहु काम न आयउँ।
एहि लाज गहेउ जगदीस दरु नरहरि चल तन चित्त सुख,
फिरि फेरि बोलावहिं साहि मोहि सो आन देखावउँ कोन मुख।

उन्होंने रीवाँ के तत्कालीन बघेल राजा रामचन्द्र से भी सम्मान पाया-

था, किन्तु अकबर के दरबार में उन्हें बहुत प्रतिष्ठा मिली। वे उसके बड़े कृपा पात्र थे। उनके रचे हुए रुक्मिणी मङ्गल, छप्पयनीति तथा कवित्त-संग्रह प्रसिद्ध हैं। कई पीढ़ियों के दिल्ली राज-दरबार से सम्बद्ध जीवन के विस्तृत क्षेत्रों का अनुभव प्राप्त नरहरि कुशल कवि थे। उन्होंने भक्ति, शृङ्गार तथा इतिहास सम्बन्धी कुछ घटनाओं एवं व्यक्तियों का भी वर्णन किया है। उनके वर्णन स्वाभाविक, ओजस्वी और प्रभावशाली होते हैं। उनके कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं—

विज्जु तरक्कि चक्कि पपीहा चंहक्कित स्याम सुहर्ष सुहावन,
भुम्मि हरित्त सरित्त भरित्त दिगत्त रहित्त जित्त तित्त आवन।
नरहरि स्वामि समीप जहाँ लगि रचहि हिंडोल सखी सुष गावन,
बे आदर बिल पत्तिइ न कह बिन श्रिड्डल बिलपति हे सावन।
आई बरसत लिषत

फनपति गय खरभरहिं जलधि उच्छलहिं छंडि क्रमु,
उडि रज परिहरि भुअन भए ते सुर सकल संभु समु।
निसि दिन बिछुरहि चक्कि कवल सकुचहि रवि झंपहि,
धूम समुझि अरि नृपति भभरि भज्जहिं तन कंपहिं।
नचहि मउर नरहरि निरखि सो द्रुरंग अनबन बरन,
दलु चलत अकब्बर साहिकौ को गिरि बन घन असरन सरन।

चोटी गहि द्रोपदी निझोरिबे को ठाढ़ी कीन्ही,
कोपि कह्यो सुमिरि सहाय कौन करिहै।
लैन पावै उससि उसास न दुसासन पै,
दीन ह्वै पुकारी कहुँ दीनबन्धु हरि है।
दुरजन पुरजन देखत तमासो सब,
नरहरि कोउ न करत धरहरि है।
ऐसे में अनाथन की ओर कौन सुध लैहै,
मोर पच्छ धरिहै सो मोर पच्छ धरिहै।

चितवै सो जहँ तहँ मृगी जनु तनु काम बहु छबि सोहई,
मंजीर नूपुर कलित कंकन देखि मुनि मन मोहई।
सब सखी लिहे सो कनक थार बिलोकि अति सुख पाइआ,
बर बेख नरहरि रुकमिनी के मनहि मन अति भाइआ।

बीरबल—(लगभग १५२५ अथवा १५२८–१५८५ ई०) इनका वास्तविक नाम, वर्ण, जन्मस्थान आदि विवादग्रस्त हैं। नाम महेशदास और

ब्रह्मदास, वर्ण ब्रह्मभट्ट, कान्यकुब्ज, माथुर चौबे और जन्मस्थान नारनौल तथा तिकँवापुर कहे जाते हैं। इन्होंने प्रयाग के अशोक स्तम्भ पर सं० १५६६ ई० (१६२६ वि० १४६३ शाके मार्ग बदी ५, सोमवार) को अपने पिता का नाम गंगादास अङ्कित कराया है। अपनी रचना में 'ब्रह्म' छाप दिया करते थे। ये संस्कृत फारसी तथा हिन्दी में व्युत्पन्न थे। सभा-चतुर और प्रत्युत्पन्न-मति थे। इन्हीं गुणों के कारण अकबर के परम स्नेही, नर्म सखा और कृपाभाजन हो गये और पद तथा प्रतिष्ठा से विभूषित एवं धन-धान्य से सम्पन्न हुए। ये अकबर के मुँह-लगे थे। हिन्दुओं में इन्हीं ने उसके चलाये 'दीनइलाही' धर्म को स्वीकार किया था। शाही दरबार में इनके सम्मान के कारण इनसे जलने वालों ने षड्यन्त्र करके इन्हें यूसुफजई पठानों का दमन करने भिजवाया और वहीं माघ सुदी ११, शुक्रवार १६५२ वि० को धोखा दे कर मार डाला। इनकी मृत्यु का समाचार सुन कर अकबर बहुत दुखी हुआ था। इनकी रचनाओं और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' से प्रकट होता है कि बीरबल सम्भवतः पुष्टि-मार्ग के अनुयायी थे। वैसे कृष्ण-भक्त तो थे ही। ये बड़े उदार और दानी थे। गंग और केशवदास ने इनके इस गुण की बड़ी प्रशंसा की है। इनके नाम से प्रचलित चुटकुलों से इनकी विनोद-प्रियता प्रकट होती है। इनकी जो रचनाएँ उपलब्ध होती हैं उनमें कृष्ण की बाल-लीला, प्रेम-क्रीड़ा, राम-भक्ति एवं नीति का वर्णन है। कुछ छन्द प्रकृति सम्बन्धी भी हैं। कृष्ण और राधा के सम्बन्ध में रीतिकालीन कविता का मूल बीरबल के कवित्तों और सवैयों में मिलता है। भक्ति के नाम पर केलि का खुला चित्रण कदाचित् इन्हीं से प्रारंभ हुआ। आजकल इन्हें श्लील नहीं कहा जायगा। इनकी भाषा में माधुर्य और सौष्ठव है। कुछ उदाहरण—

दूसरो आहि न दूसरो देखिये दूसरो मानिये एक बिसारे,
यहै अवलोकै सोई पर काम ये ब्रह्म विवेक विचारे विचारे।
ऐसे ही नाथ निरंतर साथ रहे तन में मन में मनु मारे,
ज्यों पानी में पावक को प्रति बिंबु न आगि जरै न बुझै जलु डारे।
सबही कहिये सबही सुनिये सब देखि सबै कछु कीजतु है,
कवि ब्रह्म भनै रहै प्रान पिया बिनु प्राननु कौन पतीजतु है।
इतने दुख तें न कटी छतियाँ अलि पाइन हू जु पसीजतु है,
जिन रूसत रूसत ही जिय सो तिनके बिछुरे अब जीजतु है।
हे गय जीरन हूँ गये हेरे ते हारि न मानी बहारि पराहीं,
बनिता बनिता रसु जीरनु में तू तऊ बनि के निरखे परछाहीं।

पायो सो जीरन ब्रह्म भयो पहिरे पट जीरन ह्वै फर आहीं,
जीरन के तनु जीरनु तू है अजों मन तोहि अजीरन नाहीं!

गंग—(१५३८-१६२५) ये इकनौर (इटावा) के निवासी ब्रह्मभट्ट थे। कहते हैं कि ये बाल्यकाल में बीरबल के मित्र थे। इसकी पुष्टि इनके इस कथन से होती है—

आगे सुदामा कृष्ण हैं गंग बीरबल फेर,
ता दिन में तंदुल हते येहि दिनन में बेर।

सम्भव है ये बीरबल के द्वारा अकबर के दरबार में पहुँचे हों। वहाँ उन्हें बहुत धन-माल मिला। अकबरी दरबार के रत्नों बीरबल, रहीम, मानसिंह, खानखाना अब्दुर्रहीम, राजा टोडरमल तथा शाहजादा दानियाल ने उनको सम्मानित करके प्रभूत पुरस्कार दिये थे। उनके सम्बन्ध में गंग ने प्रशंसात्मक छन्द लिखे हैं। जान पड़ता है रहीम उस पर सबसे अधिक प्रसन्न रहते थे। उनकी बड़ाई भी कवि ने जी खोल कर की है। जो गंग किसी समय सब प्रकार सम्पन्न थे वही सम्भवतः जहाँगीर के समय में कष्ट भोगने को विवश हुए। स्वयं कहते हैं—

एक दिन ऐसो जामे शिबिकाहू गज बाजि,
एक दिन ऐसो जामें सोयबे को सहसो।
एक दिन ऐसो जामे गिलम गलीचा लागे,
एक दिन ऐसो जामे तामे का न पयसो।
एक दिन ऐसो जामे राजन सों प्रीति होत,
एक दिन ऐसो जामे दुश्मन को धइसो।
कहे कवि गंग नर मन में बिचारि देख,
आज दिन ऐसो जात काल दिन कै असो।

अपनी तत्कालीन निर्धनता और विवशता का उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है—

नटवा लौं नटै न टरै रहै मोदी सु डाढ़िन में बहु भाव भरै,
सजि गाजे बजाज अवाज मृदंग लों बाकिये तान गिलौरी लरै।
पट धोबी धरै अरु नाई नरै सु तमोलिन बोलिन बोल धरै,
कवि गंग के अंगन मंगनहार दिना दस ते नित नृत्य करै।

परन्तु उन्होंने दुःख-सुख का आविर्भाव और तिरोभाव अनेक बार देखा होगा। तभी कहते हैं—"कई बार इहि छिति छोटन में छोट भयो कई बार छिति में छतीसा पायो नाऊँ में।" परन्तु अन्त में उन्हें अपनी याचक वृत्ति से

विरक्ति हो गयी थी—ऐसा प्रतीत होता है। बूढ़े होने पर भी इससे छुटकारा न मिला। एक दिन खीझ उठे—

बाभन को जनम, जनेऊ मेलि, जान बूझि,
जीभ ही बिगारिबे को जाच्यो जन जन में।
कह कवि गंगु कहा कीजै जो न आने जातु;
आयु ग्यान देखो जु बुढ़ाई ध्यान धन में।

कवि गंग पहले सलीम का प्रशंसक था—"गंग चहैं नजर सलेम सुलतान की।" बाद में बादशाह जहाँगीर नूरजहाँ की कठपुतली बन गया था। नूरजहाँ का कोई भाई जैन खाँ गंग से रुष्ट हो गया। अनुमान है इससे नूरजहाँ ने गंग कवि को समाप्त करने का निश्चय कर लिया। एक दिन जहाँगीर ने उसकी किसी बात से बिगड़ कर हाथी के पाँव के तले कुचलवाने का आदेश दिया। रहीम ने बहुत सिफारिश की पर एक न चली। अन्त में गंग को मतवाले हाथी ने कुचल डाला। इसकी पुष्टि गंग की इस उक्ति से होती है—
"संग दिल शाह जहाँगीर से उमंग आज देत है मतंग पद सोई गङ्ग छाती में।"
अनुमानतः यह घटना १६२५ ई० के आस-पास घटी होगी।

अब तक गंग के रचे हुए जितने फुटकल छंद मिले हैं उनका संग्रह 'महाकवि श्री गंग के कवित्त' नाम से प्रकाशित हुआ है। उन्होंने संयोग और वियोग शृङ्गार के बहुत से छन्द लिखे हैं। नखशिख का भी वर्णन किया है। अपने आश्रयदाताओं की बड़ाई के प्रसङ्ग में उन्होंने उनकी दान- और युद्ध-वीरता का बखान किया है। जान पड़ता है प्रत्येक सामान्य हिन्दू की भाँति जीवन के विषम अनुभवों के बाद गंग का मन भी राम कृष्ण की भक्ति की ओर झुका। उनके तथा यमुना के प्रसंग के छन्दों में कवि साधारणतया पूरा भक्त जान पड़ता है। उसकी वाग्विदग्धता सराहनीय है। भाषा मँजी हुई है। ब्रजभाषा के कवियों में उसका ऊँचा स्थान है। किसी ने तो उसे तुलसी के साथ ला बिठाया है—"तुलसी गंग दुओ भये सुकबिन के सरदार।" परन्तु श्रेष्ठ कवि होते हुए भी गंग तुलसी के चरणों की धूल भी नहीं है, उनके समान 'सुकवि-सरदार' होना तो बड़ी दूर की बात है। नीचे कवि गंग के कुछ छन्द दिये जाते हैं—

सुंदरि साज सिंगार सुधारति सीत के गर्वहि गंजन को।
गंग लिये कर सारसुती मनमोहन के मनरंजन को।
ले करि कज्जलि अंगुलि लावति नैन लगावति अंजन को।
मेंहदी रुचि राजति ज्यों नख पै मनों गुंज चुगावति खंजन को।

मन्द मन्द गावै पार ब्रह्म नहीं पावै जाय जसुधा खिलावै मेरी महा बल पाई है।
बारेहि ते बंका कंस की न माने संका गढ वार पार लंका बलभद्र जी को भाई है।
कहै कवि गंग ब्रज बूड़त बचाय लीनो इन्द्र की घटाई जोमे फेरे आस धाई है।
कच्छन के पाछे पर बाँधे मोर पच्छन के जमुना के कच्छन में नाचत कन्हाई है।

वाल से ख्याल बड़े से विरोध विरानिहू नारि से ना हँसिये।
अन्न से लाज अंगन से जोर अनजानेहू नीर में ना धँसिये।
बैल को नाथ घोड़े को लगाम सु हस्ति कू अंकुस से कसिये।
गंग कहै सुन साह अकब्बर क्रूर से दूर सदा रहिये।

नवल नवाब खानखाना जू तिहारे डर परी है खलक खैलभैल जहूँ तहूँ जू।
राजन की राजधानी डोलीं फिरैं बनबन नेठन की बैठे बैठे भरैं बेटी बहू जू।
चहूँ गिरि राहें परी समुद्र अथाहें अब कहै कबि गंग चक्रबली और चहूँ जू।
भूमि चली सेष धरि सेष चले कच्छ धरि कच्छ चल्यो कौल धरि कौल चल्यो कहूँ जू।

नरोत्तमदास—इनका जन्मस्थान बाड़ी (सीतापुर) है। कहते हैं ये १५४५ के लगभग विद्यमान थे। इनका रचा 'ध्रुव चरित्र' भी कहा जाता है, किन्तु केवल 'सुदामा चरित्र' के कारण इनका नाम सदैव बना रहेगा। व्रजभाषा के कवित्त-सवैया छन्दों में लिखे इस छोटे से प्रबंध काव्य में कृष्ण और सुदामा की मैत्री का बड़ा ही मनोमुग्धकारी वर्णन है। अकिंचन सुदामा की दयनीय दशा, उसकी निस्पृहता तथा भगवान् के प्रति अटूट आस्था और कृष्ण की उदारता का अत्यन्त हृदयस्पर्शी चित्रण है। सुदामा और उसकी पत्नी के संलाप में युक्तियों एवं तर्कों का घात-प्रतिघात दर्शनीय है। सुदामा का दयनीय रूप और कृष्ण का उनसे मिलने का औत्सुक्य प्रदर्शित करने में नरोत्तम ने अभूतपूर्व सफलता पायी है। इसके अनेक छन्द तो कवि के वाक्-चातुर्य, वस्तु-वर्णन एवं सूक्ष्म निरीक्षण के परिचायक हैं। इसमें व्रजभाषा की प्राञ्जलता असाधारण है। कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं—

कोदो सँवा जुरतो भरि पेट न चाहति हौं दधि दूध मिठौती
सीत बितीतत जौ सिसियात तौ हौं हठती पै तुम्हें न हठौती
जौ जनती न हितू हरि सों तुम्हें काहे को द्वारकौ पेलि पठौती
या घर तें कबहूँ न गयो पिय टूटो तवा अरु फूटी कठौती।

छाँड़ि सबै जक तोहिं लगी बक, आठहु जाम यहै मन ठानी।
जातहिं देहैं लदाय लढ़ा भरि, लेहौं लदाय यहै जिय जानी।
पैये कहाँ ते अटारी अटा जिनको विधि दीन्ही है टूटी सी छानी?
जो पै दरिद्र लिखो है ललाट तौ काहू पै मेटि न जात अजानी॥

दीठि चकचौंध भई देखत सुबर्नमयी एक तें सरस एक द्वारका के भौन हैं
पूछे बिन कोऊ कहूँ काहू सों न करै बात देवता से बैठे सब साधि साधि मौन हैं
देखत सुदामै धाय पौरजन गहे पायँ पूछैं सब कहो विप्र कहाँ कीन्हो गौन हैं
धीरज अधीर के हरन पर पीर के बताओ बलबीर के भवन इहाँ कौन हैं

सीस पगा न झँगा तन में प्रभु जानै को आहि बसै केहि ग्रामा,
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु पायँ उपानह की नहिं सामा।
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सों बसुधा अभिरामा,
पूछत दीन दयाल को नाम बतावत आपनो नाम सुदामा॥

बोल्यो द्वारपालक, 'सुदामा नाम पाँडे' सुनि
छाँड़े राज-काज ऐसे जी की गति जाने को?
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पाँय,
भेंटे लपटाय करि ऐसे दुखसानै को?
नैन दोऊ जल भरि पूँछत कुसल हरि,
बिप्र बोल्यो "बिपदा मैं मोहिं पहिचानै को?
जैसी तुम कीन्ही तैसी करै को कृपा के सिंधु?
ऐसी प्रीति दीनबन्धु दीनन सों मानै को?"

ऐसे बिहाल बिवाइन सों भये कंटक जाल लगे पुनि जोये
हाय महा दुख पायो सखा तुम आये इतै न किते दिन खोये
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोये
पानी परात कौ हाथ छुयो नहिं नैनन के जल सों पग धोये।

केशवदास—(१५५५-१६१७ ई०) ओड़छा के निवासी केशवदास सनाढ्य ब्राह्मण काशीनाथ के पुत्र थे। उनके परिवार में परम्परागत संस्कृत के पण्डित होते आये हैं। तभी वे साभिमान उल्लेख करते हैं कि 'भाषा बोल न जानहीं जिनके कुल के दास।' ओड़छा नरेश रामसिंह के अनुज इन्द्रजीतसिंह उन्हें अपना गुरु मानते थे। वैसे तो कुछ अन्य राजाओं ने उन्हें आश्रय दिया था, किन्तु इन्द्रजीतसिंह ने उन्हें बड़े सम्मान से रखा। उन्होंने राजसी वैभव का भोग किया। बीरबल ने भी उन्हें प्रभूत सम्पदा प्रदान की थी। सम्भवतः उनसे तुलसीदास से भी भेंट हुई थी। उन्होंने संस्कृत के द्वारा पुराण, धर्म-शास्त्र, साहित्य और काव्य-शास्त्र का अध्ययन करने के अतिरिक्त ज्योतिष, वैद्यक, संगीत आदि का ज्ञान उपार्जित किया था। वे राजसभा के अन्तरङ्ग से परिचित थे और उनके कुछ काव्यों से यह भी विदित होता है कि वे राजनीतिक परामर्श के समय भी विश्वासपात्र थे। उनको जीवन के विविध

क्षेत्रों की जानकारी थी।

केशव के बनाये काव्यों में **रसिक प्रिया** की रचना १५९१ ई० में हुई। इसमें नायक-नायिका एवं सखी का भेद और दाम्पत्य रति का विस्तारपूर्वक वर्णन है तथा वृत्तियों एवं काव्य-दोषों का भी उल्लेख है। **नखशिख**—इस छोटे से काव्य में राधा के नखशिख का वर्णन है। दोहे में प्रचलित परिपाटी के अनुसार प्रत्येक अंग के उपमान बतलाने के बाद कवित्त में उनका उपयोग करते हुए उसका वर्णन किया गया। **कविप्रिया** का निर्माण काल १६०१ ई० है। केशव ने इसे अपनी शिष्या प्रवीणराय को काव्य-शास्त्र की शिक्षा देने के निमित्त बनाया था। इसमें काव्य के भेद, काव्य-रीति उसके वर्ण्य विषय और दोष तथा अलंकारों का निरूपण है। प्रत्येक का लक्षण दोहा में है तथा उदाहरण कवित्त-सवैया में। कुछ उदाहरण कवित्व के विचार से उत्कृष्ट हैं। **रामचन्द्रिका** प्रबन्ध-काव्य है। इसमें राम का चरित्र वर्णित है। इसमें अलंकारों और छन्दों का प्राचुर्य है तथा चमत्मकारपूर्ण उक्तियाँ बहुत हैं। चरित्र-चित्रण, भाव-प्रकाशन एवं प्रबन्ध-पटुता के विचार के यह सामान्य कोटि का काव्य है। इसमें पांडित्य-प्रदर्शन अधिक है और सहृदयता कम। **रतनबावनी** ओजपूर्ण वीर रस का काव्य है। इसमें ओड़छा-नरेश मधुकरशाह के पुत्र रतनसेन और अकबर की सेना के युद्ध का छप्पय छन्द में विशद रूप से वर्णन है। **वीरसिंहदेव-चरित** तथा **जहाँगीर-जस-चन्द्रिका** ऐतिहासिक काव्य हैं। पहले में वीरसिंहदेव के जीवन-चरित्र, राज्य-प्राप्ति और वैभव आदि का वर्णन है। इसमें अबुल-फजल के वध के लिए वीरसिंह देव के द्वारा शाहजादा सलीम की सहायता का वर्णन है। यह वीर-रस-प्रधान कृति है। इसमें तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं के जो ब्योरे हैं वे इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। **जहाँगीर जस चन्द्रिका** में उद्यम और भाग्य के काल्पनिक पात्रों के संवाद हैं। उद्देश्य है जहाँगीर और उसके वैभव का गुणगान। इसमें भी इतिहास सम्बन्धी बहुत-सी ज्ञातव्य बातें हैं। **विज्ञानगीता** आध्यात्मिक काव्य है जिसमें महामोह और विवेक के संघर्ष का वर्णन करके अन्त में विवेक की विजय दिखलायी गयी है। इसपर संस्कृत के प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक का प्रभाव स्पष्ट जान पड़ता है।

केशवदास की रचनाओं में विद्वत्ता और बहुज्ञता अधिक मिलती है। वे अलङ्कारों को कविता का अनिवार्य धर्म समझते थे। इससे उनकी कृतियों में रस-परिपाक की उपेक्षा और उक्ति-वैचित्र्य की ओर अधिक रुझान देखा

जाता है। इस कारण उनकी कविता बहुधा अस्पष्ट और दुरूह हो गयी है। उन्होंने कभी कभी श्लेषात्मक रचना कर के उसे क्लिष्ट काव्य का उदाहरण बना दिया है और अपने लिए 'कठिन काव्य के प्रेत' की उपाधि प्राप्त की है। परन्तु उन्होंने राजसभा के ऐश्वर्य और वैभव का ओजस्वी वर्णन किया है।

रामचन्द्रिका काव्य में वाल्मीकीय रामायण से कथावस्तु ले कर प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक से नाटकीय उपकरण और अनेक उक्तियों को तद्वत् ग्रहण किया गया है। जिन स्थलों पर मार्मिक प्रसंग उपस्थित हुए हैं उनमें जान पड़ता है कवि की वृत्ति नहीं रमी। वे विभिन्न पदार्थों एवं दृश्यों के वर्णन में प्रवृत्त हो कर बहुधा नीरस हो जाते हैं। इसी प्रकार चरित्र का उत्कर्ष दिखलाना भी उन्हें इष्ट नहीं जान पड़ता। हाँ, बीच-बीच में मार्मिक उक्तियाँ अवश्य आ गयी हैं—जैसे, हनुमान की उक्ति सीता के प्रति

तुम पूछति कहि मुद्रिके मौन होति यहि नाम।
कंगन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम।

इसके संवाद सचमुच बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। जनकपुर में धनुषयज्ञ के समय परशुराम और लक्ष्मण का, लंका में रावण और अंगद का वार्तालाप युक्तियों और तर्कों का अनुपम भण्डार है। इसी प्रकार लवकुश काण्ड में युद्ध प्रकरण भी ओजमयी चुभती उक्तियों का आकर है। कथोपकथन की रचना में केशव की समता करने वाला कवि दुर्लभ है। प्रकृति-रमणीयता की ओर देखने की प्रवृत्ति कवि के मन में नहीं प्रतीत होती। कभी वह ब्योरे गिना कर ही अपना कर्तव्य पूरा कर देता है और कभी श्लेषादि अलंकारों के द्वारा प्रकृति को ऐसा बीभत्स वा भयानक रूप दे देता है कि पाठक उनकी सहृदयता के प्रति सन्देह करने लगता है; जैसे पंचवटी, वर्षा और सूर्योदय के वर्णन। परन्तु जहाँ उनकी वृत्ति चमत्कार-प्रदर्शन के फेर में नहीं पड़ी वहाँ का दृश्य-विधान रमणीय है। जैसे इस अवतरण में

चहुँ दिसा बादल दल नचै, उज्जल कज्जल की रुचि रचै
दिसि दिसि दमकत दामिनि बनी, चकचौंधति लोचन रुचि घनी
गाजत बाजत मनौ मृदंग, चातक पिक गायक बहुरंग
अति सज्जल बद्दल की पाँति, तामै हंसा दलि बहु भाँति
जल स्यों संखावलि पी गई, उगलित ताकी सोभा भई
शक्रसरासन शोभा भरयो, बरन बरन बहु जोतिन धरयो

रतनमई जनु बासन भार, वर्षागम दिवि गंधी वार।
बरषत बुंद बूंद घन घनै, बरनत कवि कुल बुधि बल सनै।
वीर प्रगासा नर परगास, ताको धूम धरयो आकास।
गरजत ब्याजनि बजै निसान, जंग पात निर्वात निसान।
इंद्र धनुष घन सजल धार, चातक मोर सुभट किलकार।
खद्योतन को विपदा भई, इंद्रबधू घर घर निहि दई।

केशवदास ने जहाँ चाहा है वहाँ वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन स्वाभाविक किया है। रामचंद्रिका के लवकुश-काण्ड में युद्ध का दृश्य बहुत ही अच्छा है। इसी प्रकार वीरसिंहदेव चरित्र में युद्ध के दृश्य, जान पड़ता है, देख कर अङ्कित हुए हैं।

केशव की रचनाएँ व्रजभाषा में हैं। उसपर बुन्देलखण्डी प्रभाव भी है। उन्होंने संस्कृतपदावलि का भी प्रचुर प्रयोग किया है। कहीं-कहीं उनकी रचना में भाव और रस के अनुरूप शब्द-योजना से अपूर्व आनन्द मिलता है। यथा,

एक रदन गज बदन सदन बुधि सदन कदन सुत।
गौरिनंद आनंदकंद जगबंद चंद युत।

शोभित मंचन की अवली गजदंतमयी छबि उज्वल छाई।
ईश मनो वसुधा में सुधारि सुधाधर मंडल मंडि जुन्हाई।
ता महँ केशवदास विराजत राजकुमार सबै सुखदाई।
देवन स्यों जनु देव सभा शुभ सीय स्वयंवर देखन आई।

जहँ अमान पट्ठान ठान हिय बान सु उट्ठिय,
तहँ केशव काशी नरेश दल रोष भरिट्ठिय।
जहँ तहँ पर जुरि जोर ओर चहुँ दुंदुभि बज्जिअ,
तहाँ विकट भट सुभट छुटत घोटक तन तज्जिअ।

केशव की सब रचनाओं में मिला कर छन्दों के जितने अधिक रूप प्रयुक्त हुए हैं उतने मध्यकालीन किसी कवि ने कदाचित् न किये हों, किन्तु बहुधा इनको जल्दी-जल्दी बदलने से कथा-प्रबंध में व्याघात पहुँचता है। वैसे केशव के छंद निर्दोष हैं, उनके उपयोग के लिए कहीं-कहीं शब्दों में तोड़-मरोड़ है, किन्तु अधिक नहीं। अलङ्कारों की अवतारणा करने के लिए ही मानो उन्होंने काव्य-रचना की है। कभी-कभी वे सन्देह आदि अलङ्कारों से वस्तु-वर्णन का सौन्दर्य दृष्टि पर से हटा देते हैं और कहीं एक छंद के श्लेष द्वारा चार-पाँच तक अर्थ होते हैं। उन्हें खोलने के लिए बहुत मूँड़ मारना पड़ता है। यथा, नीचे के उद्धरण

में लोकनाथ (ब्रह्मा), त्रिलोकीनाथ (विष्णु), नाथ-नाथ (शिव), रघुनाथ (राम) तथा राणा अमरसिंह—इन पाँच के विषय में उल्लेख है—

भावत परमहंस जात गुण सुनि सुख,
पावन संगीत मीत बिबुध बखानिये।
सुखद सकति धर समर सनेही बहु,
बदन बिदित यश केशवदास गनिये।
राजै द्विजराज पद भूषन बिमल,
कमलासन प्रकासे परदार प्रिय मानिये।
ऐसे लोकनाथ कै त्रिलोकनाथ नाथनाथ,
कैधौं रघुनाथ कै अमरसिंह जानिये।

केशवदास ने रामचन्द्रिका तथा अपने समय के व्यक्तियों, स्थलों, वस्तुओं और राजनीतिक घटनाचक्रों के वर्णनात्मक काव्यों में भी अपनी यह अलङ्कार-प्रदर्शन की रुचि रखी है। इससे कहीं-कहीं विषय-वस्तु से ध्यान हट कर वर्ण्य व्यापार का अर्थ समझने के लिए रुक जाना पड़ता है। हर स्थान में पांडित्य दिखाना अच्छा नहीं लगता।

केशवदास ने काव्य-शास्त्र के आचार्यत्व के लिए जो कृतियाँ रची हैं उनमें उनकी मौलिक उद्भावना कम मिलती है। उन्होंने केवल लक्षण और उदाहरण दिये हैं। विषय का विवेचन नहीं किया। लक्षण अधिकतर संस्कृत के तद्विषयक ग्रन्थों पर निर्भर हैं, कहीं कहीं उनके उदाहरण भी अनूदित करके रखे गये हैं, अधिकांश उदाहरण कवि-रचित हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशवदास विद्वान् थे और अलङ्कारों तथा छन्दों के ज्ञाता आचार्य एवं कवि। उस युग में वह उन इने-गिने कवियों में थे जिन्होंने सम-सामयिक घटनाओं को स्पष्ट रूप से वर्णन करते हुए कविताबद्ध किया था। नरहरि, गंग आदि ने फुटकल छन्दों में कुछ घटनाओं का वर्णन अवश्य किया था, किन्तु प्रबन्ध-काव्य के रूप में केशव ने ही सब से अधिक तत्कालीन घटनाओं का उपयोग किया है। तत्कालीन आगरा की राजनीति को समझने में उनके इन काव्यों का विशेष महत्त्व है।

रहीम—ये अकबर के फुफेरे भाई थे। इनके पिता बैरामखाँ उसके अभिभावक भी रह चुके थे। इनका जन्म १५५६ ई० को दिल्ली में हुआ, शैशव में ही इनको पितृ-वियोग हुआ। इनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध अकबर ने किया। ये तुर्की के विद्वान् थे। उसमें लिखे बाबर के आत्म-चरित का इन्होंने फारसी में अनुवाद किया। फारसी, संस्कृत और हिन्दी के विद्वान् और

कवि थे। अरबी भी अच्छी तरह जानते थे। अकबर के दरबार के प्रतिष्ठित सदस्य थे। इन्होंने उसकी ओर से कई युद्धों का सञ्चालन किया और अनेक स्थलों पर विजय पायी थी। इससे इन्हें राज-सम्मान के साथ ही जागीरें मिलीं तथा उच्च पद प्रदान किये गये। शाहजादा दानियाल के निधन पर ये १६०४ में मुगल-साम्राज्य के दक्षिणी क्षेत्र के पूर्ण अधिकार पा गये। इनकी समृद्धि और वैभव का चरम उत्कर्ष हुआ। जहाँगीर के समय में कभी इनकी प्रतिष्ठा पूर्ववत् रही और कभी छिन गयी। और क्या निम्नांकित या ऐसे ही अन्य दोहे रहीम की तत्कालीन स्थिति तथा मानसिक दृढता सूचित करते हैं—

रहिमन चुप ह्वै बैठिये देखि दिनन को फेर,
जब नीके दिन आइहैं बनत न लगिहै देर।
यों रहीम सुख दुख सहत बड़े लोग सह सांति,
उवत चंद जेहि भाँति सों अथवत ताही भाँति।

उस समय की राजनीति के चक्कर में आ कर ७० वर्ष की वय में वे एक बार कैद भी कर लिये गये थे। किन्तु अनुनय विनय करने पर जहाँगीर ने १६२५ में उन्हें फिर 'खानखाना' के पूर्व पद के साथ कन्नौज तथा अजमेर की जागीर प्रदान की जैसा 'मआसिरुल उमरा' में कहा गया है। सम्भव है विरोधी दरबारियों, नूरजहाँ आदि से प्रेरित जहाँगीर से परित्यक्त होने पर जब उनका राजनीतिक पतन हुआ तब वे कष्ट पूर्वक भी रहे हों। हो सकता है उन्हीं दिनों कभी उन्हें किसी याचक ने घेरा हो, जिसकी सहायता न कर सकने पर उन्होंने अपने मित्र बघेल राजा रामचन्द्र को यह लिख भेजा—

चित्रकूट में रमि रहे रहिमन अवध नरेस,
जापै विपदा परति है सो आवत यहि देस।

अन्त में अस्वस्थता के कारण वे १६२६ ई० में चल बसे।

जैसा कहा जा चुका है रहीम फारसी के साथ ही हिन्दी के भी कवि थे। इनकी विशेषता यह थी कि हिन्दी, अरबी, फारसी के लेखों को समान-गति से पढ़ सकते थे और पढ़ते वक्त ही एक भाषा का अनुवाद दूसरी भाषा में इस प्रकार कर देते थे कि ऐसा ज्ञात होता था कि मूल में वही भाषा पढ़ रहे हों।[1] इन्होंने हिन्दी के अनेक कवियों को अपनी उदारता से वश में कर

---

१. सरयूप्रसाद अग्रवाल—"अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० १४१ में मआसिरे रहीमी भाग २, पृ० ५६१ से उद्धृत।

रखा था। गंग, केशव, आसकरन, मंडन, नरहरि, हरिनाथ आदि कितने ही कवियों ने उनके शौर्य, दान आदि का बखान किया है। कहते हैं रहीम और तुलसीदास की भी मित्रता थी।

रहीम के नीति, शृङ्गार और भक्ति के बहुत से दोहे प्रसिद्ध हैं। बरवै नायिका भेद, कुछ फुटकल बरवै, मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी भी इनके रचे हुए मिलते हैं। फारसी मिश्रित संस्कृत में ज्योतिष का 'खेटकौतुकजातकम्' तथा संस्कृत हिन्दी मिश्रित कुछ श्लोक भी रहीम कृत हैं। इन्होंने व्रजभाषा पूर्वी अवधी और खड़ी बोली में रचना की थी। उस युग में इनके समान विद्वान् और जीवन के विशाल अनुभव से सम्पन्न कवि हिन्दी में कदाचित् तुलसी के अतिरिक्त कोई दूसरा न था। तुलसी को भी राजदरबार, युद्ध आदि का कोई अनुभव न था, और वह तो इन्हें पूर्णरूप से था। इन्होंने परिमाण में अधिक रचना हिन्दी में नहीं की थी, फिर भी मुसलमान, फिर विदेशी तुर्क होते हुए भी भाषा पर इन्हें जो अधिकार था वह सम्भवतः बहुत कम उन लोगों को था जिनकी वह मातृभाषा थी। पूर्वी अवधी में रचे सरस बरवै, खड़ी बोली का मदनाष्टक और व्रज के कवित्त-सवैये, पद एवं दोहे-सोरठे भाषा के ऊपर इनके असाधारण अधिकार को प्रकट करते हैं। इनकी रचना पढ़ते समय कहीं यह लगता कि वह पहले के शिया और बाद के सुन्नी मुसलमान राजवंश के उच्च पदाधिकारी की कृति है। उसमें सर्वत्र हिन्दुओं के समान भावों की अभिव्यक्ति हुई हैं। राम और कृष्ण के विषय में कही उनकी उक्तियाँ पूर्णतया हिन्दू भक्त की भावना व्यक्त करती है। जीवन के जितने उतार-चढ़ाव रहीम ने देखे थे उतने बहुत कम लोगों को देखने को मिलते हैं। अतः विशाल अध्ययन के साथ ही उनके अनुभव भी बहुत व्यापक थे। इसीसे उनके नीति के दोहों में जीवन की सच्ची अनुभूतियाँ व्यक्त हुई हैं। तभी वे आज भी इतने लोकप्रिय हैं। उनकी कविता के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

अच्युत चरन तरंगिनी सिव सिर मालति माल
हरि न बनायो सुरसरी कीजिय इंदव भाल।
आउ पियारे मोहना पलक झाँपि तोहि लेउँ
ना मैं देखों और को ना तोहि देखन देउँ
प्रीतम छवि नैनन बसी पर छवि कहाँ समाय
भरी सराय रहीम लखि आपु पथिक फिरि जाय।

जिहि रहीम मन आपनो कीन्हों चारु चकोर
निसि बासर लाग्यो रहत कृष्ण चंद्र की ओर
नाद रीझि तन देत मृग नर धन हेत समेत
ते रहीम पशु तें अधिक रीझेहु कछू न देत
देन हार कोउ और है भेजत सो दिन रैन
लोग भरम हम पै करैं याते नीचे नैन।
खरच बढ्यो उद्यम घट्यो प्रभु निठुराई कीन
कहु रहीम कैसे जियैं थोरे जल की मीन।
कहु रहीम कैसे बनै केर बेर को संग
वै डोलत रँग आपने इनके फाटत अंग।
जो रहीम गति दीप की कुल कपूत की सोय
बारे उजियारो करै बढ़े अँधेरो होय।
यों रहीम सुख होत है उपकारी के अंग
बाटन वारे के लगै ज्यों मेंहदी को रंग।
यों रहीम सुख होत है बढ़त देखि निज गोत
ज्यों बड़री अँखिया निरखि आँखिन को सुख होत।
रहिमन अपने पेट सों बहुत कह्यो समुझाय
जो तू अनखाये रहै को तोसों अनखाय।
बढ़त बढ़त उद्यम सलिल मन सरोज बढ़ि जाय
घटत घटत पुनि ना घटै बरु समूल कुम्हिलाय।

बरवै

भज नरहर नारायण तजि बकबाद, प्रगट खंभ ते राख्यो जिन प्रहलाद।
भज मन राम सिया पति रघुकुल ईस, दीनबंधु दुखटारन कोसल धीस।
ध्यावहुँ सोच विमोचन गिरिजा ईस, नागर भरन त्रिलोचन सुरसरि सीस॥
बंदउँ बिघन बिनासन रिधि सिधि ईस, निर्मल बुद्धि प्रकासन सिसु ससि सीस।
बरसत मेघ चहूँ दिसि मूसर धार, सावन आवन कीजत नंदकुमार।
करत घुमड़ घन घुरवा मुरवा सोर, लगि लगि विकसि अँकुरवा नंदकिसोर।
लहरत लहर लहरिया अजब बहार, मोतिन जरी किनरिया बिथुरे बार।
जब से बिछुरे मितवा कहु कस चैन, रहत भरयो हिय साँसन आँसुन नैन।
चली लिवाइ नवेलिअहिं सखि सब संग, जस हुलसत गो गोदवा मत्त मतंग।
पथिक आय पनघटवा कहत पियाव, पैया परों ननदिया फेरि कहाव।

खड़ीबोली (मदनाष्टक से)

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था,
चपल चखन वाला चाँदनी में खड़ा था।
कटितट बिच मेला पीत सेला नवेला,
अलि बन अलबेला यार मेरा नवेला।

ब्रजभाषा-पद

कमलदल नैननि की उपमान।
बिसरत नाहिं सखी मो मन ते मंद मंद मुसुकानि।
यह दरसन दुति चपला हू ते महा चपल चमकानि।
सुधा की बस करी मधुरता सुधापगी बतरानि।
चढ़ी रहे चित उर बिसाल की मुकुतमाल थहरानि।
नृत्य साथ पीतांबरहू की फहरि फहरि फहरानि।
अनुदिन श्री बृंदाबन ब्रज ते आवन आवन जानि।
अब रहीम चित से न टरति है सकल स्याम की बानि।

मिश्रित (भाषासमक)

जिहि कारन बार न लाये कछू गहि संभु सरासन दोय किया।
दृष्ट्वा तत्र विचित्रतां तरुलतां मैं था गया बाग में।
काचित्तत्र कुरङ्गशावनयना गुल तोड़ती थी खड़ी।
उन्मद्भ्रूधनुषा कटाक्षविशिखैः घायल किया था मुझे।
तत्सीदामि सदैव मोहजलधौ हे दिल गुजारो शुकर।

शरदनिशिनिशीथे चाँद की रोशनाई,
सघनवननिकुंजे श्याम वंशी बजाई।
रतिपतिसुतनिद्रा साइयाँ छोड़ भागी,
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी।
जरद बसन वाला गुल चमन देखता था,
झुक झुक मतवाला गावता रेखता था।
श्रुति युग चपला से कुण्डलों झूमते थे,
नयन कर तमाशे मस्त ह्वै झूमते थे।

बनारसीदास—ये १५८६ ई० (माघ सुदी ११, १६४३ वि०) में जौनपुर में पैदा हुए। जैन धर्मावलम्बी श्रीमाल वैश्य थे। इनके पिता धन-धान्य से सम्पन्न हिन्दी और फारसी के विद्वान् और जौहरी थे। कुसङ्गति में पड़ कर ये यौवनारम्भ में ही ऐयाशी में फँस गये थे और घर का धन फूँकने लगे

थे। अपनी आत्मकथा में स्वयं कहते हैं—

तजि कुलकानि लोक की लाज, भयो बनारसि आसिखबाज।
टूक टक देख ध्यान सों धरै, पिता आपुने को धन हरै।

उसी उमङ्ग में, चौदह वर्ष की वय में इन्होंने

पोथी एक बनाई नई, मित हजार दोहा चौपाई।
तामें नवरस रचना लिखी, है बिसेष बरनन आसिखी।

अपने दुश्चरित्र के कारण इन्हें सर्वाङ्गकुष्ट भी हो गया था—

भयो बनारसिदास तन कुष्ट रूप सरबंग,

वह चिकित्सा से ठीक हो गया। इन्होंने विविध विषयों का अध्ययन किया। कहते हैं—

पढ़ी नाममाला शतदोय, और अनेकारथ अवलोय,
ज्योतिष अलंकार लघु कोक, खंड स्फुट शत शत श्लोक।

कोक शास्त्र आदि पढ़ने और इश्क करते रहने से लोगों ने इन्हें चौपट होते देख कारबार में लगाने का निश्चय किया—

गुरुजन लोग देहिं उपदेसा, आसिखबाज सुनैं दरवेसा।
बहुत पढ़े बामन औ भाट, बनिक पुत्र तो बैठे हाट,
बहुत पढ़ै सो माँगे भीख, मानहु पूत बड़ों की सीख।

अस्तु १६०३ ई० में पढ़ना-लिखना बन्द कर दिया। इसी समय इन्हें सोना बनाने के फेर में फँसा कर किसी संन्यासी ने अपना उल्लू सीधा किया, और किसी योगी के चक्कर में आ कर उसके दिये शंख को सदाशिव मान कर बहुत दिनों तक घरवालों से छिपा कर पूजा की। उससे आत्मशान्ति न पाने पर कवि ने एक दिन गोमती के किनारे घूमते समय चिन्तन करते-करते अपने जीवन की धारा ही बदल दी—

उदय होत शुभ कर्म के भई अशुभ की हानि,
तातें तुरत बनारसी गही धर्म की बानि।

तदनन्तर ये व्यापार करने में लग गये। आगरे गये। जो जो कारबार किये सब असफल रहे। गार्हस्थ्य जीवन में भी सुखी न रहे। नौ बच्चे न रहे और दो पत्नियाँ छोड़ कर परलोक सिधारीं। फिर भी ये काव्य-रचना में निरन्तर लगे रहे।

कहते हैं गोस्वामी तुलसीदास तथा दादू-पन्थी संत सुन्दरदास से इनकी घनिष्ठता थी। इन्होंने जीवन के बहुत उलट-फेर देखे, और बहुत प्रकार के अनुभव किये। परन्तु अन्त में अपने कुल-धर्म के अनुसरण और काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए।

इनके रचे अनेक ग्रन्थ हैं। उन्होंने अपनी आत्मकथा में अपनी कुछ 'कबीसुरी' का उल्लेख यों किया है—सूक्ति मुक्तावली, अध्यात्म बत्तीसी, पपड़ी, फाग धमाल, सिन्धु चतुर्दशी, शिव पच्चीसी भावना, सहस अठोत्तर नाम, करम छत्तीसी, झूलना, वचनिका, अष्टव, गीत, स्फुट कवित्त आदि। इनमें आचार तथा नीति आदि की बातें हैं।

'बनारसी विलास'—इनके फुटकल कवित्तों का सङ्ग्रह है। 'नाम माला' दोहा छन्द में लिखा शब्द कोष है। **'नाटक समय सार'**—यह कुन्द-कुन्द कृत ग्रन्थ का भाषान्तर है फिर भी इस आध्यात्मिक रूपक में रागात्मक और कल्पनातत्त्व और नयी सूझ तथा अनूठी उक्तियों का योग होने से विशेष रोचकता आ गयी है। इसमें आभ्यन्तर और बाह्य जगत् का रूप बतला कर आत्मा की शुद्धि का व्रजभाषा में वर्णन है। इसकी रचना की बानगी देखिए—

भेद ज्ञान आरासों दुफारा करे ज्ञानी जीव,
आतम करम धारा भिन्न-भिन्न परचै।
अनुभौ अभ्यास लहे परम धरम गहै,
करम भरम का खजाना खोलि खरचै।
यों ही मोक्ष मग धावै केवल निकट आवै,
पूरण समाधि जहाँ परम को परचै।
भयो निरदोर यहि करनो न कछु और,
ऐसे विश्वनाथ ताहि बानारसी अरचै।
एक में अनेक है अनेक ही में एक है सो,
एक न अनेक कछु कह्यो न परत है।
करता अकरता है भोगता अभोगता है,
उपजे न उपजत मरे न मरत है।
बोलत बिचारत न बोले न बिचारे कछु,
भेख को न भाजन है भेख को धरत है।
ऐसो प्रभु चेतन अचेतन को संगति सौं,
उलट पलट नटवाजी सी करत है।

हिंडोला के रूपक द्वारा कवि ने अन्यत्र जैन साधना के अनुसार आध्यात्मिक अनुभूति को सरस बनाने की चेष्टा की है। उसे देखिये—

सहज हिंडना हरख हिंडोलना झूलत चेतन राव,
जहँ कर्म धर्म सँजोग उपजत रस स्वभाव विभाव।

लगे थे। श्रीकृष्ण की लीलाभूमि में रहते हुए भी उन्हें श्रीराम का इष्ट था। वे कहते हैं—'औरन भरोसो जिय परत खरो सो ताहि, रामपद-पंकज कौ पूरन भरोसो है।' राम की भक्ति और लीला-विषयक रचनाओं में कवि की तल्लीनता स्पष्ट देखी जाती है। शृङ्गार, ऋतु, श्लेष आदि के वर्णन के साथ सेनापति के भक्ति-सम्बन्धी उद्गार सन् १६४६ में रचे उनके 'कवित्त रत्नाकर' नामक ग्रन्थ में सङ्कलित हैं। कहते हैं उनका दूसरा ग्रन्थ है 'काव्य-कल्पद्रुम', जो अब तक मिला नहीं।

सेनापति की सम्पूर्ण कविता घनाक्षरी कवित्त छन्द में है। अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि अलङ्कारों की प्रचुरता से युक्त होते हुए भी उनकी भाषा में बनावट नहीं है। कवि की रचना व्रजभाषा में है, उनका शब्द-विन्यास और पद-लालित्य मनोहर है। उनकी सी सरस, सुसङ्घटित, सजीव और मँजी हुई भाषा बहुत कम कवियों ने लिखी है। वह माधुर्य और प्रसाद गुण से ओत-प्रोत है। उनकी उक्तियों में स्वतन्त्र सूझ पायी जाती है। अत्यन्त भावपूर्ण होने से सेनापति की कविता बहुत प्रभावोत्पादिनी भी है। उनका षड्ऋतु वर्णन हिन्दी के काव्य क्षेत्र में अद्वितीय है। उसमें उनकी प्रकृति-पर्यवेक्षण की अद्भुत क्षमता का पता चलता है। प्रकृति के सूक्ष्म एवं संश्लिष्ट चित्रण का प्रयास नहीं है, किन्तु उसे शृङ्गार के उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया गया है। उन्होंने प्रकृति के साथ मानव-भावनाओं का अपूर्व सामञ्जस्य स्थापित किया है। यत्र-तत्र ऋतुओं के व्यापारों की बहुत सूक्ष्म और संश्लिष्ट योजना भी की है। इन गुणों के कारण सेनापति-कृत षड्ऋतुओं का वर्णन अत्यन्त हृदयग्राही और लोकप्रिय है। उनके श्लेष हिन्दी काव्य में अनुपम हैं।

सेनापति को केवल दो काम थे: 'रामै अरचतु सेनापति चरचतु दोउ कवित रचत याते पद चुनि-चुनि है।' उनके रामचरित-विषक छन्द ओजस्वी हैं। उनकी दीनता देखते ही बनती है। परन्तु कहीं-कहीं पर वे अपने प्रभु से यहाँ तक कह गये हैं कि 'अपने करम करि हौंही निबहौंगो तौ हौंही करतार करतार तुम काहे के?'' उनके गङ्गा-विषयक कवित्त भी अनूठे हैं। उक्ति-वैशिष्ट्य में सेनापति का सामना विरले ही कर सकते हैं।

उनकी कविता का उदाहरण देखिये—

केतकि असोक नव चम्पक, बकुल कुल
कौन धौं वियोगिनी कौं ऐसौ विकराल है।
'सेनापति' साँवरे की सूरति की सुरति करि
सुरति कराइ करि डारत बिहाल है।

दच्छिन पवन एती ताहु की दवन जऊ,
सूनौ है भवन परदेश प्यारौ लाल है।
लाल हैं प्रवाल फूले देखत बिसाल जऊ
फूले और साल पै रसाल उर-साल है।
कातिक की राति थोरी थोरी सियराति, सेना-
पति है सुहाति, सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं।
उदित बिमल चन्द, चाँदनी छिटकि रही
दाम कैसौ जस अध-ऊरध गगन हैं।
तिमिर हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर मगन हैं।

देस देस ब्यापी बिस्व कीरति उज्यारी जाकी सीतै संग लीने जामें केवल सुधाई है
सुरवर मुनि जाके दरस को तरसत राखत न खर तेजै कला की निकाई है
करन के जोर जोति लेत है निसा कलंकै सेवक हैं तारे ताकी गिनती न पाई है
राजा रामचंद्र अरु पून्यौं कौं उदित चंद सेनापति बरनी दुहू की समताई है।
पावन अधिक सब तीरथ तैं जाकी धार जहाँ मरि पापी होत सुरपुरपति है
देखत ही जाकौं भलौं घाटि पहिचानियत एक रूप बानी जाके पानी की रहति है
बड़ी रज राखै जाकौं महावीर तरसत सेनापति ठौर ठौर नीकीयै बहति है
पाप पतवारि के कतल करिबै को गंगा पुन्य की असील तरवारि सी लसति है।

बिहारी—बिहारीलाल का जन्म सन् १६१३ के आसपास ग्वालियर के समीपवर्ती बसुवा-गोविन्दपुर गाँव में हुआ था। वे माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। कहते हैं, बाल्यावस्था में वे बुंदेलखण्ड में रहे और युवा होने पर अपनी ससुराल मथुरा में। बिहारी अपने एक दोहे के द्वारा जयपुर-नरेश महाराज जयसिंह के राजकवि हुए। उनके चुने हुए सात सौ से कुछ अधिक दोहे 'बिहारी सतसई' के नाम से प्रसिद्ध हैं। केवल इतने कम दोहों से उनकी साहित्य-संसार में ऐसी प्रसिद्धि है, जैसी तुलसी, कबीर और सूर के बाद किसी अन्य हिन्दी कवि की नहीं है। सतसई ने यह सिद्ध कर दिया है कि किसी कवि का महत्त्व उसकी रचना के परिमाण से नहीं आँका जाता; किन्तु उसकी सच्ची कसौटी उस रचना का गुण है।

बिहारी की कविता का मुख्य विषय शृङ्गार था तथापि उन्होंने अन्य विषयों—भगवद्भक्ति, संसार की असारता, प्रकृति-सौन्दर्य, नीति आदि—के भी

कुछ दोहे-सोरठे लिखे हैं। अपनी भावुकता और रचना-कौशल से उन्होंने दोहा के सदृश छोटे छन्द में बहुत से भाव भर दिये हैं और वर्ण्य विषय का मूर्त रूप आँखों के सामने खड़ा कर दिया है। अलङ्कारों की कारीगरी दिखाने में बिहारी पूर्ण पटु थे। उन्होंने प्रेम-विषयक भावों, विभावों और अनुभावों का सजीव चित्रण किया है। साधारण-सी बात बहुत चमत्कार के साथ कही है। उनके बहुत-से दोहों में केवल वाक्-चातुर्य है, कोई भाव या रस नहीं। नीति या विरह सम्बन्धी दोहों में यह बात अधिक लक्षित होती है। उनको प्रकृति का भी अच्छा अनुभव था। उनके द्वारा अङ्कित प्रकृति के चित्र बहुत सुन्दर हैं। और मानव-प्रकृति के विशेषकर प्रेम के वर्णन में तो वे अद्वितीय थे।

बिहारी की व्रजभाषा में बुन्देलखंडी, उर्दू-फारसी आदि के शब्दों का भी यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है। कवि-स्वातन्त्र्य से उसमें शब्दों की तोड़-मरोड़ भी खूब है। उनका शब्द-प्रयोग नियमित और वाक्य-विन्यास व्यवस्थित है। वे शृङ्गार के रचनाकारों में बहुत प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित हैं।

इनके कुछ दोहे आगे देखिए—

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परैं, स्यामु हरित दुति होय॥
सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानक मो मन सदा, बसौ बिहारी लाल॥
मोर मुकुट की चंद्रिकनु, यौं राजत नँद-नंद।
मनु ससिसेखर की अकस, किय सेखर सतचंद॥
सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात।
मनो नीलमनि सैल पर, आतप परयो प्रभात॥
अधर धरत हरि कैं परत, ओठ दीठि पट ज्योति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र धनुष रँग होति॥
या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़े स्याम रँगु, त्यों त्यों उज्जलु होय॥
सघन कुंज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर।
मनु ह्वै जात अजौं वहै, उहि जमुना के तीर॥
स्वारथु सुकृत न स्रमु वृथा, देखि बिहंग बिचारि।
बाज पराये पानि पर, तू पच्छीनु न मारि॥
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कँटीली डार॥

नहिं पावस रितुराज यह, सुनि तरुवर मत भूल।
अपत भये बिन पाइहै, क्यों नव दल फल फूल॥

जटमल—ये मोरछड़ो (राजस्थान) में रहते थे। नाहर गोत्र के ओसवाल वैश्य थे। इनके पिता का नाम था धर्मसी। इन्होंने मोरछड़ों के पठान अधिकारी नासिरचंद अलीखाँ न्याजीखाँ के समय में 'गोरा बादल की कथा' राजस्थानी भाषा में रची। इन्होंने अपना नाम नाहरखाँ जटमल लिखा है। सम्भवतः उन्हें किसी ने नाहरखाँ की उपाधि दी थी। मुसलमानी शासनकाल में ऐसी उपाधियों का प्रचलन था, जिनको नाम के साथ जोड़ने से व्यक्ति मुसलमान जान पड़ता है। अब भी कुछ लोग इस प्रकार की उपाधियाँ वंशानुक्रम से अपने नाम के साथ जोड़े चलते हैं।

'गोरा बादल की कथा' की रचना १६२३ ई० में सिबुला गाँव में हुई थी। इसमें अलाउद्दीन के आक्रमण के समय चित्तौड़ के वीर सरदार गोरा और बादल की वीरता का वर्णन है। इसमें भी जायसी के पदमावत के पूर्वार्द्ध की भाँति काल्पनिक बातों का समावेश है। उसकी कथा से कुछ उल्लेखनीय अन्तर ये हैं—रत्नसेन योगी की सहायता से मृगचर्म पर बैठ कर आकाशमार्ग से सिंहल द्वीप पहुँच जाता है। मृगया खेलते समय रत्नसेन प्यास से तड़प रहा है। उसका कष्ट दूर करने के लिए राघव चेतन पद्मिनी की मूर्ति बनाता है। राजा रुष्ट हो जाता है। चित्तौड़ से निकल कर राघव चेतन योगी बन कर दिल्ली पहुँचता है। वाटिका में ठहरता है। शिकार के लिए गये अलाउद्दीन से मिल जाता है। वह उससे नगर में चलने का आग्रह करता है। खरहा के ऊपर हाथ फेरते हुए राघव चेतन कोमलता की चर्चा करते करते पद्मिनी की बात छेड़ देता है। उधर आक्रमण के बाद रतनसेन अलाउद्दीन को पद्मिनी के स्थान पर दासी दिखला देता है और कष्टों से ऊब कर पद्मिनी देना स्वीकार कर लेता है। अलाउद्दीन पहले सिंहल पर चढ़ाई करता है, फिर राघवचेतन के यह बतलाने पर कि पद्मिनी चित्तौड़ में है वह वहाँ पहुँच कर घेरा डालता है, परन्तु रत्नसेन इसकी खबर तक नहीं पाता। इस प्रकार इसमें कथा का वर्णन ही कवि का लक्ष्य जान पड़ता है, उसे घटनाओं को वास्तविक रूप में प्रस्तुत करना अभीष्ट नहीं।

इसी प्रकार इसमें कवि ने चरित्र-चित्रण का भी ध्यान नहीं रखा। वह शृङ्गार और वीर के उद्‌घाटन के लिए कथा-प्रसंग ले कर ही चला है। कथात्मक वर्णन ही उसका इष्ट है। शृङ्गार की पुष्टि के लिए कवि ने कथा से सम्बद्ध स्त्रियों और पुरुषों की जातियों का वर्णन किया है। इससे कथा-प्रवाह को धक्का

लगता है। वीर रस के वर्णन में कवि को विशेष सफलता मिली है। इसके कुछ अवतरण निम्नलिखित हैं—

> लाख लहै ढोलियो सवा लख लहै दुलाई,
> 　　आध लाख गिंडुवो लाख त्रय अंक लगाई।
> केसर अगर कपूर सेज परमल सूँ भीनी,
> 　　ता ऊपर पदमिनी रस रूप नवीनी।
> अलावदीन सुलताण सुणि पदमगंध पदमावती,
> 　　चंद-वदन चंपक-बरन रतनसेन मनभावती।
> तजै तरवार गुरज्ज कुं लेह दड़ो बड़ साह दुरज्जन देइ,
> करै चकचूर गयंद कपाल सकै उमरावन आप सँभाल।
> कहै मुख मीर अयो जमकाल ग्रदे नर दे हथियार सुडाल,
> तिणे तिण दंतन सारहुँ वीर न मारहिं तौ सिर गोरिल वीर।
> 　कन्ता रण में पैसतां मत तू कायर होइ,
> 　तुम्हैं लाज मुझ मेहणों भलो न भाषै कोइ।
> 　भला हुआ जो भिड़ मुआ कलंक न आयो काहि,
> 　जस जपै सब जगत में हिय रण ढूँढो जाइ।

इनके अतिरिक्त इस काल में अनेक कवि अपनी रुचि के अनुसार व्रज, अवधी और राजस्थानी में कविता करते रहे। कुछ ने प्रबन्ध लिखे, कुछ ने श्रृङ्गार विषयक और कुछ ने विविध विषयों की रचनाएँ कीं। उनमें कुछ उल्लेखनीय ये हैं—शिवदास—इन्होंने १४२८ ई० के लगभग हुए माँडू के पातशाह और गागरीगढ़ के खीची राजा अचलदास के युद्ध का वर्णन करने के लिए 'अचलदास खीचीरी वचनिका' की रचना की। अकबरी दरबार के **राजा टोडरमल** (१४६३–१५८६ ई०) तथा **गायनाचार्य तानसेन** (सम्भवतः १५४१–१५८६ ई०) कविता के क्षेत्र में भी अग्रगण्य थे। इनकी फुटकल रचनाएँ कवित्वपूर्ण हैं। नीति और श्रृङ्गार विषयक दोहों की 'शत-प्रश्नोतरी' के कर्त्ता **मनोहर** (१५६३ ई० से लगभग) तथा फुटकल विषयों पर कविता करने वाले **होलाराम** का सम्बन्ध भी अकबरी दरबार से था। रायबरेली के हलवाई **लालदास** ने अवधी में हरिचरित (१५२८ ई०) तथा भागवत दशम स्कन्ध भाषा (१५३० ई०) प्रबन्धों को दोहा-चौपाई में निर्मित किया। **कृपाराम** ने दोहे में रस और रीति विषयक 'हिततरंगिणी' (१४४१ ई०) रची। **छीहल** का १५१८ ई० में लिखा 'पंच सहेली रा दूहा' सामान्य श्रेणी की नारियों के संयोग और वियोग की दशा का परिचायक काव्य

है। **आशानन्द** (लगभग १५०६–१६०३ ई०) ने लक्ष्मणायण, निरंजन प्राण, गोगाजी री पेड़ी, बाघा रा दूहा, उमा दे भटियाणी आदि की रचना की। **सूजाजी** के १५३४–४१ ई० के बीच लिखे 'राव जैतसी रो छन्द' में बाबर के दूसरे पुत्र कामरान और बीकानेर के राजा राव जैहतसी के युद्ध का वर्णन है।

ई० सन् १५५० के लगभग **बलभद्र मिश्र** ने 'नखशिख' की शृङ्गार-रस-मयी रचना की। इस युग के तीन मुसलमान कवि भी अपनी शृङ्गार रस की कृतियों के कारण भुलाये नहीं जा सकते। **जमाल** (१५७० ई० के लगभग) के दोहे राजस्थान की ओर बहुत लोकप्रिय हैं। पिहानी (हरदोई) के **कादिर बख्श** (लगभग १५८८ ई०) को कवित्तों की बड़ी ख्याति है। 'अलकशतक' और 'तिलक शतक' में उत्प्रेक्षा के अद्भुत चमत्कार के प्रदर्शक **मुबारक** (१५८३ ई०) बिलग्राम (हरदोई) में हुए थे। अन्त में तीन और राज-दरबारी कवि भी स्मरण करने के योग्य हैं। **पुहकर** ने जहाँगीर के द्वारा आगरा में कैद किये जाने पर कारागार में ही १६१६ ई० में 'रसरतन' नामक प्रौढ़ प्रेमाख्यान की रचना की थी। शाहजहाँ के कृपापात्र सुन्दर ने नायिका-भेद का काव्य 'सुन्दर-शृङ्गार' (१६३१ ई०) में रचा था। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बारहमासा' का भी निर्माण किया था। आलंकारिक वर्णनों से युक्त इनकी रचना सरस है। पद्मिनी की कथा को जायसी के कथानक से कुछ बदल कर लालचन्द (लब्धोदय) ने १६४३ ई० में 'पद्मिनी-चरित्र' लिखा।

सिंहावलोकन

इस काल की रचनाओं की विशेषताएँ—इस युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों और कृतियों का अध्ययन समाप्त करने के बाद एक बार उनका सिंहावलोकन करना उचित होगा। इस काल के भीतर कवियों ने अपनी स्वतन्त्र उद्भावना-जन्य विषयों के साथ ही पुरातन साहित्य के अनुकरण एवं उनसे प्रेरित रचनाओं की सृष्टि की। उन्होंने स्वानुभव तथा स्वाध्याय और मनन का प्रसाद साहित्य को दिया। रचनाओं के विचार से मुक्तक और प्रबन्ध दोनों के निर्माण के द्वारा कवियों ने अपने कृतित्व का प्रदर्शन किया। मुख्यतया भक्ति सम्बन्धी कविता की ओर अधिक ध्यान रहा। कुछ लोगों ने तो घर-बार छोड़कर भगवान् के भजन के लिए अपने को उत्सर्ग कर दिया। उन्होंने अपने चिन्तन, अध्ययन, अनुभव आदि के फल-स्वरूप जो धार्मिक ज्ञान प्राप्त किया

उसे छन्दोबद्ध किया। कभी-कभी खण्डन-मण्डन के फेर में पड़ कर उन्होंने सहृदयता को और भी दूर ढकेल दिया। उनकी रचनाओं में अधिकांश पद्य मात्र हैं। उनमें बुद्धि की प्रधानता है, हृदय का स्पर्श नहीं। अतएव उन्हें कविता कहने में हिचक होती है। सिद्धान्त-निरूपक कविताओं और रचनाओं में भी दार्शनिक विवेचन के कारण बहुधा कवित्व का दर्शन दुर्लभ होता है। फिर भी कभी-कभी ये दार्शनिक कवि सांसारिक सम्बन्धों पदार्थों आदि के रूपक के सहारे अचिन्त्य और अरूप का बोध कराते हैं। ऐसे स्थलों में वे भावुक और सहृदय हो गये हैं। इन वर्णनों में उनकी कल्पना साकार हो गयी है और यह जान पड़ता है कि यदि ये लोग सामान्य स्तर से बातें करते तो इनमें शुष्कता वा नीरसता न रहती, सरसता की कमी न खटकती।

धार्मिक रचनाओं में आख्यान, चरित तथा लीला-विषयक काव्य पृथ्वी पर खड़े हो कर लिखे गये थे। उनमें आकाश की ओर आँखें अवश्य थीं, और कवि इस बात की सूचना देते चलने का निरन्तर ध्यान भी रखता था, किन्तु वे पृथ्वी पर ही टिकी रहीं। फल यह हुआ कि मानव-भावों का यथातथ्य प्रकाशन हुआ। सच पूछिए तो इन काव्यों में मनुष्य का सबसे प्रबल विकार, नर-नारी के परस्पर आकर्षण-जन्य मिलन का अभिलाष और तज्जन्य क्रिया-कलाप ही अधिकतर प्रेरक हुआ। उनके रचयिताओं ने कहने को तो अपना लक्ष्य कहा अलौकिक प्रेम का निरूपण, परन्तु किया चित्रण सर्वथा भौतिक शृङ्गार का। उनमें कुछ ने माता के रूप में भी पारमार्थिक सत्ता का उल्लेख किया किन्तु अधिकतर या तो उसको सूफी ढंग से प्रियतमा और साधक को प्रियतम का रूप मान कर फारसी काव्य की शैली से मिलन के विविध व्यापारों का वर्णन किया अथवा आत्मा वा जीव को प्रेमिका मान कर उसके प्रियतम रूपी निराकार या साकार परमात्मा से संयोग वा वियोग का अनुभव भारतीय काव्य-रचना की प्रणाली से व्यक्त किया। परन्तु वह निराकार भगवान् रूपी प्रियतमा वा प्रियतम भक्त के सामने अपनी लीलाएँ स्थूल में दिखाने के लिए कभी प्रकट नहीं हुआ, भक्त साधक ने स्थूल में जो कुछ किया वा देखा उसी का रंगीन चित्र बना कर आँखों के सामने भ्रम का परदा खड़ा कर दिया। इसी प्रकार साकार उपासक को अपने इष्टदेव के जीवन-काल में उनके पास स्थूल में रहने और उनके प्रेम-व्यापारों को हर घड़ी देखने का सुअवसर नहीं मिला था। मधुरभाव की उपासना ने उन्हें भी कहीं स्थूल रूप से देखी, जानी वा सुनी प्रेम-क्रीडाओं को दैवी-रंग देने के लिए विवश किया। तात्पर्य यह कि इस युग में भगवत्प्रेम का जिस किसी ने नर-नारी के अन्य सभी सम्बन्धों को छोड़ केवल पति-पत्नी

और सो भी परकीया के रूप में चित्रण किया वह उसी के मानसिक विकार का प्रतिरूप था। उससे दैवी सत्ता से किसी प्रकार का वास्तविक लगाव न था। इसलिए 'इश्कहकीकी' के नाम पर सर्वत्र 'इश्कमजाजी' का ही रूप सामने आया। भक्त कवि के समान श्रोता वा पाठक को भी यह मानसिक अथवा मौखिक भ्रान्ति सत्य समझने या समझाने की चेष्टा करनी पड़ी कि जो मनुष्य के से काम-केलि के वर्णन हैं वे किसी अलौकिक के साथ सूक्ष्म रूप से आध्यात्मिक सहवास के द्योतक हैं अथवा लीला पुरुषोत्तम के कार्य हैं। यही मनोवृत्ति सूफियों के द्वारा नायिकाओं के रूप, उनके तथा उनके प्रेमियों के मिलन तथा विरह के व्यापार आदि के वर्णन में छिपी है और यही राधा-कृष्ण की निकुञ्ज-लीलाओं में।[1]

इस मनोवृत्ति ने अपना छद्म वेश उन कवियों के सामने से उतार फेंका जिन्हें मानव-व्यापारों से अनुराग था और जो उनके रसीले वर्णनों में भी उनका आवृत्तिजन्य सुख पाते थे। भले ही कहने को उन्हें भी भक्त कह दिया जाय परन्तु भक्ति तो उनके जीवन का धन्धा नहीं बना था। बीरबल, केशव, बिहारी आदि ने राधा-कृष्ण की ऐसी ऐसी मिलन-लीलाओं का स्पष्ट और पूर्ण रूप से खुला वर्णन किया है जिसे पढ़ कर कभी कभी यह पूछने को जी करता है कि यदि इन्हें अपने अथवा अपने को पालन-पोषण करने वालों को प्रसन्न करने के लिए वैसी किन्हीं वास्तविक वा काल्पनिक बातों को कविता-बद्ध कर के 'सिर धुन गिरा लगति पछिताना' का दृश्य उपस्थित करना ही इष्ट था तो भगवान् कृष्ण को बीच में क्यों घसीटा? वे जानते थे कि यदि अपने 'प्रभु' की मीनाबाजारी लीलाओं का वर्णन करेंगे तो क्या फल होगा? राधा और कृष्ण तो आ कर मानहानि वा दावा भी नहीं कर सकते थे। इसलिए जो चाहा उनके बारे में लिख डाला और आगे के कवियों को 'राधामाधव के सुमिरन का बहाना' तैयार कर दिया। उन लोगों ने ऊपर से कहा यही होगा कि सूर आदि वैष्णव भक्तों ने हमें जो पथ दिखलाया है हम उसी पर तो चल रहे हैं। अस्तु इस प्रकार की नर-नारी के प्रेम की लीलाओं ने भगवान् और भक्त के शुद्ध और पवित्र आध्यात्मिक सम्बन्ध को अनुपयुक्त रूप में अभिव्यक्त करने की जो राह निकली वह आगे और भी चौड़ी हुई। रीतिकाल के कवियों ने तो प्रायः उसी पर चलना अपना लक्ष्य बना लिया।

---

१. भावुक भक्तों को इससे ठेस लगे तो वे क्षमा करें। यहाँ लोक ने इन प्रेम-प्रसङ्गों को किस दृष्टि से देखा इसी को ध्यान में रख कर विवेचन हो रहा है।

अन्य विषयों में प्रधानता वीर और नीति-विषयक रचनाओं की रही। उस समय युद्ध तो होते ही रहते थे ; राजाश्रित कवि बहुधा उन्हें देखने का भी अवसर पा जाते थे। यथा केशवदास, सूजाजी आदि। उन्होंने जो वर्णन किये हैं उनमें चंदबरदाई के रचे अथवा उनके नाम से अज्ञात व्यक्ति वा व्यक्तियों के रचे वा बढ़ाये पृथ्वीराज रासो के से रणाङ्गण के सजीव दृश्यों का विधान तो नहीं हुआ, किन्तु वैसा हुआ जैसा कोई दूर से बैठ कर युद्ध देखने और फिर उसका वर्णन करने वाले का होना चाहिये। कहीं कहीं वस्तुस्थिति के चित्रण इन काव्यों में भी मिलते हैं। अन्य कवियों ने, और उनमें तुलसीदास भी हैं, जो युद्ध-वर्णन किये वे केवल पढ़े हुए ग्रन्थों के सहारे अपनी कल्पना के द्वारा देखे वर्णन मात्र हैं। उनमें संश्लिष्ट योजना का अभाव है। जीवन की विविध अनुभूतियों के फलस्वरूप जो नीति-विषयक सूक्तियाँ कही गयीं उनमें यथार्थता है। इस कारण वे परवर्ती जन समाज के लिए व्यवहारोपयोगी सिद्ध हुईं।

इस युग के प्रबन्ध काव्यों में कुछ असाधारण कवित्व-पूर्ण भी हैं। कुछ में मानवजीवन का बहुत कुछ सर्वाङ्गीण चित्र भी प्रस्तुत किये गये। मनुष्य के चरित्र में जो कुछ उज्ज्वल और दिव्य है उसकी प्रतिष्ठा करने के भी प्रयत्न हुए। ये प्रयत्न यद्यपि एक ही व्यक्ति के द्वारा सञ्चालित थे—हमारा तात्पर्य तुलसी से है—फिर भी इनकी शक्ति असाधारण है। उस एक से न जाने कितने कर्मठ चिन्तकों और कवियों को शक्ति अनेकधा हो कर विस्फुटित हुई थी। उसने जनजीवन को अपने अलौकिक तेज से चकाचौंध नहीं किया, किन्तु अपनी शीतल ज्योत्स्ना से शान्ति पहुँचाई—ऐसी शान्ति नहीं जो निष्क्रिय बना कर सुख से पड़े रहने की प्रेरणा देती है, किन्तु ऐसी शान्ति जो जी की जलन मिटा कर उसे दिव्यालोक देखने के लिए उपयुक्त कर्त्तव्य-पथ पर चलने की क्षमता प्रदान करती है।

कवित्व के विचार से इस युग ने हिन्दी-साहित्य को जो कुछ दिया वह सदैव स्मरणीय रहेगा। उसके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग, अर्थात् भाव और कला दोनों पक्षों का उत्कृष्ट विधान हुआ। कृष्ण-भक्तों की सरस पद-ध्वनि आज भी हमारे कानों में गूँज रही है, उसकी मधुरता न तो कभी कम हुई और न उसके प्रति आकर्षण ही कभी घटा। जायसी और तुलसी ने प्रबन्ध काव्यों का जैसा रूप प्रस्तुत किया वैसा फिर किसी से न बन पड़ा। इतने दिनों के बाद भी अब तक उनका समकक्ष काव्य नहीं तैयार हो सका। नीति-विषयक कबीर, तुलसी, रहीम आदि के दोहों को साहित्य से हटा दिया जाय तो उनका अभाव सदैव

खटकेगा। कवित्व के साथ रचना-शैलियों की विविधता और पूर्णता भी इस युग की विशेष निधि है। मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार के काव्य अनेक प्रकार की छन्द-योजना से अलंकृत हुए। उसके द्वारा कवि के कहने का ढंग अपना पूरा प्रभाव प्रकट करने में समर्थ हुआ। रचना-शैली के साथ ही काव्य में वस्तु और दृश्य के प्रभाव को तीव्र बनाने एवं उक्ति के सौष्ठव को बढ़ाने के लिए अलङ्कारों का समुचित प्रयोग हुआ, परन्तु कुछ चमत्कार-प्रिय कवियों ने बुद्धि-कौशल दिखाने के लिए भी उनका उपयोग किया। दोनों प्रकार के रचनाकार इस युग में हुए और वे अपने-अपने क्षेत्रों में अत्यन्त महान् हैं। अनेक रसात्मक काव्यों का भी निर्माण हुआ जिनमें वस्तु-वर्णन और भाव-चित्रण दोनों में सफलता मिली। अधिकतर कवियों ने प्राकृतिक पदार्थों को आलम्बन के रूप में ग्रहण किया, किन्तु उनके संश्लिष्ट चित्रण भी हुए। जान पड़ता है कि इस युग के कवियों को संस्कृत के कवियों के समान प्रकृति-निरीक्षण के लिए अवसर ही नहीं मिलता था, छुट्टी ही नहीं मिलती थी अथवा प्रकृति के प्रति आकर्षण ही न था। घट के भीतर ही सब कुछ देखने वालों को बाह्य प्रकृति में परमात्मसत्ता की झलक देखने अथवा प्रेरणा देने की शक्ति पाने के लिए प्रवृत्त होने का प्रयोजन भी तो न था, और घर के भीतर धमाचौकड़ी मचाने वाले रसिकों को प्रकृति के मनोरम दृश्य देखने की फुरसत ही कहाँ थी? आश्चर्य होता है कि तुलसी जैसे समर्थ कवि के मन को भी प्रकृति-प्रेम ने प्रायः राम के नाते ही कभी-कभी लुभाया था, परन्तु उन्हें अयोध्या, काशी आदि नगरों में रहने के कारण कीर्तन और राम-चर्चा से छुट्टी ही नहीं मिलती थी, एकान्त वनों में जा कर प्रकृति में अपने प्रभु की छटा निरखने और परखने की।

भाषा-सौष्ठव—जैसे अन्य दिशाओं में वैसे ही भाषा के क्षेत्र में भी यह युग हिन्दी के लिए वरदान हुआ। राजस्थानी ब्रज और अवधी तीनों का काव्य अपनी अपनी गति से आगे बढ़ता गया। राजस्थानी अपने क्षेत्र में तो सर्वथा समादृत रही ही, वीर-रस के अधिक अनुकूल होने के कारण ब्रज के क्षेत्र में भी अपनायी गयी और उसके ओजगुण से सम्पन्न शब्द सर्वत्र चले। अवधी और ब्रज भाषा को कविता के लिए यहाँ के निवासी हिन्दुओं और मुसलमानों ने रिक्थ के रूप में पाया था। ये उनके घरों में बोली जाती ही थीं। बाहर से कुछ ही काल पूर्व आये हुए बादशाहों तथा उनके वंश आदि के लोगों को भी इनकी मिठास ने अपनी ओर आकृष्ट किया। मुगल बादशाहों और उनके वंश के लोगों ने भी फारसी के साथ साथ दिल्ली तथा मथुरा आगरा की बोलियों में

अपनी रचनाएँ कीं। अवधी में अधिकतर उन्हीं कवियों ने रचना की जो उन स्थानों में रहते थे, जहाँ वह बोली जाती थी। इसी से उनकी रचनाओं में उसने अपने सहज नैसर्गिक सौन्दर्य की झाँकी दिखलायी। हाँ, उसकी मिठास ने उसे दिल्ली-आगरा के शाही दरबार के अत्यन्त उच्च क्षेत्र में भी पहुँचा दिया था, और उससे लुब्ध हो कर रहीम ने अनूठे बरवै उसी में बनाये थे, किन्तु यह अपवाद मात्र है। वस्तुतः वह प्रायः अपने क्षेत्र के कवियों के लिए ही आकर्षण-बिन्दु रही।

परन्तु ब्रजभाषा? पुराणों में लिखा है और इस युग के कवियों ने भी कहा है कि श्रीकृष्ण की बाँसुरी की ध्वनि जहाँ तक सुनायी पड़ती थी वहाँ तक के सब चर-अचर प्राणी मुग्ध हो कर उसी के रंग में रँग जाते थे, उसी के वश में हो जाते थे। ऐसे ही उस मुरली की तान के जो स्वर सूर आदि कृष्ण-भक्तों की वीणा से निकले वे जितनी दूर तक सुनायी पड़े उतनी दूर तक के लोगों के हृदय में बस गये। उन हृदयों से भी उन्हीं की प्रतिध्वनि निकली। तात्पर्य यह कि ब्रजभाषा की माधुरी ने समस्त देश के सहृदय जनों को मोह लिया। वे सब भी ब्रजभाषा में ही कविता करने लगे। वह काव्य-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हुई। आगे चल कर अवधी के क्षेत्र के निवासी भिखारीदास ने कह भी डाला कि ब्रज भाषा में कविता करने के लिए ब्रज-मण्डल में निवास करना अनिवार्य नहीं। हमारे जीवन-काल में काशी के रत्नाकर ने उसमें जो असाधारण अधिकार-पूर्ण काव्य-रचना की है वह भुलाई नहीं जा सकती। आधुनिक काल के आरम्भ तक काव्यभाषा के रूप में वही सर्वमान्य रही। समय की आवश्यकताओं ने बीसवीं शताब्दी में उसे उस उच्चासन से अपदस्थ अवश्य किया किन्तु आज भी हम उसकी मधुर स्मृति को कंजूस के धन के समान सँजोये हुए हैं। फिर जिस युग की चर्चा अब समाप्त करके हम साहित्य के विकास की अगली सीढ़ी पर चढ़ेंगे वह तो ब्रजभाषा के भाग्योदय का समय था। उन दिनों उसमें प्रचुर परिमाण में ही काव्य-रचना नहीं हुई, अपितु वह सब प्रकार से उच्च कोटि की भी थी। इतना ही नहीं उस काल के आरम्भ से ही उसका बहिरङ्ग भी मनोहर और परिष्कृत था। वह साफ-सुथरी और प्रयोग-सम्मत थी। होते होते वह उत्तरोत्तर मँजती गयी। और अन्तिम दिनों में तो उसमें वाग्विदग्धता आयी, थोड़े में बहुत से भाव व्यक्त और सूचित करने की क्षमता बढ़ी अर्थात् उसकी अर्थ-गम्भीरता में वृद्धि हुई। उसमें अभिव्यक्त उद्गार 'नावक के तीर' के उपमेय हुए जो 'देखन में छोटे लगैं' किन्तु 'घाव करैं गम्भीर'। किसी सहृदय को झूमते नहीं,

तड़पते देख कर किसी ने पूछ ही तो दिया—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, तन मन धुनत सरीर।

अर्थात् तुम जो अपने को सँभाल नहीं पा रहे हो उसका क्या कारण है? क्या तुम्हारे हृदय में किसी बाण की अनी चुभ गयी है? उत्तर क्यों नहीं देते? क्या तुम्हें शूल उठी है? फिर भी नहीं बोलते! अच्छा बताओ क्या तुम्हें कवि सूर के अन्तर्वेधी पद ने मर्माहत किया है? व्रजभाषा की कविता में आरम्भ से जो यह अन्तःस्पर्शिता आयी वह उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। बिहारी तक पहुँचते पहुँचते वह इतनी मँज गयी कि उसमें यह गुण और भी अधिक मात्रा में मिलने लगा। उसकी लाक्षणिक और व्यंजनात्मक शक्ति की वृद्धि हुई। इस प्रकार जनता एवं राजसभाओं के कवियों ने मिल-जुल कर उसे बनाया-सँवारा और लोकप्रिय रूप प्रदान किया।

अवधी और व्रजभाषा की कविता में भाषा का जो रूप चला उसमें उनके बोलचाल के क्षेत्रीय रूप की शुद्धता नहीं रह पायी। काव्यभाषा हो जाने से उसने अपनी पड़ोसिन बुन्देलखंडी, कन्नौजी, राजस्थानी आदि बोलियों के शब्द और प्रयोग तो लिये ही दूरवर्ती भाषाओं के भी अनेक शब्द अपनाये। इसका कारण यह था कि जो कवि काव्यों को पढ़ कर उसका अभ्यास करते थे वे उसमें अपने प्रादेशिक शब्दों को अनायास ही डाल देते। इस प्रकार उसके शब्द-भाण्डार में दूर दूर के शब्द आ गये। साथ ही प्रायः पढ़े-लिखे लोगों के द्वारा अभिव्यक्ति का साधन बनने के कारण उसमें संस्कृत तथा फारसी आदि के असंख्य शब्द भी आते गये। इसी प्रकार उसने संस्कृत-साहित्य से शब्दावलि, विषय और वस्तु तथा छन्द और अलङ्कार सब कुछ प्राप्त कर के अपना भाण्डार परिपूर्ण किया। इन सब विशेषताओं के कारण आगामी काल में भी कई सौ वर्ष तक व्रजभाषा का ही प्रभुत्व रहा। उनसे उसकी प्रमुखता और बढ़ी और उसमें अवधी की अपेक्षा प्रसाद, माधुर्य और लाक्षणिकता की अधिक वृद्धि हुई। यह सब आगे देखा जायगा।

युग का महत्त्व—जिस काल की कविता का विवेचन हुआ है वह तो राजतन्त्र का युग था, परन्तु आज दिन तो प्रजातन्त्र का बोलबाला है। अब सब बातों का निर्णय उठे हाथ या दिये मतपत्र गिन कर किया जाता है। अमेरिका में ही नहीं हमारे देश में भी बहुधा समाचार पत्र किसी विषय में सङ्कलित मतों की गिनती करके सापेक्षिक श्रेष्ठता का निर्णय घोषित किया करते हैं। अतः कल्पना कीजिये कि देश के सामने एक समस्या उत्पन्न हो गयी है। हिन्दी के

भक्तियुगीन साहित्यकारों में ही नहीं अपितु आधुनिक युग तक के सभी ग्रन्थकारों में किसी एक की रचनाओं को छोड़ शेष समस्त साहित्य सर्वत्र से सञ्चित करके, मनु की नौका के लिए अवशेष रूप में बीज छोड़े बिना, अतल समुद्र के गर्भ में फेंक दिया जायगा। इसका संवाद एवं प्रचार प्रत्येक व्यक्ति के—छोटे-बड़े सबके—पास पहुँचाने के लिए जो भी करना चाहिये वह कर दिया गया। इसके पश्चात् मतसंग्रह के लिए विविध उचित-अनुचित उपायों के अतिरिक्त अन्त में किसी जवाहरलाल जैसे प्रभावशाली लोक-प्रिय नेता के 'तूफ़ानी दौरे' का आयोजन न करके यह कह दिया गया कि मतदाता अपने आप नियत समय पर पहुँच कर अपनी सम्मति लिख कर चुपचाप मत-पेटिकाओं में डाल दें। आप बतलायें कि वह कौन-सा भाग्यशाली साहित्य-स्रष्टा होगा जिसका नाम मत गिनने के पहले ही सभी समाचार-पत्रों के पहले पन्ने के ऊपर मोटे-मोटे अक्षरों में छपा मिलेगा? हमारी समझ में आप एक स्वर से बोल उठेंगे कि यदि तुलसी बच गये और सारा हिन्दी साहित्य चला गया तो हमारा कुछ न जायगा, किन्तु यदि तुलसी चले गये और शेष सारा साहित्य सुरक्षित रह गया तो सब कुछ चला जायगा। अनेक राजनीतिक वादों के आधुनिक युग में भी तुलसी सबकी सम्मति से हिन्दी के जीवन-प्राण हैं। फिर जिस युग में तुलसी ही नहीं कबीर, जायसी, सूर और अन्य श्रेष्ठ कवि हुए हों उसकी जितनी बड़ाई की जाय वह थोड़ी है। यह तो बड़ा विचित्र संयोग है कि जिस युग में विभिन्न सम्प्रदायों की परस्पर सिर-फुड़ौवल सीमा को पार कर रही थी उसी में ऐसे श्रेष्ठ साहित्यकारों का जमघट हुआ कि आज भी लोग उसके लिए तरसते हैं। क्या चिन्तन, क्या विचार, क्या भाव, क्या भाषा और क्या इन सबके समष्टिगत प्रभाव, सभी दृष्टियों से इस युग के कुछ कवि तो सचमुच ही महान् थे। वे अपने पहले और पीछे के सभी साहित्यकारों के मण्डल के देदीप्यमान तेज-पिण्ड हैं। अपने अपने स्थान पर सभी ध्रुव के समान अविचल विराजमान हैं। उनका काव्यालोक आज भी लोकाकाश को देदीप्यमान कर रहा है। इसलिए इस युग को हिन्दी साहित्य का परमोज्ज्वल काल कहा जाता है। अँगरेजी से उधार लिये वाक्यांश के लिए विद्वन्मण्डली की उदारता की आकांक्षा करते हुए जो चाहे वह इसे हिन्दी साहित्य का 'स्वर्ण-युग' कह सकता है।

साहित्य के रूप और प्रभाव के विषय में विमर्श—इस प्रकरण को समाप्त करने के पहले हम यह देखना चाहते हैं कि हिन्दी साहित्य के इस परम उत्कर्ष के युग ने मानवता को क्या दिया। सम्भव है यहाँ

पूर्वकथित कुछ बातों की पुनरुक्ति प्रतीत हो, परन्तु सब बातें एक साथ कहे बिना उनके तारतम्य के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह युग धर्म-प्रधान था। अनेकानेक व्यक्तियों ने धर्म के स्व-कल्पित अथवा परम्परागत रूप को प्रकट और प्रचलित करने के लिए साहित्य का सहारा लिया। जिन लोगों ने पूर्ण रूप से धार्मिक विचार नहीं प्रकट किये उन्होंने भी अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन धार्मिक साहित्य के प्रणेताओं से प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप से प्रेरणा पायी। तदनुकूल धार्मिक उद्‌गार व्यक्त किये। सापेक्ष दृष्टि से देखा जाय तो इस युग में धर्म सम्बन्धी साहित्य की रचना के परिमाण और परिणाम की तुलना में अन्य विषयों का साहित्य अत्यन्त अल्प है। अतएव हम देखना चाहेंगे कि जिस लक्ष्य तक पहुँचने की घोषणा इस युग के प्रमुख धर्मध्वजों और उनके अनुगामियों ने की वह क्या था, उसकी सिद्धि के लिए उन्होंने जिस पथ का प्रदर्शन तथा अवलम्बन किया उसका रूप और प्रभाव प्रत्यक्षतः क्या दिखलायी पड़ा एवं उस लक्ष्य की वास्तविक प्राप्ति हुई कि नहीं।

इस युग के सभी भक्तों ने जीवन को कुछ ऐसा बनाने की बातें कहीं जिन्हें करके मनुष्य ब्रह्म की उपलब्धि कर उसमें लीन हो सके, उसके प्रेम का अनुभव कर ले, उसके लोक में पहुँच कर उसकी लीलाओं को देखते हुए अथवा उनमें सम्मिलित हो कर चिरानन्द को पाये, उसके सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य को उपलब्ध करे अथवा केवल उसकी भक्ति ही को अपना चरम साध्य बना ले। तात्पर्य यह कि वह पारमार्थिक तत्त्व के पाने के लिए सद्‌गुरु की बतलायी पद्धति पर चल कर उसकी कृपा से अभीष्ट को अपने भीतर ही खोजने के लिए साधन करे और ज्योति नाद आदि के रूप में पा कर तृप्त हो जाय। इस प्रकार के अनुभव से वह जीवन्मुक्त बने। कुछ लोगों ने यह भी बतलाया कि वह साध्य प्रेमस्वरूप है। संसार के प्रत्येक चेतन प्राणी वा अचेतन पदार्थ में उसकी ही झलक देखने से वह मिल जायगा। औरों ने कहा कि भगवान् के अवतारों ने जो कहा या किया है उसे श्रद्धापूर्वक मान कर उन्हीं पर पूरी आस्था रखो। कुछेक ने कहा कि ईश्वरी दूत ही भगवान् के पास पहुँचाने के एकमात्र निमित्त हैं। अतएव सब धर्मों को छोड़ केवल उनपर पूर्ण विश्वास करो। वे जहाँ पहुँचना है वहाँ पहुँचा देंगे। ऐसे ही सद्‌गुरु को भगवत्प्राप्ति कराने का अवलम्ब कहा गया। इन सभी मार्गों से जहाँ जाना है वहाँ कौन जायगा? मनुष्य? हाँ। परन्तु क्या सदेह? नहीं, देह तो मानव आधार से, रज-वीर्य के संयोग से बनी है। ये आधार स्वयं ही दूषित

हैं। अतः इनसे निर्मित मनुष्य का शरीर भी मलायतन है। ऐसी दशा में इस मानव-तन को अपने निर्माता के पास तक पहुँचने का अधिकार नहीं है। केवल आत्मा उस तत्त्व को पायेगा, उसका अनुभव करेगा अथवा उसके पास पहुँचने का अधिकारी है। और आत्मा ठहरा अशरीरी, सूक्ष्म। तो फिर उसे ये विविध प्रकार की भक्तियों के मार्ग उस मन वचन कर्म की गति से परे अचिन्त्य एवं अरूप को स्थूल रूप से कैसे पा सकते हैं? यह आत्मा-परमात्मा का मिलन भावना के द्वारा मानसिक रूप में ही हो सकता है। अतः शरीर को हेय समझ कर आत्मा के स्वरूप को पाने अथवा मानसिक चेतना वा भावावेश में ही जीव और भगवान् के एक हो जाने को ही लक्ष्य निर्धारित किया गया। इसका एक फल यह हुआ कि जिस शरीर के भीतर आत्मा का निवास बतलाया गया उसको परम पवित्र न मान कर अशुद्ध और तुच्छ समझा जाने लगा, उसकी अवहेलना और उपेक्षा हुई तथा उसका तिरस्कार किया गया। उसे छोड़ने के बाद ही लक्ष्य-सिद्धि की सम्भावना पर विश्वास जमाया गया। लोग इसी को ले कर विविध पथों पर चले, आपस में झगड़ते हुए, एक-दूसरे को धक्का देते और केवल अपने पथ को गन्तव्य स्थल का एकमात्र ठीक पथ बतलाते हुए। जिन लोगों ने सभी पथों की तात्त्विक एकता के ऊपर बल दिया उन्होंने भी समन्वयात्मक उदार भाव-दृष्टि से देखने को कह कर भी अपना ही मार्ग दिखलाया। इस प्रकार धर्म चिरन्तन संघर्ष का संग्राम-स्थल वा अखाड़ा बन गया। जिन लोगों ने धर्म के गुट्ट बनाये, सम्प्रदाय चलाये, पीठ, मठ आदि के गढ़ स्थापित किये वे थे तो मनुष्य ही। हाँ, वे कुछ विशिष्टता-सम्पन्न मनुष्य अवश्य थे। ऐसे न होते तो थोड़े या बहुत लोग उनकी बात सुनते और मानते ही क्यों? परन्तु वे मनुष्य थे। अतः पूर्ण और सर्वज्ञ हो सकते ही न थे। इससे उनकी कही हुई बातें भी सीमित और अपूर्ण ही रहीं। उनमें प्रत्येक का ज्ञान ससीम था। इससे उसका दिखाया मार्ग भी असीम को छू न सका। इसी से एक भी कोई ऐसा भक्त न हुआ जिसका अनुगमन सब करते। दूसरे, उसमें मानवोचित दुर्बलताएँ थीं। इससे उसके चलाये सम्प्रदाय में देर-सबेर, कम-अधिक वे दुर्बलताएँ भी प्रकट हुईं जिन्हें दूर करने की शिक्षा तो उसने दी, किन्तु जिनकी जड़ तक पहुँच कर मौलिक त्रुटियाँ निवारण करने का या तो ध्यान ही न रखा था अथवा यदि उसका कुछ उपाय बतलाया भी तो वह सच्चा वा पूरा उपाय न था। परिणाम यह हुआ कि सभी सम्प्रदायों के अनुयायी भौतिक सुखोपभोग को साध्य न कहते हुए भी अपने नित्य प्रति के व्यवहार में उसे पाने के लिए प्रयत्नशील हुए और अवसर तथा सुविधा के अनुसार उसमें ऐसे डूबे

कि परमार्थ का नाम ही रह गया, इन्द्रियजन्य तृप्ति ही सब कुछ हो गयी। जिन लोगों ने प्रेम को किसी भी रूप में आध्यात्मिक अनुभूति का साधन कहा उनके समर्थकों ने उसको जीवन के क्षेत्र में कार्यान्वित कर के भोले-भाले श्रद्धालु अनुयायी वर्ग को अपनी वाक्चातुरी से ऐसा फँसाया कि वे करते तो शारीरिक कार्य और भ्रम में पड़े रहते कि हम अपने पीर गुरु आदि की कृपा का पूरा वरदान पा कर आध्यात्मिक उपलब्धि के पथ पर उत्तरोत्तर ऊँचे उठते जा रहे हैं। इन्द्रियों के द्वारा इश्क-मजाजी की अनुभूति में सहायता पहुँचाने के लिए संगीत गान आदि उपकरणों की योजना कर के इश्कहकीकी की झलक दिखाने के नाटक रचे जाने लगे, भगवद्विग्रहों के सम्मुख कीर्तनों के भावावेश की परिणति वासनाजन्य भावमग्नता में हुई और भक्तगण राधा की सखियाँ बन कर नारीवेश धारण कर धार्मिक समर्थन के परवाने ले कर घरों के भीतर नारियों के बीच प्रवेशाधिकार प्राप्त करने लगे। वहाँ पहुँच यह उपदेश देने लगे कि पुरुष तो एक कृष्ण हैं, शेष सब नारी, जो पुरुषाकार हैं वे भी नारी और जो स्त्री-शरीर हैं वे तो नारी हैं ही। अतः 'नारि नारि सब एक हैं।' फिर क्या था, ये कृष्ण की सपत्नी वा परकीया भावापन्न अलियाँ घर में धीरे धीरे पूरी तरह पैठ जाने के बाद अपने छद्मवेश को उतार कर नरत्व के अनुसार आचरण करने लगीं। गुरु तन मन धन सब को अर्पण करना सिखा कर उसपर स्वयं अधिकार भी करने लगा।

रसना की तृप्ति के लिए विविध प्रकार की भोग-सामग्री की आवश्यकता सामने आयी। आँखों के सुख के लिए लावण्यमयी भक्तिनों के आकर्षण के लिए कृष्ण की रसमयी रासलीलाएँ प्रदर्शित होने लगीं। जो भक्त उन्हें देखते वे भी भाव-विभोर हो कर बहुधा अवसरानुकूल गुरु-गोसाईं के चरण-चिह्नों पर पैर रखते हुए उनकी लीलाओं का अनुसरण करते। तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम भी हमारे विवेच्य काल के कुछ आगे चल कर अवध में सीता की इन सहेलियों के प्रेम के लिए अपने अगले अवतार की प्रतीक्षा न कर इसी जन्म को सार्थक बनाने लगे। फिर उनके भक्त ठहरे अपने प्रभु के सच्चे अनुयायी। वे केवल सखी-सम्प्रदाय के ही नहीं पूर्वजन्म की सखी भी थे। अतएव उन्होंने भाव के क्षेत्र की सीमा को लाँघ कर कुलकानि छोड़ना-छोड़वाना ही उचित समझा। इस प्रकार मर्यादा का बाँध टूटने पर इस तथाकथित प्रेम के प्रवाह में बहते हुए ये भावुक भक्त सर्वत्र अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुए। 'यह प्रेम को पंथ कठोर महा तरवार की धार पै धावनो है।' सो जब रपटीली, ढलुआँ राह में पैर फिसलता है तब अन्त में कहाँ जा पहुँचेगा—कौन बतला सकता है? यही दशा इन भक्तों

और उनके बहुत से अनुयायियों की हुई। अतः धर्म कहाँ रह गया—क्या किसी ने पीछे फिर कर देखा ?

भक्ति की दूसरी परिणति हुई जनसंहार और रक्तपात के रूप में। दूसरे न रहें, केवल हम रहें—कुछ ने राजनीतिक कारणों से इसकी आवश्यकता समझी। अतएव राजशक्ति के सहारे धर्म के नाम पर तलवार के घाट कितने ही लोग उतारे गये, कितने ही धर्म-चिह्न धराशायी हुए और हम्माम के लिए पानी गरम करने के लिए कितने ही धर्म-ग्रन्थागारों का सदुपयोग हुआ ! यह विद्वेषाग्नि जब एक बार जली तब फिर बुझी तो कभी न, हाँ बहुधा भीतर ही भीतर सुलगती रही, अवश्य ही कभी-कभी ऊपर से दिखलायी न पड़ी। जो धर्म मानव जाति के कल्याण की घोषणा करता था उसने यह भी आवश्यक समझा कि यदि अन्य धर्म का अवलम्बन करनेवाला शस्त्रबल से नहीं झुकता तो छल से, युक्ति से 'राहेरास्त' (सत्पथ) पर क्यों न लाया जाय। कालनेमि बने बहुतेरों ने सौहार्द और उदारता का बाना धारण कर अपने विचारों का अनुगामी बनाने के प्रयत्न आरम्भ किये। किसलिए ? वे यही न चाहते थे कि ये विधर्मी चाहे ऊपर से जिस रूप में रहें भीतर से हमारी ही बातों पर विश्वास करके अन्त में हमारे ही दैवीदूत का अनुसरण करें। इस प्रकार धर्म के इस वर्ग ने सबके भीतर उसी के 'नूर' का प्रकाश कहते हुए भी अपने ही दीये से औरों के दीये की लौ को जगाना श्रेयस्कर समझा। अतः व्यवहार में धर्म की वह सार्वभौमिकता कहाँ रही !

फिर सभी भक्तों ने, यह विश्वास प्रकट किया कि संसार में पाप की अति हो जाने पर उसका शमन करने के लिए कोई दैवी चेष्टा होती है। कहा गया कि—

जब जब होइ धरम कै हानी, बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी, करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी।
तब तब धरि हरि बिबिध सरीरा, हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।[१]

और कहीं कहा गया कि ऐसी स्थिति में वह अपना रसूल भेजता है या किसी सद्गुरु, सन्त, महात्मा को। अधर्म की वृद्धि और धर्म की स्थापना का चक्र

---

१. कहने की आवश्यकता नहीं कि तुलसीदास ने यहाँ गीता के निम्नोक्त श्रीकृष्ण के वचन ही दूसरे ढंग से कहे हैं—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्, धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।
(श्रीमद्भगवद्गीता ४, ७-८)

निरन्तर चलता रहता है, कभी उसका अन्त नहीं होता, कभी किसी से उसकी समाप्ति नहीं हो पाती। ऐसा मान कर इन धर्मों वा सम्प्रदायों ने प्रकारान्तर से अपनी अपूर्णता स्वीकार कर ली। अब तक कोई ऐसा अवतार, रसूल या सद्गुरु न हुआ जो इस पृथ्वी पर हो रहे आसुरी प्रवृत्तियों के खेल एकदम, सदा के लिए बन्द करके स्वर्ग, वैकुण्ठ, गोलोक, बिहिश्त आदि को यहीं पर ला देता या इसी पृथ्वी को दैवी राज्य के रूप में बदल देता। सभी ने कहा कि चले आओ हमारे पीछे-पीछे हम तुम्हारा सब दुःख मिटा देंगे। परन्तु क्या वास्तव में वे अपने अनुयायियों का दुःख दूर कर सके? क्या वे लोग खाने-पीने, रहने-बसने के सम्बन्ध के नित्य प्रति के अभाव पूरे कर सके? क्या वे रोग, व्याधि, बुढ़ापा और मृत्यु आदि से छुटकारा पा गये? क्या उनके दुःखों का अन्त हुआ? क्या किसी अनाथ बालक-बालिका को अपने माँ-बाप के वियोग की वेदना से मुक्ति मिली? क्या किसी युवती को असमय में वैधव्य की यातना से उबारने के लिए किसी ने उसके स्वामी को लौटा दिया? क्या किसी माता-पिता के बुढ़ापे का एकमात्र सहारा किसी ने फिर से ला कर उसका आर्तनाद बन्द किया? इस प्रकार यह शरीर छूटने तथा प्रिय लोगों के फिर न मिल सकने का जो चिर दुःख है क्या किसी ने उसका अवसान किया? किसी ने पूछा कि यदि भगवान् स्वयं ही अवतार ले कर अथवा अपना दूत भेज कर इस पृथ्वी के दुःख को सदैव के लिए दूर नहीं कर सके तो उनसे हमारा क्या हित होगा? उत्तर दिया गया कि यह सब तो दैवी विधान है। देखो न भगवदवतारों या ईश्वरी दूतों ने स्वयं भी तो इसी मर्यादा की रक्षा की है। उन्होंने सब प्रकार के कष्ट सहे हैं, वे अपने प्रिय जनों का मरण नहीं रोक पाये, उन्होंने अपने आप भी शरीर छोड़ कर यहाँ से सदा के लिए जाना ही ठीक समझा है। इस कारण ये सब तो होंगे ही, होते रहेंगे ही। सामान्य जनता ने इस निर्णय के सामने सिर झुका दिया। उसके मन में इन धर्माचार्यों ने यह विचार उठने ही न दिया कि ये कहे गये अवतार पैगम्बर आदि सब साधारण मनुष्य थे, इनका अनुसरण करने से इस पृथ्वी का दुःख कम होना तो दूर, निरन्तर बढ़ता ही जाता है, अतः हमें इसको समाप्त करने के लिए कुछ और उपाय करना चाहिये। इन धर्म-प्रवर्तकों ने जैसे इस ओर की चिन्ता को विपथगामी करने के लिए ही मानवीय जीवन की समस्त विलासमय बातों की समष्टि को ले कर स्वर्ग, बिहिश्त आदि ऊर्ध्व लोकों की कल्पना प्रचलित कर दी और वहीं अपने प्रभु वा पथप्रदर्शक के वैभव सम्पन्न और विलासपूर्ण जीवन की मनोमोहक झाँकी दिखलायी। उसी को पाने के लिए उन लोगों को

अपने पीछे पीछे आने को कहा जिन्हें या तो ये सब भोग की वस्तुएँ इस जीवन में मिली ही न थीं अथवा यदि मिली थीं तो उनसे उनकी मनस्तृप्ति नहीं हुई थी। इसी भ्रमजाल में फँसाने के मार्ग की सृष्टि करनेवाले इन अवतारों, देवदूतों और सद्गुरुओं ने क्या शाश्वत, सच्चे और पूर्ण धर्म का आलोक स्वयं भी पाया था? इनके बतलाये हुए भगवान् के अवतार वा उसके दूत आदि जब स्वयं ही सब मनुष्यों की तरह जिये, रहे और मरे तब उनकी शरण में जा कर मनुष्य की वेदनाओं यातनाओं आदि का क्या अन्त हुआ? अन्त होना तो दूर उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई।

तो क्या इन भक्तों ने सच्ची राह पायी थी? 'अरे इन कोउन राह न पाई' कहने से किसी की भावुकता को ठेस भले ही लगे, पर वस्तु-स्थिति यही है। इन सबने चिन्तन का पथ ही उलटा दिखाया था। यदि थोड़ी देर के लिए भी अपने धार्मिक वा साम्प्रदायिक संस्कार छोड़ कर विवेक और तर्क का आश्रय ले कर विचार करें तो कुछ ऐसा ही जान पड़ेगा। ये सब ईश्वर को जगत् का नियन्ता और निर्माता मानते हैं। उसे सर्व-शक्तिमान् भी कहते हैं। आधुनिक युग के वैज्ञानिक बन्दर से मानव का विकास मानते हैं, और पुराने विचार के लोग कहते हैं कि चौरासी लाख योनियों में होता हुआ जीव मनुष्य हुआ है। यथार्थ चाहे जो हो, किन्तु मनुष्य की उत्पत्ति माता-पिता के शरीर के सार-तत्त्वों के योग से होती देखी जाती है। यही भगवान् का सृष्टि-विधान है। यह विधान परम शुद्ध है। अशुद्ध होता तो सर्वसमर्थ भगवान् ने इसका सृजन ही क्यों किया होता? तो फिर प्रत्यक्षतः इस प्रकार बने मानव शरीर को अशुद्ध और इसे छोड़ने की आवश्यकता समझने में उपर्युक्त चिन्तकों ने क्या भूल नहीं की थी?

फिर गृहस्थी में रह कर उस परम तत्त्व की प्राप्ति सम्भव न मान कर इनमें अधिकांश साधकों ने वैराग्य का उपदेश दे कर क्या उचित किया था? पहले तो वे स्वयं गृहस्थ के घर में जन्मे थे। फिर गृहस्थी छोड़ कर भी वे गृहस्थी छोड़ न सके। एक घर छोड़ कर वे दूसरा घर बनाने और बसाने को विवश हुए और अन्ततः घरबारी बन कर ही रहे। इतना ही नहीं, गृहस्थ का धर्म पालन करते समय जो मर्यादा-पालन और बौद्धिक सन्तुलन अपेक्षित होता है उसको इनमें अधिक लोगों ने अपने आचरण से विशृङ्खल और अनर्गल कर दिया, मनमाने आचार और अनाचार से सामाजिक जीवन की व्यवस्था भङ्ग की।

इतना ही नहीं, साधना के द्वारा नाडियों और चक्रों का वेधन-व्यापार, तदनन्तर ज्योति-दर्शन, अनहदनाद-श्रवण और सिद्धियों को अपनी मुट्ठी में करना आदि क्या सचमुच कोई प्रत्यक्ष दिखला और दूसरों को हस्तगत करा

सकता है ? जैसे वैज्ञानिक अपने अन्वेषण को प्रयोगशाला में सबको दिखला सकता है, उसकी विधि अधिकारी व्यक्ति को यन्त्रादि की सहायता से दिखा, समझा और सिखा सकता है तथा अपनी उपलब्धि सार्वजनिक बना देता है वैसे ये सिद्ध अपनी प्राप्ति को प्रकटतः सबके सामने उपस्थित करके उन्हें भी सबको सिखा क्यों नहीं देते ? उसको युक्ति, तर्क और परीक्षण की कसौटी में कसने की सुविधा क्यों नहीं प्रदान करते ? वैज्ञानिकों के ज्ञान से समस्त जगत् लाभ उठा सकता है, किन्तु इन तथाकथित सिद्धों के ज्ञान से कितने जन सचमुच लाभ उठा सके हैं ? कहने को दैवी विभूतियों को प्राप्त करने के बाद भी ये सिद्ध जन सामान्य लोगों के सदृश खाते-पीते, कदाचार करते और अन्त में आँखें मूँद लेते हैं।[1] अपनी अक्षमता को बड़े-बड़े शब्दों के आवरण में छिपा कर ब्रह्म-दर्शन ज्योति-प्रकाश आदि की डींग मारने से भ्रान्ति का ही प्रसार हुआ, पाखण्ड और अनाचार ही फैला।

इस युग में धर्म-संस्थापकों को ही नहीं उनके मान्य अवतारों और दैवी दूतों तक को भी अपने समय में सब ने नहीं माना, बहुतों ने खुल कर उनका विरोध किया और उन्हें सताया भी खूब। इतिहास से समर्थित न होते हुए भी कबीर के प्रति किसी मुसलमान शासक के अत्यन्त अत्याचार की जनश्रुति है ही, तुलसी के विषय में भी ऐसी ही कितनी किंवदन्तियाँ है। इन दोनों की रचनाओं से कुछ उद्धरण दे कर परम्परागत उपर्युक्त अत्याचारों का समर्थन भी किया जाता है। सम्भवतः लोग सम्प्रदायाचार्यों की कथनी और करनी में साम्य नहीं पाते थे। यह भी हो सकता है कि चले आ रहे जीवन को वे लोग अकस्मात् दूसरे ढर्रे पर लगाना चाहते थे। इसी से जीवन काल में उनका घोर विरोध किया गया। कालान्तर में उनकी आड़ में अपना काम बनाने वाले लोग उनके विचारों को अपने भाष्यों के द्वारा अलौकिक रूप दान करते और साधारण कोटि के लोग उन्हें मान लेते हैं। बहुतेरे धर्म-प्रचारकों ने अपने कार्यों की वास्तविकता को जानते हुए भी उन्हें दूसरों के सामने चतुराई से ऐसे रूप में रखा कि लोग उनकी बातों में आ कर पथ-भ्रष्ट हुए।

सारांश यह कि किसी ने जन्म-मरण का ठीक भेद नहीं समझा और

---

१. इनके घुटे हुए भक्त मिल-मिला कर किसी गोरखनाथ के अमर होने का प्रचार करने में सफल हो जाते हैं, और किसी कबीर के नश्वर शरीर के अकस्मात् कहीं लुप्त हो जाने का प्रवाद फैला देते हैं। परन्तु अभी तक अमर कहे गये किसी पौराणिक पुरुष वा योगमार्ग के सिद्ध को कहीं देखा नहीं गया। जो स्थूल में सब को न मिल सके वह क्या सत्य है ?

न उसको मिटाने का पथ खोजा। कोई मृत प्राणी को लौटा कर संसार-व्यापी चिर दुःख का शमन करने के योग्य न हुआ। बहुतों ने उसी आत्मा की खोज को साधना का लक्ष्य बतला दिया जो स्थूल शरीर के भीतर रहने के लिए ऊर्ध्व से सूक्ष्म रूप में आया है। जीवन को कदाचारों के चक्कर में डाल कर तेली का बैल बना दिया। शरीर को भोग-प्रधान न कहते हुए भी भोगों के प्रति मन की आसक्तियों को प्रबल और दृढ किया। गृहस्थी के प्रति विरक्ति का उपदेश दे कर भी जीवन में उसपर आसक्ति प्रदर्शित की। इस प्रकार व्यवहार में धर्म का जो रूप प्रकट हुआ वह लोक को धारण करने में असमर्थ हुआ। उसने ईर्ष्या, द्वेष, कटुता, हिंसा, शोषण, संहार आदि का प्रसार किया और अपेक्षित समता और शान्ति की स्थापना न की। तत्कालीन धर्म के प्रवर्तकों ने संसार से व्याधि, रोग, शोक, जरा, मृत्यु को दूर करने का ठीक मार्ग पाया होता तब न इनका शमन होता! जैसा ऊपर कहा जा चुका है उन्होंने शरीर को अपवित्र समझ उसको त्यागना ही साधना का लक्ष्य निर्धारित किया। ऐसा न करके उसको आत्मा का पवित्र मन्दिर समझ कर उसके सातत्य की विधि ढूँढ निकालने की ओर उनका ध्यान ही न गया। वे पुराने धर्माचार्यों का अनुसरण ही करते रहे और आँख मूँद कर सूक्ष्म आत्मा को खोजने में लगे रहे, आँख खोलने पर जो स्थूल शरीर दिखलायी पड़ता था उससे वे सदैव आँख फेरे रहे।

फिर वे पूर्ववर्ती धर्माचार्यों के कथनों की वास्तविकता को विवेक-पूर्वक जाँचने का ध्यान रखते तो अवतारों, पैगंबरों, सद्गुरुओं आदि की नश्वरता के कारण उनके पीछे चलना-चलाना श्रेयस्कर न समझते। इस ओर भी उनकी प्रवृत्ति गतानुगतिक ही रही, उसमें स्वतन्त्र चेतना का नितान्त अभाव रहा। उन्होंने अपने निर्माता को पुकारा कि वह माया से मुक्त कर के आत्मा को शुद्ध रूप में दिखलाये और उसी आत्मा की अमरता की कामना की जिसे स्वतः अमर कहा। उनमें बहुतों ने जन्मान्तर माना ही नहीं। अतः उन्होंने तो कयामत के बाद सूक्ष्म रूप से रूहों के जागरण की आशा बँधायी। जो जन्मान्तर मानते थे उन्होंने भी आत्मा के अमरत्व की ही दुहाई दी। शरीर के अमरत्व की चाह किसी ने नहीं की और न उसकी लोक-मानस में लालसा ही जगायी। मध्ययुग तक कोई ऐसा गुरु भी नहीं मिला जो मृत्यु-पथ का रोध करता और मरे हुए मानव को पृथ्वी पर लौटा लाता। किसी ने भगवान् से पुकारा नहीं कि तुमने जो यह शरीर बनाया है बताओ तो सही इसे किसलिए बनाया है? यदि यह अपवित्र है तो तुमने स्वयं इसके भीतर आत्मा

के रूप में रहने का बसेरा क्यों बनाया है ? और यदि बसेरा बनाया है तो अब हम इसे अशुद्ध क्यों समझें तथा तुम इसमें आ कर फिर जाने का प्रयास युग-युग से क्यों करते आ रहे हो ! अब तुम इससे बाहर न जाओ, अपना यह 'रैन बसेरा' उजड़ने न दो, इसे स्थायी कर दो और इसी में सदैव बने रहो। और जो अब तक चले गये हैं वे सब फिर लौट आयें तथा संसार की चिरन्तन आर्तना का अन्त करें। किसी को स्वयं यह सब करने का बूता न था तो उन्हें अपने नियन्ता से पुकारना तो चाहिये था कि तुम युग-युग से जगद्व्यापी दुःख का अन्त करने के लिए स्वयं आओ। इन लोगों ने ऐसा करने की आवश्यकता ही बतलायी होती तो भी मनुष्य ठीक राह पकड़ कर आगे बढ़ने लगता। तब धर्म का पथ मानवमात्र के लिए होता, सब देशों और वर्गों के लोग उस पर साथ साथ चल सकते।

अमर आत्मा की अमरता की अनावश्यक साधना में न पड़ कर शरीर की अमरता की चिर मानवाकांक्षा की पूर्त्ति का साधन कैसे किया जाय यह बतलानेवाला गुरु नहीं मिलता था तो उन साधकों ने अपने भगवान् से उसकी भी याचना क्यों नहीं की थी ? उन्होंने उन्हें ही गुरु मान लिया जो इस पथ से उलटी दिशा में ले जा रहे थे और जो अवतार, पैगम्बर, सद्गुरु आदि की बातें कह कर विपथगामी बना रहे थे। इसी से लोग पथ-भ्रष्ट हुए। भला कभी अंधे को अंधा राह दिखा सकता है ? जिसने स्वयं राह नहीं देखी वह दूसरे को क्या राह दिखा सकता है ? इस प्रकार भक्താग्रगण्य कवियों को इस युग में धर्म का सच्चा पथ नहीं दिखलायी पड़ा और न उन्होंने उसे देखने की कामना ही व्यक्त की।

हमने ऊपर जो विचार व्यक्त किये हैं उनका तात्पर्य यह नहीं कि हमारे मन में उस युग के धर्म-साधकों के प्रति किसी प्रकार की अवहेलना का भाव है। हम केवल यही दिखाना चाहते हैं कि इन समस्त सम्प्रदायों के द्वारा संसार से दुःखों का अवसान होने का काम नहीं हो सका। अभी भी यह आवश्यकता बनी रही कि उन कारणों की खोज की जाय जिनसे मानवजीवन शोक ताप आदि से मुक्त हो कर स्थायित्व लाभ करे। इस दृष्टि से इस युग के धर्मों, सम्प्रदायों, साधकों आदि के कार्य अपूर्ण रह गये।

———

खण्ड २

उत्तर मध्यकाल

(सन् १६५० से १८५० ई०)

●

रीति-श्रृंगार-युग [कलाप्रधान युग]

युग की पृष्ठभूमि

राजनीतिक परिस्थिति

हिन्दी साहित्य का श्रृंगार या रीति-युग मोटे तौर पर शाहजहाँ के शासनकाल की समाप्ति (सन् १६५८ ई०) से ले कर प्रथम राष्ट्रीयता संग्राम (१८५७ ई०) तक चलता है। इस प्रवृत्ति का प्रारंभ पहले से हो गया था और जहाँगीर एवं शाहजहाँ-सरीखे विलासप्रिय मुगल बादशाहों से प्रेरणा तथा समकालीन अन्य हिन्दू-मुस्लिम शासकों, नवाबों, राजाओं से पोषण और संरक्षण प्राप्त कर श्रृंगारिक प्रवृत्ति एवं कला-प्रधान साहित्य का विकास हुआ। लगभग हिन्दी-रीति-काव्य की सी ही प्रवृत्तियाँ हमें पूर्ववर्ती एवं समवर्त्ती संस्कृत-साहित्य में भी मिलती हैं जिसका आधार ग्रहण कर रीति-साहित्य की रचना की गई। औरंगज़ेब साहित्य-प्रेमी नहीं था। उसे प्रधानतया अपने राज्य की दृढता, विस्तार एवं धर्म-प्रचार से मतलब था। इन दोनों ही कार्यों में वह बड़ा ही कट्टर और कठोर था। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय के साहित्य की इस प्रवृत्ति को उससे प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। यह तो जहाँगीर और शाहजहाँ जैसे कलाप्रेमी बादशाहों की वृत्तियों से प्रेरणा प्राप्त कर कला-पूर्ण एवं विलासमय जीवन व्यतीत करने वाले सामन्तों, सरदारों, राजाओं और नवाबों के संरक्षण में लिखा गया साहित्य था। भक्ति-साहित्य को छोड़ कर

शेष वीर और शृंगार-साहित्य, इस युग का आश्रित साहित्य है जो किसी सामन्त, राजा या सरदार के आश्रय में लिखा गया। बड़े-बड़े बादशाहों और राजाओं ने तो आश्रय दिया ही, छोटे छोटे सरदारों और सामन्तों ने उनसे भी अधिक कला एवं साहित्य-प्रेम दिखाया जिसके कारण न केवल इस प्रकार का साहित्य रचा ही गया, वरन् अब तक किसी प्रकार सुरक्षित भी रह सका है।

राजनीतिक दृष्टि से मुगल बादशाहों का इस बीच में शासन रहा था। औरंगज़ेब के समय में तो मुगल बादशाहत की कुछ धाक भारत के अधिकांश भाग पर थी, फिर भी वह सामन्तों और छोटे-छोटे शासकों का युग था; परन्तु उसके बाद तो दिल्ली के केन्द्रीय शासन की बागडोर भी उत्तरोत्तर क्षीण होती गयी। औरंगज़ेब की कट्टर धार्मिक नीति के कारण स्वयं ही उसे अपने समय में अनेक विद्रोहों का सामना करना पड़ा। जाटों, सतनामियों, छत्रसाल, राजपूतों और मराठों से संघर्ष करते ही उसका जीवन बीता। स्थान-स्थान पर शक्तिशाली क्षेत्रीय शासन कायम हो गये थे और औरंगज़ेब की मृत्यु (१७०७ ई०) के उपरान्त तो सभी प्रबल हो गये। बहादुरशाह, जहाँदारशाह, फर्रुख़-सियर आदि सब दुर्बल शासक थे और थोड़े ही थोड़े समय तक राज्य कर पाये। मुहम्मदशाह और उसके पुत्र अहमदशाह भी विलासी और दुर्बल शासक थे। इसी बीच सन् १७३९ में नादिरशाह का आक्रमण हुआ और सन् १७६१ में अहमदशाह अब्दाली का। इन आक्रमणों ने दिल्ली का केन्द्रीय शासन बिल्कुल ही क्षीण कर दिया।

दिल्ली के केन्द्रीय मुगल-शासन के क्षीण होने के साथ-साथ देश के विभिन्न भागों में छोटे छोटे शासन कायम हो गये थे। ज्यों-ज्यों मुगल-शासन क्षीण होता गया, ये प्रबल और स्वच्छन्द होते गये। राजस्थान में जयपुर, उदयपुर, जोधपुर, भरतपुर, बीकानेर, बूँदी आदि के राज्य थे। मध्यप्रदेश में भोंसले और गोंड राजाओं के शासन चल रहे थे। बुन्देलखंड में ओरछा, दतिया, पन्ना, चरखारी, झाँसी, छतरपुर के छोटे बड़े शासक थे। ग्वालियर, इन्दौर आदि में तथा अवध, काशी, कुमायूँ, बिहार, बंगाल में कहीं हिन्दू राजाओं और कहीं मुस्लिम नवाबों, सामन्तों और जागीरदारों का आधिपत्य था जो अपने स्थानों पर स्वच्छन्दता के साथ शासन कर रहे थे।

इन शासकों के सामने व्यापक और उदात्त रूप से कोई राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक या सांस्कृतिक आदर्श या उद्देश्य था, यह नहीं कहा जा सकता। ये परस्पर संगठन और मेल से भी नहीं रहते थे। अधिकांश छोटी-छोटी बातों पर रुष्ट हो जाते थे और अपने आत्म-सम्मान पर आघात समझते

थे जिससे प्रायः पारस्परिक, विशेषतया पड़ोसी राज्यों में संघर्ष और मनमुटाव चलता रहता था। अतः छोटे छोटे युद्ध होते रहते थे। जब ये युद्ध नहीं होते थे और कुछ शान्ति रहती थी, तो अधिकांश शासकों के सामने जो आदर्श था, वह मुगल-वैभव और विलासिता के जीवन का था। इस जीवन की तह में प्रेम और शृंगार-भावना की धारायें बहती थीं।

ऐसी दशा में इन राजाओं, सामन्तों, नवाबों आदि के आश्रय में रचना करने वाले कवियों के सामने दो ही मार्ग थे। या तो युद्ध आदि का अवसर हो और संघर्ष चल रहा हो, तो आश्रयदाताओं के यश एवं युद्धवीरता का बखान करें। अथवा यदि शांतिमय परिस्थिति हो, तो उनका मनोरंजन करें। मनोरंजन के लिए या तो उक्तिवैचित्र्यपूर्ण नीति-सूक्ति-काव्य हो अथवा शृंगार वर्णन हो। अतः उस समय की सीमित, संकीर्ण, संघर्षमय राजनीतिक स्थिति ने कवियों को व्यापक जीवनादर्शों से वंचित रखा। कलात्मकता एवं चमत्कारपूर्ण शब्द-प्रयोग से आश्रयदाताओं को सहज ही प्रसन्न किया जा सकता था और शृंगार-वर्णन-द्वारा उनकी विलास-भावना को अनायास ही प्रभावित किया जा सकता था, अतः उस समय के साहित्य में ये प्रवृत्तियाँ प्रमुख रूप से प्रवहमान हुईं।

सामाजिक परिस्थिति

राजनीतिक पृष्ठभूमि ने सामन्तवादी शासन को जन्म दिया था। समाज में राजा उस समय ईश्वर-तुल्य मान्य था। उसकी इच्छा के विपरीत सोचना, विचारना और कार्य करना अपने ऊपर आफत बुलाना था। सारे देश में मनसबदारों का जाल फैला हुआ था और इन्हीं के हाथ राजकीय अधिकार थे तथा राजकीय कार्य होते थे। राजकीय नौकरियाँ समाज में बहुत महत्त्व की समझी जाती थीं। समाज के अन्य लोगों का जीवन भी इनसे संबंधित था। इन्हें अन्न तथा सामान जुटाना किसानों और व्यापारियों का प्रथम कार्य था। इनकी विलासिता की सामग्री पूरी होनी चाहिये थी, चाहे अन्य लोग भूखे ही दिन गुज़ार दें।

समाज इस प्रकार भयंकर विषमता से ग्रस्त था और इस शासक-वर्ग को छोड़ कर शेष समाज का जीवन दुर्दशापूर्ण एवं दयनीय था। साधारण जनता के लोग भी किसी न किसी बहाने राजाओं और शासकों को प्रसन्न कर उनसे पुरस्कार, इनाम-अकराम पाने की लालसा रखते थे। अतः प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति, इन विलासिता एवं वैभव से ओतप्रोत व्यक्तियों को प्रसन्न और चमत्कृत कर के अपना जीवन सुखमय बनाने का प्रयत्न करते रहते थे। इसमें

तनिक भी सन्देह नहीं कि ये सामन्त, राजा और नवाब आदि प्रतिभा-संपन्न व्यक्तियों को उदारतापूर्वक आश्रय और दान देते थे तथा उनकी प्रतिभा का सम्मान कर उन्हें प्रोत्साहन देते थे। बहुतों को जीवन-भर राजाश्रय मिल जाता था। ऐसे कवियों और कलाकारों को अपनी कलात्मक रचनाओं की रचना करने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं था।

नैतिकता की दृष्टि से जन-साधारण का जीवन सामन्तों और राजाओं से अधिक उच्च था। जहाँ सामन्तों का जीवन अपने रनिवास की अनेक सुन्दरियों और प्रमदाओं की विलास-चेष्टाओं में अथवा चाटुकार दरबारियों के मध्य बीतता था, वहाँ सामान्य जन भरपूर परिश्रम करने के उपरान्त भी उदर-पोषण न कर पाने पर विरक्ति और त्याग से भरा धार्मिक वृत्ति से परिपूर्ण हो रहा था। उसके जीवन के मध्य पूर्ववर्ती भक्ति-युगीन भावधारायें प्रवाहित थीं। निर्गुण सन्त काव्य धारा तथा सगुण भक्ति धारा, दोनों ही चल रही थीं। निर्गुण सन्त-धर्म के विभिन्न संप्रदाय हो गये थे। कबीर-द्वारा प्रचारित निर्गुण मत अब थोड़े बहुत विचार और स्थान-भेद के कारण अनेक संप्रदायों में बँट गया था, यद्यपि इन सबमें कबीर का मत सार रूप में मौजूद था। फिर अनेकता और विविधता की ओर समाज और धर्म दोनों ही अग्रसर हो रहे थे। गोरखपंथी नाथ-संप्रदाय तथा कबीर-पंथी निर्गुण मार्ग के साथ-साथ नानकपंथ, दादूपंथ, दरिया-पंथ तथा बाबरी, सतनामी, राधास्वामी, शिवनारायणी, बाकरी, आदि संप्रदाय मध्य, उत्तरी और पश्चिमी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में फैल रहे थे। ये अधिकांश स्थानीय गुरुओं के व्यक्तित्व और प्रतिभा तथा आवश्यकताओं के कारण बन गये थे। परन्तु धीरे-धीरे इनमें भी तपस्या एवं त्यागपूर्ण साधना के स्थान पर पाखंड, आडंबर तथा महन्तगीरी प्रवेश करने लगी थी।

धर्म साहित्य और संस्कृति की यह स्थिति अधिकांशतः राजनीतिक परि-स्थिति की एक निश्चयता के कारण थी। लोग अब समझ गये थे किस प्रकार का शासन है और कैसा शासन चलेगा। लोग अब दासता और धर्म की भावना को तीव्रता से अनुभव करना छोड़, प्रायः उससे समझौता कर चुके थे और अपनी परिस्थितियों और साधनों के अनुकूल जीवन का मार्ग बना चुके थे। उद्देश्य की उच्चता और भावना की तीव्रता के कुंठित हो जाने के कारण धर्म, संस्कृति और साहित्य प्रत्येक क्षेत्र में प्रणालियाँ बन चली थीं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है समकालीन शृंगारिक एवं विलासिता के प्रवाह ने सबको प्रभावित कर रखा था। निर्गुण मत के संबंध में अभी कहा जा चुका है। सूफी साधकों के लिए भी प्रेम साधना का मार्ग बन चुका था। सगुणोपासक भक्तों की दोनों

धाराओं में भी शृंगारिक प्रवृत्ति ने प्रवेश प्राप्त कर लिया था। कृष्णोपासना के क्षेत्र में तो कृष्ण और राधा केवल उपास्य न रह गये थे। वरन् वे शृंगारिक साहित्य के क्षेत्र में नायक और नायिका के स्तर पर उतर आये थे। राधाकृष्ण के सुमिरन का बहाना था, वास्तव में तुष्टि तो शृंगारिक भावनाओं की हो रही थी।

इस युग में भक्तिकालीन शुद्ध आदर्शवादिता के स्थान पर मिश्रित यथार्थवादिता का प्रवेश हुआ। जीवन और लक्ष्य के प्रति भावुक त्याग और बलिदान का भावावेश कम हो गया था, वरन् उसके यथार्थ रूप के साथ उपभोग की वृत्ति का सम्मिश्रण हो चुका था। इस युग का काव्य साधनावस्था का काव्य उतना न था जितना कि सिद्धावस्था का। इसी के परिणामस्वरूप कलात्मकता एवं शृंगारिकता का अत्यधिक समावेश हुआ। इसी के फलस्वरूप इस युग को शृंगार या कला युग भी कहा जाता है।

साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

इस युग के काव्य में जहाँ पर एक बार भक्ति, शृंगार, वीर आदि काव्यधाराओं का विकास काव्य के अन्तर्गत देखा जाता है, वहीं लोक-जीवन के व्यावहारिक पक्ष के हेतु उपयोगी साहित्य पर भी काफी रचनायें उपलब्ध होती हैं। ऐसे भी ग्रंथ मिलते हैं जिनमें नीति और उपदेश की बातें हों, जैसे वृन्द सतसई; दीनदयाल गिरि, बेताल और गिरिधर की कुंडलियाँ और छप्पय। घाघ और भड्डुरी की कहावतें हैं, साथ ही साथ शालिहोत्र (पशु चिकित्सा) ज्योतिष, रमल, सामुद्रिक, भोजन शास्त्र, मांस-पाक, सुरा, मृगया, मैत्री, संगीत आदि पर भी ग्रंथ लिखे गये। यदि उस समय के साहित्य का पूरा विवरण प्राप्त हो जाये, तो यह प्रमाणित हो जायगा कि ऐहिक जीवन के प्रति कितनी सजगता और मोह की वृत्ति उस युग में आ गई थी। हम कह सकते हैं कि जीवन में यथार्थवादी दृष्टिकोण के विकास का श्रीगणेश हो चला था। उस युग के अनेक ग्रंथ ऐसे हैं जिनमें सुरा-प्रशंसा, हुक्के का गुणगान, मृगया-प्रशंसा, रत्नपरीक्षा, पक्षी-परख आदि विषयों पर रचनायें की गई हैं। यह सब समकालीन ऐहिक दृष्टिकोण और उपभोगात्मक प्रवृत्ति के प्रमाण हैं।

अलंकार, रस और नायिका-भेद के ग्रंथों में भी जीवन के यथार्थ रूप की झलक मिलती है। इनके अन्तर्गत विभिन्न मनोदशाओं के विश्लेषण, विविध अवस्थाओं के स्वभाव-चित्रण, अनेक मनोविकारों जैसे अभिलाषा, खीझ, ईर्ष्या, घृणा, प्रेम, आदि के वास्तविक वर्णन मिलते हैं। इनके अन्तर्गत तो घरेलू एवं पारिवारिक प्रेम आदि से संबद्ध भावनाओं के मार्मिक चित्र

उपस्थित किये गये हैं। रीतिकाव्य के भीतर जीवन के न जाने कितने स्वाभाविक और मनोहारी चित्र हैं, जो बरबस हमारे मन को अपनी ओर खींचते हैं। ये वर्णन कवियों के कोरे काल्पनिक नहीं, वरन् जीवन के यथार्थ अनुभव हैं। इनमें अनेक स्थलों पर पारिवारिक बंधनों, सामाजिक परम्पराओं, वैयक्तिक शील, आदि का चित्रण है। मधुर व्यक्तित्व एवं वाक्चातुर्य के भी रूप इन चित्रणों में मिलते हैं। इस प्रकार जीवन की सहज वृत्तियों से संबंधित रूपों का चित्रण इस काव्य की विशेषता है। शृंगारिक प्रवृत्ति इस युग की नवीन साहित्यिक चेतना के रूप में आई है।

परंपरागत प्रवृत्तियों में वीर काव्य का प्रवाह मिलता है; सूफी प्रेमाख्यानों की परम्परा भी चलती रहती है, निर्गुण संत काव्य भी, जैसा पहले कहा जा चुका है विभिन्न संप्रदायों की बानियों के रूप में विकसित हुआ; रामकाव्य की परंपरा ने भी इस युग में आ कर कुछ अधिक शृंगारिक रूप ग्रहण किया जैसा तुलसीदास से प्रभावित एवं भक्तियुगीन रामकाव्य में कम देखने को मिलता है; कृष्ण-भक्ति-काव्य में तो और भी अधिक रसिकता और शृंगारिकता आ गई और उदात्त एवं पावन भक्ति भावना का ह्रास होने लगा। वास्तव में इसी कृष्ण-भक्ति-काव्य-धारा ने ही अधिकांशतः शृंगारिक काव्य का रूपान्तरण सा कर लिया था फिर भी इसके अतिरिक्त मन्दिरों से संबंधित पद साहित्य भी चलता रहा जो रस और नायिका भेद से कुछ अलग था। उसमें भी अष्टयाम और नखशिख वर्णन का प्रचुर मात्रा में समावेश हो गया था। इस प्रकार इस युग में पूर्ववर्ती परंपरायें भी चलती रहीं। उनके प्रवाह की गति एवं उनकी विशेषता और स्वरूप में कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ जो स्वाभाविक ही था। यहाँ हम पहले इन्हीं परम्पराओं में प्रस्फुटित साहित्य का विवरण दे रहे हैं।

पूर्ववर्ती काव्य परंपराओं का विकास

क. सन्त काव्य धारा

रीतियुग के पूर्व सन्त काव्य के कुछ संप्रदाय बन चुके थे जिनका इस युग में विकास हुआ तथा अन्य नवीन संप्रदायों का जन्म भी हुआ। ये संप्रदाय पंथों के रूप में थे। भक्ति युग में जिन पंथों का विकास हो चुका था वे हैं— कबीरपंथ, नानकपंथ, दादूपंथ, बावरी पंथ, मलूक पंथ तथा इनमें से कुछ की विभिन्न स्थानों पर शाखायें और संप्रदाय भी बन चुके थे। इनके द्वारा बाह्याडंबरों का विरोध और लोकाचार का खंडन होता था तथा निर्गुण उपासना

का प्रचार किया जाता था। विभिन्न संप्रदायों और पंथों के प्रवर्त्तक एवं गुरु जो अपने उपदेश देते थे, वे उनकी बानियों के रूप में संगृहीत गद्दियों और मठों में सुरक्षित रहते थे। निर्गुण संत-मत मूर्त्तिपूजा का विरोधी था। पर धीरे धीरे इसके भीतर समाधिस्थल की पूजा और पोथी-पूजा का प्रचलन हुआ। जैसी कि सिक्खों में गुरु ग्रन्थसाहब की पूजा चलती है, वैसी ही अन्य पन्थों में भी चालू हुई। यह आगे चल कर चित्रपूजा और किन्हीं किन्हीं सम्प्रदायों में मूर्तिपूजा तक में परिणत हो गई। सतनामी संप्रदाय में हनुमान तक की मूर्ति-पूजा होती है और बावरी संप्रदाय में भी मूर्तिपूजा के प्रति कोई कट्टर विरोध नहीं है, यद्यपि संप्रदाय में दीक्षित व्यक्तियों के लिए वह मान्य नहीं है। इस प्रकार के विकास को हमें शिथिलता के रूप में उतना नहीं देखना चाहिए जितना कि कट्टरता के स्थान पर उदारता तथा लोकभावना के साथ सामंजस्य की वृत्ति के रूप में।

इसी बीच निर्गुण संतमत के बीच एक निरंजनी संप्रदाय का विकास हुआ। इसकी परंपरा का उद्भव नाथ संप्रदाय में देखा जा सकता है और यह एक प्राचीन संप्रदाय है। कहा जाता है कि इसके प्रवर्त्तक कोई स्वामी निरंजन थे,[१] जो निर्गुणोपासना का उपदेश देते थे। यह नाथ और निर्गुण संतमत का मध्यवर्ती संप्रदाय माना जा सकता है। राघौदास (दादूपंथी) ने अपने भक्तमाल में १२ निरंजनी महन्तों का उल्लेख किया है जिनके नाम ये हैं: जगन्नाथदास, स्यामदास, कान्हड़दास, ध्यानदास, षेमदास, नाथ, जगजीवन, तुरसीदास, आनंददास, पूरणदास, मोहनदास और हरिदास। हरिदास इस संप्रदाय के प्रसिद्ध प्रचारक कहे जा सकते हैं। इसके साथ ही इसी मत के सेवादास, भगवानदास आदि निरंजनियों की भी बानियाँ मिलती हैं। हरिदास, तुरसीदास और सेवादास की बानियाँ तो बहुत बड़े परिमाण में मिलती हैं। इन बानियों के प्रसंग गुरुमहिमा, ईश्वर का स्वरूप, माया, विरह, सूक्ष्ममार्ग आदि है जो निर्गुणोपासक संतों के अनुसार ही हैं। ये कुछ अपेक्षाकृत अधिक उदार हैं और सगुणोपासना को भी उदार दृष्टि से देखते हैं। हरिदास का जीवन काल सन् १६५० के पूर्व है, परन्तु भगवानदास, तुरसीदास, सेवादास का काल इसके बाद से १७५० ई० तक फैला है। इस संप्रदाय की परंपरा में अब भी कुछ सन्त हैं। इसका क्षेत्र प्रधानतया राजस्थान में जयपुर और उदयपुर के आसपास है।

---

१. उत्तरी भारत की संतपरंपरा, ४६१

दादूपंथी सुन्दरदास का स्वर्गारोहण सन् १६८६ ई० में हुआ था। इसी पंथ के अन्तर्गत राघौदास ने सन् १८६० ई० में अपना भक्तमाल लिखा जिसमें नाभादास कृत भक्तमाल की भाँति अनेक सन्त कवियों का परिचयात्मक विवरण है। दादूपंथ के भीतर गरीबदास, सुन्दरदास, रज्जब, बषना, जगजीवन, बिसनदास आदि उनके शिष्य प्रशिष्य थे। बावरी पंथ की प्रवर्तिका बावरी साहिबा थीं। इस पंथ के बीरू साहिब के बाद यारी साहब से आगे के शिष्य रीति युग में हुए। यारी, केशवदास, बुल्ला, गुलाल, भीखा, पलटू आदि इस पंथ के प्रधान सन्त हैं जिनकी बानियाँ भुरकुड़ा, बड़ागाँव, जलालपुर आदि की गद्दियों और अखाड़ों में सुरक्षित हैं। इस पंथ के कुछ सन्तों की रचनाएँ काव्य की दृष्टि से भी सुन्दर हैं। जिस प्रकार दादूपंथ में दादू और सुन्दरदास की बानियाँ बड़ी सुन्दर हैं ऐसे ही केशव, भीखा और पलटू की रचनायें भी। मलूकपंथ उतनी निश्चित विशेषता और प्रचार न पा सका। इसमें सबसे प्रसिद्ध मलूकदास ही हैं जिनका समय सन् १५७४ से १६८२ ई० तक है। इस पंथ में प्रसिद्ध व्यक्ति सुथरादास, रामसनेही, कृष्णसनेही, गोपालदास आदि हैं। इस मत का विशेष प्रचार नहीं है।

जो पंथ या संप्रदाय विशेष रूप से इस युग में आते हैं वे बाबालाली, प्राणनाथी, सतनामी, धरनीश्वरी, दरियादासी, शिवनारायणी, चरणदासी संप्रदाय तथा राधास्वामी और साहेब पंथ हैं। इन संप्रदायों और पंथों का महत्त्व और प्रचार प्रायः एक ही व्यक्ति की प्रतिभा और व्यक्तित्व से संबंधित है। इनमें अधिक व्यापक सतनामी संप्रदाय है। इस संप्रदाय की तीन शाखायें हैं—नारनौल, कोटवा और छत्तीसगढ़ी। नारनौल शाखा के सतनामी औरंगज़ेब का विरोध करने वाले प्रसिद्ध हैं, क्योंकि उन्होंने दारा के पक्ष का समर्थन किया था। कोटवा शाखा का संबंध प्रसिद्ध संत जगजीवनदास से है। इनके निजी रचे हुए अनेक ग्रंथ हैं तथा इनके प्रधान शिष्य दूलनदास, गोसाईंदास, खेमदास हैं। छत्तीसगढ़ी शाखा में घासीदास, बालकदास, अगरदास, अजबदास आदि संत हुए हैं। साहेब पंथ, हाथरस वाले तुलसी साहिब के द्वारा चलाया गया और राधास्वामी सतसंग लाला शिवदयाल द्वारा।

इस विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि निर्गुण संतमत अनेक पंथों और संप्रदायों में विभक्त हो गया था और उसकी अनेक शाखायें और प्रशाखायें हो गई थीं। इन विभिन्न संप्रदायों के सन्तों की बानियों में प्रायः साधना और उपदेश संबंधी बातें हैं जिनमें से कुछ प्रसंगों की बातें तो अधिकांश में एक समान ही हैं केवल कहीं कहीं कुछ अनुभूति की भिन्नता है। शब्दावली

भी बहुत कुछ एक सी ही है। इसका संबंध कबीर की बानी, योग-साधना, नाथ संप्रदाय, सूफीमत और भक्ति-पद्धति से है। इन्हीं से संबंधित बातें कुछ अपने अनुभव के रूप में इन संप्रदायों की बानियों में मिलती हैं। साहित्यिक दृष्टि से इन बानियों का अधिक महत्त्व नहीं है। यहाँ पर हम कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण सन्त काव्य धारा के कवियों का परिचय देंगे जिनमें या तो कुछ साहित्यिक विशेषता है अथवा जो इस धारा के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं।

सन्त-काव्यधारा के प्रमुख कवि

सुन्दरदास—सुन्दरदास दादू पंथ के सब से विद्वान कवि एवं संत थे। ये वैश्य थे और इनका जन्म सन् १५९६ ई० में तथा मृत्यु सन् १६८९ में हुई थी। इनका जन्मस्थान जयपुर की प्राचीन राजधानी द्यौसा नगर है। इनका स्थान आज भी वहाँ एक खँडहर के रूप में विद्यमान है। ६ वर्ष की अवस्था में ही ये दादू के शिष्य हो गये थे। ये छोटे सुन्दरदास कहलाते हैं, पर प्रसिद्ध यही अधिक हैं। ये ११ वर्ष की अवस्था में जगजीवन और रज्जब जी के साथ काशी गये और वहाँ पर साहित्य और दर्शन का गंभीर अध्ययन किया। उसके उपरान्त १२ वर्षों तक योगाभ्यास किया। सुन्दरदास घुमक्कड़ प्रवृत्ति के थे और ये बिहार, बंगाल, उड़ीसा, गुजरात, मालवा, बदरीनाथ आदि स्थानों का भ्रमण करते रहे। ये हिन्दी, संस्कृत, पंजाबी, गुजराती, मारवाड़ी, फारसी आदि भाषायें जानते थे।

सुन्दरदास ने छोटे बड़े मिला कर ४२ ग्रंथ लिखे जो अब सभी प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अधिक प्रसिद्ध ग्रंथों में ज्ञान समुद्र और सुन्दर विलास हैं। ज्ञान समुद्र सन् १६५३ की रचना है। इसमें भक्ति, योग, दर्शन, ज्ञान आदि विषयों का विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादन किया गया है। परन्तु इनका सुन्दर विलास ग्रन्थ काव्य की दृष्टि से अधिक ललित और रोचक है। इनकी रचनाओं में काव्यकौशल का प्रदर्शन भी मिलता है जिससे स्पष्ट है कि उनपर कलायुग का प्रभाव स्पष्ट था। उदाहरण के लिए कुछ छन्द निम्नांकित हैं :

बोलिये तौ तब जब, बोलिबे की सुधि होय,
न तौ मुख मौन गहि चुप होइ रहिये।
जोरिये तौ तब जब जोरिबे की जानि परै,
तुक छन्द अरथ अनूप जामें लहिये।
गाइये तौ तब जब गाइबे को कंठ होय
श्रवण के सुनत ही मन जाइ गहिये।

तुक भंग, छन्द भंग, अरथ मिलै न कछु
सुन्दर कहत ऐसी बानी नहिं कहिये ॥१॥
किधौं पेट चूल्हो कीधौं, भाठि किधौं भाड़ आहि
जोइ कछु झोंकिये सु सब जरि जातु है।
किधौं पेट थल किधौं वापि किधौं सागर है,
जेतो जल परै तेतो सकल समातु है।
किधौं पेट दैत किधौं भूत प्रेत राछस है
खाउँ खाउँ करै कछु नेक न अघात है।
सुन्दर कहत प्रभु कौन पाप लायो पेट
जब ही जनम भयो तब ही को खातु है ॥२॥
मेघ सहै सीत सहै, सीस पर घाम सहै
कठिन तपस्या करि कंद मूल खात है।
जोग करै जज्ञ करै, तीरथरु व्रत करै
पुन्य नानाविधि करै मन में सुहात है।
और देवी देवता उपासना अनेक करै
आँबन की हौंस कैसे, आक डौंडी जात है।
सुन्दर कहत एक, रवि के प्रकास बिनु
जेंगना की जोति, कहा रजनी बिलात है ॥३॥

गेह तज्यो पुनि नेह तज्यो, पुनि खेह लगाइ के देह सँवारी।
मेघ सहै सिर सीत सहै तन धूप समै जु पंचागिनि बारी॥
भूख सहै रहि रूख तरे पर सुन्दरदास सहै दुख भारी।
डासन छाँड़ि कै काँसन ऊपर आसन मारि पै आस न मारी ॥४॥

रज्जबदास—रज्जब जी अत्यंत प्रसिद्ध संतों में थे और दादू जी की शिष्य मंडली में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये सांगानेर के प्रतिष्ठित पठान-परिवार में उत्पन्न हुए थे। इनका जन्म सन् १५६७ ई० में तथा देहान्त १६८९ में अर्थात् उसी वर्ष हुआ था जिस वर्ष सुन्दरदास का। इनकी प्रारंभिक शिक्षा बड़ी पूर्ण और बहुमुखी हुई थी। कहते हैं कि जिस समय ये अपना विवाह करने जा रहे थे उसी समय दादू जी का मार्ग में भेंट के कारण ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये विरक्त हो कर उनके शिष्य हो गये और विवाह के लिए इनका छोटा भाई गया। इनमें गुरुभक्ति कूट कूट कर भरी थी।

रज्जब जी की रचनाओं में उनकी बानी व सर्वांगी ग्रंथ हैं। इनकी बानी ५३५२ छन्दों में है। सर्वांगी में दृष्टांतस्वरूप अन्य अनेक संत कवियों की रचनाओं

का संग्रह भी है। इसमें भी एक बहुत बड़ी छंद संख्या है। रज्जब जी की एक और कृति अंगवधू भी कही जाती है जो 'आदि ग्रंथ' से भी पहले का संग्रह बतायी जाती है। रज्जब जी गंभीर विद्वान् थे और इनकी रचनाओं में सूफी मस्ती की झलक मिलती है। इनकी रचना के कुछ छन्द ये हैं :

पीत बाइ जब दृष्टि ह्वै, तब पीला संसार।
त्यूँ रज्जब रामहिं मिल्यूँ, बाहिर भीतर राम॥
ज्यूँ सैल सुदामा गत भये, ह्वै दामिनि कैं मांहि।
त्यूँ रज्जब रामहिं मिल्यूँ, देही दीसै नांहि॥
रज्जब धर्मशास्त्र दिल दया, वैद्यक अल्प अहार।
कोकशास्त्र कामिनि कथा, लेखा यहु सुलझार॥
उत्तम आतम देह है, उत्तम ही गति साध।
उत्तम संगति कीजिये, उत्तम हरि आराध॥
जन रज्जब राखे बिनां, नांव न राख्या जाय।
जैसे दीपक जतन बिनां, बिस्वा बीस बुझाय॥
रज्जब भोडल भवन मधि, दीप नांव ठहराय।
जतन बिना जोख्यूं घणी, जोति जाप बुझि जाय॥
जतन बिना जोख्यूं घणी, बोहित बिघन अनंत।
ज्यूं रज्जब राखे बिनां, उदधि न उतरैं सन्त॥
ज्यूं चाकी चौड़े धरयूँ, सब पीसा उड़ि जाय।
त्यूं रज्जब सुणि जतन बिन, कहो सुकृत को खाय॥

यारी—यारी साहेब का पूरा नाम यार मुहम्मद था। ये वीरू साहब के शिष्य और बावरी संप्रदाय के प्रसिद्ध संत हैं। इनका सत्संग सूफियों से रहा जान पड़ता है। ये वीरू के प्रभाव से इस पंथ में आये। इनकी समाधि दिल्ली में है। इनका समय सन् १६६८ और १७२३ के बीच माना जाता है। इनके हिन्दू और मुसलमान दोनों ही शिष्य थे। और बावरी संप्रदाय के प्रसिद्ध संत केशवदास व सूफी साह भी इनके चेले थे।

इनके कुछ पद ये हैं :

बिरहिनी मन्दिर दियना बार।
बिन बाती बिन तेल जुगुति सों बिन दीपक उजियार।
प्रान पिया मेरे घर आयो रचि पचि सेज सँवार।
सुखमन सेज परम तत रहिया, पिय निरगुन निरंकार
गावहु री मिलि आनँद मंगल, यारी मिलिकै यार॥१॥

हौं तो खेलौं पिया संग होरी ।
दरस परस पतिबरता पिय की छबि निरखत भइ बौरी ।
सोरह कला संपूरन देखौं, रवि ससि में इक ठौरी ।
जब ते दृष्टि परो अविनासी लागो रूप ठगोरी ।
रसना रटत रहत निसि वासर, नैन लगो यहि ठोरी ।
कह यारी भक्ती करु हरि की, कोई कहै सो कहो री ॥२॥

बावरी संप्रदाय में इसी कोटि की रचनायें बुल्ला साहेब, केशव, गुलाल और भीखा साहिब की हैं । परन्तु कवित्व की दृष्टि से पलटू साहेब की बानी अधिक प्रभावकारी है ।

पलटू साहेब—पलटू भीखा साहेब के शिष्य गोविन्द साहेब के शिष्य थे । इनका जन्मस्थान नगपुर जलालपुर जिला फैजाबाद में है । ये जाति के काँदू बनिया थे। इनका प्रारम्भिक जीवन गृहस्थ का था, परन्तु बाद में विरक्त हो गये । ये अपनी प्रभावशाली बानी के कारण बड़े प्रसिद्ध हो गये थे । अयोध्या से चार मील की दूरी पर इनकी समाधि है । यह "पलटू साहब का अखाड़ा" कहलाता है और इनके अनुयायी यहाँ रहते हैं । इनके जन्म और मृत्यु की तिथियाँ निश्चित नहीं । इनकी रचना सरल, किन्तु चमत्कारपूर्ण है और सीधे प्रभाव डालनेवाली है । इन्होंने शब्द, साखी, कुंडलिया, झूलना, अरिल्ल, रेखता आदि लिखे हैं । काव्य के कुछ उदाहरण ये हैं :

क्या तू सोवै बावरा चाला जात बसन्त ।
चाला जात वसन्त कन्त ना घर में आये ।
धृग जीवन है तोर कंत बिनु दिवस गँवाये ॥
गर्व गुमानी नारि फिरै जीवन मदमाती ।
खसम रहा है रूठि नहीं तू पठवै पाती ॥
लगै न तेरो चित्त कंत को नाँहि मनावै ।
का पर करै सिंगार फूल की सेज बिछावै ॥
पलटू ऋतु भरि खेलि ले फिरि पछितैहै अंत ।
क्या सोवै तू बावरी चाला जात बसंत ॥१॥
जेकरे अँगने नौरँगिया सो कैसे सोवै हो ।
लहर लहर बहु होय सबद सुनि रोवै हो ॥
जेकर पिय परदेस नींद नहिं आवै हो ।
चौंकि चौंकि उठि जागि, सेज नहिं भावै हो ॥
रैन दिवस मोरे बान पपीहा बोलै हो ।

पिय पिय लावै सोर सवित होइ डोलै हो ।।
बिरहिन रहै अकेल, सो कैसे कैं जीवै हो ।
जेकरे आमी कै चाह, जहर कस पीवै हो ।।
अभरन देहु बहाय, बसन धै फारौ हो ।
पिय बिनु कौन सिंगार, सीस दै मारौ हो ।।
भूख न लागै नींद, विरह हियै करकै हो ।
माँग सेंदुर मसि पोंछ, नैन जल ढरकै हो ।।
कायर करै सिंगार, सो काहि दिखावै हो ।
जेकर पिय परदेस, सो काहि रिझावै हो ।
रहै चरन चित लाय, सोई धन आगर हो ।
पलटुदास कै सब्द, बिरह कै सागर हो ।।२।।

मलूकदास—मलूक नाम के कई व्यक्ति हो गये हैं; परन्तु प्रसिद्ध संत मलूकदास इलाहाबाद जिले के कड़ा नामक ग्राम में उत्पन्न हुए थे और उनका जन्म समय सन् १५७४ है । इनकी मृत्यु सन् १६८२ में हुई । अतः ये शृंगार युग तक जीवित रहे । इनका जीवन परिचय इनके भानजे एवं शिष्य संत सुथरादास द्वारा लिखी परिचयी से मिलता है । ये खत्री थे और मार्ग के काँटे कंकड़ उठा कर अलग फेंक देना इनके बचपन का स्वभाव था । बालकपन से ही साधु-सेवा की ओर इनकी प्रवृत्ति थी । साधु-सत्संग में इन्होंने देश-भ्रमण भी किया और अन्त में गृहस्थ का जीवन भी बिताया । इन्होंने १०८ वर्ष की आयु में शरीर त्यागा । इन्होंने ज्ञानबोध, रतनखान, भक्त बच्छावली, भक्त विरुदावली, पुरुषविलास, गुरुप्रताप, अलखबानी, रामावतार लीला, दसरत्न ग्रंथ आदि की रचना की थी । इनमें भक्त बच्छावली सबसे अधिक प्रसिद्ध है । मलूक पंथ की गद्दियाँ वृन्दावन, पटना, नेपाल, जयपुर, काबुल, गुजरात, पुरी आदि स्थानों में पायी जाती हैं । इनकी अनेक साखियाँ कबीर के समान हैं । बाबा मलूकदास की रचना के नमूने यहाँ दिये जाते हैं ।

जेते सुख संसार के, इकठे किये बटोरि ।
कन थोरे काँकर घने, देखा फटकि पछोरि ।।१।।
इस जीने का गर्व क्या, कहाँ देह की प्रीत ।
बात कहत ढह जात है, बालू की सी भीत ।।२।।
मलूक कोटा झाँझरा, भीत परी भहराय ।
ऐसा कोई ना मिला जो फेर उठावै आय ।।३।।

जहाँ जहाँ बच्छा फिरै, तहाँ तहाँ फिरै गाय।
कह मलूक जहँ संतजन, तहाँ रमैया जाय ॥४॥
अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका यों कहैं, सब के दाता राम ॥५॥
हरी डार ना तोड़िये, लागै छूरा बान।
दास मलूका यों कहै, अपना सा जिव जान ॥६॥

प्राणनाथ—सन्त प्राणनाथ का प्रचारित 'प्रणामी' या 'धामी' संप्रदाय है। इनका जन्म काठियावाड़ के जामनगर स्थान में सन् १६१८ ई० में हुआ था। इन्होंने भ्रमण और सत्संग द्वारा अरबी, फारसी, हिन्दी, संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया था। इन्होंने देश के विभिन्न प्रदेशों का भ्रमण किया था। घूमते घूमते ये बुंदेलखंड पहुँचे और सन् १६७४ ई० में महाराजा छत्रसाल के दीक्षागुरु बने। इन्होंने छत्रसाल को यह आसीस दिया था :

छत्ता तेरे राज में, धकधक धरती होय।
जित जित घोड़ा मुँह करै, तित तित फत्ते होय ॥

ये उच्चकोटि के संत और साधक थे। इनका देहान्त सन् १६९४ ई० में हुआ था। इनकी रचनाओं के नाम रामग्रंथ, प्रकाशग्रंथ, षटऋतु, कलस, किरतन, खुलास, संबंध, खेलबात, प्रकरण इलाही दुलहन, सागर सिंगार, बड़े सिंगार, सिंधि भाषा, मारफत सागर, कयामत नामा आदि हैं। इन्होंने बुन्देलखंड में बड़ी जाग्रति फैलाई। एक छन्द उदाहरणार्थ यहाँ दिया जाता है—

चंद बिन रजनी सरोज बिन सरवर तेज बिन तुरग मतंग बिन मद को।
बिन सुत सदन नितंबिनी सुपति बिनि धन बिन धरम नृपति बिन पद को
बिन हरि भजन जगत सोहै जग कौन नोन बिनु भोजन विटप बिना छद को
प्राननाथ सरस सभा न सोहै कवि बिन विद्या बिंना बात न नगर बिना नद को ॥

जगजीवनदास—जगजीवन साहेब, सतनामी संप्रदाय की कोटवा शाखा के पुनः संगठन-कर्त्ता हैं। तीन शाखाओं में आगे चल कर सब से अधिक विकास इसी शाखा का हुआ। इनका जन्म बाराबंकी जिले के सरदहा ग्राम में सन् १६७० ई० में हुआ था। यह गाँव सरयू के किनारे कोटवा से चार मील दूर है। ये चंदेल ठाकुर थे। बावरी संप्रदाय के संत बुल्ला साहेब और गोविन्द साहब के प्रसाद से इनमें आध्यात्मिक वृत्ति जागी। इन दोनों के द्वारा दिये हुए काले और सफेद धागे का आज भी इस संप्रदाय में प्रयोग होता है।[१] कहते हैं कि जगजीवनदास ने विश्वेश्वर पुरी से दीक्षा ले कर सतनामी

१. देखिए उत्तरी भारत की संत परंपरा, पृ० ५४५

का संप्रदाय 'चरनदासी' नाम से प्रसिद्ध है। इनके ५२ शिष्यों के द्वारा उसकी ५२ शाखायें बनीं। चरनदास के ग्रंथों की संख्या २१ है जिनमें १२ विशेष प्रसिद्ध ये हैं—व्रजचरित्र, अमरलोक अखंड धाम वर्णन, अष्टांग योग, धर्म जहाज, योग सन्देह-सागर, भक्ति पदार्थ, ज्ञान स्वरोदय, पंचोपनिषत्, ब्रह्मज्ञानसागर शब्द, भक्ति-सागर और मनविकृतकरण गुटका सार। इनका मत प्रधानतः योग, भक्ति और सदाचार पर आधारित है। कहते हैं कि नादिरशाह के आक्रमण के समय चरनदास ने अपना प्रभाव दिखाया था और बन्दी बना लेने पर भी बाहर निकल आये। चरनदास का संप्रदाय सेवा पर भी ज़ोर देता है। चरनदास की दो शिष्यायें सहजोबाई और दयाबाई अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ये चचेरी बहनें थी और इनकी रचनायें लगभग एक सी ही हैं। चरनदास की रचना के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं:

ब्राह्मन सो जो ब्रह्म पिछानै, बाहर जाता भीतर आनै।
पाँचौ बस करि झूठ न भाखै, दया जनेऊ हिरदे राखै।
आतम विद्या पढ़ै पढ़ावै, परमातम का ध्यान लगावै।
काम क्रोध मद लोभ न होई, चरनदास कहै ब्राह्मन सोई ॥१॥
मो बिरहिन की बात, हेली बिरहिन हो सोइ जानिहै।
नैन बिछोहा जानती, हेली बिरहै कीन्ही घात ॥
या तन कूँ बिरहा लगो, हेली ज्यों घुन लागो काठ।
निसि दिन खाये जातु है, हेली देखूँ हरि की बाट ॥
हिरदै में पावक जरै, हेली तपि नैना भये लाल।
आँसू पर आँसू गिरैं, हेली यही हमारो हाल ॥
प्रीतम बिन कल ना परै, हेली कलकल सब अकुलाहि।
डिगी परूँ सत ना रहो, हेली कब पिय पकरे बाँहि ॥
गुरु सुकदेव दया करैं, हेली मोंहिं मिलावै काल।
चरनदास दुख सब भजैं, हेली सदा रहूँ पति नाल ॥२॥

सहजोबाई—सहजोबाई चरणदास की शिष्या थीं। इनका जन्म दिल्ली में सन् १७४३ ई० के लगभग हुआ था। इनके पिता दिल्ली के प्रसिद्ध वैश्य व्यवसायी थे। इनके पिता का नाम हरिप्रसाद था। चरनदास के दिल्ली आने पर ये उन्हीं के साथ रहती थीं। इनका लिखा ग्रन्थ 'सहजप्रकाश' है। इन्होंने गुरु की महिमा पर बहुत लिखा है। इनकी रचना के नमूने देखिये:

चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, सरसों ना ठहराय।
सहजो कूँ वा देस में, सतगुरु दई बसाय ॥१॥

सहजो गुरु रंगरेज सा, सबही कूँ रँग देत।
जैसा तैसा बसन है, जो कोई आवै सेत ॥२॥
प्रेम दिवाने जो भये, जाति बरन गई छूट।
सहजो जग बौरा कहे, लोग गये सब फूट ॥३॥
मुकुट लटक अटकी मन माहीं।
निरतत नटवर मदन मनोहर, कुंडल झलक पलक बिथुराई।
नाक बुलाक हलत मुक्ताहल, होठ मटक गति भौंह चलाई।
ठुमुक ठुमुक पग धरत धरनि पर, बाँह उठाय करत चतुराई।
झुनुक झुनुक नूपुर झनकारत, तताथेई रीझ रिझाई ॥
चरनदास सहजो हिये अन्तर, भवन करौ जित रहौ सदाई ॥४॥

दरिया साहेब—दरिया नाम के दो संत थे एक बिहार के और दूसरे मारवाड़ के। ये दोनों ही मुसलमान थे। बिहार वाले दरिया अधिक प्रसिद्ध हुए। इनके मत पर कबीर, सतनामी संप्रदाय और सूफी मत का प्रभाव पड़ा था। इनका जन्म सन् १६३४ में और मृत्यु १७८० में हुई थी। इनकी रचनायें 'दरियासागर' नाम से प्रकाशित हुई हैं और इनकी एक प्रसिद्ध रचना 'ज्ञान-दीपक' है। इनका विवाह ६ वर्ष की अवस्था में हो गया था और १५ वर्ष की अवस्था में वैराग्य हुआ। तीस वर्ष की अवस्था से इन्होंने उपदेश देना प्रारंभ किया था। इन्होंने अधिक भ्रमण नहीं किया। इनके शिष्यों की संख्या ३६ थी। कहते हैं कि इन्होंने १८ ग्रंथ लिखे, पर खोज के उपरान्त उनकी संख्या २० निकलती है। ये निराकार पूर्ण ब्रह्म के उपासक थे। प्रधान साधना नाम-स्मरण की है।

भीतर मैलि चहल कै लागी, ऊपर तन का धोवै है।
अविगति सुरति महल के भीतर, वाका पंथ न जोवै है ॥
जुगुति बिना कोइ भेद न पावै, साधु संगति का गोवै है।
कह दरिया कुटने बे गोदो, सीस पटकि का रोवै है ॥१॥
सत्त सुकृत दूनों खंभा हो, सुखमनि लागलि डोरि।
अरध उरध दूनों मचवा हो, इँगला पिंगला झकझोरि ॥
कौन सखी सुख बिलसै हो, कौन सखी दुख साथ।
कौन सखिया सुहागिनि हो, कौन कमल गहि हाथ ॥
सत सनेह सुख बिलसै हो, कपट करम दुख साथ।
पिया मुख सखिया सुहागिनि हो, राधा कमल गहि हाथ ॥२॥
कौन झुलावै कौन झूलहिं हो, कौन बैठलि खाट।

कौन पुरुष नहिं झूलहिं हो, कौन रोकहिं बाट ॥
मन रे झुलावै जिव झूलहिं हो, सक्ति बैठलि खाट।
सत्त पुरुष नहिं झूलहिं हो, कुमति रोकै बाट ॥
सुर नर मुनि सब झूलहिं हो, झूलहिं तीनि देव।
गनपति फनपति झूलहिं हो, जोगी जती सुखदेव ॥
जीव जन्तु सब झूलहिं हो, झूलहिं आदि गनेस।
कल्प कोटि लै झूलहिं हो, कोई न कहै सँदेस ॥
सत्त सब्द जिन पावल हो, भयो निरमल दास।
कहै दरिया दर देखिय हो, जाय पुरुष के पास ॥

शिवनारायण—संत शिवनारायण का जन्म काल सन् १६६३ ई० के लगभग अनुमान किया जाता है। वैसे 'मूलग्रंथ' के अनुसार इनका जन्म सन् १७१६ ई० तथा आचार्य क्षितिमोहन के अनुसार सन् १७१० ई० माना गया है। इनका जन्म स्थान चन्दवार जिला गाजीपुर (अब बलिया) माना जाता है। यहाँ आज भी शिवनारायणी संप्रदाय के मठ वर्तमान हैं और यह इस संप्रदाय का केन्द्र समझा जाता है। इन्हें बचपन में ही संसार से विरक्ति हो गई थी और कुछ बड़े होने पर ये गुरु की खोज में निकल पड़े थे। जङ्गल में इन्हें संत दुखहरन के दर्शन हुए। इनसे ये उतने प्रभावित हुए कि आगे चल कर ये अपने गुरु को परब्रह्म ही मानने लगे। इन्होंने प्राणायाम द्वारा सुरति को स्थिर किया और दिव्य ज्योति के दर्शन किये थे। संत शिवनारायण द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या १६ है। उनमें इनका "गुरु अन्यास" ग्रंथ सर्वाधिक मान्य है जिसमें १२ खंडों के अंतर्गत विविध साधनाओं एवं उपदेश संबंधी छन्द हैं। इनका मृत्यु समय सन् १७६१ ई० 'मूलग्रंथ' के अनुसार मान्य है। सन्त शिवनारायण की रचनाओं में ज्ञान, अनुभव और उपदेश की प्रधानता है। इनकी रचना का नमूना यह है :

फूल एक फुलेला बलम जी के देसवा सतगुरु दिहले लखाय हो।
नैन सनेहिया सोइ फूल निरखत मन मोरा रहले लोभाइ हो ॥
नयन कँवल जल तीनों सोहावन भौंरा गुंजेला तेहि बीच हो।
वाके डार पात नहिं साखा नहीं काँदौं नहिं कीच हो ॥
एक दिन मन मोरा उलटि समाना देखलौं मैं पिया के अवेस हो।
झिलमिलि जोती झलामल लौके पावल वास विलास हो ॥
सुषमन घटिया के साँकर बटिया हम धन अलप बयेस हो।
हमरो बलमवा नयनवा के सागर जहँवा गहल मोरी बाँह हो ॥

घटिया उपर एक बँगला छवउलों सुन्दर सेज बिछाये हो।
शिव नारायन मंगल गावल संतन लेहु विचार हो।

तुलसीसाहेब हाथरस वाले—तुलसी साहेब का पंथ साहेब पंथ कहा जाता है। इनका जन्म आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार सन् १७६० ई० में और मृत्यु सन् १८४२ ई० में हुई। कहते हैं कि ये दक्षिणी ब्राह्मण और पूना के युवराज थे। बारह वर्ष की अवस्था में इनकी इच्छा के विरुद्ध विवाह कर दिया गया था। पर इनमें वैराग्य-भावना थी अतः जब राजगद्दी देने का अवसर आया तो ये घर से निकल गये। कहा जाता है कि पेशवा बाजीराव द्वितीय इनके ही छोटे भाई थे, जो गद्दी पर बैठे। तुलसी साहेब का नाम श्यामराव था और ये हाथरस चले आये, वहीं रहने लगे। इन्होंने संत मत अपनाया। ये अपने को गोस्वामी तुलसीदास का अवतार मानते थे और अपने प्रसिद्ध ग्रंथ घटरामायन में अपने पूर्व जन्म की कथा भी दी है। इन्होंने किसी को अपना गुरु नहीं बनाया था। तुलसी साहेब की तीन रचनायें मिलती हैं—घटरामायन, शब्दावली और रत्नसागर। इनमें सन्तमत, दर्शन, वैराग्य एवं साधना संबंधी बातें हैं। कहीं-कहीं संवाद रूप में भी विचार प्रकट किये गये हैं।

इनकी रचना के नमूने निम्नांकित हैं:

बड़े बड़ाई पाय करि, रोम रोम हंकार।
सतगुरु के परचे बिना, चारो बरन चमार॥
जल मिसरी कोइ ना कहै, सर्बत नाम कहाय।
यों घुल के सतसँग करै, काहे भरम समाय॥
तुलसी या संसार में, पाँच रतन हैं सार।
साधसंग सतगुरु सरन, दया दीन उपकार॥
घड़ी घड़ी स्वासा घटै, आसा अंग बिलाय।
चाह चमारी चूहड़ी, घर घर सबको खाय॥१॥
मेरे दरद की पीर कसक किससे मैं कहूँ।
ऐसा हकीम होय जोई जान दे दहूँ॥
खटकै कलेजे बीच बान तीर से सहूँ।
घायल की समझ सूर चूर घाव में रहूँ॥
हीये हवाल हाल गला काटि के लहूँ।
जैसे तड़पती मीन नीर पीर ज्यों सहूँ॥
जैसे चकोर चंद चाह चित्त से चहूँ।

सोची सुबह और साम पिया-धाम कस गहूँ ॥
तुलसी बिना मिलाप छुरी मार मर रहूँ ।

शिवदयाल—लाला शिवदयाल सिंह 'स्वामी जी महाराज' राधास्वामी सतसंग के प्रवर्तक थे। ये खत्री थे। इनका जन्म सन् १८१८ ई० में आगरे में हुआ था। ये आज भी इस सतसंग में 'परमपुरुष धनी कुल मालिक राधास्वामी दयाल' कहे जाते हैं। वास्तव में इनकी पत्नी को इनके अनुयायी 'राधा जी' कहते थे और इस प्रकार यह नाम हुआ। इन्होंने सन् १८६० ई० की वसन्त पंचमी से संतमत का उपदेश देना प्रारंभ किया। इनका सतसंग का स्थान आगरे का स्वामीबाग या दयालबाग है जहाँ इनकी समाधि पर एक अत्यंत विशाल एवं सुन्दर मंदिर सन् १६०४ से अब तक बन रहा है। राधास्वामी सतसंग आज भी विकास पर है और उत्तर प्रदेश में इसके काफी अनुयायी हैं। राधा स्वामी के दो ग्रंथ सार बचन गद्य और पद्य में हैं जिसमें योग साधना और संतमत के उपदेश है। काव्य की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व नहीं।

संतकाव्य की उपर्युक्त धाराओं में से लगभग सभी आज भी प्रबल या क्षीण रूप से प्रवहमान हैं।

ख. प्रेमाख्यान धारा

संत काव्यधारा की भाँति प्रेमाख्यान काव्य धारा का विकास भी श्रृंगार युग में चलता रहा और इस धारा की प्रवृत्तियों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। यों भी भारतीय प्रेमाख्यान काव्य की एक परंपरा है जिसके अन्तर्गत यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी, कच-देवयानी, दुष्यन्त-शकुंतला, उदयन-वासवदत्ता आदि से ले कर सन्देस रासक, नलकथा, भविसयत्तकहा और हिन्दी साहित्य के नूरकचन्दा, मृगावती, मधुमालती, चित्रावली, कनकावति, रतनावति, इन्द्रावती, माधवानल कामकंदला, नल दमयन्ती की कथा, रुक्मिणी-मंगल, बेलि क्रिसन रुक्मणी री, प्रेमलता, ढोलामारूरा दूहा, कामरूप की कथा, मधुमालती रस रतन आदि ग्रंथ आते हैं जिनकी रचना प्रस्तुत युग के पूर्व की गई।

रीति या श्रृंगार युग में भी प्रेमाख्यान काव्य की परंपरा चलती रही। इस परंपरा को हम दो धाराओं में देख सकते हैं। एक सूफ़ी प्रेमाख्यान धारा या रूपकात्मक (Allegorical) प्रेमाख्यान धारा है। इस धारा के कवि अधिकांश मुसलमान हैं। दूसरी धारा शुद्ध प्रेमाख्यान काव्य की है जिसके

लेखक अधिकांशतः हिन्दू हैं। काव्य-परंपरा कथा-प्रबन्ध, वर्णन आदि की दृष्टि से इन दोनों धाराओं के काव्य में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही धारा के कवियों ने ऐतिहासिक, काल्पनिक या पौराणिक कथाओं को अपनाया है। संयोग, वियोग के विभिन्न पक्षों का दोनों ही में चित्रण है। दूत या दूती, गुरु, मार्ग में विविध बाधायें, रूप का आकर्षण, नायक पक्ष के प्रयत्न आदि बातें दोनों ही प्रेमाख्यानों में मिलती हैं। सभी में तो नहीं, परन्तु अधिकांश में दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग किया गया है। दोहा-चौपाई की भाषा अवधी है परन्तु हिन्दू प्रेमाख्यानकारों ने अन्य छन्दों का भी प्रयोग किया है। इनमें भाषा व्रजभाषा या राजस्थानी है।

दोनों में भिन्नता भी कुछ बातों में मिलती है। मुसलमान कवियों के प्रेमाख्यान मसनवी पद्धति पर हैं जिनमें ईश्वर की वंदना, पैगम्बर का महत्त्व, शाहेवक्त की प्रशंसा तथा कवि परिचय के साथ विभिन्न प्रसंगों में कथा कही जाती है। ये प्रसंग छोटे बड़े हो सकते हैं। इनमें अधिकतर दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग किया गया है। इन कवियों पर सूफीमत वेदान्त और नाथ-संप्रदाय का प्रभाव परिलक्षित होता है; परन्तु प्रमुखतया योग और सूफी साधना का स्वरूप इनमें प्रकट किया गया है। इस तथ्य के कारण ये प्रेमाख्यान रूपकात्मक हैं जिनके अन्तर्गत अन्त में रूपकोक्ति (Allegory) स्पष्ट की गई है। मुस्लिम प्रेमाख्यानों में प्रेम की पीर का चित्रण अधिक है अतः इनमें भावुकता एवं स्वाभाविकता अधिक देखने को मिलती है। इनकी नायिकायें अधिकांश में परमात्मा की प्रतीक हैं जिसका संकेत कवि नखशिख चित्रण तथा अन्य प्रसंगों में करते हैं। इनमें कहीं कहीं मुस्लिम विश्वासों और इस्लामी धारणाओं का भी संकेत है। इनमें हिन्दू पौराणिक कथाओं को व्यक्त करने में भी औचित्य का निर्वाह सर्वत्र नहीं हो पाया। फिर भी इनमें हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का प्रयत्न स्पष्ट दिखलाई देता है। कहानियाँ और पात्र प्रायः हिन्दू समाज में प्रचलित कथाओं से लिये गये हैं।

हिन्दू प्रेमाख्यानों में अधिकांश शुद्ध प्रेमाख्यानों का रूप है और रूपकात्मकता नहीं है। इनमें स्वाभाविकता और भावुकता उतनी नहीं जितनी कलात्मकता और अलंकरण है। इनमें विविध छन्दों का प्रयोग भी हुआ है। हिन्दू प्रेमाख्यानों में प्रेम की पीर के स्थान पर विलासचेष्टाओं तथा काम क्रिया-कलापों का अधिक वर्णन है। कथानक का भी वियोग पक्ष उतना विस्तृत नहीं जितना मुस्लिम सूफी कवियों का। इनमें कुछ अधिक शास्त्रीयता भी कहीं कहीं देखने को मिलती है। हिन्दू आख्यानों में प्रेमोद्दीपन की परम्परा और सामग्री

का अधिक उपयोग किया गया है। संयोग पक्ष के वर्णन में शृंगार के शरीर पक्ष की प्रधानता है, मानस अनुभूतियों का उतना वर्णन नहीं। हिन्दू प्रेमाख्यानों ने संवादात्मक, नाटकीय तथा पौराणिक शैली को भी अपनाया है, जब कि मुस्लिम प्रेमाख्यान मसनवी पद्धति पर ही हैं।

उपर्युक्त समानतायें और विभिन्नतायें मौलिक रूप में काव्यपद्धति में कोई विशेष अन्तर नहीं डालतीं। इन प्रेमाख्यानों में प्रेम के तत्त्व का महत्त्व किसी कथानक के सहारे प्रकट किया गया है। सौंदर्य के उत्कर्षमय चित्रणों, प्रेम के त्याग-तप-पूर्ण स्वरूप के उदात्त वर्णनों तथा कामुक शरीर-चेष्टाओं—सभी का प्रेमाख्यानों में स्थान है। साधना और भोग—दोनों ही पक्षों का स्पष्टीकरण है। अधिकांश कथानकों में साधना केवल लौकिक न हो कर प्रतीकात्मक है और इन काव्यों का महत्त्व और संदेश जीवन के लिए अधिक गंभीर है। विश्लेषण करने पर इनमें प्रेम और साधना, भोग और भक्ति, त्याग और विलास—जीवन के दोनों ही पक्षों का वर्णन मिलता है। यहाँ पर हम कुछ महत्त्वपूर्ण प्रेमाख्यानकार कवियों और उनकी कृतियों का परिचय दे रहे हैं। प्रवृत्ति की दृष्टि से मौलिक भेद न होने के कारण हिन्दू मुस्लिम लेखकों की धाराओं का अलग अलग विवरण नहीं, वरन् दोनों ही धाराओं के कवियों का एक साथ परिचय दिया जाता है। फिर भी हम इन्हें दो वर्गों में रख सकते हैं—१. रूपकात्मक प्रेमाख्यान काव्य २. शुद्ध प्रेमाख्यान काव्य। रूपकात्मक काव्यों में लौकिक प्रेम कथा के वर्णन के साथ साथ आध्यात्मिक साधना के संकेत दिये गये हैं और पूरा काव्य एक रूपकोक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ अधिकांशतः लेखक नायक, नायिका अथवा अन्य पात्रों में आध्यात्मिक प्रतीकों की प्रतिष्ठा करता है। जैसा कि जायसी की पद्मावत के अन्त में रूपकोक्ति स्पष्ट की गई है उसी प्रकार के स्पष्टीकरण कुछ अन्य काव्यों में भी मिलते हैं। जो काव्य इस प्रकार रूपकोक्ति का ध्यान रख कर लिखे गए हैं वे रूपकात्मक हैं। परन्तु जिनमें केवल लौकिक प्रेम का ही स्पष्ट चित्रण है और संयोग वियोग शृंगारों का प्रधानतया वर्णन है, वे शुद्ध प्रेमाख्यान कहे जा सकते हैं। उनमें लेखक का संकेत किसी अन्य पक्ष पर नहीं है।

रूपकात्मक प्रेमाख्यान

इस परंपरा में हिन्दी साहित्य के भीतर अनेक प्रसिद्ध ग्रंथ पूर्ववर्ती युग (भक्तियुग) में लिखे गये। ये अधिकांश मुसलमानों द्वारा ही लिखे गये, फिर भी कुछ हिन्दुओं के द्वारा लिखे काव्य भी इस परम्परा में आते हैं। कुतु-

बन की मृगावती, मंझन की मधुमालती, जायसी की पदमावत, उसमान की चित्रावलि, जानकवि की कनकावति, रतनावति, मधुकरमालति आदि इसी परम्परा के भीतर आते हैं जो इस युग के पूर्ववर्ती काव्य हैं। इसी परंपरा का विकास हम और भी आगे देखते हैं। इन काव्यों और उनके रचयिताओं का परिचय आगे दिया जाता है।[1]

जानकवि—जानकवि का रचना-काल सन् १६१० से प्रारंभ होता है और सन् १६६४ तक जाता है। इस प्रकार ये जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगज़ेब (राज्यारोहण काल सन् १६५८) तीनों के समयों में थे। अतः यहाँ पर उनका उल्लेख होना आवश्यक है। इनका नाम न्यामतखाँ था और ये जानकवि के उपनाम से रचना करते थे। कहते हैं इन्होंने ७० ग्रंथों की रचना की जिनमें २१ प्रेमाख्यान थे। इनमें प्रसिद्ध हैं कनकावति, कामलता, मधुकरमालती, छीता। न्यामतखाँ के पूर्वज चौहान राजपूत थे। अपनी रचनाओं में कहीं कहीं इन्होंने इस बात को गर्व के साथ उल्लिखित किया है। अपनी रचनाओं का रचनाकाल इन्होंने दिया है। इनकी रचना में वर्णनात्मकता और प्रवाह है जो इस बात को स्पष्ट करता है कि ये बहुत जल्दी काव्य-रचना करते होंगे। इनकी रचनाओं की भाषा व्रजभाषा है और अधिकतर दोहा-चौपाई या चौपई छन्द का व्यवहार उनमें किया गया है। उदाहरणार्थ इनकी रचना 'छीता' का एक उद्धरण दिया जाता है—

राजै हेर्‌यौ अद्‌भुत रूप। चेरो होइ रह्यो है भूप।
लघु द्यौंसन मैं दीरघ नैंन। बोलत भोरे भोरे बैन॥
काचो कंचन जैसो अंग। तपौ न अजहूँ अगिन अनंग॥
नैन झरोखे मैन न आयो। भोरी चितवन चित्त चुरायौ।
अजहूँ मन न जन्मा मनोज। उर में जामें नाहिं उरोज॥
बिनही काम कामनी सोहै। आयो काम कहा तब होहै।
ललित लता लागै नहिं फूल। रहत तऊ मन मधुकर भूल॥
दै रंग स्याम न छोले दंत। बिना घटा दामिनि दमकंत।
अजहूँ कली फूल न भई। रूप वास तौऊ जग छई।
सादे बसन सेत ही अंग। तामै बदन कँवल मधि गंग।
सेत बसन उज्ज्वल बदन, देषत बढ़त अनन्द।
कहत जान सोहत सुभग, मनहुँ चाँदनी चन्द॥

---

१. विशेष देखिए भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, डा० हरिकान्त श्रीवास्तव।

कासिमशाह—कासिमशाह दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के समकालीन थे। इनके पिता का नाम इमानुल्लाह था और ये लखनऊ के पास बाराबंकी जिले के दरियाबाद नगर के रहने वाले थे। इनके जन्म और मृत्यु के समय ज्ञात नहीं हैं। परन्तु इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'हंस जवाहर' है जिसका रचना-काल सन् १७३६ ई० माना जाता है। अपने ग्रंथ में इन्होंने अपना कोई विशेष परिचय नहीं दिया।

'हंस जवाहर' सूफी ढंग का प्रेमाख्यान है। इसके अन्तर्गत बलख के सुलतान बुदानशाह के पुत्र हंस तथा चीन देश के आलमशाह की पुत्री जवाहर की प्रेम कथा का वर्णन है। इसमें हंस और जवाहर दोनों ही एक दूसरे को स्वप्न में देखते हैं और प्रेम करते हैं। जवाहर का विवाह किसी दूसरे से तय होता है, परन्तु परियाँ हंस को उठा लाती हैं और इस प्रकार प्रेम का हठ पूरा होता है। विवाह के बाद भी बाधायें पड़ती हैं और अन्त में दूसरे राजा के आक्रमण पर दोनों ही मर जाते हैं। कथा में ऐतिहासिकता और विश्वसनीयता पर पूरा आघात लगा कर काल्पनिकता का सहारा लिया गया है। आख्यान काव्य की विशेषतायें इसमें मौजूद हैं। कथा-वैचित्र्य के साथ साथ वर्णन भी विस्तार के साथ हैं। अवधी भाषा में लिखा यह प्रसिद्ध ग्रंथ 'पद्मावत' की शैली पर है, परन्तु इसमें अवधी के ठेठ रूप पर कहीं कहीं व्रज और खड़ी बोली का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरण नीचे दिया जाता है, यह 'जवाहर स्वप्न' अवतरण का अंश है :

कहँ गइ रैनि सुहावनी, भोर भयो केहि काज।
मैं पापिन कस जागहूँ, बिछुड़ि गयो सरताज॥
भा अति सोच बिरह धुनि केरी। निरखे रूप मिले नहिं हेरी।
पिय आपुहि माँ अहै समाना। औहट भयो आग दै प्राना।
सपने कंठ कंत के लागी। बाउर भई सोय जब जागी।
हेरै रूप दृष्टि नहिं आवै। तौ लौ लागि सो आप हेरावै।
सुमिर रूप मुख अमृत बोला। तोड़ै हार औ आपन चोला।
व्याकुल भई थरथर है काँपी। लहर चढ़ै कोउ लेय न चापी।
गिरी अचेत भई तन छारा। छिटकी माँग छिटकि गयो बारा।
डसै काल धन बिरहिनी, पिय वियोग मत खोय।
धाय सखी सब चहुँ दिसा, मरम न जानै कोय॥

सूरदास—सूरदास के पूर्वज कलानूर (कलानौर, जिला गुरुदासपुर) के निवासी थे। इनके पिता का नाम गोवर्धनदास था। ये वहाँ से लखनऊ

आ कर बस गये थे और यहीं लखनऊ में ही कवि सूरदास का जन्म हुआ था। लखनऊ को इन्होंने वैकुंठ के समान लिखा है। इनके गुरु का नाम रंगबिहारी था। नलदमन दोहे-चौपाई में लिखा आपका काव्य है। शैली मसनवी की सी है और शाहजहाँ की शाहेवक्त के रूप में प्रशंसा है—

शाहजहाँ सुलतान चकत्ता। भानु समान राज एकछत्ता।
दिहली उवा सुरज उजियारी। चहूँ ओर जस किरन पसारी॥

कथा का आधार महाभारत है, परन्तु प्रेम-वर्णन की दृष्टि से इस पर सूफी प्रभाव है और प्रेम की प्रशंसा है। प्रेम का महत्त्व समझते हुए ही कवि ने इस प्रकार की प्रेम कथा के द्वारा प्रेम का प्रभाव डालने की प्रतिज्ञा की है—

ऐसी प्रेम मई मधु ढारौं। जासों दया पेम पग वारौं।
जिन्ह कै बात चाव उपजावै। जो सुन कहै सो उन कहँ जावै।
पेमी पीउ निहार जे, चाखत खिन छक जाँह।
एक पियाला फि पिवै, दोऊ भर अयदाँह॥

इनकी भाषा आलंकारिक है जो इनके साहित्यिक ज्ञान की द्योतक है। वर्णन में कहीं कहीं अश्लीलता है, पर कवित्व से वह आच्छन्न है। दमयन्ती के मिलन का वर्णन नीचे की पंक्तियों में दिया गया है, जिससे इनकी शैली स्पष्ट हो जाती है।

कोप काम जीतन मनु चली। चढ़ी गयंद गौन पर अली।
आंगा अँग अंगी उजियारे। चीर खमक कच पाखर डारे॥
भौंह धनुक बरुनी ते बाना। खरक दसन दुति अधर समाना।
ठाढ़ तिलक जमधर अनियारे। मानिक सांग गह सीस उदारे।
सोंही चमक आरसी रही। बायें हाथ ढाल जनु गही।
नैन चपल है कोतल कांछै। कज्जल बाग लगै पुनि आछै।
पवन लागि अंचल फरहरा। सोई जान ध्वजा कै धरा।
कटक कटाच्छ न जांह गिनावा। छुदर घंट मारू जनु गावा।
....

फेरि भँवर सुर राजहीं, नूपुर बजहिं निसान।
ऐसी सजि कामिनि चली, सेज जुद्ध मैदान॥

दुखहरन दास—ये जाति के कायस्थ, गाज़ीपुर के रहने वाले और मलूकदास के शिष्य थे। इनका असली नाम मनमनोहर था। इन्होंने 'पद्मावत' के आधार पर, मसनवी शैली में 'पुहुपावती' की रचना की जिसके प्रारंभ में निर्गुण राम का स्मरण है और शाहेवक्त के रूप में औरंगज़ेब का संकेत

है। इसके रचनाकाल और उद्देश्य के प्रकट करने वाली पंक्तियाँ ये हैं—

संमत सत्रह सै छब्बीसा। हुत सन सहस दुइ चालीसा।
कहेउँ कथा तब जस मोंहि ग्याना। कोइ सुनि रोवत कोइ हँसाना।
....

बहुतन्ह सुनि कै हीअ महँ राखा। बहुतन सुनिकै दोसन भाखा।
मोंहि जस ग्यान रहा हिअ माँहीं। कहेउँ सबै किछु छाँड़े नाहीं।
जागहिं खेलत जुआ जुआरी। जागहिं रसिक पुरुष औ नारी।
जागै कारन मैं चित जानी। हिअ उपजाई प्रेम कहानी॥
इह जग रैनि अँधेरी, जागै कौन उपाइ।
तब यह रचनी मन रची, कहन सुनत निसु जाइ॥

इस प्रकार पुहुपावती का रचनाकाल १६६६ ई० है। यह प्रबन्ध संगठन और काव्य-सौन्दर्य दोनों ही की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण काव्य है। इसमें राजपुर के प्रजापति के पुत्र कुमार और अनूपगढ़ के अंबरसेन की पुत्री पुहुपावती की प्रेमकथा है। कुमार का अनूपगढ़ में पुहुपावती से प्रेम हुआ। फिर वहीं राजा की घोषणा से उसने सिंह का वध किया और आधे राज्य का अधिकारी हुआ। रास्ता भटक जाने पर वह फिर पकड़ कर घर लाया गया और इच्छा के विपरीत उसका काशीनरेश की कन्या से विवाह हुआ। फिर अनेक घटना-चक्र में फँसने के बाद बड़ी कठिनाई से स्वयंवर में पुहुपावती के साथ विवाह हुआ। उसके बाद भी अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए उसका इस प्रेम-मार्ग में जीवन व्यतीत हुआ। इस प्रकार प्रेम-साधना की कठिनाइयों का इस कथा में पूर्ण चित्रण है। इनकी भाषा बहुत कसी हुई नहीं है। दोहा-चौपाई में कथा होने पर भी कहीं कहीं इसमें कवित्त-सवैया छन्दों का भी प्रयोग हुआ है; जैसे—

बन भवो भवन गवन जब कीन्हों पीव
तन लागे तवन मदन लाइ तापनी।
भूत भवो भूखन वो चूरी चुरइल भई
हार भयो नाहर करेजे छूटी काँपनी।
दुखहरन पीव बीनु मरन की गति गई,
कासौं मैं बरनि कहौं बिथा कहौं आपनी।
फूल भवो सूल मूल कली भई काँटा ऐसी
रात राकसिनी भई सेज भई साँपिनी॥

मुकुन्दसिंह—कोटा नरेश मुकुन्दसिंह का 'नल चरित्र' भी सूरदास

के नल-दमन के समान है। इसमें लौकिक और अलौकिक दोनों प्रेमों का संकेत है। इसमें समकालीन राजा की प्रशंसा नहीं। इसमें आलंकारिकता और रसिकता दोनों का शृंगार-वर्णन में समावेश है। दमयंती के रूप तथा क्रिया-कलाप में वेदशास्त्रों तथा तांत्रिक साधनाओं का संकेत है। इस पर भारतीय प्रभाव है, सूफी प्रभाव उतना नहीं है। दमयंती के नख-शिख का वर्णन एक स्थल पर इस प्रकार है :

मध्य उदर परमान वित, धरेउ मूठि विधि जान।
तीनि रेख सोइ सोहइ, तृवली ताहि बखान।।
ललित नितंब बर्तुलाकारा। मानहुँ विधि निज पानि सँवारा।
रवि रथ एक चक्र विधि मानौं। सीखन हेतु बनाये जानौं।
लहि शिक्षा तब खोति बनाये। कांची सहित महाछवि छाये।
रंभा सम जंघा जुग सोहैं। जातरूप के मनहु रह्यो हैं।
जलज जुगल रवि व्रत मन लाई। करै बहुत दिन तप सो राई।

नूर मुहम्मद—इनका समय भी दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह का समय है और इनकी शाहेवक्त के रूप में चर्चा भी है। इनके भी जन्म-स्थान जन्म-समय, मृत्यु-समय आदि का पता नहीं है। परन्तु इनका निवास-स्थान सबरहद था, यह अन्तस्साक्ष्य से विदित होता है। इनके तीन ग्रन्थ कहे जाते हैं, इन्द्रावति, अनुराग बाँसुरी और नलदमन। इन्द्रावति की रचना सन् १७४४ ई० तथा अनुराग बाँसुरी की रचना १७६४ ई० (११७८ हि०) में हुई थी। ये फारसी काव्य भी 'कामयाब' उपनाम से करते थे। नूर मुहम्मद ने हिन्दी भाषा और प्रेमाख्यान को वास्तव में अपने मत-प्रचार का साधन बनाया। कोई यह न समझे कि इनमें इस्लाम धर्म के प्रति आस्था नहीं है, अतः इन्होंने सफाई भी दे दी है—

जानत है यह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा।
हिन्दू मत पर पाँव न राखेउँ। का जौं बहुतै हिन्दी भाखेउँ।
मन इस्लाम मसलकै माजेउँ। दीन जेवरी कर कस भाजेउँ।।

इससे प्रकट होता है कि कुछ लोग इन पर शक अवश्य करते होंगे। नूर मुहम्मद की इन्द्रावति और अनुराग बाँसुरी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। इनकी शैली बड़ी ही सरस, प्रवहमान और रोचक हैं। कथा-संगठन भी सुन्दर है साथ ही कवित्व प्रतिभा भी प्रकट होती है। भाषा ठेठ अवधी है। पाँच अर्धालियों पर इन्होंने एक दोहे की परिपाटी अपनाई है। भाषा की मुहावरे-दानी स्पष्टोक्ति तथा शब्द-संगठन इनकी रचना को मधुर और सरस बनाने में

सहायक हुए हैं। इनके काव्य का निष्प्रयास प्रवाह बड़ा ही वेगपूर्ण है। इन्द्रावती का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

होइ कै सुमन हाथ कहँ, बाँध न गीउँ लगाइ।
बहुत न छोड़ा चाहिए बैठसि हियें तवाई ॥८८॥
मुख ससि है ससि है बस माहाँ। बरु ससि है ता मुख की छाहाँ॥
ऐसो बदन वही कहँ छाजा। अपने हाथ अमूरत साजा॥
जेहि सनमुख भा सिर्जनहारा। तजा सुक्र सविता उजियारा॥
सिर्जनहार ओर मुख लावा। रवि ससि अथव न हारा पावा॥
नास बदन थी छाई होई। ससा रकत जो लावइ कोई॥
सिरिस छाल सित जीरा, स्याम तिलहिं जब घाल।
पीसि मलै छाई पर, नास होइ ततकाल ॥८६॥
मुख पर अधिक स्याम तिल सोहा। रति तिलोतमा को मन मोहा॥
भलो चिबुक पर सेद सुहाई। वह जल बिनु जग प्यास न जाई॥
बिद्रुम रंग अधर धन केरा। है मधु को तेहि बीच बसेरा॥
खाँड कहौं की मधु है सोई। की बिद्रुम की मानिक होई॥
ललित अधर औ रद उँजियारा। है जैसे इंगुर औ पारा॥
दाड़िम बीज दसन कहौं, की मोती लर होइ।
की है भषत अंजोरे, तेहि बरनै सब कोइ ॥ ६० ॥
(मधुकर खंड)

इनकी रचना को देखने से विदित होता है कि इन्हें वैद्यक का अच्छा ज्ञान था। इनकी भाषा में व्रजभाषा का भी पुट मिलता है।

शेख निसार—शेख निसार का असली नाम गुलाम अशरफ़ था। ये अवध के अन्तर्गत फैजाबाद के समीप शेखपुर के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम शेख गुलाम मोहम्मद था। अपनी प्रसिद्ध रचना 'युसुफ़ ज़ुलेखा' में इन्होंने अपना परिचय दिया है। इसमें शाहेवक्त के रूप में दिल्ली के बादशाह शाहआलम की प्रशंसा की गई है। अवध का नवाब उस समय प्रसिद्ध दानी आसफुद्दौला था जिसका हिन्दू सचिव भी बड़ा ही उदार व्यक्ति था। उस समय शेखनिसार दुःखपीड़ित थे अतः इन्होंने युसुफ़ ज़ुलैखा की प्रेमकहानी सन् १७६० में लिखी। शेख इस कहानी को काल्पनिक नहीं बताते हैं। भाषा में विचित्र ढंग से लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं। परन्तु कहानी में अलौकिकता भरी पड़ी है। भाषा अवधी है। ज़ुलैखा के स्वप्न प्रसंग से नीचे लिखा उद्धरण उदाहरण के लिए दिया जाता है :—

दिन भरि मौन गहे रहै, भूख प्यास गै भूल।
पान खाइ न रस पिये, काँट भये सब फूल ॥
भूषन रतन उतारि जो डारा। दुख दायक मै सभै सिंगारा।
मन महँ सोच करै मुरझाई। लैगा प्रान सरूप देखाई ॥
नाउँ ठाउँ कछु जानौं नाहीं। कहाँ सो खोज करौं जग माहीं।
नेरे ठाढ़ि रहै वह मूरति। जेहि बिन तन मन प्रान बिसूरति।
रूप देखाइ सो चेटक लावा। मधुर बचन कहि अधिक लोभावा ॥
सेज परे जागै फिर सोवै। लखै न रूप उठै फिर रोवै।
ना वह मूरति ना वह ठाऊँ। कौन हतेउ औ का तेहि नाऊँ ॥
छूटै आँसु चलै जस मोती। कहै कि ऐ मन भावन जोती ॥
कहाँ गयउ वह रूप देखाई। जस हिरदय कोउ जात समाई।

शुद्ध प्रेमाख्यान काव्य

शुद्ध प्रेमाख्यानों में केवल प्रेम का वर्णन रहता है, कोई आध्यात्मिक संकेत या रूपकात्मकता नहीं रहती। ऐसे प्रेमाख्यानों की प्राचीन परंपरा है और भारतीय साहित्य के भीतर बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं। रीति युग के पूर्व भी इस परम्परा के ग्रन्थों में बीसलदेवरासो ढोलामारू, सारंगा सदाबृच्छ, वेलि क्रिसन रुकमणीरी, प्रेमविलास, प्रेमलता, रसरतन, छिताई वार्ता, उषा चरित तथा आलमकृत माधवानल कामकंदला आदि रचनाएँ आती हैं। ये प्रेमाख्यान अधिकांशतः हिन्दुओं द्वारा लिखे गये हैं। इनमें सौन्दर्य और प्रेम भावना का मर्मस्पर्शी चित्रण है। ये आख्यान घटनाप्रधान ही हैं। अनेक घटनायें ऐसी घटती हैं जिससे दो प्रेमी व्यक्तियों के मिलन में बाधा पड़ती है। परन्तु, प्रायः ये सब सुखान्त हैं और अन्त में जा कर मिलन हो जाता है। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओं का परिचय यहाँ दिया जाता है।

केस (राजकवि)— इनका रचनाकाल सन् १६६० ई० माना जाता है। इनका और परिचय प्राप्त नहीं होता। इनकी रचना 'माधवानल नाटक' मिलती है। यह आलम कृत माधवानल के आधार पर है। इसका नाम नाटक है, परन्तु इसमें नाटकीय विशेषता बिलकुल नहीं दिखलाई देती। यह ब्रजभाषा की रचना है और इसमें दोहा-चौपाई, सवैया, दंडक, भुजंगी, त्रोटक, भुजंगप्रयात, सोरठा, मोतियदाम, नगस्वरूपिणी छन्दों का प्रयोग किया गया है। इस ग्रन्थ में सौन्दर्य वर्णन आलंकारिक ढंग पर है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का वर्णन है। संयोग का एक छन्द उदाहरणार्थ यहाँ दिया जाता है—

टूट गई लर मोतिन की सब सारी सलोट परी अधिकाई ।
छूटी लटै अँगिया वर वंदन अंगनि अंग महा सिथलाई ।
राति रमी पति के सँग सुन्दरि फूलनि माँग लरी बिथुराई ।
फूली लता मकरध्वज की फरि फूल गये मनु पौन फुलाई ॥

माधवानल कामकन्दला के प्रसंग को ले कर संस्कृत और हिन्दी में अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। कुछ में दोनों भाषाओं का मिश्रण है। हिन्दी में गणपति (सन् १५२७ ई०), दामोदर (अज्ञात), आलम, बोधा तथा अन्य अज्ञात नाम कवियों के लिखे माधवानल कामकन्दला के आख्यान मिलते हैं। इस युग की बोधा (बुन्देलखंडी) कृत विरह वारीश (माधवानल कामकन्दला) प्रसिद्ध कृति है जिसका परिचय हम आगे देंगे ।

हंस कवि—हंस कवि ने अपने आश्रयदाता परतापसिंह खुमाण के मनोरंजनार्थ 'चन्द्र कुँवर री बात' नामक ग्रन्थ की रचना की। कवि के सम्बन्ध में तो अधिक ज्ञात नहीं है, परन्तु ग्रन्थ के अंत में रचना काल सं० १७४० (१६६३ ई०) दिया हुआ है। पंक्तियाँ ये हैं—

सबकूँ लगे सुहावणी । रचे सु जोभ सीणनार ।
मूरखहुँ को मन हरे । सब कूँ लगसूँ सार ।
सतरह सै चालीस में । तेरस पोसज मास ।
गुण कियो घर चाहने । भोगी पूरण आस ॥

यह रचना वार्ता है और गद्य-पद्य-मय है। प्रेम कथानक के अतिरिक्त इसमें बीच बीच में पर-स्त्री-प्रेम, वात्सल्य भाव, टुटके टोने, परम्परागत रूढ़ियों आदि का भी वर्णन है। इसकी भाषा राजस्थानी है। इसके भीतर अमरसेन राजा के पुत्र चन्द कुँवर और एक सेठानी की कथा है। कथा में प्रेम के विकास का अवसर अधिक नहीं है। इसमें काम भावना का अधिक विवरण है। अन्य प्रेमाख्यानों की तरह प्रेम के वियोग पक्ष का विवरण नहीं है।

'राजा चित्रमुकट रानी' चन्द्र किरन की कथा' भी प्रेमाख्यान है। इसके रचयिता और रचनाकाल का पता नहीं। इसमें सुन्दर प्रेमाख्यान का वर्णन है जो शुद्ध श्रृंगारिक पद्धति पर है। इसमें विभिन्न परिस्थितियों के बीच घटनाचक्र चलता है और इस प्रकार चित्रमुकुट और अनूपनगर की कुमारी चन्द्रकिरन के प्रेम-पूर्ण विवाह और जीवन का वर्णन है। यह दोहा-चौपाई में लिखी रचना है।

बोधा—प्रेमाख्यानकार बोधा बुन्देलखंडी थे। ये राजापुर के रहने वाले सरवरिया ब्राह्मण थे। इनका नाम बुद्धिसेन था। बाल्यावस्था में ही ये

पन्ना चले गये थे और वहाँ के महाराज के ये कृपापात्र हो गये थे। उन्होंने ही इनको बुद्धिसेन के स्थान पर बोधा कहना प्रारम्भ किया। राजा के दरबार की एक वेश्या सुभान से इनका प्रेम हो गया अतः इन्हें छह महीने का देशनिकाला दिया गया। इसी बीच में इन्होंने 'विरह वारीश' की रचना की। इस ग्रन्थ में महाराज खेत्रसिंह का नाम आया है। देशनिकाले का समय समाप्त होने पर ये दरबार में आये तो अपनी रचना सुनाई। इसे सुन कर राजा बड़े प्रसन्न हुए और इन्हें कुछ माँगने को कहा। इन्होंने 'सुभान अल्लाह' कह कर अपना भाव प्रगट किया। महाराज ने इस पर सुभान को आज्ञा दे दी। इसके पश्चात् इन्होंने 'इश्क नामा' की रचना की। अपने देशनिकाले की अवस्था में इन्होंने अनेक दरबारों का चक्कर काटा परन्तु खेत्रसिंह के समान इन्हें कोई न मिला। एक छन्द में यह भाव प्रकट किया गया है—

देवगढ़ चाँदा गढ़ामंडल उजैन रीवाँ
साम्हर सिरोंज अजमेर लौं निहारो जोइ।
पटना कुमाऊँ पैथि कुर्रा औ जहानाबाद
साँकरी गली लौं वारे भूप देखि आयो सोइ।
बोधा कवि प्राग औ बनारस सुहागपुर
खुरदा निहारि फिरि मुरक्यो उदास होइ।
बड़े बड़े दाता ते अड़े न चित्त माँहि कहूँ
ठाकुर प्रवीन खेतसिंह सों लखो न कोइ।

बिरह वारीश या माधवानल कामकंदला भी इन्होंने सुभान की प्रेरणा से बनाई थी, इस बात का उल्लेख इनके ग्रन्थ में है—

बचन यहै बनिता कही वे राजा तुम दीन।
भाषा करि माधौ कथा सो लै मिलौ प्रवीन।
यों सुनि थिर हो हौं लिखी बिरही कथा रसाल।
सुनि रीझै खीझै तजे खेतसिंह छितिपाल॥

इस विरह वारीश का रचनाकाल सन् १७५२ और १७५८ के बीच में है। इसमें कथा का विस्तार व्यापक है। नौ खंडों में नवों रसों का वर्णन करते हुए यह प्रेमाख्यान महाकाव्य की विशेषताओं से युक्त है। इसकी भाषा व्रज-भाषा है, परन्तु उसमें संस्कृत, अपभ्रंश और फारसी के शब्द भी मिलते हैं। अलंकारों का प्रयोग भी सुंदर है और दोहा चौपाई के अतिरिक्त सवैया, दंडक, हरिगीतिका, तोमर, त्रोटक, सोरठा, छप्पय, कुंडलिया, मोतियदाम आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। फिर भी इसकी भाषा चलती हुई है। मार्मिक स्थल

वही है जहाँ बोधा ने प्रेम का वर्णन किया है, यों युद्ध-वर्णन की ओजपूर्ण शब्दावली भी सराहनीय है। कुछ उदाहरण ये हैं—

अति छीन मृणाल के तारहु ते तेहि ऊपर पाँव दे आवनो है।
सुई बेह कै द्वार सकै न तहाँ परतीत को टांड़ो लदावनो है।
कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ ते चढ़ि तापै न चित्त डिगावनो है।
यह प्रेम को पंथ करार है री तरवार की धार पै धावनो है॥
बोधा किसू सों कहा कहिये जो बिथा सुनि फेर रहै अरगाइ कै।
याते भलो मुख मौन धरो कै करो उपचार हिये थिर धाइ कै।
ऐसो न कोइ मिलो कबहूँ जो कहै कछु रंच दया उर लाइ कै।
आवति है मुख लौं बढ़ि कै पुनि पीर रहै हिय ही में समाइ कै॥

कह चकोर सुख लहत मीत कीन्हा रजनीपति।
कह कमलन कहँ देत भान सह हेत कीन्ह अति।
घन कहँ कहा मिठास लकुट भूरी टकटोरत।
दीपन संग पतंग आय नाहक सिर फोरत।
नहि तजत दुसह यद्यपि प्रकट बोधा कवि पूरी पगन।
है लगी जाहि जानत वही अजब एक मन की लगन॥

हिलि मिलि जानै तासों मिलि कै जनावै हेत
हित की जानै ताको हितू न बिसाहिये।
होय मगरूर तापै दूनी मगरूरी कीजै
लघु ह्वै चलै जो तासों लघुता दिखाइये॥
बोधा कवि नीति को निबेरो यही भाँति अहै,
आपको सराहै ताहि आपहू सराहिये।
दाता कहा सूर कहा, सुन्दर सुजान कहा
आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिये॥

जन कुंज—इस कवि के संबंध में अधिक ज्ञात नहीं है। इनका ग्रंथ उषा चरित्र (बारहखड़ी) अवधी भाषा में लिखा हुआ उषा अनिरुद्ध का प्रेमाख्यान है। यह सन् १७८२ ई० में लिखा गया। इसमें उषा और अनिरुद्ध का प्रेम एक दूसरे के प्रति स्वप्न-दर्शन से उद्भूत होता है। दोनों ही व्याकुल हो जाते हैं। कोई ओषधि काम नहीं करती। चित्रलेखा वैद्य के रूप में जा कर अनिरुद्ध के कान में उषा से मिलाने की बात कहती है, तब उसे चेत होता है। अनिरुद्ध उषा के यहाँ जाता है। यह बात उषा के पिता बाणासुर को ज्ञात होती है। अन्त में कृष्ण और बाणासुर का युद्ध होता है और उषा-अनिरुद्ध

का विवाह हो जाता है। कवि ने भागवत की उषा-अनिरुद्ध की कथा को अधिक स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया है।

इस रचना की भाषा अवधी है, पर ब्रजभाषा का भी पुट है। भाषा चलती हुई, सरल एवं प्रांजल है। वर्णन सुन्दर और मर्यादापूर्ण हैं। संयोग वर्णन के प्रसंग में इस रति-क्रीड़ा और विलास चेष्टाओं का वर्णन न करके इसे सामाजिक दृष्टि से पठनीय बनाया है। वियोग का वर्णन प्रभावकारी और स्वाभाविक है यद्यपि उपमानों की दृष्टि से परंपरा का पालन है। यह एक सरस रचना है।

ग. कृष्ण-काव्य-धारा

कृष्ण-काव्य का विकास इस युग में अधिक व्यापक रीति से हुआ। कृष्ण और राधा न केवल भक्ति के आलंबन रहे, वरन् इस युग की प्रधान प्रवृत्ति श्रृंगार के भी वे आलंबन हो कर प्रतिष्ठित हुए। इस युग के भक्तिकाव्य में भी श्रृंगारी भावना प्रधानतया मिलती है। श्रृंगारी काव्य में भक्तिभावना का स्वरूप चलताऊ है, वह श्रृंगार का ही उद्दीपक है, भक्ति का नहीं। भक्तियुग में राम और कृष्ण दोनों ही की उपासना पूर्णावतार के रूप में की गई। उस युग के काव्य में भक्तिभाव प्रधान है। भक्ति और श्रृंगार दोनों ही युगों में ऐसे भी कवि हुए हैं जिनकी रचनाओं में दोनों की भक्ति संबंधी छंद और पद मिलते हैं। इस दृष्टि से दोनों को पूर्णतया भिन्न धाराओं के रूप में नहीं देखा जा सकता; फिर भी कृष्णोपासना संप्रदायों से प्रभावित कवि कृष्ण-काव्य-परंपरा के भीतर और रामोपासना से प्रभावित कवि राम-काव्य-परंपरा के अन्तर्गत विवेचन की सुविधा के लिए लिये जा सकते हैं। श्रृंगार की दृष्टि से राधा और कृष्ण को आलंबन मानने वाली काव्यधारा के अतिरिक्त जिन कवियों की रचना में कृष्ण-भक्ति-संबंधी काव्य प्रधान हैं वे कृष्ण-काव्य के भीतर और जिनमें रामभक्ति-संबंधी काव्य प्रधान हैं वे राम-काव्य के अन्तर्गत देखे जायेंगे।

कृष्ण-काव्य की परंपरा बहुत पुरानी है। महाभारत, भागवत, ब्रह्मवैवर्त्त, ब्रह्मांड, स्कन्द, पद्म, मार्कण्डेय आदि पुराणों में कृष्ण को ब्रह्मरूप में चित्रित किया गया है। संस्कृत के काव्यग्रंथों में सबसे अधिक प्रभावित करने वाला जयदेव का गीतगोविन्द काव्य है, जिसकी ललित शब्दावली और सरस भावावली ने कवियों की कल्पना को प्रेरित किया और हिन्दी कवियों ने उसी परंपरा को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। मैथिल-कोकिल विद्यापति तो जैसे जयदेव के अवतार ही थे। आगे चल कर सूरदास, नन्ददास, परमानंद दास,

हितहरिवंश, मीराँबाई, स्वामी हरिदास, व्यास, रसखान, पृथ्वीराज, नरोत्तम आदि कवियों ने कृष्ण भक्ति से ओत-प्रोत हो कर अथवा उनके कथानक या चरित्र का कोई अंश ले कर अपने सरस काव्यों की रचना की। यह भक्तियुगीन काव्य हिन्दी साहित्य की स्वर्ण-संपत्ति है। इन रचयिताओं की प्रधान वृत्ति भक्ति है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य की परंपरा रीति युग में भी आगे बढ़ी और वर्तमान काल में भी चली आ रही है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस युग के कृष्ण-काव्य में शृंगार-भावना का अधिक समावेश हो गया और शुद्ध भक्ति-भावना अपने प्रखर रूप में कम हो गई। कृष्ण-भक्ति के विभिन्न संप्रदाय बन गये। इन संप्रदायों के अन्तर्गत भी कृष्ण की लीला विलास और शृंगार-सज्जा के क्रिया-कलाप अधिक प्रचलित हुए। सखी और दांपत्य भाव के उपासक कुछ संप्रदायों में तो पुरुष अपने को राधा या सखियाँ समझते हुए नारी के समान ही आचरण करने लगे। यहाँ तक कि इस प्रकार के उपासकों ने अपने नाम भी इसी प्रकार के रखे जैसे अलबेली अलि, ललित किशोरी। ये स्त्रियों के नहीं पुरुषों के नाम हैं। रामोपासक संप्रदाय पर भी इसका प्रभाव पड़ा और मधुरभाव की उपासना प्रारंभ हुई। स्वामी अग्रदास ने भी अपना नाम अग्रअली रखा था। इस प्रकार इस युग की विलासिता और शृंगार ने समस्त क्षेत्रों को प्रभावित किया। कृष्ण-काव्य-परंपरा में इस युग के प्रमुख कवियों का परिचय यहाँ दिया जाता है।

ध्रुवदास—हितहरिवंश के स्वप्न-शिष्य स्वामी ध्रुवदास का जन्म सन् १५६३ ई० में हुआ था और मृत्यु सन् १६८३ ई० के लगभग हुई थी। इनकी प्रथम रचना सभा मंडली सन् १६२४ ई० में रची गई थी और अंतिम रचना भक्तनामावली सन् १६७८ ई० के आस-पास की लिखी जान पड़ती है। इनके द्वारा चालीस ग्रंथों की रचना की गई जो प्रेम-रस-प्रधान हैं। ये अधिकतर कृष्ण लीला और वृन्दावन विहार से संबंधित हैं। इनकी रचनाओं के नाम निम्नांकित हैं—

सभा मंडली, वृन्दावन सत, सिंगार सत, रहस्यमंजरी, सुखमंजरी, रस रत्नावली, नेह मंजरी, रतिमंजरी, वन विहार, रंग विहार, रस विहार, आनंद दसा विनोद, रंग विनोद, नृत्य विलास, रंग हुलास, रहसलता, प्रेमलता मान-रस लीला, प्रेमावली, रस मुक्तावली, भजन कुंडलिया, व्यालिस बानी, मन-सिंगार, भजन सत, प्रीति चौवनी, वामन वृहत्पुराण भाषा, मन-शिक्षा, रसानंद लीला, सिद्धांत विचार, रस हीरावली, हितसिंगार लीला, ब्रजलीला, आनंद

लता, अनुराग लता, जीवदसा, वैद्य लीला, दान लीला, व्याहलो, ख्याल हुलास लीला, और भक्तनामावली। इन ग्रंथों में कृष्ण और राधा की श्रृंगार एवं विलास लीलाओं का वर्णन है तथा कुछ में भक्ति और ज्ञान की चर्चा है। इनकी रचनाओं के कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

हँसनि में फूलनि की, चाहनि में अमृत की,
नख सिख रूप ही की बरषा सी होति है।
केसनि की चंद्रिका, सुहाग अनुराग घटा,
दामिन की लसनि, दसन ही की द्योति है।
हित 'ध्रुव' पानिप तरंग रस छलकत,
ताको मानों सहज सिंगार सींव पोति है।
अति अङ्गबेली प्रिया भूषिताभरन बिन,
छिन छिन और और बदन की ज्योति है॥
रूप जल उठत तरंग हैं कटाछन के,
अंग अंग भौंरन की गति गहराई है।
नैनन को प्रतिबिम्ब परो है कपोलन में,
तेई भए मीन तहाँ ऐसी उर आई है।
अरुन कमल मुसुकानि मानौं फबि रही,
थिरकन बेसरि के मोती की सुहाई है।
भयो है मुदित सखी लाल को मराल मन,
जीवन-जुगल ध्रुव एक ठाँव पाई है।
(सिंगारसत)

हंस सुता तट बिहरिबो, करि वृन्दावन बास।
कुंज केलि मृदु मधुर रस, प्रेम विलास उपास॥
प्रेम-विलास उपास, रहै इक रस मन माहीं।
तिहि सुख कों कह कहौं, मोरि मति है अस नाहीं।
हित ध्रुव यह रस अति सरस, रसिकन कियो प्रसंस।
मुक्तनि छाँड़े चुगत नहिं, मानसरोवर हंस।
(भजन कुंडलिया)

छत्रसाल—महाराज छत्रसाल चंपतराय के पुत्र थे। इनका जन्म काल सन् १६४६ ई० है। ये बुन्देलखंड के राजा थे और बड़े वीर योद्धा थे। वे जयपुर नरेश के साथ शिवाजी से भी लड़े थे। परन्तु बाद को इन्होंने औरंगज़ेब के अनेक सेनापतियों को परास्त किया था। भूषण ने भी इनकी वीरता

की प्रशंसा की है। इनकी ८० वर्ष की आयु में मुहम्मद खाँ बंगश और उसका बेटा बड़ी भारी सेना के साथ बुन्देलखंड में घुस आये। संकट उपस्थित होने पर छत्रसाल ने बाजीराव पेशवा को लिखा—

जो गति ग्राह गजेन्द्र की सो गत भई है आज।
बाजी जात बुन्देल की राखो बाजी लाज॥

बाजीराव की सहायता से इन्होंने बंगश को परास्त किया था। ये कवियों और कलाकारों के आश्रयदाता थे। इनकी रची पाँच पुस्तकें मानी जाती हैं—श्रीकृष्ण कीर्तन, श्री रामयश चन्द्रिका, हनुमत् विनय, अक्षर अनन्य से प्रश्नोत्तर और नीतिमंजरी। इनकी रचनायें सरस, सानुप्रास एवं भावुक तन्मयता से युक्त हैं। कुछ उदाहरण ये हैं—

देखौ री देखौ इन फूलनि पर भ्रमैं भौंर,
उड़ैं दौरि दौरि डार डार रस चरि कै।
गावत हैं गूँजि गूँजि गुननि गुविन्द जू के,
मुदित मलिन्द रस भाव भूरि भरि कै।
छत्रसाल कुंजनि में कलित कदंब फूले,
तरुन तमालराजि राजति छहरि कै।
मोहन बिलोकैं ते बिलोकैं मन मोहन कों,
स्वर्ग के सिहात तरु आपुकों निदरि कै॥१॥
स्याम स्याम रंग एक ग्वाल ग्वालिनी अनेक,
गोद लै गुलाल लाल घालैं मुरि मुरि कै।
बोलत धमार मंजु फाग औ फबीलो राग,
स्यामा बनी स्याम, स्याम स्यामा नेह घुरि कै।
कहै छत्रसाल ऐसो चूकिबे न दाँव आजु,
कीजै अनुराग फाग वाही ठौर जुरि कै।
रूप रसरंग की हिलोरनि मैं बोरो अंग,
जोरो नव नेह लाल रंग में हिलुरि कै॥२॥
जब जब बाजति है बैरिन हमारी बेनु,
भूलैं खान पान सुनि बाकी विष तान कों।
क्यों न कहै वाको हम सौत है हमारी करै,
हमको दिखाय लाल अधरामी पान को॥
मान लीजौ ढाँपि, छत्रसाल प्रतिपाल कीजौ
रीझौ नंदलाल, दीजौ जान कुल कान को।

आँख दीजो लगन, अजान मुरि जान दीजो
पानि दीजो कानन, बतान दीजो आन को ॥

नागरीदास—भक्तवर नागरीदास कृष्णगढ़ के राजा महाराज सावंतसिंह थे। इनका जन्म सन् १६९९ ई० में हुआ। 'ये बड़े वीर और साहसी थे। बूँदी के हाड़ानरेश जैतसिंह का १३ वर्ष की अवस्था में युद्ध में वध करने वाले महाराज सावंतसिंह १७४७ ई० में उस समय के दिल्ली के बादशाह अहमदशाह द्वारा पिता की मृत्यु के उपरान्त कृष्णगढ़ के राजा बनाये गये; परन्तु वहाँ पर इनके भाई बहादुरसिंह पहले ही राजा बन चुके थे। इन्होंने बाद को मराठों की सहायता से राज्य प्राप्त तो किया; परन्तु पारस्परिक लड़ाई के कारण इनके मन में वैराग्य की भावना जाग्रत हुई और ये राजकाज छोड़ कर वृन्दावन चले गये। वहाँ इन्हें बड़ी शांति और सान्त्वना प्राप्त हुई। वहीं इन्होंने अपनी उपपत्नी बनीठनी जी के साथ अपना शेष जीवन व्यतीत किया। ये आनंदघन जी के भी घनिष्ठ मित्र थे। वल्लभ संप्रदाय के स्वामी रणछोड़ जी के ये शिष्य हुए और अपना सबसे पहला ग्रन्थ सन् १७२३ में बनाया जिसका नाम 'मनोरथ-मंजरी' है। इन्होंने छोटे बड़े सब मिला कर ७५ ग्रंथों की रचना की। इनका स्वर्गवास सन् १७६४ में हुआ। इनके ग्रंथ 'नागर समुच्चय' नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्राप्त ७३ ग्रंथों की सूची निम्नांकित है—

मनोरथमंजरी, भक्तिसार, पारायण विधि प्रकाश, ब्रजसार, बिहार चंद्रिका, गोपी प्रेम प्रकाश, सिंगार सार, ब्रज वैकुंठ तुला, पद प्रसंग माला, भोर लीला, प्रात रसमंजरी, जुगल रसमाधुरी, फूल विलास, भोजनानंदाष्टक, गोधन आगमन, दोहनानंद, लग्नाष्टक, फाग विलास, ग्रीष्म विहार, पावस पचीसी, सदा की साँझ, वर्षा ऋतु की साँझ, कृष्णजन्मोत्सवी कवित्त, होरी की साँझ, प्रिया जन्मोत्सव कवित्त, साँझ के कवित्त, रास के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, होरी के कवित्त, फाग गोकुलाष्टक, हिंडोरा कवित्त, वर्षा के कवित्त, गोवरधन धारण के कवित्त, गोपी वैन विलास, रास रस लता, नैन रूपरस, शीतसार, इश्क-चमन, मजलिस मंडन, अरिल्लाष्टक, शरद की साँझ, साँझी फूल बीनन सवाद, वसन्त वर्णन, रसानुक्रम के कवित्त, फाग खेलन समेतानुक्रम कवित्त, निकुंज विलास, भक्ति मग दीपक, तीर्थानन्द, फाग बिहार, बालविनोद, सुजनानंद, वन विनोद, भक्ति सार, देह दशा, वैराग्य वल्ली, रसिक रत्नावली, कलि वैराग्य वल्ली, अरिल्ल पचीसी, छूटक विधि, शिखनख, नखशिख, छूटक कवित्त, चरचारियाँ, रेखता, रामचरित्र माला, पद प्रबोध माला, जुगल भक्त विनोद, रसानुक्रम दोहे, गोविन्द परिचयी, वन जन प्रशंसा, छूटक दोहा,

उत्सवमाला, पद मुक्तावली, वैन विलास, गुप्त रस प्रकाश। ये छोटे छोटे ग्रन्थ हैं। इनमें अन्तिम दो अप्राप्य हैं।

नागरीदास जी वर्णन के धनी हैं। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का चित्रण अत्यन्त सुन्दर है। इनकी कविता रसिकता से पूर्ण है। सुन्दर एवं सुसंस्कृत ब्रजभाषा में इनकी रचनायें काव्य-गुणों से ओतप्रोत हैं और ऐसा जान पड़ता है कि इनकी पंक्तियाँ हृदय की वास्तविक अनुभूति को छू कर निकली हैं और सुननेवाले की अनुभूति को स्पर्श करती हैं। पुनरुक्ति तो भक्ति काव्य में प्रायः मिलती है और वही पुनरुक्ति इनकी रचनाओं में भी है, फिर भी भाषा, कल्पना और भावुकता तीनों की दृष्टि से इनकी कुछ रचनायें सुन्दर हैं। कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं :—

भादों की कारी अँध्यारी निसा झुकि बादर मंद फुही बरसावैं।
स्यामा जू आपनी ऊँची अटा पै छकी रसरीति मलारहिं गावैं।
ता समैं मोहन के दृग दूरि ते आतुर रूप की भीख यों पावैं।
पौन मया करि घूँघट टारै दया करि दामिनी दीप दिखावै॥

उज्ज्वल पच्छ की रैन चैन उज्ज्वल रस दैनी।
उदित भयो उडुराज अरुन दुति मन हरि लैनी।
जगमगाति वन ज्योति सोत अमृतधारा से।
नव द्रुम किसलय दलनि चारु चमकत तारा से॥
मधि नायक गिरिराज पदिक वृन्दावन भूषन।
फटिकसिला मनि श्रृंग जगमगत दुति निंद्रूपन॥
सिला सिला प्रति चंद चमकि किरनन छवि छाई।
बिच बिच अंब कदंब झंब झुकि पायनि आई॥
ठौर ठौर चहुँ फेर ढेर फूलन के सोहत।
करत सुगन्धित पवन सहज मन मोहत जोहत॥

दरपन देखत देखत नाहीं।
बालापन फिर प्रगट स्याम कच बहुरि स्वेत ह्वै जाहीं॥
तीन रूप या मुख के पलटे नहिं अयानता छूटी।
नियरे आवत मृत्यु न सूझत, आँखें हिय की फूटी॥
कृष्ण भक्ति सुख लेत न अजहूँ, वृद्ध देह दुखरासी।
नागरिया सोई नर निह्चै जीवत नरक निवासी॥

कंजन हू ते डहडहे, बिन अंजन छवि ऐन।
खंजन गति गंजन महा पिय मन रंजन नैन॥

कीनी मृगमद आड़ रचि गोरे बदन मयंक।
मनु पिय मोहन मंत्र की राजत अवली अंक॥
इश्क उसी की झलक है, ज्यों सूरज की धूप।
जहाँ इश्क तहँ आप है, कादर नादर रूप॥
आया इश्क लपेट में खाई चश्म चपेट।
सोई आया खलक में, और भरैं सब पेट॥

चाचा हित वृन्दावन दास—राधावल्लभीय गोस्वामी हितरूप जी के शिष्य पुष्कर क्षेत्र निवासी और तत्कालीन गोसाईं जी के चाचा होने के कारण इनको चाचा के नाम से लोग पुकारने लगे। इनका जन्म सन् १७०८ ई० में हुआ था। ये पहले नागरीदास जी के भाई बहादुर सिंह जी के आश्रय में ष्णगढ़ में रहते थे। परन्तु कलह के कारण विरक्त हो कर ये वृन्दावन चले आये और वहीं शेष जीवन व्यतीत किया। कहा जाता है कि इन्होंने ४ लाख पदों की रचना की थी जिनमें लक्षावधि पद अब भी मिलते हैं। इनकी रचना मधुर और सरस है। अधिकांशतः इनके पदों में कृष्ण चरित की विविध लीलाओं का वर्णन हुआ है। इनके पदों के संग्रह की एक प्रतिलिपि छतरपुर की लाइब्रेरी में थी। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों के नाम हैं—हिंडोरा, छद्मलीला, चौबीसलीला, ब्रजप्रेमानन्द सागर, श्रीकृष्ण-गिरिपूजन-मंगल, श्रीकृष्ण मंगल, रास रस, अष्ट-याम, समय प्रबन्ध, भक्त प्रार्थनावली, श्रीहितरूप चरितावली। ब्रजप्रेमानंद सागर ३४६ बड़े पृष्ठों का विस्तृत ग्रन्थ है। अन्तिम में गुरु के चरित का वर्णन है। इनकी रचना में स्वाभाविक माधुर्य एवं सजीवता है। उदाहरण देखिये—

कहाँ कर ते मुँदरिया डारी।
मैं बलि जाउँ बताय किसोरी, तूँ कबतें न निहारी॥
आवत हैं भुज अंसन दीन्हें, ऐहो छैलबिहारी।
जो देखो तौ कहिये मोतें, मुदित होत कह भारी॥
चोरी चपल लगावत मोकों, न्याव करौ तुम प्यारी।
वृन्दावन हितरूप दरस परी, लाल फेंट जब डारी॥१॥
मिठबोलनी नवल मनिहारी।
भौंहैं गोल गरूर हैं याके नयन चुटीले भारी॥
चूरी लखि मुख ते कहै घूँघट में मुसकाति।
ससि मनि बदरी ओट तें दुरि दरसतु यहि भाँति॥
चूरो बड़ो जु मोल कौ नगर न गाहक कोय।
मो फेरी खाली परी आई घर सब टोय॥

चुरी नील मनि पहिरिये नाहिन लायक और।
भगवन् कोई लै चलौ, मोहिं दीखत इक ठौर ।।२।।
यह छवि बाढ़ी री रजनी खेलत रास रसिक मनि माई।
कानन वर सौरभ की महकनि तैसिय सरद जुन्हाई ।।
पुलिन प्रकास मध्य मनि मंडल तहँ राजत हरि राधा।
प्रतिबिंबित तन दुरनि मुरनि मैं तब छबि बढ़त अगाधा ।।
गौर स्याम छवि सदन वदन पर फबि रहे श्रम कन ऐसे।
नील कनक अंबुज अंतर धरे, ओपि जलज मनि जैसे ।।
झलकत हार चलत कल कुंडल मुख मयंक ज्यों सोहैं।
वारों सरद निसा ससि केतिक मैन कटाच्छनि मोहैं ।।
थेइ थेइ वचन वदत प्रिय प्यारी प्रगटत नृत्य नई गति।
वृन्दावन हित तान गान रस अलि हितरूप कुशल अति ।।३।।

स्वामी ध्रुवदास के समान इनके पदों में भी निज नाम के साथ गुरु नाम की भी छाप मिलती है। इनके पदों में मधुर एवं सुन्दर शब्द चयन, मोहक गति एवं सुन्दर भाव एवं लीलाओं का चित्रण मिलता है।

सुन्दरि कुँवरि बाई—ये राघवगढ़ के कुँवर बलवंतसिंह की पत्नी और सुप्रसिद्ध नागरीदास जी की बहन थीं। इनके घर की दासी बनीठनी जी थीं जिन्होंने रसिकबिहारी नाम से रचना की है और नागरीदास की जो उपपत्नी हुईं। इनका जन्म सन् १७३४ ई० में हुआ था। पारस्परिक कलह होती रहने पर भी इन्होंने काव्य से इतना प्रेम रखा कि ११ ग्रंथों की रचना की। इनकी दीक्षा राधावल्लभीय संप्रदाय में हुई थी और ये कृष्णभक्त थीं। इनके ग्रंथों के नाम ये हैं—

नेह निधि (१७६० ई०), वृन्दावन गोपी माहात्म्य (१७६६), संकेत युगल (१७७३), रस पुंज (१७७७), प्रेमसंपुट (१७८८), सार संग्रह (१७८८), रंगझर (१७८८), गोपीमाहात्म्य (१७८९), भावना प्रकाश (१७९२), रास रहस्य (१७९६), पद तथा फुटकर कवित्त। इनकी रचनाएँ सुन्दर हैं, इनमें सुन्दर भाषा का प्रयोग और सरस भावों की अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरण—

श्याम रूप सागर मैं नैन वार पार थके
नचत तरंग अंग अंग रँगमगी है।
गाजन गहर धुनि बाजन मधुर बेनु
नागिनि अलक जुग सोधै सगबगी है।

भँवर त्रिभंगताई पानिप लुनाइ तामैं
मोती मनि जालन की ज्योति जगमगी है।
काम पौन प्रबल धुकाव लोपी पाज तामैं
आज राधे लाज की जहाज डगमगी है ॥१॥
मेरी प्रान सजीवन राधा।
कब तुव वदन सुधारस दरसै मों अँखियन हरै बाधा।
ठमकि ठमकि लरिकौंहीं चालनि आव सामुहें मेरे।
रस के बचन पियूष पोषिकै कर गहि बैठों तेरे ॥
रंगमहल संकेत सुगल करि टहलिनि करो सहेली।
अज्ञा लहौं रहौं तहँ ततपर बोलत प्रेम पहेली ॥
मन मंजरी जु कीन्हों किंकर अपनाबहु किन बेग।
सुंदर कुँवरि स्वामिनी राधा हिय को हरो उदेग ॥२॥

अलबेली अलि—ये वंशी अलि के शिष्य और विष्णु स्वामी के शुद्धाद्वैती भक्त थे। इनका समय १८वीं शताब्दी का मध्य भाग माना जा सकता है। ये संस्कृत के भी बड़े विद्वान् थे और श्रीस्तोत्र की रचना की। यमक की छटा इसमें विशेष है। इनका लिखा ग्रंथ 'समय प्रबंध पदावली' है जिसमें प्रेमभाव की तन्मयता का वर्णन हुआ है। इनका शब्द चयन बड़ा ही आकर्षक है। उदाहरण—

रूपसुधा भोजन जिनको रो।
वे क्यों और नयन भरि देखैं दरस-अहार परो तिनको री।
नेही नेह बिना नहिं जानत, चातक स्वाती बिन किनको री।
अलबेली अलि रसिकन जीवन नैननि नैन मिलन इनको री ॥१॥
बड़ि बड़ि अँखियन नींद घुरानी।
अति अनुराग भरी संग पिय के जागत रैन बिहानी ॥
रंग भरी राती मदमाती अरुन डोर रससानी।
झपि झपि परत छबीली पलकैं आरसजुत अरसानी ॥
निरखि छकी छबि रूप रंगी अलि, तुम मन रहति लुभानी।
अलबेली अलि चित्र रहीं सब नैन निमेष भुलानी ॥२॥

बख्शी हंसराज—बख्शी हंसराज 'प्रेमसखी' उपनाम से कविता करते थे। ये पन्ना के रहने वाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनका जन्म सन् १७३२ में पन्ना में हुआ था। ये सखी संप्रदाय के उपासक और विजयसखी वैष्णव के शिष्य थे। इनके द्वारा लिखे ग्रंथ ये हैं—सनेह सागर, विरह विलास,

रायचंद्रिका, बारहमासा, श्रीकृष्णजू की पाती, श्री जुगलस्वरूप विरह पत्रिका, फागतरंगिनी, चुरिहारिन लीला। इनकी रचना माधुर्यभावपूर्ण है, जिसमें राधाकृष्ण की लीलाओं का वर्णन हुआ है। इनके वर्णन अत्यन्त सरस और मनोग्राही हैं। ये पन्ना के हृदयशाह, सभासिंह, अमानसिंह महाराजाओं के यहाँ थे। इनकी रचना के उदाहरण निम्नांकित हैं—

लोचन ललित प्रीति रस पागे पुतरिन स्याम निहारे।
मानौं कमल दलन पर बैठे उड़त न अलि मतवारे।
चुभति चारु चंचल नैननि की चितवनि अति अनियारी।
अति सनेहमय प्रेम सरस लखि को न होत मतवारी॥
दमकति दिपति देह दामिनि चमकत चंचल नैना।
घँघट बिच खंजन से खेलत उड़ि-उड़ि डीठि लगै ना॥
लचकति ललित पीठि पर बेनी बिच-बिच सुमन सँवारी।
देखे ताहि मैर सों आवति मनौं भुजंगिनि कारी॥

भगवत रसिक—भगवत रसिक टट्टी संप्रदाय के महात्मा स्वामी ललितमोहिनी जी के शिष्य थे। इनका जन्म सन् १७३८ ई० माना जाता है। इन्होंने अपने भक्तिभाव के कारण संप्रदाय की गद्दी नहीं ग्रहण की थी। इनकी रचना कवित्त, सवैया, कुंडलिया, दोहा और पदों के रूप में मिलती है। अपना परिचय देते हुए इन्होंने लिखा है—

आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किसोर उपासना जुगल मंत्र को जाप॥
जुगल मंत्र को जाप बेद रसिकन कै बानी।
श्री वृन्दावन धाम इष्ट स्यामा महरानी॥
प्रेम देवता मिले बिना सिधि होय न कारज।
भगवत सब सुखदानि प्रगट भे रसिकाचारज॥

अपनी रसपूर्ण कविता को समझने के लिए ये भगवत भक्ति की रसिकता आवश्यक समझते थे। इनका एक पद यहाँ दिया जाता है—

तुव पद कमल नैन अलि मेरे।
पलक न लगत पलक बिनु देखे अरबरात अति फिरत न फेरे॥
पान करत मकरंद रूप रस भूलि नहीं फिर इत उत हेरे।
भगवत रसिक भये मतवारे घूमत रहत छके मद तेरे॥

ब्रजवासीदास—ये वल्लभ संप्रदाय के भक्त श्री मोहन गोसाईं जी के शिष्य थे। कहते हैं कि ये वृन्दावन के रहने वाले थे। इन्होंने 'प्रबोध

चंद्रोदय' नाटक का अनुवाद किया और 'ब्रजविलास' नामक दोहा-चौपाई में प्रबंध काव्य लिखा। इसमें अधिकांशतः श्रीकृष्ण लीला से संबंधित कथाओं का विवरण-पूर्ण वर्णन किया गया है। ब्रजविलास में ८८६ दोहे और सोरठे १०६०० से कुछ अधिक चौपाइयाँ तथा १०६ अन्य छन्द हैं। रामचरितमानस की शैली में लिखा हुआ यह ग्रंथ अत्यंत प्रसिद्ध है। इसकी भाषा ब्रजभाषा मिश्रित अवधी है। वर्णन प्रवाहपूर्ण और रोचक हैं। ब्रजविलास का रचनाकाल सन् १७७० (सं० १८२७ वि०) है जैसा कि उसके प्रारंभ की चौपाइयों से प्रगट है—

संवत शुभ पुराण शत जानौं। तापर और नछत्रन आनौं।
माघ सुमास पच्छ उजियारा। तिथि पंचमी सुभग ससि वारा।।
श्री वसंत उत्सव मन जानी। सकल विश्व मन आनँद दानी।
मन मैं करि आनंद हुलासा। ब्रजविलास को करौं प्रकासा।।
भाषा की भाषा करौं, छमिए सब अपराध।
जेहि तेहि विधि हरि गाइये, कहत सकल श्रुति साध।।

इसकी लीलाओं का आधार सूरसागर है जिन्हें ब्रजवासीदासजी ने चलती हुई सीधी सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। जन साधारण में इस ग्रंथ का बहुत प्रचार रहा है। उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

बार बार जसुदा यों भाखै। कोऊ चलत गोपालहिं राखै।
सुफलक सुत वैरी भो आई। हरे प्राणधन बाल कन्हाई।।
हरहु कंस वरु गोधन सारो। कै करि मोंहि बंध मैं डारो।
ऐसे हू दुख स्याम सभागे। खेलहिं मों नैनन के आगे।
लै गये मधु अक्रूर निकारी। माखी ज्यों सब दीन बिड़ारी।।
देखत रहीं थकी टक लाई। जब लगि धूरि दृष्टि मैं आई।
भये ओट जब दृगन ते, मूर्छि परी बिलखाय।
कहत गयो रथ दूरि अब, धूरि न परति लखाय।।
खग मृग विकल जहाँ तह बोलैं। गाय वत्स राँभत सब डोलैं।
तरु बेली पल्लव कुँभिलानी। ब्रज की दसा न परति बखानी।।

मंचित—मंचित कवि बुन्देलखंड प्रदेशान्तर्गत मऊ महेवा के रहनेवाले थे। इनका और अधिक जीवन-वृत्त ज्ञात नहीं है। पर ये सन् १७७६ ई० (सं० १८३६) तक वर्तमान थे। छतरपुर के राजपुस्तकालय में इनका एक ग्रंथ सुरभीदान लीला २१ अध्यायों और १६२ पृष्ठों का रखा हुआ था। यह एक ही छन्द में रचा गया था। इनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ 'कृष्णायन'

है जो गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस के समान दोहा-चौपाई छन्दों में है। इसमें मानस के आदर्श पर कृष्ण-चरित लिखा गया है। अतः इनका भी स्थान ब्रजवासी दास के समान कृष्णकाव्य के प्रबन्धकार कवियों में हैं। इनकी रचनायें दोनों ही सुन्दर हैं। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ छन्द दे रहे हैं—

वाम ओर राजै बरबानी। सुकल सरीर सुकल सुचि सानी।
बदन सरद ससि बिहँसि बिराजै। अधर सधर बिंबा लखि लाजै॥
कुलि कनी सी बनी बतीसी। सरद सरोरुह द्दग दुति दीसी।
नख ते सिख लगि बनि मनि गहनै। झलकन झलक ललकि मन रहनै।
पीत पटंबर पावक पूरे। स्वर्न समान सुगंधित रूरे।
यक कर वर पुस्तक लिए यक कर बीना बैन।
ज्ञान रूप सोभित सदा, भगत अनुग्रह ऐन॥१॥

(कृष्णायन)

जुलफैं सुलफ व्याल बाला सी खासी डुलती आवैं।
घुँघरारी कारी सटकारी देखत मन ललचावैं।
कुंडल लोल अमोल कान के छुवत कपोलन आवैं।
डुलैं आपुते खुलैं जोर छवि बरबस मनहि चुरावैं॥२॥

तुम नाम लिखावति हौ हम पै हम नाम कहौ कहा लीजिये जू।
अब नाव चलै सिगरी जल में थल में न चलै कहा कीजिये जू।
कवि मंचित औसर जो अकती सकती हमपै नहिं कीजिये जू।
हम तौ अपनो वर पूजति हैं सपने नहिं पीपर पूजिये जू॥३॥

कवि हठी जी—हठी जी राधावल्लभीय संप्रदाय के उपासक थे और साहित्य-मर्मज्ञ एवं मर्मी कवि थे। शिवसिंह का अनुमान था कि ये वृन्दावन वासी माथुर चौबे थे। इनका अधिक जीवनवृत्त ज्ञात नहीं है। इन्होंने सन् १७८० ई० (सं० १८३७ वि०) में 'राधासुधाशतक' की रचना की जिसमें ११ दोहे और १०३ कवित्त-सवैया छन्द हैं। रचनाकाल को प्रगट करनेवाला इनका दोहा निम्नांकित है—

ऋषि सुदेव वसु ससि सहित, निरमल मधु को मास।
माधव तृतिया भृगु निरखि, रच्यौ ग्रंथ सुखरास॥

हठी जी की रचना में आलंकारिकता के साथ-साथ समृद्धि-चित्रण और सजीव वर्णन की विशेषता है। इनकी भाषा मधुर और प्रांजल ब्रजभाषा है। इनकी रचना उत्कृष्ट कोटि की है। उदाहरण के लिए कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं—

चंद-सो आनन कंचन सो तन हौं लखि कै बिन मोल बिकानी।
औ अरविन्द सी आँखिन को 'हठी' देखत मेरियौ आँख सिरानी।
राजति है मनमोहन के सँग, वारौं मैं कोटि रमा रति बानी।
जीवनमूरि सबै ब्रज की ठकुरानी हमारी है राधिका रानी ॥१॥

मोर पखा गर गुंज की माल किये नव भेष बड़ी छवि छाई।
पीत पटी दुपटि कटि में लपटी लकुटी 'हठी' मो मन भाई।
छूटी लटैं डुलैं कुंडल कान बजै मुरली धुनि मंद सुहाई।
कोटिन काम गुलाम भये, जब कान्ह ह्वै भानुलली बनि आई ॥२॥

चंदन लिपायो चौक चाँदनी चँदोवै तामें,
चाँदनी बिछौना फैली लहर सुगंद की।
चाँदनी की साज नीकी चंद सम चमकन,
चारयो ओर चंदमुखी चंदजोति मंद की।
चाँदनी सी चार चारु चाँदनी सी फैली 'हठी'
चाँदनी सी हाँसी कै मिठाई सुधाकंद की।
चंदन की चौकी बैठी चंदन लगाये भाल,
चंद से वदन राधे रानी ब्रजचंद की ॥३॥

कलपलता के कैधौं पल्लव नवीन दोऊ
हरैं मंजुता के कंज ताके बनिता के हैं।
पावनपतित गुन गावैं मुनि ताकै छवि
छलै सविता के जनता के गुरुता के हैं।
नवौ निधि ताके सिद्ध ताके आदि आलै 'हठी'
तीनौ लोक ताके प्रभुता के प्रभु ताके हैं।
कटैं पाप ताके बढ़ैं पुन्य के पताके जिन
ऐसे पद ताके वृषभानु की सुता के हैं ॥४॥

सहचरिशरण—ये टट्टी संप्रदाय के वैष्णव तथा महंत राधिकादास के उत्तराधिकारी थे। इनका नाम 'सखी शरण' भी था। इनका समय सन् १७८० ई० के आसपास था। इनके तीन ग्रंथ मिलते हैं—ललित प्रकाश, सरस मंजावली और गुरु प्रणालिका। इसके अतिरिक्त कुछ स्फुट पद भी मिलते हैं। ललित प्रकाश में इन्होंने हरिदास से ले कर ललितमोहिनी जी तक का समय और परिचय दिया है। साथ ही सम्प्रदाय के सिद्धान्त और आचार्योत्सव का भी वर्णन है। सरसमंजावली में सरस और मधुर काव्य के नमूने हैं। जो इनकी भक्तिभावना के परिचायक हैं। इनके काव्य में ब्रजभाषा, खड़ीबोली, पंजाबी

और फारसी भाषाओं के शब्द भी आये हैं। सरस मंजावली का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

बाँकी पाग चन्द्रिका तापर तुर्रा ररकि रहा है।
वर सिरपेंच माल उर बाँकी पट की चटक अहा है।
बाँके नैन मैनसर बाँके, बैन विनोद महा है।
बाँके की बाँकी झाँकी करि, बाँकी रहा कहा है॥ १॥
अब तकरार करौ मति यारौ लगी लगन चित चंगी।
जीवन प्रान जुगल जोरी के जगत जाहिरा अंगी।
मतलब नहीं फरिश्तों से हम इश्क दिलाँ दे संगी।
सहचरि सरन रसिक सुलताँ वर महिरबान रसरंगी॥ २॥

तरुन तमाल तरु मंदिर अनूप सोहैं
चित बिसराम जाको स्यामा स्याम थल मैं।
आय रही आभा रसिकाली गुन गाय रही,
छाय रही सुरति सुधा सी तन मन मैं।
हरिदास बिनु रस की न आस पूजै मन
जाय पछितायगो तू नासतीक गन मैं।
वृन्दा अरविन्दन को तजि मकरन्द चारु
मधुप सुगन्ध ज्यों न पावै मूँज बन मैं॥ ३॥

रत्नकुँवरि बीबी—बीबी रत्नकुँवरि का जन्म मुर्शिदाबाद में जगत सेठ के घराने में हुआ था। वे सुखी परिवार की थीं और बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक इनका जीवन अपने पुत्र पौत्रों के बीच आनन्द से व्यतीत हुआ था। ये राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की दादी थीं। वृद्धावस्था में इनका जीवन योगियों के समान था। कहते हैं कि ७० वर्ष की अवस्था में भी इनके बाल काले थे और आँखों की ज्योति बालकों के समान थी। ये भक्त थीं और विदुषी भी। इनका समय १८०० ई० के आसपास है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रेमरत्न' है जिसमें दोहा चौपाई छन्दों में प्रबन्धात्मक रीति से कृष्ण के चरित का वर्णन किया गया है। इनकी रचना से इनकी भक्तिभावना और अनुरक्ति प्रगट होती है। रचना की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

तब ऐसे भाष्यो नँदराई। अब हरि होहिं न ब्रज की नाईं।
मणि नख चित बैठत सिंहासन। चँवर छत्र कर गहे खवासन।
अतिहिं भीर नृप वास न पावैं। द्वारहिं ते बहु फिर फिर जावैं।
छत्रपतिन्ह छरियन्ह बिलगावत। तहँ हम सब की कौन चलावत।

छपन कोटि यदु छाँड़ि सँगाते। क्यों मानैं धायन के नाते॥

कृष्णदास—ये मिरजापुर जिले में विंध्याचल पर्वत और गंगा जी के समीप गिरिजापत्तन नामक ग्राम के रहने वाले कृष्ण भक्त थे। सन् १७६६ ई० में इन्होंने 'माधुर्य लहरी' नामक ग्रंथ बनाया जो छतरपुर के पुस्तकालय में है। यह ४२० बड़े पृष्ठों का बृहत् ग्रंथ है जिसमें कृष्णचरित का वर्णन है। इसके अतिरिक्त भागवत भाषा पद्य और भागवत माहात्म्य ये दो और ग्रंथ इनके द्वारा रचित कहे जाते हैं। इनकी रचना का एक उदाहरण यह है—

कौन काज लाज ऐसी करै जो अकाज अहो
बार बार कहो नरदेह कहाँ पाइये।
दुर्लभ समाज मिलो सकल सिधांत जानि,
लीला गुन नाम धाम रूप सेवा गाइये।
बानी की सयानी सब पानी में बहाय दीजै,
जानी सो न रीति जासों दंपति रिझाइये।
जैसी जैसी गही जिन लही तैसी नैनन हूँ,
धन्य धन्य राधा कृष्ण नित ही गनाइये।

गुणमंजरी दास—गोस्वामी श्री रमणदयालु जी के पुत्र श्री गुणमंजरीदास का जन्म सन् १८२७ ई० वृन्दावन में हुआ था। इनका प्रारंभिक नाम गल्लू जी था। ये श्री राधाचरणगोस्वामी के पिता थे। इन्होंने सन् १८७५ ई० में वृन्दावन में षड्भुज महाप्रभु का मंदिर स्थापित किया था। इनका स्वर्गवास सन् १८६० ई० में हुआ। काव्य में ये अपना नाम गुणमंजरीदास रखते थे। इनके रचे ग्रंथों—श्री युगल छद्म, रहस्यपद, पदावशेष के अतिरिक्त फुटकल पद भी मिलते हैं। इनके काव्य में अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। व्रजभाषा और कृष्ण के ये भक्त थे। इनके दो पद यहाँ दिये जाते हैं—

कसकति मुसकनि-कनी हमारे।
नंद लाड़िलो मारत तकि तकि निकसति नाँहि किनारे॥
लगी अचानक उर में मेरे तनिक न दया विचारे।
गुनमंजरी बचे नहिं कोऊ लोट-पोट करि डारे॥१॥
हमारे धन स्यामा जू कौ नाम।
जाकौं रटत निरंतर मोहन नँदनंदन घनस्याम॥
प्रतिदिन नव-नव महामाधुरी, बरसति आठों जाम।
गुनमंजरि नव कुंज मिलावै श्री वृन्दावन धाम॥२॥

यहाँ हमने देखा कि रीति युग में कृष्ण-काव्य एक विशेष शृंगारिक रसिकता को ले कर विकसित हुआ। काव्य की दृष्टि से इसमें उत्कृष्टता है। कृष्णकाव्य की इस प्रकार की परंपरा इसके बाद भी चलती रही। कुछ समय तक तो इसी प्रकार की प्रवृत्ति रही, परन्तु बाद में आधुनिक युगीन राष्ट्रीय चेतना के जागरण और विकास के साथ-साथ उसका भी रूप बदल गया जिसका अध्ययन हम आगे करेंगे।

घ. राम-काव्य-धारा

गोस्वामी तुलसीदास के बाद राम-काव्य के अन्तर्गत कोई अत्यधिक प्रसिद्ध कवि नहीं हुआ। उनके रामचरितमानस की पूर्णता और प्रभाव को देख कर किसी ने विशेष रूप से इसकों ले कर लिखने का साहस न किया जिसके कारण राम-भक्ति-काव्य में वह विकास देखने को नहीं मिलता जो कृष्ण-काव्य में। कृष्णकाव्य के अंतर्गत अवश्य 'मानस' के समान कृष्णचरित लिखने के प्रयत्न हुए जिसके परिणामस्वरूप 'कृष्णायन' (मंचित), व्रजविलास (व्रजवासी) आदि ग्रंथ लिखे गये। फिर भी रामकाव्य में अनेक लेखकों के ग्रंथ हैं। भक्तियुग में ही तुलसीकृत 'मानस' के बाद केशवदास, अग्रदास, नाभादास, प्राणचंद्र चौहान, सोढी मिहरबान, कवि हृदयराम के रामचंद्रिका, रामध्यानमंजरी, अष्टयाम, रामायण महानाटक, आदि रामायण, हनुमन्नाटक भाषा ग्रंथ क्रमशः रचे गये जिनमें रामभक्ति संबंधी भाव प्रकट हुए। इनमें कुछ तो दोहा-चौपाई में हैं और कुछ कवित्त सवैया तथा अन्य छन्दों में। इस प्रकार राम-काव्य की परंपरा चलती रही।

जिस प्रकार रामचरितमानस के अनुकरण पर कृष्णचरित्र लिखने का प्रयास कृष्ण-काव्य-परंपरा के भीतर देखा जाता है, उसी प्रकार राम-काव्य के भीतर भी कृष्ण-काव्य के शृंगार और माधुर्य भावना का समावेश हुआ। गोस्वामी तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित मर्यादावाद और दास्य भक्ति संभवतः उतनी सरस और मधुर न लगी जैसी कृष्ण-काव्य की शृंगार एवं माधुर्य भावना। अतएव राम-काव्य में भी शृंगारी भावनाओं का समावेश हुआ। इस भावना से संबंधित अयोध्या तथा कुछ अन्य स्थानों में विभिन्न रामोपासक संप्रदाय बने, जैसे "स्वसुखी" संप्रदाय और "तत्सुखी" संप्रदाय। इनमें सपत्नी या सखी भाव से राम की उपासना का सूत्रपात हुआ और राम और सीता की विलास-क्रीड़ाओं, एवं रतिचेष्टाओं का उसी प्रकार वर्णन हुआ जैसा कि कृष्ण और राधा की क्रीड़ाओं और चेष्टाओं का कृष्णकाव्य में। यह रसिक पंथ अयोध्या

में काफी दिनों तक ज़ोर पकड़े रहा। इसमें सीताराम की 'जुगल सरकार' के रूप में उपासना चली और प्रमोदवनों की अयोध्या और चित्रकूट में स्थापना हुई। रीतियुगीन राम-साहित्य पर इस रसिक प्रवृत्ति का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है जिसे हम कवियों का अध्ययन करते समय देखेंगे। इस प्रवृत्ति का पोषण संस्कृत के प्रसन्नराघव हनुमन्नाटक जैसे ग्रंथों से भी हुआ।

फिर भी राम-काव्य पर से संत भावना और मर्यादावाद का प्रभाव एकदम लोप नहीं हो गया और अनेक ग्रन्थों में वह अपने सामाजिक मंगल के रूप में है जो जीवन में सत्य स्वरूप को स्पष्ट करता है। राम-काव्य-धारा के कुछ प्रसिद्ध कवियों का परिचय यहाँ दिया जाता है।

गुरु गोविन्दसिंह—सिक्खों के दसवें और महातेजस्वी गुरु गोविन्द-सिंह का जन्म सन् १६६६ ई० में और सत्यलोकवास सन् १७०८ ई० में हुआ था। ये सिक्खों के गुरु तो थे ही साथ ही बड़े वीर योद्धा भी थे। सिक्खों के भीतर जातीयता की भावना को विकसित कर इन्होंने उन्हें संगठित और शक्तिशाली बनाया। गुरु गोविन्दसिंह काव्य के ज्ञाता ही न थे स्वयं भी एक कुशल कवि थे। निर्गुणोपासना के प्रति पूरी आस्था रखते हुए भी इन्होंने देव-कथाओं की चर्चा में बड़ा ही भक्तिभाव प्रकट किया है। ये शक्ति के उपासक थे। इन्होंने कई उत्तम एवं साहित्यिक ग्रन्थों की रचना की। जैसे—चंडी चरित्र, सुनीति प्रकाश, प्रेमसुमार्ग, बुद्धिसागर, सर्वलोह प्रकाश, गोविन्दरामायण। गोविन्द रामायण में राम-कथा का सुन्दर और विस्तृत वर्णन है। यह ग्रंथ हाल में ही प्रकाश में आया है। गोविन्दजी की कविता ओजस्विनी है। उदाहरण—

> भेंटि भुजा भर अंक भले भरि नैन दोऊ निरखे रघुराई।
> गुंजत भृंग कपोलन ऊपर नाग लवंग रहे लव लाई।
> कंज कुरंग कलानिधि केहरि कोकिल हेरि हिये हहराई।
> बाल लखैं छवि खाट परैं नहिं बाट चलैं निरखैं अधिकाई ॥१॥
> अदग्ग दग्गे अमोड़ मोड़े। अखिच्च खिच्चे अजोड़ जोड़े।
> अकड्ढ कड्ढे असाध साधे। अफट्ट फट्टे अफाँद फाँदे।
> अधंध धंधे अकाज काजे। अभिन्न भिन्ने अभज्ज भज्जे।
> अछेड़ छेड़े अलभ्य लब्भे। अजित्त जित्ते अबध्य बद्धे ॥२॥

रामप्रिया शरण—ये मिथिला निवासी जनकपुर के महन्त थे। इनका समय सन् १७०३ है। इन्होंने ४०० पृष्ठों की 'सीतायन' नाम की पुस्तक लिखी है। इसके अन्तर्गत सीता जी तथा उनकी सखियों के चरित का वर्णन है। राम का चरित अत्यंत संक्षेप में हैं। इसी ग्रंथ का दूसरा नाम 'सीताराम-

प्रिया' भी है। यह पुस्तक छतरपुर के पुस्तकालय में थी। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ ये हैं—

पितु दरसन अभिलाष जुगुल कुँवरन मन आई।
गुरु सनमुख कर जोरि भाँति बहु विनय सुनाई।
पुलके गुरु लखि सील राम को अति सुख पाये।
ताहि समै सब सखा संग लक्ष्मीनिधि आये॥

जानकीरसिक शरण—इनका समय सन् १७०० ई० के आसपास है। ये प्रमोदवन अयोध्या के निवासी थे। इनका बड़ा विस्तृत ग्रंथ 'अवध सागर' है जिसमें १४ अध्याय और ६१६ छन्द हैं। इसके भीतर अष्टयाम प्रसंग में वनविलास, जलक्रीड़ा, रास, नृत्य, सभा, भोजन, शयन आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। श्रृंगारिक प्रवृत्ति का इसपर स्पष्ट प्रभाव है पर वर्णन बड़े सुन्दर हैं। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं—

झुकी लता द्रुम डार भूमि पर सत सुखरासी।
मनहुँ भये द्रुम लता इहाँ के तीरथ बासी॥
उड़ि उड़ि परत विहार थली की अँग रज तिनके।
लगे सुभग फल गुच्छ नवल दल पर-हित जिनके॥१॥
रथ पर राजत रघुवर राम।
क्रीट मुकुट सिर धनुष बान कर सोभा कोटिन काम॥
स्याम गात केसरिया बानो सिर पर मौर ललाम।
बैजंती बनमाल लसै उर पटिक मध्य अभिराम॥
मुख मयंक सरसीरुह लोचन हैं सबके सुखदाम।
कुटिल अलक अतरन मैं भीनी दुहुँ दिसि छूटी स्याम।
कंबु कंठ मोतिन की माला किंकिनि कटि द्रुति दाम।
रस माला यह रूप रसिकवर करहु हिये अभिराम॥२॥

रसिक अली—इनका समय सन् १७५० के लगभग है। विशेष विवरण ज्ञात नहीं है। परन्तु इनके चार ग्रंथों का पता लगता है—मिथिला विहार, अष्टयाम, होरी, षटऋतु पदावली। इनमें प्रथम दो छतरपुर के पुस्तकालय में थे। मिथिला विहार ग्रंथ में राम के जनकपुर जाने पर वहाँ की शोभा का वर्णन है। इस ग्रंथ में ४२३ विविध छन्द हैं। साधारण श्रेणी की उत्तम कविता है। इनकी रचना पर भी श्रृंगारी प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव है। उदाहरण—

माई घन गरजत लगत सुहाई।
बन प्रमोद मोरन को सोरा चहुँ दिसि बन हरियाई॥

रिमि झिमि बरसत दमकत दामिनि घन अँधियारी छाई ।
झिल्ली रव चातक रट कोकिल छिन छिन कुहुक मचाई ।
तरु द्रुम बकुल रसाल कदंबन सोभा रहि अधिकाई ॥१॥

सोहैं सीस प्यारी जू के चंद्रिका जटित नग,
जगमग जोति भानु कोटि उजियारी है ।
रतन किरीट राजै राघव सुजान सीस
उदित विदित कोटि तरुन तमारी है ।
दामिनी सघन घन बरन विराजैं दोऊ
नील पीत बसननि जटित किनारी है ।
'रसिक अली' जू प्यारे राजत सिंगार कुंज
सुषमा अमित पुंज छवि मोदकारी है ॥२॥

सरजूराम पंडित—सरजूराम पंडित ने सन् १७४८ ई० (सं० १८०५) में जैमिनिपुराण ग्रंथ लिखा। इसके अन्तर्गत ७६०० छन्द हैं। यह ३६ अध्यायों में विभक्त है। इसके बीच संक्षिप्त रामायण की कथा, सीता का त्याग, लवकुश-जन्म, रामाश्वमेध युद्ध और सीता-राम-मिलाप के प्रसंग वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त इसमें पुराण पद्धति के अनुसार अन्य अवतारों और चरित्रों का वर्णन है। इन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के समान अवधी भाषा में दोहा-चौपाई छन्दों में इस ग्रंथ की रचना की। अन्य छन्दों का भी प्रयोग है, पर बहुत कम। अलंकारों का सुन्दर प्रयोग है और वर्णन बड़े रोचक हैं। भाषा परिष्कृत एवं प्रवाह ललित है। प्रबंध काव्य की दृष्टि से यह उत्तम रचना है। उदाहरण—

गुरु पद रज सम नहिं कछु लाहा । चिन्तामनि पाइय चित चाहा ॥
गुरु पद पंकज पावन रेनू । कहा कलप तरु का सुर धेनू ।
गुरु पद रज प्रिय पावन पाये । अगम सुगम सब बिनहिं उपाये ।
गुरु पद रज अंजन दृग दीन्हे । परत सुतत्व चराचर चीन्हे ॥
श्री गुरु पद रज पाउँ पसाऊ । श्रवत सुधामय तीरथराऊ ।
सुमिरत होत हृदय असनाना । मिटत मोहमय मन मल नाना ।

भगवन्तराय खीची—भगवन्तराय जिला फतेहपुर में स्थित असोथर राज्य के राजा थे। इनका समय १८वीं शताब्दी ईसवी का मध्यकाल है। इनके आश्रय में अनेक कवियों ने अपनी काव्य-रचनायें कीं। इनकी लिखी एक रामायण कही जाती है, जो चमत्कारपूर्ण रचनाओं से युक्त है। दूसरा ग्रंथ इनका 'हनुमत पचीसी' है जिसकी रचना सन् १७६० ई० में हुई। इस ग्रंथ

की रचना बड़ी ही ओजपूर्ण है। इनके आश्रय में रहनेवाले अनेक कवियों में श्यामल, सारंग, भूधर और मल्ल कवि भी थे। राजा भगवन्तराय खीची की मृत्यु पर 'मल्ल' कवि ने एक छन्द लिखा था जो राजा साहेब के चरित्र और उदारता को प्रकट करता है—

आजु महा दीनन को सूखिगो दया को सिन्धु,
आजु ही गरीबन को सब गथ लूटिगो।
आजु दुजराजन को सकल अकाज भयो,
आजु महराजन को धीरजहू छूटिगो।
'मल्ल' कहै आजु सब मंगन अनाथ भये
आजु ही अनाथन को करम सो फूटिगो।
भूप भगवन्त सुरधाम को पयान कियो,
आजु कवि गन को कलपतरु टूटिगो॥

इस छन्द से स्पष्ट है कि ये कितने उदार एवं गुणग्राही राजा थे। इनकी रचना के कुछ छन्द यहाँ दिये जाते हैं—

सुर वर गिरि सों सरीर प्रभा श्रोणित सी,
तामें झलझलैं रंग बाल दिवाकर को।
दनुज सघन वन दहन कृशानु महा,
ओज सों विराजमान अवतार हर को।
भनै भगवंत पिंग लोचन ललित सोहैं,
कृपा कोर हेरयो विरदैत ऊँचे कर को।
पवन को पूत कपिकुल पुरहूत सदा,
समर सपूत बंदौं दूत रघुवर को॥१॥

सुख भरि पूरि करै दुखन को दूरि करै,
जीवन समूरि सो सजीवन सुधार की।
चिंता हरिबे को चिन्तामनि सी विराजै,
कामना की कामधेनु सुधा संजुत सुमार की।
भनै भगवंत सूधी होत जेहि ओर देत,
साहिबी समृद्धि देखि परत उदार की।
जन मन रंजनी है गंजनी बिथा की,
भय भंजनी नजरि अंजनी के ऐंडदार की॥२॥

गाढ़ परे गैयर गुहारिबो विचारयो जब,
जान्यो दीनबंधु कहूँ दीन कोऊ दलि गो।

जन मन मानस रसिक मराला। सुमिरत भंजत विपति विसाला।
हे रघुकुल-भूषण दुष्ट-विदूषण सीतापति भगवान हरे।
नवपंकज-लोचन भवभय-मोचन अति उदार गुण दिव्य भरे।
यह नृप बल भारी समर मँझारी प्रण करि बंधन कीन्ह प्रभो।
अब वेगि छुड़ावहु विरद बढ़ावहु सब को दीन विलोकि विभो।

खुमान—खुमान बुन्देलखंड स्थित चरखारी राज्य के निवासी चारण थे। चरखारी-नरेश विक्रमसाहि के यहाँ भी ये रहे। इनका रचना-काल सन् १७८० से १८०० तक माना जा सकता है। इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की, जिनके नाम हैं—अमर प्रकाश, अष्टजाम, हनुमानपंचक, हनुमत पचीसी, हनुमान नखशिख, नीतिनिधान, समरसार, नृसिंह चरित्र, नृसिंह पचीसी, लक्ष्मण शतक। ये 'मान' उपनाम से भी कविता करते थे। कहते है कि ये जन्मान्ध थे और किसी संन्यासी की कृपा के इनके भीतर संस्कृत और भाषा दोनों में ही कविता करने की शक्ति का स्फुरण हुआ। उदाहरण—

भूप दसरथ को नवेलो अलबेलो रन,
रेलो रूप झेलो दल राकस निकर को।
मान कवि कीरति उमंडी खलखंडी
चंडीपति सों घमंडी कुलकंडी दिनकर को।
इन्द्रगज मंजन को भंजन प्रभंजन तनै
को मन रंजन निरंजन भरन को।
राम गुन ज्ञाता मनवांछित को दाता हरि-
दासन को त्राता धनि भ्राता रघुवर को॥

गोकुलनाथ—ये रघुनाथ बंदीजन के पुत्र थे। काशीनरेश महाराजा उदितनारायणसिंह की आज्ञा से इन्होंने अपने पुत्र गोपीनाथ तथा भरतपुर के बंदीजन मणिदेव के साथ मिल कर महाभारत और हरिवंश का भाषानुवाद किया। यह प्रबंधात्मक अनुवाद विविध छन्दों और अत्यन्त प्रांजल व्रजभाषा में है। विविध छन्दों का प्रयोग भावानुरूप हुआ है। इस ग्रंथ के बनने में ५० वर्ष से ऊपर लगे थे। इस ग्रंथ का प्रारंभ सन् १७७३ के लगभग हुआ था और सन् १८२७ में जा कर समाप्त हुआ। महाराजा साहब ने लाखों रुपये इस अनुवाद के लिए व्यय किये थे।

गोकुलनाथ जी प्रबन्धकार होने के अतिरिक्त भाषा एवं काव्य के पंडित थे। कृष्ण और राम दोनों ही के गुणगान संबंधी ग्रंथ भी इन्होंने लिखे हैं। इनके ग्रंथ ये हैं—महाभारत (अनुवाद), चेतचंद्रिका (अलंकार) गोविन्द,

सुखद विहार, राधाकृष्ण विलास (सं० १८०१), राधा नखशिख, नाम रत्नमाला (कोश), सीताराम गुणार्णव, अमरकोष भाषा, कविमुखमंडन। अंतिम भी अलंकार संबंधी ग्रंथ है। सीताराम गुणार्णव अध्यात्म रामायण का अनुवाद है। इसमें पूरी रामकथा वर्णित हुई है। इनकी रचना सरस, मधुर, सालंकार तथा भाषा प्रांजल एवं प्रौढ़ ब्रजभाषा है।

मनियारसिंह—मनियारसिंह काशी के रहने वाले श्यामसिंह के पुत्र, कृष्णलाल के मुख्य शिष्य और रामचन्द्र पंडित के सेवक थे। इन्होंने पुष्पदंत के महिम्न ग्रंथ का भाषानुवाद सन् १७६२ ई० में किया जिसके प्रारंभ में परिचय देते हुए इन्होंने लिखा है—

संवत के अंक रंध्र वेद वसु चन्द्र पूरो,
चन्द्रमा सरद को वरद धर्म धन को।
चाकर अखंडित श्री रामचन्द्र पंडित को,
मुख्य शिष्य कवि कृष्णलाल के चरन को।
मनियार नाम श्यामसिंह को तनय भो
उदय छत्रि वंश काशीपुरी निवसन को।
पारवती कन्त जस जग मैं दिगंत कियो,
भाषा अर्थवंत पुष्पदंत महीमन को।

भाषा महिम्न के अतिरिक्त इनके ग्रंथ सौन्दर्य लहरी (१०३ छन्द), हनुमत छब्बीसी, सुन्दरकांड (६३ छ०) और भावार्थ चंद्रिका भी हैं। इनकी अधिकांश रचना भक्ति-प्रधान है। काव्य में इनका उपनाम कहीं-कहीं मनियार के स्थान पर यार भी आता है। भावार्थ चंद्रिका एवं महिम्न के अतिरिक्त इनके अन्य ग्रंथ रामचरित संबंधी हैं और रामायण के आधार पर हैं। इनका काव्य उत्तम कोटि का है। भाषा संस्कृत मिश्रित ब्रजभाषा है अतः उसमें कुछ अधिक तीक्ष्णता एवं प्रभाव परिलक्षित होता है। इनका जन्म स० १७५० के आस-पास माना जा सकता है। हनुमत छब्बीसी की रचना के समय ये बलिया नगर में निवास करते थे।[1] रचनाओं के उदाहरण निम्नांकित हैं—

---

१. छत्रीवर मनियार, काशी वासी जानिये।
जापै पवन कुमार, दयावंत सुखप्रद सदा॥
मृग पद मंजुल वास, सरयूतट सुरसरि निकट।
बलिया नगर निवास, भयो कछुक दिन ते सुमति॥
—हनुमत छब्बीसी

अभय कठोर बानी सुनि लछिमन जू की,
मारिबे को चाहि जो सुधारी खल तरवारि।
बार हनुमंत तेहि गरजि सहास करि,
डपटि पकरि ग्रीव भूमि लै परे पछारि।
पुच्छ ते लपेटि फेरि दंतन दरदराई
नखन बकोटि चोथि देत महि डारि डारि।
उदर विदारि मारि लुत्थन को टारि वीर,
जैसे मृगराज गजराज डारै फारि फारि ॥१॥
(हनुमत छब्बीसी)

देख्यो जाय गढ़ महादुर्गम अटूट जाको,
नाम सुने पुरहूत पाँय थहरात हैं।
कंचन दिवारैं दीह बुरुज बलंद चहुँ
ओर घोर खंदक समुद्र घहरात हैं।
यार कहै अति उच्च द्वार दुरापार जर,
कुलिस किंवार छवि पुंज छहरात हैं।
छत्र मेघ डंबर दिगम्बर निलय मानों
अम्बर लौं अरुन पताके फहरात हैं ॥२॥
(सुन्दर काण्ड)

ललकदास—ललकदास लखनऊ के रहने वाले महात्मा थे। प्रसिद्ध भँड़ौआ-लेखक बेनी के वर्णन से ये कंठीधारी महन्त जान पड़ते हैं। इनका और अधिक परिचय नहीं मिलता; पर यह विदित होता है कि इनके बहुत से शिष्य थे और ये कवियों से वाद-विवाद भी करते थे। जान पड़ता है कि प्रसिद्ध बेनी बंदीजन से भी इन्होंने वाद किया था। बेनी ने तीन भँड़ौआ ललकदास पर लिखे थे। उनमें से एक में ललकदास का चित्रण इस प्रकार किया गया है—

घर घर घाट घाट बाट बाट ठाट ठटे,
बेला और कुबेला फिरै चेला लिये आस पास।
कबिन सों बाद करै; भेद बिन नाद करै,
महा उनमाद करै धरम-करम नास।
बेनी कवि कहै बिभिचारिन को बादसाह,
अतन प्रकास तन सत न सरम तास।
ललना-ललक, नैन मैन की झलक, हँसि
हेरत अलक रद खलक ललकदास ॥

इससे निश्चित रूप से यह प्रकट होता है कि बेनी की धारणा ललकदास के प्रति अच्छी नहीं थी। ललकदास ने 'सत्योपाख्यान' नामक ग्रंथ की रचना की जिसका रचनाकाल सन् १८०० से १८२५ तक माना जाता है। इस ग्रंथ में प्रधानतया दोहा-चौपाइयों, परन्तु कहीं-कहीं अन्य छन्दों में भी राम के चरित का वर्णन किया गया है। यह रचना वर्णन-प्रधान है, परन्तु इसकी कथा और वर्णन रामायण और 'मानस' से भिन्न हैं। इनका बालकांड वाल्मीकि-रामायण के बालकांड से भी बड़ा है। जन्म से ले कर विवाह पर्यन्त घटनायें बड़े विस्तार से हैं। राम के समाजोद्धार के कार्यों के स्थान पर गार्हस्थ्य जीवन से सम्बन्धित कार्यों का अधिक विस्तार है। इन पर भी राम काव्य के रसिक सम्प्रदाय की प्रवृत्ति का प्रभाव जान पड़ता है। होली, जल-क्रीड़ा आदि के भी इसमें वर्णन है। इसमें वनवास की कथा नहीं कही गई। वर्णन-शैली 'मानस' की पद्धति पर है। उदाहरण—

धरि निज अंक राम को माता। कह्यो मोद लखि मुख मृदु गाता।
दंत कुंद मुकता सम सोहैं। बंधुजीव सम जीभ विमोहैं॥
किसलय सधर अजर छवि छाजै। इंद्रनील सम गंड विराजै।
सुन्दर चिबुक नासिका सोहै। कुमकुम तिलक चिलक मन मोहै॥
काम चाप सम भृकुटि विराजै। अलक कलित मुख अति छवि छाजै।
यहि विधि सकल राम के अंगा। लखि चूमति जननी मुख संगा॥

नवलसिंह—ये झाँसी के रहने वाले कायस्थ थे। समथर नरेश हिन्दूपति की सेवा में रह कर इन्होंने काव्य रचना की। इन्होंने न केवल काव्य रचना ही की, वरन् ये एक कुशल चित्रकार भी थे। इनका रचनाकाल सन् १८१६ ई० से १८६६ ई० तक रहा और इन्होंने लगभग तीस ग्रंथों की रचना की। इनके बनाये ग्रंथों के नाम ये हैं—रासपंचाध्यायी, रामचंद्र विलास (आदिखंड, रासखंड), रामायणकोश, शंकामोचन, रसिकरंजनी, जौहरिनि तरंग, विज्ञानभास्कर, ब्रजदीपिका, मूलभारत, भारतसावित्री, भारत-कवितावली, भाषा सप्तशती, कवि जीवन, आल्हा रामायण, आल्हा भारत, रुक्मिणी मंगल, मूल ढोला, रहस लावनी, अध्यात्म रामायण, रूपक रामायण, नारी प्रकरण, सीता स्वयंवर, राम विवाह खंड, भारत वार्तिक, रामायण सुमिरनी, विलास खंड, पूर्व शृंगार खंड, मिथिला खंड, दान लोभ संवाद, जन्मखंड तथा नाम रामायण। इनमें से कुछ ग्रंथ तो एक बड़े ग्रंथ के खंड जैसे ही जान पड़ते हैं। अनेक छन्दों के प्रयोग के साथ कहीं कहीं इन्होंने ब्रज-भाषा गद्य का भी प्रयोग किया है। इनके कुछ ग्रन्थों पर आधुनिक युग के

प्रभाव की झलक भी दीखती है। उदाहरण—

अभव अनादि अनंत अपारा। अयन अप्रान अमर अविकारा।
अग अनीह आतम अविनासी। अगम अगोचर अविरल वासी॥
अपि अव्यक्त अनाम अमाया। अवय अनामय अभय अजाया।
अकथनीय अद्वैत अरामा। अमल असेष अकर्म अकामा॥
रहत अलिप्त ताहि उर ध्याऊँ। अनुपम अमल सुजय मय गाऊँ।
एक अनेक आतमा रामा। अभिमत अध्यातम अभिरामा॥

सगुन सरूप सदा सुषमा निधान मंजु,
बुद्धि गुन गुनन अगाध वनपति से।
भनै नवलेस फैलो विसद मही मैं जस,
बरनि न पावै पार झार फनपति से॥
जक्त निज भक्तन के कलुष प्रभंजै रंजै,
सुमति बढ़ावै धनधाम धनपति से।
अवर न दूजो देव सहज प्रसिद्ध यह,
सिद्ध वर दैन सिद्धि ईस गनपति से॥

जनकराजकिशोरी शरण—श्री राघवदास के शिष्य जनकराजकिशोरी शरण अयोध्या के महंत थे। भक्ति, ज्ञान और रामचरित से संबंधित इन्होंने अनेक संस्कृत और व्रजभाषा के ग्रंथों की रचना की। इनके द्वारा रचित राम-काव्य पर रसिक संप्रदाय का प्रभाव है। इनके ग्रंथों की सूची यह है—

अनन्य तरंगिणी, सीताराम सिद्धान्त मुक्तावली, कवितावली, सीताराम रस तरंगिणी, आत्म संबंध दर्पण, तुलसीदास चरित्र, होली विनोद दीपिका, वेदान्तसार श्रुति दीपिका, अंदोह रहस्य दीपिका, रास दीपिका, जानकी करुणा-भरण, दोहावली, सिद्धान्त चौंतीसा, रघुवर करुणाभरण, ललित शृंगार दीपिका, अष्टयाम, विवेकसार चंद्रिका, बारहखड़ी, ललित शृंगार दीपक। उदाहरण—

फूले कुसुम द्रुम विविध रंग सुगंध के चहुँ चाव।
गुंजत मधुप मदमत्त नाना रंग रज अँग फाव॥
सीरो सुगंध सुमंत बात विनोद कंत वहंत।
परसत अनंग उदोत हिय अभिलाख कामिनि कंत॥

गणेश—ये काशीनरेश महाराज उदितनारायण सिंह के यहाँ रहते थे। लालू कवि इनके पितामह और गुलाब कवि इनके पिता थे। रचनाकाल सन् १८०० ई० है। महाराज ईश्वरीनारायण के समय तक ये जीवित रहे। इन्होंने वाल्मीकि रामायण का 'बाल्मीकि रामायण श्लोकार्थ प्रकाश' नामक

अनुवाद किया। ऋतु वर्णन और हनुमत पचीसी भी इनके रचे ग्रंथ हैं। इनकी रचना आलंकारिक है। उदाहरण—

बुद्धि के निधान जे प्रधान काव्य कारज मैं,
दीजै वरदान ऐसे वरन हमेस के।
दूषन ते दूरि भूषन ते पूरि पूरि
भूषन समेत हेत नवो रस वेस के।
भनत गनेश छंद छंद मैं ललाम रूप
भूप मन मोहैं मोहैं पंडित सुदेस के।
ग्रंथ परिपूरन के कारन करनिहार
दीजिए निबाहि नेम नंदन महेस के।

प्रेमसखी—इनका रचनाकाल मिश्रबंधुओं ने सन् १८२३ ई० में माना है। छतरपुर में "श्रीराम तथा सीता जी का शिषनख" पद, कवित्त तथा होरी नामक ग्रंथ मिलते हैं। शिषनख में १३६ कवित्त और सवैये हैं। इनकी रचना सुन्दर है। उदाहरण—

कलपलता के सिद्धिदायक कलपतरु
कामधेनु कामना के पूरन करन हैं।
तीन लोक चाहत कृपा-कटाच्छ कमला कौ,
कमला सदाई जाको सेवत सरन हैं।
चिंतामनि चिन्ता के हरन हारे 'प्रेमसखी'
तीरथ जनक वर बानिक वरन हैं॥
नख विधु-पूषन समन सब दूषन ये,
रघुवंस भूषन के राजत चरन हैं॥

महाराज विश्वनाथ सिंह—ये रीवाँ नरेश महाराजा जयसिंह के पुत्र तथा महाराजा रघुराजसिंह के पिता थे। इनका जन्म सन् १७८९ ई० में हुआ था। सन् १८३३ में गद्दी पर बैठे और १८५४ तक रीवाँ में राज्य करते रहे। ये न केवल विद्याव्यसनी और विद्वानों और कवियों का आदर करने वाले थे, वरन् स्वयं भी भक्त थे। इन्होंने भक्तिभाव और कवित्व से पूर्ण अनेक ग्रंथों की रचना की। ये ग्रंथ या तो रामोपासना-संबंधी हैं अथवा इनमें निर्गुण संतमत के सिद्धान्त और उपदेश हैं। निर्गुण संतमत इनका परंपरागत मत था। कबीरदास के प्रसिद्ध शिष्य धर्मदास ने रीवाँ-नरेश को उपदेश दिये थे। अतः इनकी कुछ रचनायें उसी प्रभाव के परिणाम स्वरूप हैं। इनका लिखा 'आनंद रघुनंदन' नाटक हिन्दी का प्रथम नाटक माना जाता है।

ब्रजभाषा गद्य और पद्य दोनों ही का प्रयोग यद्यपि उपर्युक्त नाटक में हुआ है, फिर भी यह हिन्दी का प्रथम नाटक है और इस दृष्टि से 'महाराज विश्वनाथसिंह का विशेष महत्त्व है। इनके बनाये हुए ग्रंथों की संख्या ३२ के आसपास है, जिनके नाम ये हैं—

शब्द, कहरा, रमैनी, चौरासी, आदि मंगल, वसंत, चौंतीसी, पाखंड खंडिनी, अबोध नीति, उत्तम नीति चंद्रिका, वेदान्त पंचशतिका, परमधर्म निर्णय, शांतिशतक, ध्रुवाष्टक, परमतत्व प्रकाश, धनुर्विद्या, भजन, अष्टयाम का आह्निक, उत्तम काव्य प्रकाश, गीतारघुनंदन शतिका, गीता रघुनंदन प्रामाणिक, कबीर के बीजक की टीका, रामायण, विनयपत्रिका की टीका, पदार्थ, सर्वसंग्रह, गीतावली पूर्वार्ध, आनंद रघुनन्दन नाटक, रामचंद्र की सवारी, आनंद रामायण, संगीत रघुनन्दन आदि। इन्होंने संस्कृत में भी कुछ ग्रंथ लिखे हैं। रचनाओं के नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

नारिन की जु सलाह करै अरु भाइन मंत्री स्वतंत्र बनावै।
बैरी के चाकर राखे रहै जो अधर्म की राह सदा मन लावै।
मंत्री कह्यौ हित मानैं नहीं अरु साह को सासन नाम न आवै।
भाखत है विसुनाथ ध्रुवै कछु काल में भूप सुराज गँवावै ॥१॥

बाजि गज सोर रथ सुतुर कतार जेते,
प्यादे ऐंड़वारे जे सबीह सरदार के।
कुँवर छबीले जे रसीले राजवंश वारे,
सूर अनियारे अति प्यारे सरकार के।
केते जाति वारे, केते केते देसवारे जीव,
स्वान सिंह आदि सैलवारे जे सिकार के।
डंका की धुकार द्वै सवार सबै एक बार,
राजवार पार कार कौसलकुमार के ॥२॥

महाराज रघुराजसिंह—ये रीवाँनरेश महाराज विश्वनाथसिंह के सुपुत्र थे। इनका जन्म सन् १८२७ ई० में हुआ था और पिता का स्वर्गवास होने पर सन् १८५४ ई० में गद्दी पर बैठे थे। ये सन् १८७९ ई० में स्वर्गवासी हुए। इनके बारह विवाह हुए थे। ये संस्कृत हिन्दी के विद्वान और कवि थे तथा शिकार के शौकीन थे। काव्यादि में इनका समय अधिक व्यतीत होता था अतः राज्यप्रबन्ध में गड़बड़ रहता था। अपने पिता के समान ये भी कवियों के आश्रयदाता थे। इनके आश्रय में रहने वाले कुछ कवियों के नाम रसिक नारायण, रसिक बिहारी, श्रीगोविन्द, बालगोविन्द, रामचन्द्र शास्त्री

आदि हैं। ये दास्य भक्तिभाव के उपासक राम-भक्त थे। इनका काव्य आलंकारिक एवं शब्द-छटा से पूर्ण हैं। उनके द्वारा रचे हुए ग्रंथों की सूची निम्नांकित हैं—

सुन्दर शतक, गद्य शतक, जगन्नाथ शतक, शंभु शतक, गंगा शतक, रघुपति शतक, मृगया शतक, विनय पत्रिका, रुक्मिणी परिणय, आनंदांबुनिधि, विनयमाला, रामरसिकावली, भक्ति विलास, रहस्य पंचाध्यायी, भक्तमाल, राम स्वयंवर, यदुराज विलास, चित्रकूट माहात्म्य, पदावली, रघुराज विलास, विनय प्रकाश, श्रीमद्भागवत माहात्म्य, राम अष्टयाम, भागवत भाषा, धर्म विलास, राजरंजन, हनुमत चरित्र, भ्रमर गीत, परम प्रबोध। इनमें से कुछ ग्रंथ काफी बड़े हैं। कुछ ग्रंथों के कुछ भाग इनके आश्रित कवियों के द्वारा रचे हुए हैं। रचना के कुछ नमूने ये है—

कल किसलय कोमल कमल, पदतल सम नहिं पाँय।
यक सोचत पियरात नित, यक सकुचत झरि जाँय ॥१॥
चारु चरन की आँगुरी, मो पै बरनि न जाइ।
कमल कोश की पाँखुरी, पेखत जिनहिं लजाइ ॥२॥

बसुधा धर मैं बसुधाधर मैं त्यौं सुधाधर मैं त्यौं सुधा मैं लसै।
अलि बृन्दन मैं अलिबृन्दन मैं अलि बृन्दन मैं अतिसै सरसै।
हिय हारन मैं हर हारन मैं हिमि हारन मैं रघुराज लसैं।
ब्रज बारन बारन बारन बारन बारन बार बसंत बसै ॥३॥

अनल उदंड को प्रकाश नवखंड छायो,
ज्वाला चंड मानौं ब्रहमंड फोरै जाय जाय।
पुरी ना लखात ज्वालमालै दरसाति एक
लोहित पयोधि भयो छाया एक छाय छाय।
देवता मुनीस सिद्ध चारण गंधर्व जेते
मानि महा प्रलै बेगि व्योम ओर धाय धाय।
देखि रामराय हेत दीन्हीं लंक लाय सबै
चाय भरे चले कपिराय यश गाय गाय ॥४॥

मोहिं तो भरोसो भूरि आपनी कमाई को।
कबहूँ काहू की नहीं कियो है भलाई को॥
कियो काम लोभ कोह मोह सो मिताई को।
रोज रोज पाल्यो निज नारि नाति भाई को॥
कबहूँ न पूज्यो साधु लैके आगुआई को।
पूरी प्रीति पापिन सो नारिहूँ पराई को॥

बाढ्यो है घमंड मोह माया ठकुराई को।
बेस बजवायो द्वार पाप ही बधाई को॥
रोज रुजगार कियो जीव ही सताई को।
सपन्यो न सोच्यो नाथ भक्ति सुखदाई को॥
धर्म कर्म कीन्हों केते लोक की बड़ाई को।
कबहूँ न पायो पार विषै भोगताई को॥
बाकी न रह्यो है रघुराज पतिताई को।
मोहिं ना उधारे पतित पावन नाम गाई को॥५॥

रसिक बिहारी—रसिक बिहारी जी अयोध्या कनकभवन के महन्त महाराज श्री जानकी प्रसाद थे जिन्होंने काव्य में अपना उपनाम रसिक बिहारी या रसिकेश रखा था। ये झाँसी के निवासी थे। इनके पिता का नाम श्रीधर था जो कान्यकुब्ज ब्राह्मण तथा झाँसी के नृपमंत्री थे। रसिक बिहारी का जन्म सन् १८४४ ई० (सं० १६०१ वि०) में हुआ। जब ये एक वर्ष के थे तभी एक दिन संध्या को ये मृतकवत् हो गये, रातभर मृत के समान रहे। सबेरे जब सरयू में जल प्रवाह के लिए लोग इन्हें ले गये तब इनकी आँखें खुलीं। तब से इनका नाम जानकीप्रसाद रखा गया। गुरु ने इन्हें सभी विद्या प्रदान कीं और उनकी मृत्यु पर ये कनकभवन के महन्त बने। इन्होंने २६ ग्रंथों की रचना की, जिनके नाम ये हैं—

काव्य कुसुमाकर, मानस प्रश्न, नाम पचीसी, सुमति पचीसी, आनंद बेलि, पावस विनोद, सुयश कदंब, ऋतु रंग, नेह सुन्दरी, रस कौमुदी, विपरीति विलास, इश्क अजायब, बजरंग पचीसी, बिरह दिवाकर, पंथ प्रभाकर, कानून-ष्टाम्प, कानून-जाप्ते, सतरंज विनोद, नवल चरित्र, षट ऋतु विभाग, राम-चक्रावली, मोद मुकुर, कल्पतरु कवित्त, कवित्त वर्णावली, दरिद्र मोचन, श्रीराम रसायन। ये ग्रंथ विभिन्न स्थानों में मुद्रित हुए हैं। इन छब्बीस ग्रंथों के अतिरिक्त संग्रह कवितावली, मदन मंजन, संगृहीत संग्रही, गुसपचीसी आदि और भी छोटे छोटे ग्रंथ इन्होंने लिखे। ये ग्रंथ सन् १८६३ से १८८२ ई० के बीच बने। राम रसायन की रचना मेवाड़ चित्रकोट में उदयपुर के समीप कानोड़ में हुई थी। रसिकबिहारीजी तीर्थाटन करते हुए कानोड़ के रावत नाहरसिंह के यहाँ गये। इनके सतसंग से रावत जी बड़े प्रसन्न हुए और वहाँ रहने का आग्रह किया। तभी 'राम रसायन' ग्रंथ लिखा गया। राम रसायन के आधारभूत ग्रंथों के नाम ये हैं—हनुमंत संहिता, वसिष्ठ संहिता, अगस्त्य संहिता, निरुक्ति संहिता, सदाशिवसंहिता, रसामृत सिंधु, चरणचामर, राम रास, वाल्मीकीय रामायण, सुंदर

रामायण, भुशुंडि रामायण, महा रामायण, बाल रामायण, हनुमन्नाटक, कौशल खंड, सियगुण बल्ली, उत्सव सिंधु, गुणावली, महासुंदरी तंत्र, नवरत्न, (संस्कृत ग्रंथ) तथा अष्टजाम (नाभादासकृत), तुलसीदास के सब ग्रंथ, सीतायन, कादंबरी, नेहप्रकाश, तरंगिनी (भाषाग्रंथ) । रामरसायन ६०८ पृष्ठों का ग्रंथ है जिसमें निर्णय, जन्म, विवाह, वन, वियोग, युद्ध, अभिषेक, विहार ये आठ विधान हैं । इनके अन्तर्गत आये वर्णन और घटना प्रसंग मानस और रामायण से भिन्न हैं । अनेक लीलाओं की भी इसमें कल्पना की गई है । ये अत्यंत रोचक भी है । इनका काव्य सरस सालंकार और सुन्दर है । कुछ उदाहरण ये हैं—

शोभित सती के सती भारती रती के कर सेवित सुतीके सुरतीके नर तीके हैं ।
विमल रती के विरती के विरती के दानि शुद्ध विरती के सुरतीके सुरतीके हैं ॥
रसिक विहारी सुमती के सुगती के नित्य कारक पती के दृढ़ हारक छती के हैं ।
देववंदिनी के निमिवंश चंदिनी के युग नीके पद कंज मिथिलेश नंदिनी के हैं ॥१॥
ठौर ठौर मंजुल रसाल झौंर झौंर फूले तरुण भये हैं नव पल्लव लहलहें ।
मुदित मलिन्द डोलैं निर्तत मयूर चारु करै कमनीय कीर कोकिल कहकहे ॥
रसिक बिहारी सुखकारी है तयारी सब देव नर नारी भारी आनँद डहडहे ।
औसर विलोकि रामजन्म को तिलोक चहूँ आपही ते होन लागे मंगल गहगहे ॥२॥
झूलैं मणिमोतिन के झुमका विशाल तिनैं हेरैं टकलाय हँसि फेरि हेरि फूलै हैं ।
फूलैंहैं बिलोकि बाल चहुँ दिशि जोवैं पुनि होवै हैं अधीर रोवैं सब सुधि भूलै हैं ॥
भूलैं है रुदन जब मातु पय प्यावैं तब बहुरि आनंद है कलोलन में तूलै हैं ।
तूलैं है न या सुख पै कोटि ब्रह्मलोक सुख रसिक बिहारीलाल पालने सु झूलै हैं ॥३॥
लंक अवनीश सोहै निपट निशंक बंक दशमुख-पूरण मयंक से प्रकाशमान ।
बीस भुज रुंड लसैं परम उदंड चंड मंडित अखंड बरिबंड जे कृपान बान ।
रसिक बिहारी तेजधारी उद्ध युद्धकारी धीर वीर भारी है न जा सम त्रिलोक आन ।
जगत डरावन परावन सुदेवन को रावन मही को महारावन प्रतापवान ॥४॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राम-काव्य-धारा कवित्त की दृष्टि से क्षीण नहीं हुई । आधुनिक युग तक यह धारा प्रवाहित होती रही । रीति युग में इस धारा में शृंगारिकता और विलास वर्णन का अधिक समावेश हो गया जो युग की प्रवृत्ति के अनुकूल था । आधुनिक काल में भी राम-काव्य-धारा का विकास हुआ । जिसमें भक्ति और शृंगारिकता के स्थान पर सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टिकोण का प्रभाव परिलक्षित होता है ।

राम-काव्य के प्रसंग में ही एक गद्य में अवतरित 'रामचरित' का उल्लेख

कर देना भी यहाँ अप्रासंगिक न होगा। फोर्ट विलियम कालेज के प्रसिद्ध पंडित सदल मिश्र ने 'जान गिल क्राइस्ट' की प्रेरणा से अध्यात्म रामायण का खड़ी बोली में अनुवाद किया था। इस अनुवाद का नाम 'रामचरित्र' है। इसकी प्रति लंडन की "इंडिया आफिस लाइब्रेरी" में सुरक्षित है। यह ब्रज-भाषा मिश्रित खड़ी बोली में है। इसके निर्माण-संबंधी वक्तव्य की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"अब इस पोथी के भाषा करने का कारण यिह है कि मैं जो सदल मिश्र पंडित हूँ मुजको पाठशाला में जो साहब लोगों के लिए कलकत्ता में हूई संस्कृत की पोथियाँ भाषा करने को महा उदार सकल गुणनिधान मिस्तर जान गिलक्रुस्त साहेब ने ठहराया और एक दिन आज्ञा की कि अध्मात्म रामायण को ऐसी बोली में करो जिसमें फारसी अरबी न आवें तब मैं इसको खड़ी बोली में करने लगा।"

यह 'रामचरित्र' ३२० पृष्ठों का ग्रंथ है। यह सन् १८०५ ई० में पूर्ण हुआ था। प्रवृत्ति की दृष्टि से यह गद्य ग्रंथ है अतः आधुनिक युग में आता है। पर समय के विचार से यह रीतियुग में परिगणित होना चाहिए।

ङ. वीर-काव्य-धारा

रीतियुग में वीरकाव्य की रचना में महत्त्वपूर्ण योग मिला। वास्तव में सन् १६५० से १८५० ई० तक का समय युद्ध और विलासिता दोनों ही प्रवृत्तियों को उत्तेजित करने वाला समय था। दैनिक जीवन में जहाँ विलासिता का साम्राज्य था, समर्थ लोग अधिक से अधिक विलास-सामग्री को एकत्र करने में प्रयत्नशील थे; वहीं युद्ध भी बात-बात में छिड़ जाते थे। इन युद्धों के अनेक कारण थे। कहीं-कहीं तो ये युद्ध अत्याचार के विरोध में और अनौचित्य का मुँहतोड़ उत्तर देने के लिए होते थे। कहीं धर्म-रक्षा इनका ध्येय था। इसके अतिरिक्त अधिकांशतः दंभ के कारण अपनी आन और शान की रक्षा के लिए कभी-कभी आपस में गृहयुद्ध भी छिड़ जाते थे। किन्हीं-किन्हीं युद्धों का उद्देश्य राज्य-विस्तार था और कहीं-कहीं केवल रूप-लिप्सा एवं विलास-वासना को तृप्त करने के लिए भी युद्ध किये गये। अतः इनमें से अधिकतर इस रीति-युग के वीर काव्य में वर्ण्य विषय हो कर आये। युद्धादि के वर्णनों में वीर भावना का स्फुरण है। इसके अतिरिक्त वीर और उदार व्यक्तियों के चरितगान में भी वीररस का सुन्दर निरूपण हुआ है। इस दृष्टि से इस युग के वीर काव्य के नायक 'हम्मीरदेव' और शिवाजी हैं। छत्रसाल, फरुखसियर, हिम्मत

बहादुर आदि के युद्धों का वर्णन करने वाले काव्य प्रथम प्रकार के हैं। इन्हीं के वर्णनों के बीच में दानवीरता और धर्मवीरता के भी उदाहरण मिल जाते हैं। दानवीरों और धर्मवीरों के अन्य चरित्रों का चित्रण इस काव्य में कम ही है। भक्ति काव्य में भी हमें त्याग, धर्म, दान एवं दयावीरों के उदाहरण मिल जाते हैं। परन्तु प्रधान प्रवाह युद्धवीरत्व का वर्णन करने वाले काव्य से ही संबंध रखता है। इन वीरकाव्यधारा के ग्रन्थों का ऐतिहासिकता की दृष्टि से भी बड़ा महत्त्व है। इनमें आये वर्णन इतिहास के वास्तविक तथ्यों का विवरणपूर्ण रूप हैं। यहाँ पर हम इस धारा के कुछ महत्त्वपूर्ण कवियों और उनके काव्य का परिचय दे रहे हैं।

भूषण—ये प्रसिद्ध आचार्य चिन्तामणि और प्रसिद्ध कवि मतिराम के भाई और सुख्यात कवि थे। टिकमापुर (जिला कानपुर) के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण, कश्यपगोत्रीय रत्नाकर त्रिपाठी इनके पिता थे। टिकमापुर गाँव के पास ही बीरबल का बनवाया हुआ बिहारेश्वर का मंदिर है जिसका उल्लेख इन्होंने किया है। यह स्थान 'बीरबल का अकबर' गाँव के —जो बीरबल का जन्म स्थान माना जाता है—पास जमुना नदी के उत्तर की ओर बसा हुआ है। भूषण का जन्म सन् १६१३ ई० के आसपास कहा जाता है और मृत्यु सन् १७१५ ई० के आसपास बताई जाती है। इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ शिवराज भूषण की रचना सन् १६७३ ई० में की थी। ये शिवाजी और छत्रसाल के दरबारों में गये थे जहाँ पर इन्हें बड़ा सम्मान मिला और इन्होंने एक पंक्ति में इस भाव को व्यक्त भी किया है ("शिवा को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को")। भूषण के द्वारा बनाये हुए ग्रन्थों के नाम हैं—"शिवराजभूषण, भूषण हज़ारा, भूषण उल्लास, दूषण उल्लास, शिवा-बावनी और छत्रसाल दशक"। इनमें से प्रथम और अंतिम दो मिलते हैं, शेष अप्राप्य हैं। शिवराज भूषण रीति पद्धति पर लिखा हुआ लक्षण ग्रन्थ है, परन्तु उसके उदाहरण शिवाजी की प्रशंसा और वीरता से संबंध रखते हैं। शिवाजी को औरंगज़ेब के अत्याचार का विरोध करने वाले साहसी, वीर और उदार नायक के रूप में भूषण ने ग्रहण किया है। इस पर कुछ लोग जातीयता की भावना का आरोप करते हैं, परन्तु भूषण की भावना राष्ट्रीय और सामाजिक है, जातीय नहीं है। मुसलमानों के विपरीत नहीं, वरन् अत्याचारी औरंगज़ेब के विरुद्ध उनके उद्‌गार प्रकट हुए हैं।

भूषण की रचना अत्यन्त ओजपूर्ण है। उसमें एक विलक्षण प्रवाह और प्रभावोत्पादक विशेषता है। हमारे भीतर उत्साह का संचार करने की

उसमें शक्ति है। ऐसा जान पड़ता है कि शब्दों और भाषा पर भूषण का अधिकार था। भूषण की कल्पना भी बड़ी ऊँची और सजीव चित्र उपस्थित करने की विशेषता रखती है। अलंकारों के प्रयोग से इनके भाव और भी अधिक प्रखर रूप में प्रकट हुए हैं; वे भार स्वरूप नहीं, लालित्यवर्धक हैं। भूषण का काव्य अत्यन्त प्रख्यात है। कुछ छन्द उदाहरण स्वरूप यहाँ दिये जाते हैं—

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर पति,
फिरति फिरंगिन की नारी फरकति है।
थर थर काँपत कुतुबसाह गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते पातसाहन की छाती दरकति है॥१॥

छूटत कमान और गोली तीर बानन के,
मुसकिल होत मुरचानहू की ओट मैं।
ताही समय सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो,
दावा बाँधि परा हल्ला बीर बर जोट मैं।
भूषन भनत तेरी हिम्मत हाँ लौं कहौं,
किम्मति इहाँ लगि है जाकी भट झोट मैं।
ताव दै दै मूँछन कँगूरन पै पाँव दै दै,
अरि मुख घाव दै दै कूदि परैं कोट में॥२॥

भुज भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी सी,
खेदि खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
बखतर पाखरन बीच धँसि जाति मीन,
पौरि पार जात परवाह ज्यों जलन के।
रैया राव चंपति के छत्रसाल महाराज,
भूषन सकै करि बखान को बलन के।
पच्छी पर छीने ऐसे परे परछीने वीर,
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के॥३॥

मान कवि—मानकवि के जीवनवृत्त-संबंधी विवरण अधिक ज्ञात नहीं हैं। ये मेवाड़ के महाराज राजसिंह के—जिनका राज्यकाल सन् १६५२ से

१६८० ई० था—राजकवि थे। इस कारण कुछ लोग इन्हें चारण मानते हैं, परन्तु कुछ लोग इन्हें जैन संन्यासी भी बताते हैं। दूसरी बात की कोई संगति नहीं जान पड़ती। इन्होंने महाराज राजसिंह की प्रशंसा में अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'राजविलास' की रचना की। राजविलास की रचना सन् १६७७ से १६८० तक हुई। ग्रंथ में राजसिंह की वंश-परंपरा और जीवन का विशद वर्णन है। मान का काव्य ओजपूर्ण तथा स्वाभाविक अलंकारों के प्रयोग से दीप्त है। छन्दों का प्रयोग भी भावानुकूल है। अवसर के अनुसार अपेक्षित गति को प्रकट करने वाले विविध छन्दों का इसमें प्रयोग हुआ है। प्रमुख छन्द कवित्त, दोहा, दंडमाली, पद्धरि, त्रिज्जुमाला, मोतियदाम और त्रोटक हैं। २७ प्रकार के छन्द इसमें आये हैं। मान कवि के वर्णन भी सुन्दर है। षटऋतु, नखशिख, दुर्भिक्ष आदि के वर्णन सुन्दर हैं।

कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

अति पावस उल्हरिय करिय कंठल धुरकाली।
आसा बंधि असाढ़ हरष कर सरिभ कर हाली।
बद्दल दल बित्थुरिय चारु चपला चमकंतह।
गज्ज घोष गंभीर मोर गिरि सोर मचंतह।।
आदीत सोम छवि आवरिय बण आयौ घमसाण घण।
बरसन्त बुन्द बड़ बड़ बिमल जलधर बल्लभ जगत जण।।१।।

सलसलत सेज कलमलत कच्छ।
झलझलत उदधि रलरलत मच्छ।
परभरत चित्त षल दल अधीर।
चल चलत चक्र चहुँ डुलत नीर।।२।।

जज्जरि करि अग्गरो ढाहि दिल्ली ढंढोरों।
लाहोरिय धर लुट्टि तटकि तुरकानी तोरों।।
षनि नंषों पंधार वेगि पुरसान बिहंडों।
परजारों पट्टनहिं देस भक्खर सब दंडों।।
सुबिहान साहि औरंग को गज समेत जीवत गहौं।
हौं राजराण तो हिन्दुपति कहा अधिक तुमसों कहौं।।३।।

गोरेलाल (लालकवि)—बीकानेर निवासी और लालकवि के वंशज उत्तमलाल गोस्वामी तैलंग के द्वारा लालकवि के जीवन चरित्र तथा इनके पूर्वजों के सम्बन्ध में बातें ज्ञात होती हैं। इनके पूर्वज आंध्रदेश के राजमहेन्द्री जिले के निवासी थे। इनके पूर्वज भट्ट काशीनाथ की पुत्री का

विवाह श्री वल्लभाचार्य से हुआ था। इनका १२ वीं पीढ़ी में गोरेलाल पड़ते थे। वास्तव में इनका नाम गौरीलाल था। इनका जन्म सन् १६५८ ई० में हुआ था और ये मऊ (बुन्देलखंड) में रहते थे। महाराज छत्रसाल ने इन्हें पाँच गाँव दिये थे जिनमें से दग्धा नामक ग्राम में इनके वंशज अब भी रहते हैं। लालकवि का स्वर्गवास सन् १७१० ई० के आसपास हुआ था, क्योंकि छत्रप्रकाश में इसी समय तक की घटनाओं का वर्णन मिलता है जबकि छत्रसाल की निधनतिथि सन् १७३१ ई० है। इससे पता चलता है कि लालकवि पहले ही स्वर्गवासी हो चुके थे। लाल कवि द्वारा रचित ग्रंथों में नीचे लिखी रचनायें कही जाती हैं—छत्रप्रशस्ति, छत्र छाया, छत्रकीर्ति, छत्रछंद, छत्रसाल-शतक, छत्रहजारा, छत्रदंड, छत्रप्रकाश, राजविनोद, विष्णुविलास। परन्तु विष्णुविलास बूँदी के कवि लाल का लिखा हुआ है। इनका सर्व-विख्यात ग्रंथ है—छत्रप्रकाश। इस ग्रंथ को लाल ने महाराज 'छत्रप्रकाश' की आज्ञा से बनाया। इसमें छत्रसाल के जीवन की वास्तविक घटनाओं का वर्णन है। ये वर्णन और विशेषतया युद्ध के वर्णन बड़े बिस्तारपूर्वक हैं। छत्रप्रकाश में दोहा-चौपाई छन्दों का ही प्रयोग हुआ है। इसमें ब्रजभाषा, अवधी, बुन्देली भाषाओं का मिश्रण है। इनके वर्णन चलते हुए हैं और इतिवृत्तात्मक अधिक हैं। उनमें कला और कल्पना का बहुत कम संयोग है। कथाप्रबंध का संगठन अवश्य सुन्दर है। रचना की कुछ पंक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं—

लखत पुरुष लच्छन सब जानै। पच्छी बोलत सगुन बखानै।
सत कवि कबित सुनत रस पागै। बिलसत मति अरथन मैं आगे।
रुचि सों लखत तुरँग जे नीके। बिहँसि लेत मुजरा सब ही के।
कह्यो धन्य छिति छत्र छतारे। तुम कुलचंद हिन्दुगन तारे।
चौंकि चौंकि सब दिसि उठैं सूबा खान खुमान।
अब धौं धावै कौन पर छत्रसाल बलवान॥
दान दया घमसान मैं जाके हिये उछाह।
सोई वीर सहारिये ज्यों छत्ता छितिनाह॥

श्रीधर (मुरलीधर)—श्रीधर इलाहाबाद के रहने वाले थे। इन्हीं का दूसरा नाम (उपनाम) मुरलीधर था। इस कारण ग्रियर्सन ने इनके दोनों नामों के दो कवि माने हैं। बाबू राधाकृष्ण के मत से—जिन्होंने कि उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'जंगनामा' का संपादन किया—इनके लिखे कई ग्रंथ हैं जिनमें रागरागिनियों, नायिका भेद, जैन यतियों का वर्णन है। कुछ में चित्र काव्य और कुछ छन्दों में श्रीकृष्ण चरित से संबंधित कविता है। श्रीधर का रचना-

काल सन् १७०० के आसपास का है। जंगनामा में इनका और अधिक परिचय नहीं मिलता। इसमें फर्रुखसियर और जहाँदारशाह के युद्ध का वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ में १६३० पंक्तियाँ है। काव्य ओजपूर्ण है। दोहा-चौपाई-छन्दों का ही प्रयोग न हो कर अनेक छन्दों का प्रयोग इसमें हुआ है। भाषा परिष्कृत नहीं, परन्तु मुख्य ढाँचा ब्रजभाषा का है। ग्रंथ अधिकांश नामों और युद्ध वर्णनों से भरा हुआ है। उदाहरण निम्नांकित है—

दुहूँ ओंर साजे महामत्त दंती। सजे पक्खरों लक्ख की पूर पंती।
गड़ादार घेरें सिरी कद्द बंटा। गजे मेघ मानों बजें घोर घंटा।
घटा श्याम सी दीह ता बिंधि मापै। परी पक्खरैं झालरा झूल झाँपै।
सजे पक्खरों भक्खरों लक्ख घोरे। मनो भानु जू के रथी जोर जोरे।
चले चाहसों चंचले चाल बाँकी। दरयाई तुरुक्की तजीले इराकी ॥१॥

फौजनि की घटा की घमंड घोर घेरु करि
मौजदीन मघवा के मन में उछाह भो।
तोप गरजत तरवारि बीजु तरजत
बरषत बानन अचल चारयो राह भो।
तब गिरिविर कर धरि गिरिवरधर
श्रीधर भनत ब्रजमंडल की छाँह भो।
अब गिरधरलाल बहादुर बीर
समसेर गहि कर पातसाही को पनाह भो ॥२॥

सूदन—सूदन कवि का जीवन-वृत्त भी अधिक ज्ञात नहीं। अन्तस्साक्ष्य से केवल यह ज्ञात होता है कि ये मथुरा के रहने वाले चौबे थे। इनके पिता का नाम वसंत था। ये भरतपुर के महाराज बदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह (सूरजमल) के राजकवि थे और अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में इन्होंने 'सुजान चरित' या 'सुजान विलास' नामक ग्रंथ की रचना की। इसमें विस्तार-पूर्वक सूरजमल के सन् १७४५ से ले कर १७५३ तक ८ वर्षों की घटनाओं का वर्णन किया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये सुजानसिंह के आश्रय में इसी बीच में ही रहे। इसमें आठ वर्ष के बीच के युद्धों का वर्णन विस्तार और वास्तविकता के साथ किया गया है। प्रारंभ में १७५ कवियों की नामावली है जो निश्चय ही इनके पूर्ववर्ती या समकालीन रहे होंगे। सुजान चरित के वर्णन प्रेरक होते हुए भी कहीं कहीं उबा देने वाले हैं। अनेक स्थलों पर वस्तुओं और जातियों की नामावली इनकी जानकारी को तो प्रकट करती है, पर पढ़ते समय अरुचि हो जाती है। युद्ध-वर्णन में ध्वन्यात्मक

शब्दों का अतिशय प्रयोग कहीं कहीं भँड़ैती सा निरर्थक जान पड़ता है। यह ग्रंथ दोहा-चौपाई शैली में न होकर वीर काव्योचित विभिन्न छन्दों में लिखा गया है। संयुक्ताक्षरों और नादात्मक शब्दों के प्रयोग में यह ग्रंथ वीरगाथा युग की परंपरा में जुड़ जाता है। यों भाषा ब्रजभाषा है परन्तु बीच बीच में अवधी, पंजाबी, भोजपुरी, मारवाड़ी आदि भाषाओं के शब्द भी आये हैं। फारसी के शब्द भी स्वच्छन्दता पूर्वक प्रयुक्त हुए हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व है और वीर-काव्य-धारा में यह एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। उदाहरण—

आदित असोक भरी सोक भरी दिति और
　　दोषभरी पूतना अदोषभरी ओपिका।
कंस हिये भौ भरी अभौ भरी है अन्ध वंस,
　　पंडव कैं कीरति अकीरति की लोपिका।
लाज भरी द्रौपदी सुराज ब्रजभूमि भरी
　　कूबरी इलाज सो अवाज करो कोपिका।
देवकी अनंद भरी ऊगें बृजचन्द घरी
　　भाग भरी जसुधा सुहाग भरी गोपिका ॥१॥

भरपूर भेरि भयान भंकिय सुनत संकिय कायरं।
दुहुँ ओर पटह प्रचंड बज्जिय मनहुँ गज्जिय सायरं।
लखि दै निसाननु कुहक बाननु पंच आनन केतनं।
हथनाल अरु हयनाल देत जजाल कालनि के तनं।
रव धुन्धमांक धमाक धुन्धर धडड धुंकत धननन।
धर धूम धामधडाक धद्धर धूम उड्डिय बननन।
भभकार भम्भड़ भडडडं भंकार भग्गत भननन।
कहुँ सननन कहुँ खननन कहुँ झननन कहुँ ठननन।

हरिकेश—हरिकेश जी का जीवन वृत्त ज्ञात नहीं है। ये बुन्देलखंड निवासी और महाराज छत्रसाल के आश्रय में थे। इनके दो ग्रंथ ब्रजलीला और जगतसिंह दिग्विजय नामक प्राप्त हुए हैं और फुटकल रचनायें भी मिलती हैं। इनके काव्य में ओजपूर्ण प्रवाह अपने उत्कृष्ट रूप में विद्यमान है और अनेक छन्दों में तो इनकी रचना भूषण की रचना के समकक्ष ठहरती है। यहाँ पर उदाहरण स्वरूप छत्रसाल की प्रशंसा में लिखे इनके दो छन्द दिये जाते हैं—

डहडहे डंकन को सबद निसंक होत,
　　बहबही सत्रुन की सेना आनि सरकी।

हाथिन के झुण्ड मारु राग को उमंड इतै,
चंपति को नंद चढ्यो उमड़ि समर की।
कहै हरिकेस काली ताली दै नचत ज्यों ज्यों
लाली परसत छत्रसाल मुख वर की।
फरकि फरकि उठैं बाहु अस्त्र बाहिबे को
करकि करकि उठैं कड़ी बखतर की ॥१॥
दौरै काल किंकर कराल करतारी देत
दौरी कालो किलकत सुधा की तरंग ते।
कहै हरिकेस दाँत पीसत खबीस दौरे
दौरे मंडलीक गीध गीदर उमंग ते।
चंपति के नंद छत्रसाल आजु कौन पर
फरकाई भुज औ चढ़ाई भौंह भंग ते।
भंग डारि मुख ते भुजान ते भुजंग डारि
दौरे हर कूदि डारि गौरी अरधंग ते ॥२॥

जोधराज—जोधराज का भी जीवन-परिचय अधिक नहीं मिलता। ये अलवर राज्य में नीमराणा (नींवगढ़) ये राजा चंद्रभान चौहान के आश्रय में थे।[1] ये गौड़वंशीय ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम बालकृष्ण था। निवासस्थान इनका बीजवार ग्राम था। ये ज्योतिष के पंडित एवं काव्य कला विशारद थे। इन्होंने अपने आश्रयदाता राजा चन्द्रभान की आज्ञा पा कर 'हम्मीर रासो' ग्रंथ की रचना की। इसके अन्तर्गत रणथम्भौर के राजा हम्मीर देव और अलाउद्दीन के युद्धों का ओजपूर्ण वीरकाव्य शैली में वर्णन है। यह प्राचीन शैली पर लिखा गया काव्य है। हम्मीर रासो की रचना सन् १८२८ ई० में हुई थी। इसका रचनासूचक दोहा इस प्रकार है—

चंद्र नाग वसु पंच गिनि संवत माधव मास।
शुक्ल सुतृतिया जीव जुत ता दिन ग्रंथ प्रकास ॥

हम्मीर को ले कर लिखे गये इस काव्य में विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। प्रवाह चलताऊ तथा भाषा ओजपूर्ण है। बीच बीच में कहीं कहीं गद्य वचनिका भी हैं। हम्मीर के जीवन के साथ इसमें ऋतु वर्णन भी है। इनके वर्णन सुन्दर हैं। उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

उठे बद्दलं घोर आकाश भारी। भई एक बारं अपारं अँध्यारी।
बहै पौन चारयो महासीतकारी। चहूँ ओर कोधंत दामिनि अँध्यारी।
घने घोर गज्जंत वर्षन्त पानी। कलापी पपीहा रहैं भूरि बानी।

तहाँ बाल झूलंत गावंत झीनी। रही जाय आश्रम भई काम भीनी।

का नहिं पावक जरि सकै, का नहिं सिन्धु समाय।
का न करै अबला प्रबल, किहिं जग काल न खाय।
कवि लाखन अबला कहत, सबला जोध कहन्त।
दुबला तन मैं प्रगट जिहिं, मोहत संत असंत॥

बज्जंत सार गज्जंत अब्भ। रणधीर सथ्थ आयेस सब्भ।
करि कोध जोध बाहंत सार। टूटंत अंग फूटंत पार॥
करि खेल सेल दोउ ओर वीर। बाहंत बीर किरवान धीर।
हज्जार बीर बद्धंत साह। धर परे वीर करि अकथ गाह॥

हम्मीर को ले कर तीन ग्रन्थ इस युग में लिखे गये। इस 'हम्मीर रासो' के अतिरिक्त ग्वाल कवि द्वारा लिखित हम्मीर काव्य और चन्द्रशेखर कृत हम्मीर हठ है। ग्वाल का ग्रन्थ मिलता नहीं है।

चन्द्रशेखर वाजपेयी—चन्द्रशेखर वाजपेयी का जन्म सन् १७९८ में जिला फतेहपुर में असनी के निकट मौजवाबाद में हुआ था। इनके पिता पंडित मनीराम वाजपेयी भी बड़े अच्छे कवि थे। उनके वंश में कविता परंपरागत थी। चन्द्रशेखर संस्कृत के विद्वान् थे और भाषा काव्य में इनके गुरु असनी के महापात्र (बादशाह की दी हुई उपाधि) करनेश थे। २२ वर्ष की अवस्था में ये देशाटन करते हुए दरभंगा पहुँचे जहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ। २९ वर्ष की अवस्था में ये जोधपुर गये। वहाँ के राजा मान की प्रशंसा में एक कवित्त पढ़ा जिसपर प्रसन्न हो कर महाराज ने इन्हें १००) महीना की वृत्ति दी। ये मानसिंह के समय तक ६ वर्ष वहाँ रहे। फिर महाराज रणजीतसिंह के यहाँ जाने को तैयार हुए पर मार्ग में पटियाला नरेश के सम्मान से अभिभूत हो कर ये वहीं रहने लगे और अन्त तक वहीं रहे। कभी कभी ये वृन्दावन आया करते थे जहाँ पर इन्होंने 'वृन्दावन शतक' बनाया। इनका स्वर्गवास सन् १८७५ ई० में हुआ। पटियाला के महाराज कर्मसिंह की आज्ञा से नीति का एक ग्रंथ और महाराज नरेन्द्रसिंह की आज्ञा से 'हम्मीरहठ' काव्य रचा। इनके बनाये ग्रन्थ-हम्मीर हठ, नखशिख, रसिक विनोद, वृन्दावन शतक, गुरुपंचाशिका, ताजक, माधवीवसन्त, हरिभक्ति विलास और राजनीति का एक बृहत् ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ पटियाले में इनके वंशधरों के यहाँ से प्राप्य हैं।

चन्द्रशेखर की रचना बड़ी ओजपूर्ण और चुटीली है। हम्मीर हठ की पंक्तियाँ बड़ी ही प्रेरक और उत्तेजक हैं। इसमें दोहा, चौपाई, सोरठा, कवित्त, सवैया, झूलना, त्रिभंगी, भुजंगप्रयात, पद्धरि, छप्पय, त्रोटक, मोतियदाम, छन्दों

का प्रयोग किया गया है। हम्मीर हठ वीर रस का सुन्दर काव्य है। इसकी रचना सन् १८४५ ई० में हुई थी। इसमें आये शृंगार रस के छन्द भी बड़े सरस हैं और वीर रस के छन्दों में तो एक विशिष्ट प्रवाह है जो कवि की छन्द-सिद्धि का द्योतक है। उदाहरण—

थोरी थोरी बैसवारी नवलकिसोरी सबै भोरी भोरी बातन बिहँसि मुख मोरतीं।
बसन बिभूषनि विराजित विमल वर मदन मरोरनि तरकि तन तोरतीं।
प्यारे पातसाह के परम अनुराग रँगी चाय भरीं चायल चपल दृग जोरतीं।
काम अबला सी कलाधर की कला सी चारु चंपकलता सी चपला सी चित चोरतीं ।।१।।

उवै भानु पच्छिम प्रतच्छ दिन चंद्र प्रकासै।
उलटि गंग बरु बहै कामरति प्रीति बिनासै।
तजै गौरि अरधंग अचल ध्रुव आसन चल्लै।
अचल पौन बरु होय मेरु मन्दरगिरि हल्लै।
सुरतरु सुखाइ लोमस मरै मीर संक सब परिहरौ।
मुख बचन बीर हम्मीर को बोलि न यह बहुरो टरौ ।।२।।

चलै सेस डोले सही मेरु हल्लै महारुद्र सो तीसरो नैन खोलै।
चहूँ ओर तोपैं चलैं बान छूटैं झकाझार समसेर की मार बोलै।
उठै रुंड भूमै परे मुंड लोटैं भरै कुंड लोहू बहे बीर डोलै।
चले प्रान जावैं कटै गात सारे टरै बात ना जौन हम्मीर बोलै ।।३।।

कटी कूँड़ी टोप कवच सनाह टूक टूक परी भूमि भूमि भूमि मैं झिलिमि झहराय।
परे झुंडन के झुंड कटे वीर बरिबंड कहूँ रुंड कहूँ मुंड कहूँ तुंड तलफाय।
भिरै भूत भीम भैरव भ्रमत रन रुद्र जुरि जोगिनी जगावत मसान जस गाय।
होत जंग मन मुदित उमंग सरसाइ हेर हनत विपच्छिन हमीर हरषाइ ।।४।।

दान दीने द्विजनि दरिद्र करि दूरि भूरि दंड दीने खलनि प्रचंडनि उताल मैं।
हार दीनो अरिनि बिडारि तरवारि मुख न्याइ दीने सकल निपाटि सुनि हाल मैं।
तात मात सुन्दरी सकल परिवार सुख दीनै मैं हमीर हठ धारो सब काल मैं।
राज दैहौं सुत को समाज सब साजि आज सीस दैहौं अरपि गिरीस जू की माल मैं ।।५।।

इन कवियों के अतिरिक्त वीर काव्य संबंधी और भी रचनायें हैं जिनके विवरण विस्तार भय से छोड़ दिये गये हैं। बहुत से ऐसे ग्रंथ या रचनायें जो वीर काव्य की हैं, पर उनके रचयिता अन्य धाराओं में अपना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ऐसे कवियों में मतिराम, गुलाब, बनवारी, कुलपति, गंजन, शंभुनाथ मिश्र, पद्माकर, प्रतापसाहि, ग्वाल आदि कवियों के नाम लिये जा सकते हैं जिनके काव्य ग्रंथों की एकाध रचनायें या कुछ छन्द

वीर-काव्य-धारा के भीतर आ सकते हैं। वीर काव्य की ओजमयी विशेषताएँ इस युग के वीर काव्य में अधिक निखरी हैं और उपर्युक्त विवरणों में आये कवियों की रचनायें वीर गाथा युग के कवियों की रचनाओं से भी अधिक प्रभावकारी हैं। भूषण, सूदन, लाल, जोधराज, चन्द्रशेखर आदि की रचनायें इसका प्रमाण हैं। भाषा, भाव और प्रभाव सभी दृष्टियों से ये रचनायें उत्कृष्ट हैं।

इस युग के बाद वीर-काव्य-धारा ने दूसरी ओर मोड़ लिया। आधुनिक युग की परिस्थितियों में वैयक्तिक वीरता के बखान का अवसर समाप्त हो गया; परन्तु उसके स्थान पर नवीन जागरण का संदेश ध्वनित करता हुआ जो देश-प्रेम का घोष गूँजा उससे वैयक्तिक वीरता बखान का स्थान राष्ट्रीय भावना ने ग्रहण कर लिया जिसका विवेचन और विवरण हम आगे के अध्याय में करेंगे।

च. नीति-मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य का अपना महत्त्व है। प्रबन्ध काव्य की प्रवृत्ति जहाँ हमारी कुतूहल वृत्ति को जाग्रत करती है, और परिस्थितियों और घटनाओं की पृष्ठभूमि में चरित्रों का वर्णन करती है वहाँ पर मुक्तक काव्य में प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र रहता है। इसके भीतर किसी भी भाव से संबंधित काव्य की रचना हो सकती है। भक्ति और वीर-काव्यधाराओं में भी मुक्तक छन्दों का व्यवहार मिलता है और अनेक मुक्तक रचनायें उन प्रवृत्तियों से संबंधित भी हैं। इसके अतिरिक्त शृंगार की भी मुक्तक रचनायें इस रीतियुग में हुईं जिनपर आगे हम विचार करेंगे। परन्तु नीति-मुक्तकों की अपनी विशेषतायें हैं। नीति-मुक्तक काव्य में जीवन के विविध अनुभवों का तटस्थ रूप से स्मरणीय शब्दों में प्रकाशन होता है। जीवन और प्रकृति के व्यापारों और क्रियाकलापों को देख कर कवि की सारग्राहिणी बुद्धि कुछ निष्कर्ष निकालती है। ये निष्कर्ष उस प्रकार के अनुभव वाले व्यक्तियों के लिए तो बड़े मनोरंजक होते ही हैं, अन्य व्यक्तियों के लिए भी ज्ञानवर्द्धन एवं पथ-निर्देशन का कार्य करते हैं। नीति-मुक्तक सूक्तियाँ वे हैं जिनमें उक्ति की विशेषता के साथ वैयक्तिक सामाजिक जीवन से सम्बन्धित नीति की बातें कही जाती हैं। ये विधि निषेध-मय भी होती हैं और केवल अनुभव कथन के रूप में भी। नित्यप्रति के जीवन और व्यवहार में ये नीति-मुक्तक बड़े काम के सिद्ध होते हैं।

यों तो नीति-मुक्तक सभी प्रकार की काव्यधाराओं में थोड़े बहुत मिल जाते हैं और सभी महत्त्वपूर्ण कवियों की रचनाओं में सूक्तियाँ मिलती हैं; परन्तु कुछ कवियों की प्रवृत्ति ही इस प्रकार के नीतिमुक्तक लिखने की होती

है। वे बड़े सरस ढंग से अपने अनुभव को संक्षिप्त शब्दावली में व्यक्त कर के सुलभ और स्मरणीय बना देते हैं। इस प्रकार के काव्य प्रायः शतकों, सप्तशतियों आदि के रूप में मिलते हैं। संस्कृत काव्य में भी नीति मुक्तक और सूक्ति का विशाल भंडार है। हिन्दी में भी इसकी परम्परा सुन्दर है। कबीर, तुलसी, रहीम, गंग आदि के नीति मुक्तक बड़े प्रसिद्ध हैं। हिन्दी साहित्य के 'रीतियुग' में भी इस नीति मुक्तक काव्य की परम्परा का सुन्दर विकास हुआ और काफ़ी संख्या में सूक्ति साहित्य लिखा गया है।

सूक्ति साहित्य या नीति मुक्तकों के लिए सभी छन्द उपयोगी नहीं होते। हिन्दी के दोहा, सोरठा, छप्पय, सवैया, कवित्त और कुंडलिया छन्दों का प्रयोग विशेष रूप से इस साहित्य में हुआ है। दोहा, सोरठा, बरवै इसके लिए अधिक उपयुक्त छन्द हैं, क्योंकि ये छोटे और सहज स्मरणीय हैं। अन्य छन्दों की प्रायः अंतिम पंक्ति में नीति या सूक्ति की आत्मा झलकती है अतः बहुत से छन्दों की अन्तिम पंक्तियाँ स्मरण रह जात । इसका दिन प्रतिदिन के जीवन में विशेष महत्त्व है। यहाँ हम कुछ प्रमुख कवियों का परिचय दे रहे हैं।

गोपालचन्द्र मिश्र—गोपालचन्द्र का जन्म सन् १६३३ ई० में छत्तीसगढ़ में हुआ था। इनके पिता का नाम गंगाराम था। गंगारामजी भी कवि थे तथा गोपाल के पुत्र माखनचंद्र भी कवि थे। 'राम प्रताप' नामक काव्य गोपाल और माखन—पिता पुत्र दोनों ने मिल कर लिखा था। गोपालचंद्र रतनपुर के राजा राजसिंह के दीवान पद पर भी सम्मानित हुए थे। उनकी इच्छा-पूर्त्ति के लिए इन्होंने सन् १६८९ ई० में 'खूब तमाशा' नामक काव्य ग्रंथ की रचना की थी। इसके अतिरिक्त इन्होंने जैमिनी अश्वमेध (सन् १६९५ में) सुदामा चरित्र (१६९९ में) भक्तिचिन्तामणि (१७०२ में) लिखे। इन्होंने विभिन्न दिशाओं के देशों के गुण-दोष भी लिखे हैं। उनकी रचना के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

सोई नैन नैन जो बिलोकें हरि मूरति को,
सोई बैन बैन जे सुजस हरि गाइये।
सोई कान कान जामें सुनिये गुनानुवाद,
सोई नेह नेह हरि जू सों नेह लाइये।
सोई देह देह जामें पुलकित रोम होत,
सोई पाँव पाँव जामें तीरथनि जाइये।
सोई नेम नेम जे चरन हरि प्रीति बाढ़े,
सो भाव भाव जो गोपाल मन भाइये ॥१॥

गाम हजारो छाड़ि के, खेती करिहौं बाम,
सब जग जाके करे तें, खात पियत निज धाम ।।२।।

साँझहू सबेरे दही दूध के रहत सुख लीयो करै स्वाद ये रसाल नई नई को ।
नित प्रति रहै सातो पौनि पै हुकुम सरकार में रहत भलो बस्सा ठकुरई को ।
जीवै जग जाते जग जीव को कनूका मिलै भली बात यह काम मरदई को ।
कहत 'गुपाल' बीस नह की कमाई यातें सब ही ते भलो यह पेसा किसनई को ।।३।।

खेती करत किसान के, मोते दुख सुनि लेउ ।
हर लैके पिय खेत मैं, भूलि पाँव मति देउ ।।४।।

कारी होत देह सहे सीत घाम मेह नित रहै लेह देह सुख नहीं खानपान को ।
बरहे में बास राखे व्यौहरे की आस ईति भीति ते उदास गिरिमान नयमान को ।
राजै देत पोता हरजोता खूब सोता नाहिं खोता दिन योंहीं रहैं लेस न सयान को ।
देह में न चाम रहै हाथ में न दाम याते कहत 'गुपाल' काम कठिन किसान को ।५।।

बेनी कवि—बेनी कवि बैंती ज़िला रायबरेली के निवासी थे । इनका समय सन् १८५० के आस पास है । ये अवध के नवाब के वज़ीर टिकैतराय के आश्रय में रहते थे । उन्हीं के नाम पर टिकैतराय-प्रकाश ग्रंथ बनाया था । एक बेनी असनी के निवासी भी थे जिनका समय सन् १६३३ के आस-पास माना जाता है । परन्तु रायबरेली वाले बेनी अपने भँड़ौआ (व्यंग्य काव्य) के लिए प्रसिद्ध हैं । इनका एक ग्रंथ रसविलास भी है । इनके भँडौओं में बड़े सामाजिक एवं वैयक्तिक व्यंग्य भरे हुए हैं । दो एक उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

गड़ि जात बाजी औ गयन्दगन अड़ि जात सुतुर अकड़ि जात मुसकिल गऊ की ।
बावन उठाय पाँव धोइबे जो धरत होत आप गड़काब रहि जात पाग मऊ की ।
बेनी कवि कहैं देखि थर थर काँपै गात रथन के पथ ना विपद बरदऊ की ।
बार बार कहत पुकार करतार तोसों मीचु है कबूल पै न कीच लखनऊ की ।।१।।

चींटी की चलावै को मसा के मुँह आय जाँय,
स्वास की पवन लागे कोसन भगत हैं ।
ऐनक लगाये मरू मरू कै निहारे जात,
अनु परमानु की समानता खगत है ।
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौ बखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म को बिचारिबो सुगत है ।
ऐसे आम दीन्हें दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेरु सो लगत है ।।२।।

कारीगर कोऊ करामात कै बनाय लायो,
लीनो दाम थोरो जानि नई सुघरई है।
रायजू को रायजू रजाई दीनी राजो ह्वैकै,
सहर में ठौर ठौर सोहरत भई है।
बेनी कवि पाय के अघाय रहे घरी द्वैक,
कहत न बने कछु ऐसी मति ठई है।
साँस लेत उड़िगो उपल्ला औ भितल्ला सबै,
दिन द्वै के बाती हेत रुई रहि गई है ॥३॥

वृन्द कवि—गोस्वामी तुलसीदास और रहीम के बाद हिन्दी साहित्य के तीसरे सूक्तिकार के रूप में वृन्द का ही नाम विख्यात है। इनका जन्म सन् १६४३ ई० में मेड़ते, राजस्थान में हुआ था। इनके पिता कविरूप जी भी डिंगल के कवि थे। वृन्द ने काशी में तारा पंडित से संस्कृत और पिंगल की शिक्षा प्राप्त की थी। ये जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह के दरबार में रहे। सन् १६७३ ई० में ये औरंगज़ेब के दरबार में गये और दरबारी कवि के रूप में १०) प्रति दिवस इनकी वृत्ति बँध गई। बीच बीच में ये कृष्णगढ़ के राजकुमार राजसिंह तथा अजमेर के सूबेदार कादरी की कन्या के भी शिक्षक रहे। राजसिंह के गद्दी पर बैठने पर ये कृष्णगढ़ के दरबार में आये और १५ वर्ष तक वहाँ रह कर ८० वर्ष की अवस्था में १७२३ ई० में परलोकवासी हुए। वृन्द ने अनेक ग्रंथ लिखे जिनके नाम सत्य स्वरूप, रूपक बर्चानिका, अलंकार सतसई, शृंगार-शिक्षा, हितोपदेशाष्टक, भावपंचाशिका और वृन्द-विनोद हैं। अंतिम ग्रंथ ही वृन्द सतसई के नाम से प्रसिद्ध है जो सबसे अधिक इनका विख्यात ग्रंथ है। इसकी रचना सन् १७०४ ई० में हुई जैसा कि सतसई के निम्नांकित दोहे से प्रकट है—

संवत ससि रस वार ससि कातिक सुदि ससि वार।
सातैं ढाका सहर मैं उपज्यो इहै विचार ॥

इसका प्रारंभ ढाका में हुआ था। इनके ग्रंथों को देखने से पता चलता है कि ये स्वभाव से मुक्तककार थे। सतसई में इनके लोकनीति सम्बन्धी मुक्तक दोहा छन्द में लिखे गये हैं। कुछ उदाहरण ये हैं—

बनती देख बनाइये, परन न दीजै खोट।
जैसी चलै बयार जब, तैसी दीजै ओट ॥
जैसो बन्धन प्रेम को, तैसो बन्ध न और।
काठहिं भेदै कमल को, छेद न निकरै भौंर ॥

जो जाको गुन जानही, सो तेहि आदर देत।
कोकिल अंबहिं लेत है, काग निबौरी हेत ॥
रस अनरस समुझै न कछु, पढ़ै प्रेम की गाथ।
बीछू मंत्र न जानही, साँप पिटारे हाथ ॥
फेर न ह्वैहै कपट सों, जो कीजै व्यवहार।
जैसे हाँड़ी काठ की, चढ़ै न दूजी बार ॥

बैताल—ये विक्रमसाह के दरबार में रहते थे। इनका जन्म सन् १६७७ ई० में माना जाता है। इनका अधिक वृत्त ज्ञात नहीं है। इन्होंने विक्रम को संबोधित करते हुए लोक-व्यवहार एवं नीति-संबंधी छप्पय लिखे हैं। ये बड़ी चलती हुई अवधी भाषा में लिखे गये हैं जिसमें ब्रजभाषा के भी रूप मिलते हैं। इनकी उक्तियाँ अत्यंत प्रभावकारी हैं। इनमें ग्राम्य भाषा की उद्दंडता और सीधापन है, नागर भाषा की मंजुल प्रांजलता और व्यंग्य नहीं। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

टका करै कुल हूल, टका मिरदंग बजावै।
टका चढ़ै सुखपाल, टका सिर छत्र धरावै।
टका माय अरु बाप टका भाइन को भैया।
टका सासु अरु ससुर टका सिर लाड़ लड़ैया ॥
अब एक टके बिन टकटका लगो रहत नित राति दिन।
बैताल कहैं विक्रम सुनो धिक जीवन एक टके बिन ॥१॥

ससि बिनु सूनी रैन ज्ञान बिन हिरदै सूनो।
कुल सूनो बिन पुत्र पत्र बिनु तरुवर सूनो।
गज सूनो इक दंत ललित बिन सायर सूनो।
विप्र सून बिन बेद पेड़ बिन पुहुप बिहूनो।
हरि नाम भजन बिनु संत अरु घटा सून बिन दामिनी।
बैताल कहैं विक्रम सुनो पति बिन सूनी कामिनी ॥२॥

घाघ—घाघ के जीवन वृत्त का पता मौखिक सूचनाओं से ही प्राप्त होता है। कहते हैं कि ये कन्नौज के निवासी, दुबे ब्राह्मण थे। कन्नौज में इनके वंशज अब भी रहते हैं। इनका जन्म १६९६ ई० में माना जाता है। इनके नाम पर एक गाँव घाघसराय कहा जाता है। इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता परन्तु इनके नीति-संबंधी छंद और विशेष रूप से खेती-संबंधी अनुभव लोगों को कंठस्थ हैं जो इनके जीवन संबंधी व्यापक अनुभव को व्यक्त करते हैं। इनके नाम से प्राप्त छन्द ठेठ बोलचाल की भाषा में मिलते हैं। इनकी रचना

वास्तव में लोक साहित्य के रूप में है। फिर भी नीति-संबंधी चुटीली उक्तियाँ इनकी बड़ी प्रभावकारी हैं। खेती संबंधी इनकी बातें तो किसानों का मार्ग-प्रदर्शन करती हैं। कुछ उदाहरण—

आलस नींद किसानै नासै, चोरै नासै खाँसी।
अँखियाँ लीबर बेसवै नासै, बाबै नासै दासी ॥१॥

× × ×

ना अति बरखा ना अति धूप। ना अति बकता ना अति चूप ॥
लरिका ठाकुर बूढ़ दिवान। ममिला बिगरै साँझ बिहान ॥२॥

× × ×

माघ क ऊषम जेठ क जाड़। पहिले बरिखै भरिगै गाड़ ॥
कहैं घाघ हम होब वियोगी। कुँआ खोदि कै धोइहैं धोबी ॥३॥

× × ×

कोपै दई मेघ ना होई। खेती सूखति नैहर जोई।
पूत विदेस खाट पर कंत। कहैं घाघ ई विपति क अंत ॥४॥

गिरिधर कविराय—गिररिधर कविराय हिन्दी साहित्य में और जनसाधारण के बीच प्रसिद्ध कुंडलियाकार के रूप में प्रख्यात हैं। शिवसिंह ने इनका जन्म समय सन् १७१३ ई० माना है। अतः इनका रचनाकाल सन् १७५० के आस पास माना जाना चाहिए। इनका और जीवन वृत्त ज्ञात नहीं। परन्तु अनुमान से ये अवध प्रदेश के निवासी जान पड़ते हैं। कहते हैं कि एक बढ़ई से अनबन हो जाने से उसके कहने पर राजा ने इनके आँगन के बेर के वृक्ष को काटने की आज्ञा दे दी। गिरिधर के प्रार्थना करने पर भी वह न माना, तब ये गाँव छोड़ कर चले गये और जीवन भर भ्रमण में व्यतीत किया। साथ में इनकी स्त्री भी थी। यह भी कहा जाता है कि स्त्री ने भी कुंडलियाँ बनाईं और जिनमें 'साईं' शब्द की छाप है, वे इनकी स्त्री की बनाई हुई हैं। अनलंकृत एवं सीधी भाषा में लिखी गयी गिरिधर की कुंडलियों का एक विशेष प्रभाव है और जनसाधारण में वे खूब प्रचलित हैं। अन्योक्ति के रूप में भी इनकी कुंडलियाँ लोक-व्यवहार और नीति की शिक्षा देती हैं। ये बड़ी सरल और चलती हुई भाषा में हैं। भाषा मिश्रित है। उदाहरण—

साईं बैर न कीजिये, गुरु पंडित कवि यार।
बेटा बनिता पँवरिया, यज्ञ करावन हार ॥
यज्ञ करावनहार, राजमंत्री जो होई।
विप्र परोसी वैद, आप को तपै रसोई ॥

कह गिरिधर कविराय, जुगुन ते यह चलि आई।
इन तेरह सों तरह दिये, बनि आवै साईं ॥१॥
जाकी धन धरती हरी, ताहि न लीजै संग।
जो चाहे लेती बनै, तौ करि राखि अपंग ॥
तो करि राखु अपंग, भूलि परतीति न कीजै।
सौ सौगन्दै खाय, चित्त में एक न दीजै।
कह गिरिधर कविराय, खटक जैहै नहिं ताकी।
अरि समान परिहरिय, हरी धन धरती जाकी ॥२॥
साईं घोड़े आछतहिं, गदहन पायो राज।
कौआ लीजै हाथ में, दूरि कीजिये बाज ॥
दूरि कीजिये बाज, राज पुनि ऐसो आयो।
सिंह कीजिये कैद, स्यार गजराज चढ़ायो।
कह गिरिधर कविराय, जहाँ यह बूझि बधाई।
तहाँ न कीजै भोर, साँझ उठि चलिये साँईं ॥३॥
सोना लादन पिय गये, सूना करि गये देस।
सोना मिले न पिय फिरे, रूपा ह्वै गये केस ॥
रूपा ह्वै गये केस, रोय सब रूप गँवाया।
सेजन को बिसराम, पिया बिन कबहुँ न पाया ॥
कह गिरिधर कविराय, लोन बिन सबै अलोना।
बहुरि पिया घर आव, कहा करिहौ लै सोना ॥४॥

अलीमुहिब खाँ 'प्रीतम'—अलीमुहिब खाँ आगरा के निवासी थे। इन्होंने सन् १७३० ई० में एक हास्यरस का ग्रंथ लिखा जिसका नाम है 'खटमल बाईसी'। बाईस छन्दों में यह खटमल पर हास्य-व्यंग्य पूर्ण काव्य है। इनका और कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ। खटमल बाईसी काशी के चंद्रप्रभा प्रेस में सन् १८६६ में छपा था। इसका रचनाकाल संबंधी दोहा इस प्रकार है—

रिषि बसु दीपक चंद सुभ संबत भादों मास।
कृष्णपक्ष रवि सप्तमी, रच्यो ग्रंथ रसहास ॥

इस ग्रंथ के देखने से ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने और रचनायें भी की होंगी परन्तु और किसी ग्रंथ का पता नहीं लगता। नमूने के छन्द नीचे दिये जाते हैं—

बाघन पै गयो देखि बनन मैं रहे छपि साँपन पै गयो तौ पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयो धूलि डारत हैं सीस पर बैदन पै गयो काहू दारु न बताई है ॥

जब हहराय हम हरि के निकट गये हरि मोसों कहो तेरी मति भूत छाई है।
कोऊ न उपाय भटकत जिन डोलै सुनै खाट के नगर खटमल की दुहाई है ॥१॥
जगत के कारन करन चारौ वेदन के कमल में बसे वै सुजान ज्ञान धरि कै।
पोखन अवनि दुख सोखन तिलोकन के समुद्र में जाय सोए सेस सेज करि कै ॥
मदन जरायो औ सँघारै दृष्टि ही मैं सृष्टि बसे हैं पहार वेहू भाजि हरबरि कै।
विधि हरि हर और इनते न कोऊ तेऊ खाट पै न सोवैं खटमलन को डरि कै ॥२॥

सम्मन—सम्मन हरदोई जिले के मल्लाँवा स्थान में सन् १७७७ ई० में उत्पन्न हुए थे। इनका रचना काल १८०० ई० के आस पास रहा। ये ब्राह्मण थे और इनके नीति संबंधी दोहे वृन्द, गिरिधर और तुलसी के छन्दों के समान प्रसिद्ध रहे हैं। सन् १८२२ ई० में इन्होंने 'पिंगल काव्य भूषण' ग्रंथ छन्द और अलंकार पर भी लिखा। पर इनकी प्रसिद्धि अपने नीति-दोहों के कारण विशेष हुई। इनके दोहे उदाहरण के लिए यहाँ दिये जाते हैं—

बाज बीर बीरा बनिज, द्यूत कला कलपोत।
सम्मन इन सातहुन पै, चोट करे रँग होत ॥१॥
विप्र वैद्य बालक बधू, गुरु गरीब अरु गाय।
सम्मन इन सातहुन पै, चोट करे रँग जाय ॥२॥
निकट रहे आदर घटै, दूरि रहे दुख होय।
सम्मन या संसार मैं, प्रीति करो जनि कोय ॥३॥
सम्मन चहु सुख देह को, तौ छोड़ौ ये चारि।
चोरी चुगुली जामिनी, और परायी नारि ॥४॥
सम्मन मीठी बात सों, होत सबै सुख पूर।
जेहिं नहिं सीखो बोलिबो, तेहि सीखो सब धूर ॥५॥

दीनदयाल गिरि—बाबा दीनदयाल गिरि का जन्म सन् १८०२ में काशी के गऊघाट में रहने वाले एक पाठक-परिवार में हुआ था। पाँच छह वर्ष की अवस्था में ही इनके माता-पिता इन्हें महन्त कुशागिरि को सौंप कर स्वर्गवासी हुए। महन्त कुशागिरि देहली विनायक नामक स्थान पर गोसाईं थे और मठाधीश थे। बाबा दीनदयाल गिरि इनके चेले हो कर वहीं रहने लगे। कुशागिरि के देहावसान के बाद ये मौटली गाँव वाले मठ में रहने लगे। भारतेन्दु के पिता बाबू गोपालचन्द्र से इनका बड़ा स्नेह था। बाबाजी संस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। विद्वान् होने के साथ साथ ये भावुक एवं सिद्ध कवि भी थे। इनकी अन्योक्तियाँ हिन्दी संसार में अपना महत्त्व रखती हैं। भाषा पर इनका विलक्षण अधिकार था। सरस और भावपूर्ण काव्य-रचना

की विशेषता के साथ श्लेष और यमक की भी इन्हें सिद्धि थी। इनका अनुराग बाग इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। बाबाजी का काव्य अत्यंत उत्कृष्ट कोटि का है। इनका देहावसान सन् १८५८ ई० में हुआ। इनके बनाये ग्रंथों के नाम हैं—दृष्टांततरंगिणी (सन् १८२२), अनुराग बाग (१८३१), विश्वनाथ-नवरत्न (१८२२), अन्योक्तिमाला वैराग्य दिनेश (१८४६), अन्योक्ति कल्पद्रुम (१८५५)। इनकी रचना सानुप्रास, सालंकार, सरस एवं सप्रवाह है। उदाहरण—

हरि के सुमिरे दुख सबै, लघु दीरग अघ जाहिं।
जैसे केहरि भूरि भय, करि मृग दूरि नसाहिं ॥१॥
पूजत लोग मलीन कों, पावन जन पूजैं न।
करन श्रान सुबरन लसैं, लेपत कज्जल नैन ॥२॥

सुमन गई ही लैन आई हौं सुमन खोय,
दुसुमन मेरी तापैं बोलैं हैं चबाई री।
कहा करों बीर अब आवत न मोहि धीर,
साँवरो सरीर देखि पीर सरसाई री।
वा छवि के सिन्धु आज लाज की जहाज मेरी,
बूड़ि गई कछू नाहिं चलत उपाई री।
पथी दृग ए बिसाल होय के बिहाल वाके,
रहे हैं दुकूलनि के कूलनि मैं जाई री ॥३॥

गायगो री मोहनी ! सुराग बंसुरी के बीच,
कानन सुहाय मार मंत्र को सुनायगो।
नायगो री नेह डोरी मेरे गर में फँसाय,
हिरदय बीच चाय बेलि को बँधायगो।
धायगो री रूप वाको अति ही अनूप हिये,
दीनद्याल आय आय चित को चलायगो।
लायगो री रोरी बरजोरी मति भोरी करि,
तबहीं ते हाय लाय विरह लगायगो ॥४॥

हँसि हँसि बोलनि की माधुरी रही हैं बसि,
कुंडल की डोलनि कपोलनि की झलकैं।
ललकैं बिलोकि ललना के गन कल नाँहि,
हालन लगी हैं स्याम लालन की अलकैं।
कोटिन अनंग छवि संग अंग अंगन के,
सुखमा तरंग वे हियै मैं आनि हलकैं।

रूप के निधानै नैन जानैं क्यों बखानैं बैन,
जानैं जड़ ताहि को विधानैं जानैं पलकैं ।।५।।

भौंरा अंत बसंत को है गुलाब यहि रागि ।
फिरि मिलाप अति कठिन है या बन लगे दवागि ।।
या बन लगे दवागि नहीं यह फूल लहैगो ।
ठौरहिं ठौर भ्रमात बड़ो दुख तात सहैगो ।।
बरनै दीनदयाल किते दिन फिरिहै दौरा ।
पछितैहै कर दिये गये रितु पीछे भौंरा ।।६।।

आली चंदन की न क्यों पाली माली क्रूर ।
मतवाली मति तो भई सींचत बेरि बबूर ।।
सींचत बेरि बबूर दुखद कंटक हैं ताके ।
सेवत क्यों नहिं अंध गंध मुदकर वर जाके ।।
बरनै दीनदयाल सबै श्रम जैहैं खाली ।
पालत है किन ताप समन चंदन की आली ।।६।।

रीति-शृंगार काव्य-धारा

काव्य की धारा सतत प्रवहमान रहती है । किसी युग में पूर्ववर्ती युग की काव्यधाराओं के प्रवाह में जब कोई नूतन और प्रेरक शक्ति नहीं रह जाती तब युग की अपनी परिस्थितियों के अनुकूल नवीन प्रवृत्ति का विकास होता है और वह नव-विकसित प्रवृत्ति उस युग पर छा जाती है । प्रायः हम किसी युग का नामकरण भी इस नवीन प्रवृत्ति के आधार पर ही करते हैं । रीतियुग में अर्थात् सन् १६५० ई० से १८५० ई० के बीच की पूर्ववर्ती परंपराओं को ले कर चलने वाली काव्य-धाराओं का अलग-अलग परिचय पिछले प्रसंगों में दिया जा चुका है । परन्तु इस युग की प्रधान धारा 'रीति-शृंगार काव्यधारा' ही है जिसके भीतर तत्कालीन प्रतिभा प्रधानतया रमी है । रीति-शृंगार-संबंधी चेतना इस युग की सर्वव्यापी चेतना है जिसका प्रभाव अन्य काव्यधाराओं पर भी पड़ता हुआ दिखलाई देता है । अनेक भक्त कवियों में शृंगारिक प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं । भक्ति-वीर-नीति समस्त काव्यधाराओं के कवियों ने रीति-शृंगार के क्षेत्र में भी अपना पदन्यास किया है । अतः रीति-शृंगार-काव्य उस युग की प्रमुख काव्य-चेतना को ले कर लिखा गया काव्य है ।

इस युग में रीति-शृंगार काव्य के विकास के अनेक कारण हैं । एक तो उस समय भी संस्कृत में लक्षण ग्रंथों का निर्माण चल रहा था जिससे

प्रभावित हो कर हिन्दी कवियों ने भी उसी पद्धति पर लिखना प्रारंभ किया। दूसरा कारण यह था कि इस युग में हिन्दी कवियों की राजाश्रय की परंपरा दृढ़ हो चुकी थी। हिन्दी या भाषा-कवियों को राजाश्रय अकबर के समय से ही प्राप्त हुआ। तुर्क बादशाहों ने फारसी कवियों को ही आश्रय दिया था। उसके पहले राजाश्रित कवि बहुत कम ऐसे थे जिन्हें भाषा कवि के नाते सम्मान प्राप्त हो। चन्द, नरपति, विद्यापति आदि कुछ ही कवि ऐसे हैं। परन्तु, इस युग में भाषा-कवियों को खूब राजाश्रय मिला। ऐसी दशा में उनके सामने किसी विशुद्ध काव्य-मार्ग के अवलम्बन ग्रहण करने की समस्या थी जिससे कि राजाश्रय ग्रहण करते हुए भी उनका काव्य कोरी आश्रयदाता की प्रशंसा न रह जाय। अतएव रीतिकाव्य की परंपरा का सहारा ग्रहण किया गया। इस मार्ग का उद्घाटन करने वाले आचार्य केशवदास तथा उसे प्रशस्त बनानेवाले आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी हैं।

तीसरा कारण यह भी था कि इस प्रकार के काव्य में कवि की विद्वत्ता और प्रतिभा दोनों के एक साथ प्रदर्शन का अवसर था जिसके कारण उसे शीघ्र ही राजाश्रय प्राप्त हो सकता था। इसके अतिरिक्त भाषा में रीतिकाव्य चलने का एक कारण और था। संस्कृत के कवियों के सामने भाषा कवियों को सम्मान न मिलता था और संस्कृत के कवि और विद्वान भाषा कवियों को कुछ निम्न दृष्टि से देखते थे। चन्द का नाम इसी लिए समकालीन संस्कृत काव्य में नहीं मिलता। तुलसीदास के भी भाषा-प्रबंध को संस्कृत के पंडित सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे; क्योंकि लक्षण आदि की कसौटी पर वे इनकी भूलें निकाल देते थे। अतएव भाषा-कवियों ने उन्हीं लक्षणों को सिद्ध और पुष्ट करने वाले उदाहरण के रूप में हिन्दी काव्य की रचना प्रारंभ की तथा लक्षणों के लिए प्रसिद्ध और प्रचलित संस्कृत के काव्य-शास्त्र-संबंधी ग्रंथों का पारायण किया और संस्कृत के लक्षण या अलंकार-ग्रंथों के समान ही हिन्दी में रचना प्रारंभ की। इस प्रकार इन भाषा-कवियों को दरबार में सम्मान प्राप्त हुआ।

इस प्रकार सम्मान-प्राप्त कवियों ने समकालीन वातावरण, प्रवृत्ति तथा राज-रुचि के अनुकूल शृंगारिक कविता को अलंकार, रसांग, नायिकाभेद, ध्वनि आदि के लक्षणों के उदाहरण स्वरूप लिखा। साथ ही साथ संस्कृत के ग्रंथों के उदाहरणों में भी शृंगारिक परम्परा बड़ी ज़ोरदार थी अतः वैसी ही परंपरा व्रजभाषा काव्य में भी उतर आयी। अतः रीति-पद्धति पर शृंगारिक काव्य का सृजन हुआ।

शृंगार काव्य की रीति शृंगार के अतिरिक्त स्वच्छन्द धारा भी बह चली जिसमें लक्षण को दिये बिना या उसका ध्यान रखे बिना शृंगार-काव्य की रचना की गई। इस धारा के प्रेरक दो कारण प्रधान हैं। एक तो यह नवीन रीति-शृङ्गार की प्रवृत्ति कारण थी और दूसरे पूर्ववर्ती एवं समकालीन प्रेमाख्यान काव्य की प्रबल धारा भी बहुत प्रेरक रही। अतः स्वच्छन्द शृङ्गार-काव्य धारा भी चली। यह शृंगार के संयोग वियोग और पक्षों को ले कर चली और अधिकांश दोहे अथवा सवैया कवित्त छन्दों में इसका काव्य रचा गया।

क. रीति-काव्य-धारा

रीति-काव्य परंपरा—रीति काव्य के अंतर्गत दो प्रकार के ग्रंथ आते हैं, एक तो लक्षण ग्रंथ और दूसरे काव्य ग्रंथ। प्रथम में अलंकार, रस, ध्वनि, रीति, गुण, दोष, नायिका-भेद, नखशिख आदि के शीर्षक दे कर इनके लक्षण लिखे गये हैं, और उदाहरण के रूप में काव्य रचा गया है और दूसरे वे हैं जिन्होंने इसी परिपाटी पर काव्य तो लिखा है, परन्तु लक्षण नहीं दिये। इनके काव्य से स्वतः अलंकार, गुण, रस, ध्वनि आदि के अवयव स्पष्ट हो जाते हैं, क्योंकि इनसे संबंधित विशेषताओं को ध्यान में रख कर इनकी रचना की गई है। यह इस युग की प्रमुख परंपरा है। लक्षण ग्रंथों में भी प्रमुखतया उद्देश्य काव्य-रचना का ही है, काव्यशास्त्र-संबंधी समस्याओं पर गंभीर प्रकाश डालना नहीं। इसके दो प्रधान कारण थे; एक तो यह कि संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रंथों में इनका काफी विवेचन हो चुका था और उसे आगे बढ़ाना सरल कार्य न था, दूसरे जिन लोगों के लिए ये ग्रंथ रचे गये वे विद्वत्तापूर्ण विवेचन में उतनी अभिरुचि रखनेवाले न थे जितनी सरस अथवा चमत्कारपूर्ण काव्य में। अतः इस परंपरा का काव्य चमत्कारपूर्ण काव्य था।

रीतिशास्त्र या लक्षण ग्रंथ लिखने वाले कवियों ने अपने लक्षणों का आधार संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रंथों को बनाया। संस्कृत में काव्यशास्त्र के विविध संप्रदायों से संबंधित विशाल साहित्य तैयार हो चुका था। अतः उसमें से एक या अनेक ग्रंथों का आधार ले कर ये लक्षण लिखे गये। अधिकांशतः जिन ग्रंथों का आधार लिया गया उनके नाम ये हैं—नाट्यशास्त्र (भरत), काव्यालंकार (भामह), काव्यादर्श (दंडी), अलंकारशेखर (केशव मिश्र), काव्यकल्पलतावृत्ति (अमरदेव), चन्द्रालोक (जयदेव), कुवलयानंद (अप्पय दीक्षित), ध्वन्यालोक (आनंद वर्द्धन), काव्यप्रकाश (मम्मट), रसमंजरी, रसतरंगिणी (भानुदत्त), साहित्य दर्पण (विश्वनाथ)। अलंकार

में प्रधानतया, चन्द्रालोक, ध्वनि में काव्यप्रकाश, और रस एवं नायिका भेद में साहित्य-दर्पण, रसतरंगिणी और रसमंजरी का आधार ग्रहण किया गया।

रीतिकाव्य से संबंधित हिन्दी में एक विशाल ग्रंथ संख्या है जिसका पूरा विवरण देना कठिन भी है और अनावश्यक भी। हिन्दी में रीतिकाव्य के कुछ ग्रंथ केशवदास के भी पूर्ववर्ती मिलते हैं; जैसे कृपाराम की हित तरंगिणी, मोहन लाल का श्रृंगार सागर, तथा नंददास की रस मंजरी। रहीम का बरवै नायिका भेद भी इसी परंपरा में है। परन्तु इन ग्रंथों से रीति काव्य संबंधी दृष्टिकोण का विकास नहीं हो पाया था। इस रीतिकाव्य की नई धारा को चलानेवाले आचार्य केशवदास ही हैं जिनका समय भक्तियुग के अंतिम भाग में आता है। केशवदास ने काव्यशास्त्र को सर्वजन-सुलभ बनाने के लिए भाषा में कविप्रिया और रसिकप्रिया नामक ग्रंथों की रचना की जो आगे के रीतिकाव्यकारों के लिए पाठ्य पुस्तकों के रूप में प्रचलित रहे और इनका उपयोग लगभग सभी बड़े रीतियुगीन काव्याचार्यों ने किया। रीतियुग में आदि से अन्त तक केशवदास के आचार्यत्व की धाक थी। परन्तु आगे केशव के मार्ग का अनुगमन नहीं हुआ। जिस मार्ग और पद्धति को लोगों ने ग्रहण किया वह आचार्य चिन्तामणि द्वारा चलाई गई। अतः रीतियुग के प्रथम तथा रीति-काव्य-परंपरा को चलानेवाले आचार्य चिन्तामणि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आचार्य चिन्तामणि—चिन्तामणि की गणना हिन्दी के विद्वान् आचार्यों और कवियों में है। रीतियुग की परंपरा अनवरत रूप से इनसे ही चली और इन्हीं की पद्धति को अपना कर चली। इनका जन्मकाल सन् १६०६ ई० के लगभग माना जाता है और रचनाकाल सन् १६४० से १६८० ई० तक रहा। कानपुर जिले में जमुना के समीपस्थ टिकमापुर इनका निवास-स्थान था। ये भूषण और मतिराम के बड़े भाई थे। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था और उन्हें देवी के प्रसाद से चार पुत्र रत्न प्राप्त हुए थे। चिन्तामणि सब से बड़े थे। चिन्तामणि के रचे हुए ग्रंथों के नाम—रामायण, काव्यविवेक, रसमंजरी, काव्यप्रकाश, कविकुल कल्पतरु, पिंगल और छन्द विचार हैं। इन्होंने हैदराबाद के अकबरसाहि के आश्रय में संस्कृत के विवेचनापूर्ण ग्रंथ श्रृंगारमंजरी का व्रजभाषा में रूपान्तर किया। इन्होंने भोंसला राजा मकरन्दशाह के आश्रय में पिंगल और छन्द विचार ग्रन्थों की रचना की और सोलंकी राजा रुद्रशाह के आश्रय में कविकुल कल्पतरु की रचना की। इनके अन्य ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। इन्होंने कविकुल कल्पतरु में काव्यलक्षण, अलंकार, गुण, दोष, रस आदि का वर्णन किया है जो बड़ा ही स्पष्ट है। इनकी रचना के उदाहरण देखिये—

सूधी चितौनि चितै न सकै औ सकै न तिरीछी चितौनि चितै।
गुड़ियान को खेलिबो फीको लगै अरु कामकला को विलास किते॥
लरिका-पन यौवन संधि भई दुहु बैस को भाव मिलै न हितै।
बिबि चुंबक बीच को लोहो भयो मन जाइ सकै न इतै न उतै॥१॥
(काव्य विवेक)

हंसन के छौना स्वच्छ सोहत बिछौना बीच
होत गति मोतिन की ज्योति जोन्ह जामिनी।
सत्य कैसी ताग सीता पूरण सुहाग भरी
चली जयमाल लै मराल मंदगामिनी॥
जोई उर बसी सोई मूरति प्रत्यक्ष लसी
चिंतामणि देखि हँसी संकर की स्वामिनी।
मानों सरच्चन्द चन्द मध्य अरविन्द
अरविन्द मध्य विद्रुम विदारि कढ़ी दामिनी॥२॥
(रामायण)

मतिराम—सुकुमार कल्पना और कोमल भावनाओं के कवि मतिराम चिन्तामणि के छोटे भाई थे। इनका निवासस्थान टिकमापुर था और रचनाकाल सन् १६५० से १७०० ई० तक रहा। इन्होंने भी चिन्तामणि के समान छन्द, अलंकार, रस आदि विषयों को ले कर अनेक ग्रंथों की रचना की। छन्दसार, साहित्यसार, लक्षण शृङ्गार, रसराज, ललितललाम, अलंकार पंचाशिका और सतसई इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनमें इनकी ख्याति रसराज, ललित ललाम और सतसई पर आधारित है। यद्यपि इन्होंने लक्षण ग्रंथों को रचना की, परन्तु इनकी रचनात्मक कवित्व प्रतिभा ही सर्वत्र झलकती है और वही इनकी ख्याति का प्रधान कारण है। रसराज तो काव्य-प्रेमियों का कंठहार रहा है। ललित ललाम अलंकार का ग्रंथ है, यह बूँदी-नरेश भाऊसिंह के आश्रय में लिखा गया था और इसमें १०० अलंकारों और उनके भेदों का वर्णन है। उदाहरणों में छत्रसाल के गुणों का बखान है। मतिराम सरस काव्य के सुकुमार कवि हैं। सौंदर्य चित्रण और भाव की बारीक भंगिमा इनकी कविता में देखने को मिलती है। विहारी की भाँति वैदग्ध्य नहीं, वरन् सरल भावुकता और कोमल कल्पना का मृदु आकर्षण इनके काव्य में सर्वत्र है। दो एक उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

उमगी उर आनंद की लहरि छहरि दृग राह।
बूड़ी लाज जहाज लो नेह नीर निधि माह॥

श्रमजल कन झलकन लगे अलकनि कलित कपोल ।
पलकनि रस छलकन लगे ललकन लोचन लोल ॥
अरुन बरन बरनि न परै, अमिय अधर दल माँझ ।
कैधौं फूली दुपहरी, कैधौं फूली साँझ ॥

मोरपखा मतिराम किरीट मैं कंठ बनी वनमाल सुहाई ।
मोहन की मुसुकानि मनोहर कुंडल डोलनि मैं छवि छाई ।
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई ।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाई ॥
मानहुँ पायो है राज कहूँ चढ़ि बैठत ऐसे पलास के खोढ़े ।
गुंज गरे सिर मोरपखा मतिराम जू गाय चरावत चोढ़े ।
मोतिन को मेरो तोरयो हरा कर सों पकरे रही चूनरि पोढ़े ।
ऐसेहिं डोलत छैला भये तुम्हैं लाज न आवति कामरि ओढ़े ॥

जसवन्तसिंह—महाराज जसवंतसिंह मारवाड़ के प्रतापी राजा थे। इनका जन्मकाल सन् १६२६ ई० है। अपने पिता महाराज राजसिंह की मृत्यु पर सन् १६३८ ई० में ये गद्दी पर बैठे। महाराज जसवन्तसिंह विद्वान् भी थे और गुणियों के आश्रयदाता भी। इनके दरबार में तो कवियों और विद्वानों का सत्संग था ही राज्य भर में विद्या की चर्चा होती थी। ये शाइस्ताखाँ के साथ शिवाजी से भी लड़ने गये थे। अफगानों के विरुद्ध लड़ते हुए इनका सन् १६७८ ई० में स्वर्गवास हुआ। इनके रचे ग्रंथों के नाम भाषाभूषण, अपरोक्ष सिद्धान्त, अनुभव प्रकाश, आनंद विलास, सिद्धान्त बोध, सिद्धान्त सार, प्रबोध चन्द्रोदय नाटक हैं। इसमें भाषाभूषण को छोड़ कर अन्य ग्रंथ दार्शनिक एवं ज्ञान-संबंधी हैं, परन्तु हैं पद्य में ही। भाषाभूषण इनका अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। आधुनिक युग तक अलंकारों की शिक्षा का श्रीगणेश भाषाभूषण से किया जाता था। इनका भाषा-भूषण चन्द्रालोक की शैली और आधार पर रचा गया है। अधिकांश में दोहे के प्रथमार्द्ध में लक्षण और द्वितीयार्द्ध में उदाहरण दिये गये हैं। भाषाभूषण इतना प्रसिद्ध हुआ कि इसकी अनेक टीकायें रची गईं जैसे अलंकार-रत्नाकर, भूषण-चंद्रिका आदि।

तोष—तोष सिंगरौर (शृंगवेरपुर) जिला इलाहाबाद के रहने वाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'सुधानिधि' है जिसकी इन्होंने सन् १६३४ ई० (सं० १६९१) में रचना की थी। इसी ग्रंथ में ५५४वें छन्द में इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

शुक्ल चतुर्भुज को सुत तोष बसै सिंगरौर जहाँ रिषि थानो।
दच्छिन देवनदी निकटै दस कोस प्रयागहि पूरब मानो।
सोधि कै सुद्ध पढ़ैंगे सुबोध सु हौं न कछू कवितारथ जानों।
केलि कथा हरि राधिका की पद छेम जथामति प्रेम बखानो॥

'सुधानिधि' ग्रंथ में नवरसों, भावों, भावोदय, भावशान्ति, दोष, वृत्ति, नायिका-भेद आदि का वर्णन है। इनके लिखे दो ग्रंथ और हैं—विनयशतक और नखशिख। इनका भाषा पर अद्भुत अधिकार भी है और इन्होंने उसमें सुन्दर भावों की अभिव्यक्ति भी की है। ये उत्तम श्रेणी के कवि हैं। उदाहरण

इक दीनी अधीनी करैं बतियाँ जिनकी कटि छीनी छलामैं करैं।
यक दोस धरैं अपसोस भरैं यक रोस कै नैन ललामैं करैं।
कवि तोष जुटी जुग जंघन सों उर दै भुज स्यामै सलामैं करैं।
निज अंबर माँगैं कदंब तरे ब्रज बामैं कलामैं मुलामैं करैं॥१॥

भूषण भूषित दूषणहीन प्रबीन महारस मैं छवि छाई।
पूरी अनेक पदारथ तें जिहि मैं परमारथ स्वारथ पाई।
औ उकतैं सुकतैं उलही कवि तोष अनोख भरी चतुराई।
होति सबै सुख की जनिता बनि आवति जो बनिता कविताई॥२॥

कुलपति मिश्र—कुलपति के पिता का नाम परशुराम मिश्र था। ये मथुरा के रहने वाले चौबे थे और कहते हैं कि बिहारी के भानजे थे। ये जयपुर के जयसिंह के पुत्र रामसिंह के दरबार में रहते थे। ये भूषण के समकालीन थे। इनका कविता काल सन् १६६७ ई० से १६६० ई० तक कहा जाता है। इनके लिखे ग्रंथ ये हैं—रसरहस्य (सन् १६७० ई०), द्रोणपर्व (सन् १६८०), नखशिख, संग्रामसार। इनका रस रहस्य ग्रंथ ही अधिक प्रसिद्ध है। रसरहस्य की रचना काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के आधार पर है और इसमें ध्वनि-सिद्धान्त का प्रमुखतया निरूपण हुआ है। लक्षण दोहे में और उदाहरण कवित्त-सवैया में है। बीच की व्याख्या ब्रजभाषा गद्य में है जिसे इन्होंने 'बचनका' कहा है। कुलपति का यह ग्रंथ विद्वत्तापूर्ण है। ये आचार्यत्व के लिए ही अधिक प्रसिद्ध हैं।

कविराज सुखदेव मिश्र—सुखदेव मिश्र कंपिला के निवासी थे, परन्तु इनके वंशज अब दौलतपुर जिला रायबरेली में रहते हैं। इनका कविताकाल सन् १६६३ ई० से १७०३ ई० तक है। इन्होंने अनेक ग्रंथ अनेक आश्रयदाताओं के आश्रय में लिखे। ये असोथर के राजा भगवंतराय खीची और डौंड़ियाखेरे के राव मर्दनसिंह के यहाँ रहे। राजा राजसिंह गौड़

ने इन्हें 'कविराज' की उपाधि प्रदान की थी। औरंगज़ेब के मंत्री फाज़िल अली की प्रशंसा में इन्होंने 'फाज़िल अली-प्रकाश' ग्रंथ की रचना की। अंत में ये मुरारमऊ के राजा देवीसिंह के यहाँ गये और फिर दौलतपुर में रहने लगे। इनके रचे ग्रंथ हैं—वृत्तविचार, छन्दविचार, रसार्णव, फाज़िल अली प्रकाश, अध्यात्म प्रकाश। ये बड़े अच्छे विद्वान् थे और छन्दःशास्त्र के विशेषज्ञ समझे जाते हैं। इनकी कविता भी सरस है। एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

फूलि रहे बन बाग सबै लखि फूलति फूलि गयो मन मेरो।
फूलनि ही को बिछावनो कै गहनो कियो फूलनि ही को घनेरो।
लाल पलाशन में चहुँ ओर ते मैन प्रताप कियो घन घेरो।
ऐसेइ फूल फैलाइ फैलाइ भयो ऋतुराज को मानहुँ डेरो।

कालिदास—ये त्रिवेदी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। कहते हैं कि ये बनपुरा (कानपुर) के रहने वाले थे। इनके जीवन के अन्य वृत्तान्त अज्ञात हैं। परन्तु इनके पुत्र और पौत्र दोनों ही प्रसिद्ध कवि थे। इनके पुत्र का नाम उदयनाथ 'कबीन्द्र' और पौत्र का नाम दूलह था जो दोनों ही प्रसिद्ध कवि और आचार्य हैं। इनका जन्म सन् १६६० ई० के लगभग कहा जाता है। ये औरंगज़ेब द्वारा की गई गोलकुंडा की चढ़ाई में सन् १६८८ ई० में गये थे और इन्होंने औरंगज़ेब की वीरता की प्रशंसा भी की है। इन्होंने बीना के राजा जोगाजीतसिंह के नाम पर 'वधू विनोद' की रचना की जो नायिकाभेद का ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त 'कालिदास हज़ारा' में २१२ कवियों के एक हज़ार छन्दों का संग्रह किया। एक ग्रंथ इनका 'ज़जीरा' है जो ३२ घनाक्षरियों की जँजीरा बन्द रचना है। इनके नाम का 'राधामाधव बुध मिलन विनोद' एक ग्रन्थ और बताया जाता है, पर वह 'बधू विनोद' का ही दूसरा नाम है। इनकी रचना बड़ी सरस है। एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

चन्द्र मई चम्पक जराव जरकस मई आवत ही गैल वाके कमलमई भई।
कालिदास मोदमद आनँद विनोद मई लाल रंग मई भई बसुधा सुधामई।
ऐसी बनी बनक सो मदन छकाई रसिकाई की निकाई लखि लगन लगी गई।
नेह कौ हितै करि गुपालै मोह दै करि सखीन दुचितै करि चितै करि चली गई॥

देव—महाकवि देव का जन्म सन् १६७३ ई० में जिला मैनपुरी के कुसमरा नामक स्थान में हुआ था। ये इटावे में भी रहे। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और १६ वर्ष की अवस्था से ही कविता करने लगे थे और सर्वप्रथम भाव विलास की रचना की थी। इस रचना को इन्होंने औरंगज़ेब के पुत्र

डार द्रुम पालना बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झँगूला सोहैं तन छवि भारी दै।
पवन झुलावै केकी कीर बतरावै 'देव',
कोकिल हलौवे हुलसावैं करतारी दै।
पूरित पराग सों उतारा करै राई नोन,
कंज कली नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै ॥३॥

कोई कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोई कहौ रंकिनी कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो नरलोक परलोक वर लोकन मैं,
लीन्हों मैं अलीक लोक लोकन ते न्यारी हौं।
तन जाउ, मन जाउ, 'देव' गुरुजन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावन वारी बनवारी की मुकुट वारी,
पीत पट वारी वाहि मूरति पै वारी हौं ॥४॥

श्रीपति—श्रीपति जमुना के किनारे स्थित कालपी नगर के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ये काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों में परिगणित होते हैं। इन्होंने अपने ग्रंथों में केशव, सेनापति, ब्रह्म आदि कवियों की रचनाओं में दोष ढूँढ़े हैं। श्रीपति के द्वारा लिखे हुए ग्रंथ हैं—विक्रम विलास, कविकल्पद्रुम, सरोज कलिका, अलंकार गंगा और काव्य सरोज। काव्य सरोज की रचना सन् १७२० ई० में हुई थी। इसमें प्रधानतया 'काव्य प्रकाश' के आधार पर काव्य का विवेचन किया गया है। श्रीपति के लक्षण और उदाहरण दोनों ही प्रौढ़ हैं। आचार्य होने के साथ साथ ये उत्तम कवि भी थे। इनकी रचना के उदाहरण हम यहाँ दे रहे हैं। इनमें लोकनीति के भी सुन्दर उल्लेख हैं—

उर्द के पचाइबे को हींग अरु सोंठ जैसे,
केरा के पचाइवे को घिव निरधार है।
गोरस पचाइबे को सरसों प्रबल दंड,
आम के पचाइबे को नीबू को अचार है।
'श्रीपति कहत परधन को पचाइबे को,
कानन छुवाय हाथ कहिबो नकार है।

आज के जमाने बीच राजा राव जानै सबै,
रीझि के पचाइबे को वाह वा डकार है ॥१॥
सारस के नादन को नाद ना सुहात कहूँ,
नाहक ही बकबाद दादुर महा करैं।
श्रीपति सुकवि जहाँ ओज ना सरोजन की,
फूल ना फूलत जाहि चित्त दै चहा करैं।
बकन की बानी की बिराजत है राजधानी,
काई सो कलित पानी फेरत हहा करैं।
घोंघन के जाल जामें नरई सेवाल व्याल,
ऐसे पापी ताल को मराल लै कहा करैं ॥२॥
चोरी नीकी चोर की सुकबि की लबारी नीकी,
गारी नीकी लागती ससुरपुर धाम की।
नाँही नीकी मान की सयान की जबान नीकी,
तान नीकी तिरछी कमान मुलतान की।
तातहू की जाति नीकी निगम प्रतीति नीकी,
श्रीपति जू प्रीति नीकी लागै हरिनाम की।
रेवा नीकी बानखेत सुँदरी सुवा की नीकी,
मेवा नीकी काबुल की सेवा नीकी राम की ॥३॥
हारि जात बारि जात मालती बिडारि जात,
वारिजात पारिजात सोंधन मैं करी-सी।
माखन-सी मैन-सी मुरारी मखमल सम,
कोमल सरस तन फूलन की छरी-सी।
गहगही गरुवी गुराई गोरी गोरे गात,
श्रीपति बिलौर-सीसी ईंगुर सों भरी सी।
बिज्जु थिर धरी-सी कनक रेख करी सी,
प्रवाल छवि हरी सी लसत लाल लरी सी ॥४॥

उदयनाथ 'कवीन्द्र'—ये कालीदास त्रिवेदी के पुत्र थे। इनका जन्म सन् १६८० ई० के लगभग हुआ था। ये सुल्तानपुर जिले के अमेठी राज में राजा हिम्मतसिंह और राजकुमार गुरुदत्त सिंह के यहाँ रहे। साथ ही ये असनी के भगवंतराय खीची और बूँदी के राव बुद्धसिंह के आश्रय में भी गये थे। इन्हें सर्वत्र ही बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'रस चन्द्रोदय' या 'विनोद चंद्रोदय' है। यह सन् १७४७ ई० में रचा गया। इसके

भीतर नायिका-भेद का वर्णन है। इनके लक्षण महत्त्वपूर्ण नहीं, परन्तु उदाहरण सरस हैं—

कैसी ही लगन जामे लगन लगाई तुम,
प्रेम की पगनि के परेखे हिये कसके।
केति को छुपाय के उपाय उपजाय प्यारे,
तुम तें मिलाप के बढ़ाये चोप चसके।
भनत कविंद हमैं कुंज में बुलाय कर,
बसे कित जाय दुख दे कर अबस के।
पगनि मैं छाले परै नाँघिबे को नाले परे,
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के ॥१॥
राजै रस मै री तैसी बरसा समैरी चढ़ी,
चंचला नचै री चकचौंधा कौंधा वारैं री।
व्रती व्रत हारै हिये फरत फुहारैं कछू,
छाँड़ैं कछू धारैं जलधर जल धारैं री।
भनत कविंद कुंज भौन पौन सौरभ सो,
काके न कँपाय प्रान परहथ पारैं री।
काम के तुका से फूल डोलि डोलि डारैं मन,
और किये डारैं ये कदंबन की डारैं री ॥२॥

रसलीन (सैयद गुलाम नबी)—सैयद गुलाम नबी बिलग्राम जिला हरदोई के रहने वाले थे। बिलग्राम हिन्दी में लिखने वाले अनेक मुस्लिम कवियों की परंपरा के लिए प्रसिद्ध है और आज भी अनेक विद्वान यहाँ पर हैं। रसलीन गुलाम नबी का उपनाम है। इसका जन्म सन् १६६० के लगभग हुआ था। रसलीन अरबी-फारसी के भी विद्वान् थे। इनके लिखे ग्रंथ—अंग दर्पण और रस प्रबोध हैं। अंग दर्पण की रचना सन् १७३७ ई० (१७६४ वि०) में हुई थी। इसमें १७७ दोहों में नखशिख-वर्णन है। रस-प्रबोध में विस्तार-पूर्वक रस और भाव का वर्णन किया गया है। रसलीन में उक्ति-चमत्कार और विलक्षण सूझ की छटा सर्वत्र दीखती है। शब्दों का सुन्दर प्रयोग मनोमुग्धकारी है। कुछ उदाहरण ये हैं—

कत दिखाय कामिनी दई, दामिनि को यह बाँह।
थरथराति सी तन फिरै फरफराति घन माँह ॥१॥
अमिय हलाहल मद भरे, सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार ॥२॥

मुख ससि निरखि चकोर अरु, तन पानिप लखि मीन।
पद पंकज देखत भँवर, होत नयन रसलीन ॥३॥
धरति न चौकी नग जरी, ताते उर में लाइ।
छाँह परे पर पुरुष की, जिन तिय धरम नसाइ ॥४॥

आचार्य भिखारीदास—भिखारीदास प्रतापगढ़ जिले के ट्योंगा ग्राम के निवासी थे। ये कायस्थ थे। इनके पिता का नाम कृपालदास और पितामह का नाम वीरभानु था। भिखारीदास जी के पुत्र अवधेशलाल और पौत्र गौरीशंकर थे। इनके बाद वंश-परंपरा नहीं चली। भिखारीदास का स्थान रीतिकालीन काव्याचार्यों में प्रमुख है। भिखारीदास के द्वारा रचे हुए ग्रंथों के नाम हैं—नाम प्रकाश (१७३८), रस सारांश (१७४२), छन्दोर्णव पिंगल (१७४२), काव्य निर्णय (१७४६), शृंगार निर्णय (१७५०), विष्णुपुराण भाषा, छन्दप्रकाश, शतरंज शतिका, अमर प्रकाश (अमरकोश भाषा)। इनमें दो ग्रंथ कोश के हैं, दो छन्द के और दो काव्यशास्त्र के, एक अनुवाद है तथा एक मुक्तक है।

दास जी की ख्याति प्रधानतया इनके दो ग्रंथों काव्य निर्णय और शृङ्गार निर्णय पर आधारित है। काव्यनिर्णय को इन्होंने प्रतापगढ़ के बाबू हिन्दूपति सिंह के आश्रय में बनाया। यह काव्यशास्त्र पर अत्यन्त प्रौढ़ ग्रंथ है। काव्य-निर्णय प्रधानतया 'काव्यप्रकाश' पर आधारित है। इसमें काव्यांगों का विवेचन अत्यन्त प्रौढ़ता के साथ हुआ है। इस ग्रंथ में भाषा और अलंकारों के वर्गीकरण और तुक के विषय पर मौलिक प्रकाश डाला गया है। पदार्थ निर्णय, ध्वनि, अलंकार, गुण, दोष आदि विषयों पर स्पष्ट विवेचन काव्यनिर्णय में किया गया है। शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ आचार्य भिखारीदास कवित्व-प्रतिभा से भी संपन्न व्यक्ति थे। इनकी रचना सरस एवं प्रभावपूर्ण है।
उदाहरण ये हैं—

आनन है अरबिन्द न भूल्यो अलीगण भूले कहा मँडरात हैं।
कीर कहा तोहिं बाई भई भ्रम बिंब के ओठन को ललचात हैं।
'दास' जू व्याली न बेनी बनाइये पापी कलापी कहा हरषात हैं।
बाजत बीन न बोलत बाल कहा सिगरे मृग घेरत जात हैं ॥१॥

भूल्यो खान पान भूल्यो पट परधान सबै,
लोगन को भूलि गयो बासु औ निबासु री।
चकि रहीं गैया चारु चोंचन चिरैंया दाबि,
चितवनि चल चख चेत चितु नासु री।

द्वै घरी भरी सी है परी सी वृषभानु जाई,
जीवत जनावै देग आवै दृग आँसु री।
कान्ह रस कैसे कै छुड़ाय ले री मेरी बीर,
कब की बिसासनि बिगारे बिसुआसु री ॥२॥

कुमारमणि भट्ट—ये वत्सगोत्र के ब्राह्मण श्री हरिवल्लभ जी के पुत्र थे। हरिवल्लभ जी प्रसिद्ध सप्तशतीकार गोवर्द्धनाचार्य के छोटे भाई बलभद्र जी की छठी पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। कुमारमणि संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और भाषा के अच्छे कवि भी। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'रसिक रसाल' सन् १७१६ ई० में लिखा गया था। रसिक रसाल में 'काव्य प्रकाश' के आधार पर काव्य-विवेचन किया गया है। इन्होंने बीच-बीच में कुछ नवीन बातें भी रखी हैं और व्रजभाषा गद्य में कहीं कहीं व्याख्या भी की है। इसमें विषय का विवेचन तो है ही, काव्य-सौन्दर्य को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न है। एक उदाहरण यहाँ इनके काव्य का दिया जाता है—

तोहिं गई सुनि कूल कलिन्दी के हौहूँ गई सुनि हेलि हमारी।
भूली अकेली कहूँ डरपी मग में लखि कुंजन पुंज अँध्यारी।
गागर के जलके छलके घर आवत लौं तन भीगि गो भारी।
कम्पत त्रासन ये री बिसासिनि मेरी उसास रहे न सम्हारी॥

दूलह—प्रसिद्ध आलंकारिक हैं। ये प्रसिद्ध आचार्य कवि कालिदास के पौत्र और उदयनाथ कवीन्द्र के पुत्र थे। बनपुरा के रहने वाले थे। इनका रचनाकाल सन् १७५० से १७७५ ई० तक माना जाता है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है—'कविकुल कंठाभरण'। इस ग्रंथ में अलंकार की परिभाषाएँ और उदाहरण अत्यंत संक्षेप में दिये गये हैं। लक्षण अपनी प्रामाणिकता के कारण कंठ करने योग्य हैं। दूलह ने स्वयं ही इस प्रकार का भाव प्रकट किया है—

जो या कंठाभरन को, कंठ करै सुख पाय।
सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय॥

उनके उदाहरण लक्षण की लपेट में आये होने के कारण अलग से महत्त्व नहीं रखते। कंठाभरण का आधार चन्द्रलोक और कुवलयानंद है। इसमें कुल ११७ अलंकारों का वर्णन हुआ है। अलंकार-संबंधी इनका ज्ञान अत्यंत प्रौढ़ था, इसमें संदेह नहीं।

सोमनाथ—सोमनाथ मिश्र नीलकंठ मिश्र के पुत्र थे। इनके बड़े भाई का नाम गंगाधर था। ये जयपुर नरेश महाराज रामसिंह के मंत्रगुरु तथा

नरोत्तम मिश्र के वंशजों में से थे। इन्होंने भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के लिए 'रसपीयूषनिधि' नामक ग्रंथ की रचना की थी जैसा कि निम्नांकित दोहे से विदित होता है—

कही कुँवर परताप ने सभा मध्य सुख पाय।
सोमनाथ हमको सरस पोथी देउ बनाय॥

इस प्रकार सन् १७३७ ई० (सं० १७६४ वि०) में इसकी रचना हुई। इस ग्रंथ में काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, भेद, ध्वनि, रस, रीति, गुण, दोष, छन्द आदि का विद्वत्तापूर्ण विवेचन हुआ है। सोमनाथ ने अपने ग्रंथ के बीच बीच में गद्य व्याख्या भी प्रस्तुत की है जिससे विषय का स्पष्टीकरण हो जाता है। रसपीयूष निधि के अतिरिक्त उनके ग्रंथ हैं—कृष्णलीलावती पंचाध्यायी (सन् १७४३ ई०), सुजान विलास (सिंहासन बत्तीसी सन् १७५० ई०), माधव-विनोद नाटक (सन् १७५२)। इनके सभी ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं। रीतिकालीन कवियों और आचार्यों में इनका स्थान उत्कृष्ट है। कुछ उदाहरण ये हैं—

सीतल बयारि तरवारि सी बहत तैसी लहकनि बेलनि की सूल सरसन लागी।
धरकत छाती घोर घन की गरज सुनि दामिनी की दमक हवा सी दरसन लागी।
सोमनाथ याते पैं करतु कमनैती काम कौन बिधि जीयो री विपति बरसन लागी।
जेई पिय संग बरसत ही पियूष धार तेई अब घटा बिसधर बरसन लागी॥१॥
दिसि बिदिसन से उमड़ि मढ़ि लीनो नभ छाँड़ि दीने धुरवा जवासे जूथ जरिगे।
डहडहे भये द्रुम रंचक हवा के गुन कहूँ कहूँ मोरवा पुकारि मोद भरिगे।
रहि गये चातक जहाँ के तहाँ देखत ही सोमनाथ कहें बूँदा बाँदीहू न करिगे।
सोर भयो घोर चारों ओर नभमंडल मैं 'आये घन आये घन' घेरिकै उघरिगे॥२॥

रामसिंह—ये नरवरगढ़ के महाराज थे। सूर्य वंशी राजा छत्रसिंह के ये पुत्र थे। काव्यशास्त्र से संबंधित इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की थी। इनके ग्रंथों के नाम हैं—रस शिरोमणि (१७७३ ई०), जुगल विलास (१७७६ ई०), रस निवास (१७८२), तथा अलंकार दर्पण। महाराज रामसिंह ने रस का नवीन ढंग से विवेचन किया है और इनके विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता है स्पष्टता। इन्होंने हास्य रस के—मुसुकानि, हसनि, विहसनि, उपहसनि, अपहसनि, अतिहसनि आदि भेद किये हैं। इन्होंने रस तरंगिणी के अनुसार मायारस का वर्णन किया है। इसका इन्होंने विवेचन पूर्णता के साथ करके सुलभ बना दिया है। इनकी एक विलक्षणता यह है कि इन्होंने ध्वनि के समान रस के आधार पर काव्य-कोटियों का तीन प्रकार से निर्धारण किया है—अभिमुख, विमुख और परमुख। यह इनकी मौलिकता का द्योतक

है। उदाहरण के लिए दो दोहे दिये जाते हैं—

सोहत सुन्दर स्याम सिर मुकुट मनोहर जोर।
मनो नील मणि सैल पर नाचत राजत मोर ॥१॥
दमकन लागी दामिनी, करन लगे बन रोर।
बोलत माती कोयलैं, बोलत माते मोर ॥२॥

पद्माकर—रीतिकालीन कवियों में पद्माकर का स्थान महत्त्वपूर्ण है। ये बड़े ही उत्कृष्ट कोटि के कवि थे और अपने समय में ही अत्यंत प्रसिद्ध थे। ये इस युग के अन्तिम उत्कृष्ट कवियों में से हैं। पद्माकर के पिता का नाम मोहनलाल भट्ट था। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनका जन्म सन् १७५३ ई० में बाँदा में हुआ था। ये बड़े उत्कृष्ट कवि और पूर्ण पंडित थे। अपनी वाणी के प्रभाव के कारण अनेक राजाओं के यहाँ इन्हें ऊँचा सम्मान प्राप्त हुआ था। इन्होंने नागपुर के महाराज रघुनाथ राव, जयपुर-नरेश महाराजा प्रतापसिंह, सुगरा के नोने अर्जुनसिंह तथा गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर के यहाँ सम्मान प्राप्त किया। पद्माकर ने ८० वर्ष की आयु में सन् १८३३ ई० में कानपुर में गंगा के किनारे अपना शरीर छोड़ा। इनके द्वारा रचे हुए ग्रंथ हैं—पद्माभरण, जगतविनोद, हिम्मत बहादुर विरदावली, गङ्गा-लहरी, प्रबोधपचासा और राम रसायन।

पद्माकर के काव्य में भावुकता और चमत्कार दोनों का ही सुन्दर संयोग है। मर्मस्पर्शी भावों की चुटीले शब्दों में अभिव्यक्ति हुई है। पद्माकर जी चित्रण के धनी हैं और अपने विलक्षण शब्दाधिकार द्वारा ये जीवन की विविध दृश्यावलियों की सजीव झाँकी प्रस्तुत करने में समर्थ हुए हैं। इनके कुछ उदाहरण इसके प्रमाण होंगे।—

फागु की भीर अभीरिन में गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर ऊपर नाइ अबीर की झोरी।
छीनि पितम्बर कंवर ते सु बिदा दई मीड़ि कपोलनि रोरी।
नैन नचाइ कही मुसुकाइ लला फिर आइयो खेलन होरी ॥१॥

या अनुराग की फाग लखौ जहँ रागति राग किसोर-किसोरी।
त्यों 'पदमाकर' घाली घली फिरि लाल ही लाल गुलाल की झोरी।
जैसी की तैसी रही पिचकी कर काहु न केसरि रंग में बोरी।
गोरिन के रंग भींजिगो साँवरो साँवरे के रंग भींजिगै गोरी ॥२॥

गो गृह काज गुवालन के कहे देखिबे को कहूँ दूरि के खेरो।
माँगि बिदा लई मोहिनी सों 'पदमाकर' मोहन होत सबेरो।

फेंट गही न गही बहियाँ न गरो गहि गोबिंद गौन ते फेरो।
गोरी गुलाब के फूलन को गजरा लै गुपाल की गैल में गेरो ॥३॥
जाहिर जागत सी जमुना जब बूड़ै बहै उमहै वह बेनी।
त्यों पदमाकर हीरा के हारन गंग तरंगन को सुख देनी।
पाँयन के रँग सों रँगि जाति सी भाँति ही भाँति सरस्वति स्त्रेनी।
पैरै जहाँ इ जहाँ वह बाल तहाँ तहाँ ताल में होत त्रिवेनी ॥४॥

पात विन कीन्हें ऐसी भाँति गन बेलिन के,
परत न चीन्हें ऐसे लरजत लुंज हैं।
कहै 'पदमाकर' बिसासी या बसंत के सु,
ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं।
ऊधौ यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजो भलो,
हरि सों हमारे ह्याँ न फूले बन कुंज हैं।
किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की,
दारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं ॥५॥

रसिक गोबिन्द—ये वृन्दावन के रहने वाले निम्बार्क संप्रदायी महात्मा हरि व्यास के गद्दी शिष्य थे और सर्वेश्वर शरण देव जी से दीक्षा ग्रहण की थी। रसिक गोविन्द के पिता का नाम शालिग्राम और माता का नाम गुमाना था। इनका रचनाकाल सन् १८०० से १८४० ई० तक माना जा सकता है। इनके द्वारा रचे हुए ग्रंथों के नाम हैं—रामायण सूचनिका (१८०० ई० के लगभग), कलियुग रासो (१८०८ ई०), पिंगल, समय प्रबंध, अष्ट देशभाषा, लछिमन-चंद्रिका (१८२९ ई०), रसिक गोविन्दानंद घन (सन् १८०१)।

इन ग्रंथों में रीतिशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रसिकगोविन्दानंदघन है। यह एक बृहद् ग्रंथ है। इसके भीतर रस, नायक-नायिकाभेद, अलंकार, गुण-दोष आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन है। रीतिकाल के अन्तर्गत यह एक-मात्र ऐसा ग्रंथ है जिसमें लक्षण गद्य में दिये गये हैं। इसमें विषय को प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट किया गया है। उदाहरण इनके कुछ तो संस्कृत के अनुवाद हैं, कुछ अन्य कवियों के और कुछ इनके अपने हैं। कविता के नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

तैसिय निरमल नीर निकट जमुना बहि आई।
मनहु नीलमनि माल विपिन पहिरे सुखदाई॥
अरुन नील सित पीत कमल कुल फूले फूलनि।
जनु बन पहिरे रंग रंग के सुरँग दुकूलनि॥

इंदीवर कलहार कोकनद पदुमनि ओभा।
मनु जमुना द्दग करि अनेक निरखत बन सोभा॥
तिन मधि झरत पराग प्रभा लखि दीठि न हारति।
निज घर की निधि रीझ रमा मनु वन पर वारति॥

ग्वाल कवि—ये मथुरा के रहने वाले वन्दीजन सेवाराम के पुत्र थे। ये व्रजभाषा के अच्छे कवि थे। ग्वालकवि का जन्म सन् १७६१ ई० में और मृत्यु १८७१ में ई० में हुई थी। ये दुर्गा और शंकर जी के उपासक थे। ग्वाल ने सन् १८२२ ई० में एक शिवमंदिर बनवाया जो अब तक मथुरा में वर्तमान है। बचपन में अपने गुरु दयाल जी को ये एक दिन प्रणाम करना भूल गये जिससे गुरु रुष्ट हो गये। इन्होंने एक तपस्वी को अपनी सेवा से प्रसन्न किया और उनकी कृपा से इनके भीतर अपूर्व काव्य-प्रतिभा जाग्रत हुई। इनके लिए कहा जाता है कि ये एक समय में आठ काम कर लेते थे—ग्रंथ रचना, कविता बनाना, शिष्यों को पढ़ाना, जगदम्बा का नाम लेते रहना, शतरंज खेलना, अदृष्ट कथन करना, आये व्यक्तियों से बातचीत करते रहना, समस्या पूर्ति करना। ग्वाल कवि ने काफी भ्रमण किया था और उन्हें गुजराती, पंजाबी, पूर्वी आदि भाषाओं का ज्ञान था जिनमें इन्होंने छन्द रचना की है। इनका रचनाकाल सन् १८२२ ई० से १८६२ ई० तक माना जाता है। इनके रचे हुए ग्रंथ हैं—जमुना लहरी (१८२२), हम्मीरहठ (१८२४) गोपी पचीसी, नखशिख (१८२७) दूषण दर्पण (१८३४), रसिकानंद, रसरंग (१८४७), अलंकार-भ्रमभंजन बंसीबीसा, कविदर्पण, भक्तभावन (१८६२), नेह निवाहन, कुब्जाष्टक, राम कृष्णाष्टक, गणेशाष्टक, राधिकाष्टक, दृगशतक, साहित्यानंद, साहित्यदूषण, शृंगार कवित्त आदि।

ग्वालकवि की रचना में वाग्वैदग्ध्य और भाषा चमत्कार खूब देखने को मिलता है। इनके रचे साठ सत्तर ग्रंथ बताये जाते हैं। कहते हैं कि ये महाराज रणजीतसिंह के दरबार में भी गये थे और वहाँ इन्हें कोई जायदाद भी मिली थी। ग्वाल प्रसिद्ध कवियों और रीति-काव्याचार्यों में है। उनकी रचना में अरबी फारसी के शब्द भी खूब मिलते हैं।

उदाहरण—

जा की खूब खूबी खूब खूबन में खूबी इहाँ,
ताकी खूबखूबी खूबखूबी नभ गाहना।
जाकी बद जाती बद जाती इहाँ चारन मैं,
ताकी बदजाती बदजाती हाँ उराहना।

ग्वाल कवि जेही परसिद्ध सिद्ध ते हैं जग,
वे ही परसिद्ध ताकी इहाँ ह्वाँ सराहना।
जाकी इहाँ चाहना है ताकी वहाँ चाह ना है,
जाकी इहाँ चाह ना है ताकी वहाँ चाह ना ॥१॥

गंगा के न गौरी के गिरीस के न गोबिन्द के,
गोत के न जोत के न जाये राह गीर के।
काहू के न संगी रतिरंगी भैन भानजी के,
जीके अति खोंटे सोंटे खौंहैं जमवीर के।
ग्वाल कवि कहैं देखो नारी के खसम जानै,
धर्म को पसम जानै पातक सरीर के।
निमकहराम बदकाम करैं ताजे ताजे,
बाजे बाजे बेसहू गुरू के नहीं पीर के॥२॥

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम,
गरमी झुकी है जाम नाम अति तापिनी।
भीजे खसबीजन झले हू ना सुखात स्वेद,
गात न सुहात बात दावा सी डरापिनी।
ग्वाल कवि कहै कोरे कुंभन ते कूपन तें,
लै लै जलधार बार बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो अब पियो फेर अब,
पीवत हू पीवत मिटै न प्यास पापिनी॥३॥

प्रतापसाहि—प्रतापसाहि बुन्देलखंड के अंतर्गत चरखारी राज्य में महाराज विक्रमसाहि के आश्रित थे। ये रतनेश बंदीजन के पुत्र थे। इनका रचनाकाल सन् १८२३ से १८५५ तक माना जा सकता है। इनके द्वारा रचे हुए ग्रंथ ये हैं—जयसिंह प्रकाश, शृंगार मंजरी, शृंगार शिरोमणि, अलंकार चिंतामणि, काव्यविनोद, रसराज की टीका, रसचंद्रिका (सतसई की टीका), जुगल नखशिख, बलभद्र नखशिख की टीका, व्यंग्यार्थ कौमुदी, काव्य विलास। प्रतापसाहि रीतियुग के प्रसिद्ध आचार्यों में माने जाते हैं। इनकी लिखी अनेक टीकाओं से इनका पांडित्य प्रकट होता है। व्यंग्यार्थ कौमुदी काव्यशास्त्र की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें अलंकार, नायिकाभेद और ध्वनि तीनों का संकेत एक साथ मिलता है। इनकी रचना अत्यंत प्रौढ़, लालित्यपूर्ण एवं अर्थगर्भित है। कुछ उदाहरण ये हैं—

तड़पै तड़िता चहुँओरन ते छिति छाई समीरन की लहरैं।

मदमाते महा गिरि शृंगन पै गन मंजु मयूरन के कहरैं।
इनकी करनी बरनी न परै मगरूर गुमानन सों गहरैं।
घन ते नभ मंडल मैं छहरै घहरैं कहूँ जाय कहूँ ठहरैं ॥१॥
पूजती और सबै बनिता जिनके मन मैं अति प्रीति सुहाति है।
कौन की सीख धरी मन मैं चलि कै बलि काहे नजीक न जाति है॥
साइति या बरसाइति की बर साइति ऐसी न और लखाति है।
कौन सुभाव री तेरो परो वर पूजत काहे हिये सकुचाति है ॥२॥
सीख सिखाई न मानति है, बर ही बस संग सखीन के आवै।
खेलत खेल नये जल में बिन काम वृथा कत जाम बितावै॥
छोड़ि कै साथ सहेलिन को रहि कै कहि कौन सवादहि पावै॥
कौन परी यह बानि अरी! नित नीर भरी गगरी ढरकावै ॥३॥

लछिराम—लछिराम अमोढ़ा जिला बस्ती के रहने वाले थे। इनका जन्म सन् १८४१ ई० में हुआ था। १० वर्ष की अवस्था में ही लासाचक (जिला सुलतानपुर) के रहने वाले ईश कवि के पास साहित्य पढ़ने गये। १५ वर्ष की अवस्था में ये अयोध्यानरेश महाराज मानसिंह के यहाँ गये। वहाँ पर इन्हें 'कविराज' की पदवी प्राप्त हुई। अवध में इनका बड़ा सम्मान था और अनेक राजाओं के यहाँ उनके नाम पर इन्होंने ग्रंथ बनाये। इन्हें हाथी, घोड़ा, वस्त्र, धन, गाँव आदि भी मिले। इनके बनाये ग्रंथों के नाम ये हैं—प्रताप रत्नाकर, प्रेमरत्नाकर, लक्ष्मीश्वर रत्नाकर, रावणेश्वर कल्पतरु, महेश्वर विलास, मुनीश्वर विलास, महेन्द्र भूषण, रघुवीर विलास, कमलानंद कल्पतरु, मानसिंह जंगाष्टक, रामचन्द्र भूषण, सरजू लहरी, हनुमत शतक, रामरत्नाकर, नायिकाभेद। इनके इन ग्रंथों में से अधिकांश भारत जीवन प्रेस में छप गये हैं। लछिराम जी की समस्या-पूर्तियाँ बड़ी सुन्दर होती थीं। इनके पढ़ने का ढंग बड़ा ही मोहक था और श्रोताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। लछिराम जी का सन् १९०४ ई० में अयोध्या में स्वर्गवास हुआ था। कुछ उदाहरण ये हैं—

रावन बान महाबली और अदेव औ देवन हूँ दृग जोरयो।
तीनहुँ लोकन के भट भूप उठाय थके सबको बल छोरयो।
घोर कठोर चितै सहजै लछिराम अमी जस दीपन घोरयो।
राजकुमार सरोज से हाथन सों गहि संभु-सरासन तोरयो ॥१॥

सजल रहत आप औरन को देत ताप बदलत रूप और वंसन बरेजे में।
ता पर मयूरन के झुंड मतवाले सालैं मदन मरोरैं महा झरनि मरेजे में।

कवि लछिराम रंग साँवरो सनेही पाय अरज न मानै हिय हरष हरेजे में।
गरजि गरजि बिरहीन के बिदारैं उर दरद न आवै धरे दामिनी करेजे में ॥२॥

अन्य कवि

यहाँ पर रीति-काव्य-परंपरा के प्रमुख और महत्त्वपूर्ण ऐसे कवियों का उल्लेख किया गया है जिनका काव्य भी उत्कृष्ट कोटि का है। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, रीति-काव्य इस युग की साहित्यिक चेतना की प्रधान धारा के अन्तर्गत है अतः एक विशाल संख्या लेखकों और उनके ग्रंथों की है जिनमें अलंकार, रस, नायिकाभेद, ध्वनि और उनके भेदों के लक्षण और तदनुसार उदाहरण दिये गये हैं। इन ग्रंथों में विशेष महत्त्व उदाहरणों का ही है। इनमें व्रजभाषा काव्य के सुन्दर नमूने मिलते हैं।

रीति-युग ऐसा था कि किसी कवि को इस समय सम्मान तभी प्राप्त होता था, जब वह अपने काव्यशास्त्र-संबंधी ज्ञान का प्रदर्शन कर सके और अपनी रचना में अलंकार, शब्दशक्ति, रस, नायिकाभेद आदि से संबंधित विशेषताओं को उतार सके। इसमें सन्देह नहीं कि इस युग के कवियों ने व्रज-भाषा को अत्यन्त प्रांजल और परिष्कृत बनाया। उसमें एक आकर्षक माधुर्य का निखार हुआ। उसके भीतर बारीक संकेतों का समावेश हुआ। लक्षण और व्यंजना की प्रौढ़ता के साथ मंजुलता इस रीति काव्य में समाविष्ट दीखती है। इस प्रकार इस धारा के कवियों की शैलीगत उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण हैं।

जिन कवियों का विवरण इस धारा में दिया गया है उनके अतिरिक्त भूषण, रामकवि, नेवाज, श्रीधर, वीर, कृष्णकवि, रसिक, सुमति, गंजन, प्रीतम, याकूब, भूपति, दलपति, समनेस, रघुनाथ, शंभुनाथ, शिवसहाय, ऋषिनाथ, बैरीसाल, दत्त, हरिनाथ, मनिराम, चंदन, देवकी नंदन, भानकवि, थानकवि, यशोदानंदन, जसवंतसिंह, जगतसिंह, करन, गुरदीन, ब्रह्मदत्त, आदि अनेक ऐसे कवि हैं जिन्होंने अलंकार, नायिका भेद आदि विषयों को ले कर सुन्दर रचना की है। परन्तु प्रवृत्ति की दृष्टि से इनमें कोई नूतनता नहीं। साथ ही काव्य भी इन कवियों से बढ़ कर उत्कृष्ट नहीं। अतः विस्तार को बचाने के लिये इन सब कवियों का विवरण देना उचित नहीं।

ख. स्वच्छन्द-शृंगार-धारा

रीतियुगीन प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण काव्यधारा की एक और शाखा है स्वच्छन्द-शृङ्गारधारा। इस शाखा के कवियों ने लक्षण ग्रंथ नहीं लिखे; परन्तु शृंगार काव्य के लक्षण इस काव्य की रचनाओं पर घटित हो सकते हैं। इनमें

कुछ का ध्यान तो लक्षणों पर है और जिनमें तटस्थ विदग्धता मिलती है, परन्तु कुछ कवि ऐसे हैं जिनकी उक्तियों में हमें स्वच्छन्द प्रेम भावना (Romanticism) का प्रकाशन मिलता है। जहाँ तक काव्य का प्रश्न है, इस धारा का काव्य अत्यंत उत्कृष्ट कोटि का है। इन कवियों में भाव का आवेश और उन्मेष पाया जाता है। ये लक्षण के उदाहरण रूप काव्य प्रस्तुत नहीं करना चाहते, वरन् इनकी दृष्टि, कल्पना और अनुभूति का स्रोत सौन्दर्य या रूप की किरणों से विद्ध हो कर फूट निकला है और वह अजस्र रूप से प्रवाहित है। इनमें हम रूप के विविध पक्ष, या व्यक्ति की विविध चेष्टायें और भावभंगिमायें चित्रित देखते हैं जो कि कवि की कल्पना और अनुभूति पर प्रभाव डाल चुकी हैं। अतः कहा जा सकता है कि ये अपनी अनुभूति को सीधे और सच्चे ढंग से प्रकट करने वाले कवि हैं। इस काव्यधारा के प्रमुख कवियों का परिचय हम यहाँ दे रहे हैं।

सेनापति—विदग्ध कवि परंपरा के अंतर्गत सेनापति का नाम महत्त्वपूर्ण है। इनके जीवनवृत्त के संबंध में अधिक बातें ज्ञात नहीं हैं। अधिकांश इनका परिचय देने वाली पंक्तियाँ इनके 'कवित्त रत्नाकर' नामक ग्रंथ से ही ली जाती हैं जिसके आधार पर यह पता चलता है कि ये गंगा के किनारे किसी बसती (अनुपम या अनूपशहर) के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम गंगाधर दीक्षित था। पितामह परशुराम और गुरु हीरामणि थे। संस्कृत का इन्हें अच्छा ज्ञान था। इनके रचे हुए दो ग्रंथ कहे जाते हैं (१) कवित्त रत्नाकार (२) काव्य कल्पद्रुम। इनमें प्रथम ही मिलता है। इसका रचनाकाल सन् १६४६ ई० है। सेनापति की उपलब्ध रचनाओं से यह विदित होता है कि ये प्रौढ़ एवं उत्कृष्ट कोटि की रचना करते थे। इन्होंने राम सीता से संबंधित कवित्त भी लिखे हैं, पर उनमें कवित्व की दृष्टि ही प्रधान है। इनके श्रृंगारिक वर्णन भी बड़े गहरे हैं। कवित्तों में एक विशेष गति है और इनकी अनुप्रास, यमक, श्लेषपूर्ण शब्दावली से युक्त वे पुकार कर कहते हैं कि हम सेनापति के हैं। सेनापति के महत्त्वपूर्ण छन्द इनके ऋतु-वर्णन-संबंधी हैं जो अत्यंत प्रसिद्ध हैं। कुछ छन्द उदाहरण-स्वरूप यहाँ दिये जाते हैं—

तोरयो है पिनाक नाकपाल बरसत फूल,
सेनापति कीरति बखानै रामचंद की।
लै कै जयमाला सिय बाल है बिलोकी छवि
दशरथ लाल के वदन अरविन्द की।
परी प्रेमफंद उर बाढ़यो है अनंद अति,
आछी मंद मंद चाल चलति गयंद की।

बरन कनक बनी, बानक बनक आई,
झनक मनक बेटी जनक नरिन्द की ॥१॥
लोल हैं कलोल पारावार के अपार, तऊ
जमुना लहरि मेरे हित को हरति है।
सेनापति नीकी परवास हूँ ते ब्रजरज
पारिजात हूँ ते बन-लता सरसति है।
अंग सुकुमारी संग सोरह सहस रानी,
तऊ एक छिन पै न राधा बिसरति है।
कंचन अटा पर जराऊ परजंक, तऊ
कुंजन की सेजैं वे करेजे खरकति हैं ॥२॥
छूट्यो ऐबो जैबो प्रेम पाती को पठैबो छूट्यो,
छूट्यो दूरि दूरि हू तें देखिबो दृगन तैं।
जेते मधियाती सब तिन सों मिलाप छूट्यो,
कहिबो सँदेसोहू को छूट्यो सकुचन तैं।
ऐती सब बातैं सेनापति लोकलाज काज,
दुरजन त्रास छूटी जतन जतन तैं।
डरि अरि रही चित चुभि रही देखौ एक,
प्रीति की लगन क्यों हूँ छूटति न मन तैं ॥३॥

बिहारी—हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत कलात्मक उपलब्धि एवं त्वरित प्रभाव की दृष्टि से बिहारीलाल सर्वश्रेष्ठ कवि ठहरते हैं। इनके दोहों का प्रभाव समस्त रीति-युग में छाया रहा और आज भी इनकी रचना अपनी निजी विशेषता रखती है। बिहारी का जन्म ग्वालियर के पास बसुआ गोविन्दपुर में सन् १६०३ के लगभग हुआ था। इसके बाद ये अपने पिता के साथ ओड़छे चले गये थे। बिहारी का विवाह मथुरा में हुआ था। कहा जाता है कि शाहजहाँ ने बिहारी को आगरे बुलाया था और वृत्ति भी दी थी। उसके बाद ये जयपुर गये और वहाँ अपने एक दोहे के कारण, जिसे उन्होंने मिर्जा राजा जयसाह के प्रति अपनी नवविवाहिता किशोरा रानी के प्रेम में सब कुछ भूल जाने पर लिखा था, बिहारी अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये। दोहा यह है—

नहि पराग नहिं मधु, नहिं बिकास यहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यौ, आगे कौन हवाल ॥

जयसिंह ने इन्हें प्रति दोहे पर एक अशर्फी देने का वचन दिया और तभी उत्साहित और पुरस्कृत हो कर प्रसिद्ध सतसई की रचना हुई जिसके

संबंध में बिहारी ने लिखा है—

हुकुम पाइ जयसाह को, हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद ॥

सचमुच बिहारी की सतसई अनेक सवाद भरी है। यह सतसई परंपरा की एक उज्ज्वल दमकती हुई लड़ी है जिसकी आभा के सामने सारा मुक्तक-मणिमाल आभा हीन जान पड़ता है। सतसई की इसी आभा पर रीझ कर प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर ग्रियर्सन ने लिखा है कि यूरोपीय साहित्य में मेरी जानकारी में कोई रचना इसकी टक्कर की नहीं है। बिहारी सौन्दर्य के प्रेमी थे और वह सौन्दर्य इनकी अभिव्यक्ति को सदैव प्रेरित करने वाला है। इनकी रचना में भाषामाधुरी, रूपमाधुरी और भावमाधुरी तीनों एक साथ पाई जाती हैं। इठलाती हुई ब्रजभाषा में किसी दृश्य या भाव का जगमगाता चित्र सामने खड़ा कर देते हैं। कुछ दोहे यहाँ दिये जाते हैं—

अंग अंग नग जगमगत दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजेरो गेह ॥१॥
पग पग मग अगमन परति चरन अरुन दुति झूलि।
ठौर ठौर लखियत उठे दुपहरिया से फूलि ॥२॥
फिर फिरि चित उत ही रहत टुटी लाज की लाव।
अंग अंग छवि भौंर में भयौं भौंर की नाव ॥३॥
भई जु तन छवि बसन मिलि बरनि सकै सु न बैन।
अंग ओप आँगी दुरी, आँगी अंग दुरै न ॥४॥
मानहु विधि तन अच्छ को, स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोंछन को किये, भूषन पायंदाज ॥५॥
बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करे भौंहन हँसे, देन कहै नटि जाय ॥६॥
लिखन बैठि जाकी छबिहिं, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥७॥

आलम—आलम की गणना स्वच्छन्दतावादी प्रेमोन्मत्त कवियों में होती है। ये औरंगज़ेब के पुत्र मुअज़्ज़म के आश्रय में रहते थे। ये एक बार शेख रंगरेजिन के प्रेम में पड़ गये। यद्यपि ये जाति के ब्राह्मण थे, फिर भी ये प्रेमवश मुसलमान हो गये। कहते हैं कि इन्होंने उसे पगड़ी रँगने को दी थी, उसमें एक कागज़ बँधा था जिसमें दोहे का पूर्वार्ध लिखा था। शेख ने उसकी पूर्ति कर के उसी में बाँध दिया। इस पर ये बड़े प्रसन्न हुए। आलम के एक

पुत्र हुआ जिसका नाम शेख ने जहान रखा था। एक बार राजकुमार मुअज्ज़म ने पूछा कि क्या आलम की औरत आप ही हैं ? शेख ने झट उत्तर दिया—जी हाँ, जहान की माँ मैं ही हूँ। यह उत्तर सुन कर वह बहुत लज्जित हुआ। कहते हैं कि आलम के द्वारा रचे कवित्तों में कुछ शेख के भी हैं। कुछ में एकाध चरण की रचना शेख ने की थी।

आलम मौजी और प्रेमी कवियों में से थे। रीति युग की स्वच्छन्द श्रृंगार धारा में इनका महत्त्वपूर्ण योग है। आलम की रचना प्रवाहपूर्ण है। विशेष रूप से अंतिम पंक्ति में चमत्कार मिलता है जो रीति-छन्दों की विशेषता के रूप में है। इनकी रचनाओं में उर्दू का प्रभाव दिखायी देता है। इनके द्वारा रचे तीन ग्रंथ माने जाते हैं—आलम केलि, माधवानल कामकंदला और श्यामसनेही। इनके विरह के वर्णन करने वाले कवित्त बड़े ही चुटीले हैं। कुछ छन्द ये हैं—

जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल कांकरि बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सो करी बहु बातन ता रसना सो चरित्र गुन्यो करैं।
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैननि मैं जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं ॥१॥

चंद्र को चकोर देखे निसि दिन को न लेखे,
चंद बिन दिन छवि लागत अँध्यारी है।
आलम कहत आली अलि फूल हेत चलै,
काँटे सी कँटीली बेलि ऐसी प्रीति प्यारी है।
कारो कान्ह कहत गँवारी ऐसी लागति है,
मोंहि वाकी स्यामताई लागति उज्यारी है।
मन की अटक जहाँ रूप को विचार कहाँ,
रीझिबों को पैंड़ो तहाँ बूझ कछू न्यारी है ॥२॥

रसनिधि—रसनिधि का वास्तविक नाम पृथ्वीसिंह था। ये दतिया राज्य के बरौनी इलाके के जागीरदार थे। इनका रचनाकाल सन् १६०३ से १६६० तक है। इन दोनों ही समयों की इनकी रचनायें मिलती हैं। इनके रचे ग्रंथ—रतन हज़ारा, विष्णुपद कीर्तन, कवित्त, बारामासी, गीतसंग्रह, रसनिधि सागर, अरिल्ल हिंडोले आदि हैं। ये बड़े प्रेमी व्यक्ति थे। प्रेम इनके जीवन में व्याप्त था और ये उसके अंधभक्त थे। इनके काव्य में प्रेम की तन्मयता फूटी पड़ती है। इनकी रचनाओं पर कहीं कहीं फारसी का भी प्रभाव है। कुछ उदाहरण ये हैं—

रसनिधि जब कबहूँ बहै, वह पुरवैया बाइ।
लगी पुरातन चोट जो, तब उभरति है आइ ॥१॥
जो कछु उपजत आइ उर, सो वे आखैं देत।
रसनिधि आँखैं नाम इन, पायो अरथ समेत ॥२॥
नेहिन के मन भावते, बिरह आँच सो ताइ।
कुंदन सौं कर लेत हैं, रूप-कसौटी लाइ ॥३॥
पल अँजुरिन सौं पियत दृग, जल अँसुवा भर साँस।
गनत रहत हैं अवधि के, दिन पखवारे मास ॥४॥

घनानंद—कवित्त और छन्दों की रचना करने वाले कवियों में घनानंद का स्थान मौलि पर है। इनकी रचना में एक विलक्षण अभिव्यंजना की आभा दिखलायी देती है। व्रजभाषा के ये सिद्धहस्त रचयिताओं में से हैं। घनानंद कायस्थ थे। इनका जन्म सन् १६८९ ई० में हुआ था। दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के यहाँ ये मीर मुंशी थे। ये काव्य-रचना तो करते ही थे, गाते भी अच्छा थे। दरबार की सुजान नामक वेश्या से प्रेम करते थे। एक दिन दरबारियों ने बादशाह से इनके गाने की तारीफ की। बादशाह के कहने पर उन्होंने टाला; पर सुजान के कहने पर गाने लगे पर पीठ बादशाह की तरफ रखी। गाने से वह खुश तो हुआ पर इनकी अशिष्टता पर इन्हें दिल्ली से निकाल दिया। बाहर जाते समय इन्होंने सुजान से चलने को कहा, पर उसने इन्कार कर दिया। तब ये वृन्दावन गये और राधाकृष्ण के रंग ये रँग गये। इनके राधाकृष्ण ही अब सुजान बन गये और ये विरह के गीत गाते रहे। ये निम्बार्क संप्रदाय के उपासक थे। सन् १७३९ ई० की नादिरशाही में ये मारे गये। इनके रचे ग्रंथ हैं—सुजानसागर, घनानंद कवित्त, रसकेलि वल्ली, कृपाकांड निबंध, कोकसार और विरहलीला।

घनानंद में भाषा का सौष्ठव, भाव की गहराई और अभिव्यंजना की चातुरी सभी समन्वित हो गई हैं। सरस, शुद्ध एवं समर्थ भाषा का सुन्दर नमूना इनकी रचना में है। विदग्धता के साथ साथ उनमें सरलता एवं मार्मिकता भरी पड़ी है। संयोग एवं वियोग शृङ्गार के दोनों पक्षों की विविध अन्तर्दशाओं का सूक्ष्म चित्रण जैसे सजीव हो उठा है। इनकी रचना के नमूने हैं—

पर कारज देह को धारे फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
विधि नीर सुधा के समान करौ सब ही विधि सज्जनता परसौ।
घन आनँद जीवन दायक हौ कछु मोरियो पीर हिये परसौ।
कबहू वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसौ ॥१॥

धुनि पूरि रहै नित कानन मै अज को उपराजिबोई सी करै।
मनमोहन गोहन जोहन के अभिलाख समाजिबोई सी करै।
घन आनँद तीखिये ताननि सों सुर से सुर साजिबोई सी करै।
कित तैं यह बैरिन बाँसुरिया बिन बाजेई बाजिबोई सी करै ॥२॥
तब तौ छबि पीवत जीवत हे अब सोचन लोचन जात जरे।
हित पोष के तोष सुप्रान पले बिललात महादुख दोष भरे।
घन आनँद मीत सुजान बिना सब ही सुख साज समाज हरे॥
तब हार पहार से लागत हे अब आनि कै बीच पहार परे ॥३॥

मूरति सिंगार की उज्यारी छबि आछी भाँति,
दीठि लालसा के लोयननि लै लै आँजिहौं।
रति-रसना-सवाद पाँवड़े पुनीत कारी,
पाय चूमि चूमि के कपोलनि सों माँजिहौं॥
जान प्यारे प्रान अंग-अंग रुचि रंगनि मैं,
बोरि सब अंगन अनंग दुख भाँजिहौं॥
कब घन आनँद ढरौही बानि देखें सुधा,
हेतु मन-घट दरकनि सुठि राँजिहौं ॥४॥

ठाकुर—ठाकुर नाम के कई कवि हो गये हैं, परन्तु इनमें सबसे प्रसिद्ध असनी के ठाकुर थे। असनी के दो ठाकुर थे एक प्राचीन और दूसरे नवीन। नवीन ऋषिनाथ के पुत्र और सेवक के बाबा थे। इनके पूर्वजों का संबंध महापात्र नरहरि से हुआ था। तीसरे ठाकुर बुन्देलखंडी थे। ये जाति के कायस्थ थे। इनके पूर्वज काकोरी के रहने वाले थे, परन्तु इनके पिता गुलाबराय ओड़छे में आ बसे और वहीं सन् १७६६ ई० में ठाकुर का जन्म हुआ था। ठाकुर जैतपुर, विजावर और बाँदा के राजदरबारों में जाने लगे थे। ये बड़े ही निर्भीक प्रकृति के व्यक्ति थे। इनकी एक बार की आलोचना से हिम्मत बहादुर इनसे रुष्ट हो गये थे। उस पर इन्होंने अपने स्वाभिमान को प्रकट करते हुए कहा था—

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के,
दान जुद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके।
नीति देन वारे हैं मही के महिपालन को,
हिये के विसुद्ध हैं सनेह साँचे उर के।
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदेनिया ससुर के।

चोजिन के चोजी महा, मौजिन के महाराज
　　　　ठाकुर कहावत पै चाकर चतुर के।

ठाकुर का रचनाकाल १८०० से १८३० तक माना जा सकता है। इनका परलोक वास १८३० के लगभग हुआ था।

ठाकुर की गणना भी स्वच्छन्द प्रेमधारा के कवियों में है। इनकी रचना में प्रेमभाव की स्वाभाविक अभिव्यक्ति मिलती है। ये बड़े भावुक एवं हृदय की सच्चाई के पारखी थे। इनके अनेक छन्द लोगों को कंठस्थ हैं। इनका ग्रंथ ठाकुर ठसक के नाम से मिलता है। रचना के उदाहरण—

अपने अपने सुठि गेहनि मैं चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री।
अँगनान में भींजत प्रेम भरे समयो लखि मैं बलि जाउँ पै री।
कहै ठाकुर दोउन की रुचि सों रँग ह्वै उमड़े दोउ ठाँव पै री।
सखी कारी घटा बरसै, बरसाने पै गोरी घटा नँदगाँव पै री ॥१॥
रूप अनूप दई दियो तोंहि तौ मान किये न सयान कहावै।
और सुनौ यह रूप जवाहिर भाग बड़े बिरलै कोउ पावै।
ठाकुर सूम के जात न कोऊ उदार सुने सबही उठि धावै।
दीजिये ताहि देखाय दया करि जो चलि दूर ते देखन आवै ॥२॥
वा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न जानति ह्वैहै।
बारहिं बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वैहै।
ठाकुर या मन की परतीति है जो पै सनेह न मानति ह्वैहै।
आवत हैं नित मेरे लिये इतनौ तौ विसेष कै जानति ह्वैहै ॥३॥
ग्वारन को यार है सिंगार सुख सोभन को,
　　　　साँचों सरदार तीन लोक रजधानी को।
गाइन के संग देख आपनो बखत लेख,
　　　　आनँद बिसेष रूप अकह कहानी को।
ठाकुर कहत साँचो प्रेम के प्रसंग वारो,
　　　　जा लखि अनंग रंग दंग दधिदानी को।
पुण्य नंद जू को अनुराग ब्रजवासिन को,
　　　　भाग जसुमति को सुहाग राधा रानी को ॥४॥

इस प्रकार ये प्रेमोन्मत्त कवि अपने प्रेम भाव को अंगीकार करने का साहस रखने वाले कवि थे, उसे छिपाने वाले नहीं। आलम, घनानंद, ठाकुर और बोधा इन सभी में यही बात है। बोधा का विवरण प्रेमाख्यान-कार-कवियों की परंपरा में दिया जा चुका है। इसी परंपरा में सीतल कवि भी आते हैं।

सीतल—सीतल यद्यपि कृष्ण-काव्य-परंपरा में स्वामी हरिदास जी के टट्टी संप्रदाय के महन्त के रूप में प्रसिद्ध हैं, परन्तु लौकिक प्रेम का जिस स्वच्छन्दता के साथ वर्णन इन्होंने किया है उससे इनका काव्य स्वच्छन्द श्रृंगार-परंपरा में ही अधिक उपयुक्त है। इनका जन्म सन् १७३० ई० के लगभग माना जाता है। कहते हैं कि ये शाहाबाद जिला हरदोई के समीप किसी गाँव के निवासी थे। ये ब्राह्मण थे; परन्तु ये लालबिहारी नाम के किसी लड़के पर आसक्त थे। इनकी रचनाओं में यह नाम बराबर आता है अतः कुछ लोग इसे ईश्वर के नाम के पर्याय के रूप में ग्रहण करते हैं; परन्तु रचना से स्पष्ट है कि यह कोई लौकिक व्यक्ति ही है। इनका रचा हुआ ग्रन्थ "गुलजारे चमन" तीन भागों में है जिसमें २५७ छन्द हैं। इनमें नखशिख-वर्णन और सौंदर्य-चित्रण है। इनकी भाषा खड़ी बोली है। खड़ी बोली का इस प्रकार यह पहला श्रृङ्गारिक ग्रन्थ कहा जा सकता है। नखशिख सौन्दर्य एवं वस्त्राभूषण युक्त छवि की कल्पनायें बड़ी ही मोहक है।

कुछ छन्द ये हैं—

मुख सरद चंद पर स्रम-सीकर जगमगैं नखत गन जोती से।
कै दल गुलाब पर शबनम के हैं कनके रूप उदोती से।
हीरे की कनियाँ मंद लगैं हैं सुधाकिरन की गोती से।
आया है मदन आरती को धर कनक थार में मोती से ॥१॥
बरनन करने को क्या बरनूँ बरनूँगा जेती बानी है।
ग्रह तीन उच्च के पड़े हुए जानी वह यूसुफ सानी है।
ससि भवन जीव सफरी में गुरु कन्या बुध जोतिष ज्ञानी है।
इस लालबिहारी की सीतल क्या अर्द्धचन्द्र पेशानी है ॥२॥
चंदन की चौकी चारु पड़ी सोता था सब गुन जटा हुआ।
चौके की चमक अधर बिहँसन मानों यक दाड़िम फटा हुआ।
ऐसे में ग्रहण समै सीतल यक ख्याल बड़ा अटपटा हुआ।
भूतल से नभ नभ से अवनी अगु उछलै नट का बटा हुआ ॥३॥

रामसहाय—रामसहायदास काशी के महाराजा उदितनारायणसिंह के आश्रय में थे। ये चौबेपुर बनारस के रहने वाले अस्थाना कायस्थ थे। इनके पिता का नाम भवानीदास था। ये भगत नाम से प्रसिद्ध थे और कविता में उपनाम भी इनका भगत ही है। इनका रचना काल सन् १८०३ से १८२३ ई० तक माना जाता है। इनकी राम सतसई अपने श्रृंगार विषयक प्राधान्य के कारण 'श्रृंगार सतसई' ही हो गई है। सतसई की रचना सन्

१८२० के आस-पास हुई थी। सतसई के अतिरिक्त इनके रचे ग्रन्थ वृत्त-तरंगिनी सतसई, ककहरा और वाणीभूषण हैं। रामसहाय की सतसई अत्यंत ललित है और इनके दोहे बिहारी के दोहों की टक्कर के हैं। मिश्रबंधुओं का कहना है कि यदि ये मिला कर रख दिये जायँ, तो १४०० दोहों में यह छाँटना कठिन होगा कि कौन राम का है और कौन बिहारी का। प्रेम और शृंगार का सरस, सुकुमार वर्णन इस काव्यग्रंथ की विशेषता है। इनके कुछ दोहे इस बात को स्पष्ट करेंगे—

तब अली न तोसों कही, प्रीत कि रीति भली न।
अब मलीन चित कित किये, चितवति चकित गलीन ॥१॥
नैननि मढ़ि चित चढ़ि रही, वह स्यामा वह साँझ।
झलकी दै ओझल भई, झाँकि झरोखे माँझ ॥२॥
भटक न झटपट चटक दै, अटक सुनट के संग।
लटक पीतपट की निपट, हटकति कटक अनंग ॥३॥
झलके पग बनजात से, झलके मग बन जात।
अहह दई जलजात से, नैननि तें जल जात ॥४॥
कलित ललित ई सतसई, राम सहाय बनाय।
हरि राधाहिं नजर दई, अजर लई रति पाय ॥५॥

विक्रमसाहि—सतसईकारों की परंपरा में विक्रमसाहि का भी नाम है। ये बुन्देलखंड की चरखारी रियासत के राजा थे और प्रसिद्ध कवि प्रतापसाहि के आश्रयदाता भी थे। इनका राज्यकाल सन् १७८२ से १८२९ ई० तक रहा। ये साहित्यानुरागी, उदार एवं गुणग्राहक थे। इनके यहाँ चारों ओर से कवि गण आते थे। इनके आश्रय में खुमान, भोज, प्रताप, प्रयागदास, विजय बहादुर और बिहारीलाल (मतिराम के पंती टिकमापुर के रहने वाले) रहे थे। इनकी प्रसिद्ध विक्रम सतसई तो है ही, इसके अतिरिक्त इन्होंने हरिभक्ति विलास, (भागवत दशमस्कंध का पद्यनुवाद), विक्रम विरुदावली और ब्रजलीला ग्रन्थों की रचना की। इनकी सतसई में काव्य का वह उत्कर्ष नहीं जो बिहारी मतिराम आदि में हैं, पर आलंकारिक कल्पना की छटा इनके दोहों में दिखाई पड़ती है। कुछ उदाहरण ये हैं—

खंजन कंजन मीन से कहत सबै कवि मैन।
तेरेइ जुग नैन से तेरे ही जुग नैन ॥१॥
झिर पिचकारी की मची, आँधी उड़त गुलाल।
यह धूँधरि धँसि लीजिये, पकरि छबीले लाल ॥२॥

झीने झर झुकि झुकि झमकि झलनि झाँपि झकझोर।
झुमड़ घुमड़ बरसत सघन उमड़ि घुमड़ि घन घोर ॥३॥
कलाकंद बतरान मैं मधुराई मुसकानि।
है पियूष मुखचंद मैं क्यों दृग बान समान ॥४॥

अन्य कवि

रीतियुगीन पूर्वकथित धाराओं में सभी कवि आ गये हों ऐसी बात नहीं है। इन्हीं धाराओं में भी हमने देखा है कि एक कवि दूसरी धारा की रचना भी करता है। राम और कृष्ण-भक्त कवियों में शृंगार-काव्य मिलता है। शृंगारिक मुक्तकों में नीति के छन्द मिल जाते हैं और वीर-शृंगार-काव्य में भी रीतिबद्धता मिलती है। इन धाराओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रसिद्ध कवि हैं जिनकी देन इस युग के लिए महत्त्व की है। परन्तु वे इनमें से किसी एक विशेष धारा के कवि नहीं बन सके। यहाँ हम कुछ ऐसे ही प्रसिद्ध कवियों का परिचय दे रहे हैं।

सबलसिंह चौहान—कहा जाता है कि ये इटावे के पास सबलगढ़ के राजा थे। इनका संबंध औरंगज़ेब के दरबारी व्यक्तियों से था। इनकी ख्याति का बड़ा स्तंभ इनके द्वारा महाभारत का दोहा-चौपाइयों में अनुवाद है जिसे इन्होंने सन् १६६१ से १७२४ ई० के बीच पूरा किया था। इसके अतिरिक्त इनके लिखे हुए ग्रंथ रूप विलास, पिंगल तथा ऋतु संहार का भाषानुवाद है। महाभारत का चलती हुई सीधी सादी भाषा में अनुवाद काफी प्रचलित रहा। इनके अनुवाद में कोई काव्यात्मक छटा नहीं है।

घनश्याम शुक्ल—ये असनी जिला फतेहपुर के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका समय सन् १६८० से १७६० तक माना जाता है। ये रीवाँ नरेश के दरबार में भी गये थे, और काशी-नरेश के यहाँ भी। इन्होंने औरंगज़ेब के सेनापति दलेलखाँ की प्रशंसा में बड़े सुन्दर छन्द लिखे हैं। इनका कोई ग्रंथ अभी तक नहीं मिला; पर जो छन्द इनके मिलते हैं उनमें अनुप्रास की छटा, प्रवाह एवं गति की विशेषता तथा ओजपूर्ण भाव-सौष्ठव देखने को मिलता है। कुछ छन्द ये हैं—

बैठी चढ़ि चाँदनी मैं चंद्रमा विलोकन को उन्नत उरोजन ते उछरे हरा परैं।
दमा छमा केतिक तिलोत्तमा हैं घनश्याम रमा रति रूप देखि धँसकी धरा परैं।
जेवर जड़ाऊ मोर जगमगैं अंगन तें नेवर जड़ाऊ तेज तरनि तरा परैं।
राधे मुख मंडल मयूखनि ते महाराज छूटि कै छपाकर के ऊपर छरा परैं ॥१॥

उमड़ि घुमड़ि घन आवत अटान चोट घन घन जोति छटा छटकि छटकि जात।
सोर करैं चातक चकोरि पिक चहुँ ओर मोर ग्रीवा मोरि मोरि मटकि मटकि जात।
सावन लौं आवन सुन्यो है घनश्याम जू को आँगन लौं आय पाँय पटकि पटकि जात।
हिये विरहानल की तपनि अपार उर हार गजमोतिन के चटकि चटकि जात ॥२॥
पग मग धरत महीधर डिगत डगमगत पुहुमि चटकत फन सेस के।
उलटि पलटि खलभलत जलधिजल कंपति अवलि अलकेस के लंकेस के।
कहै घनश्याम कच्छ मच्छ को कहल होत हहल हहल होत महल सुरेस के।
गढ़न दलत मृगराजन मलत मद झरत चलत गज बांधव नरेस के ॥३॥

गुमान मिश्र—गुमान मिश्र के पिता का नाम गोपालमणि था। उनके भाई अमान खुमान और दीपसाहि थे। ये पिहानी के महमदी महाराज अकबर खाँ के आश्रय में रहते थे और उनकी इच्छा से इन्होंने श्रीहर्षकृत 'नैषध चरित्र' का भाषानुवाद किया। यह अनुवाद विविध छन्दों में किया गया है। गुमान मिश्र के गुरु का नाम सबसुख मिश्र था। इनके रचे ग्रंथ नैषध काव्य के अतिरिक्त 'कृष्ण चन्द्रिका' और 'छन्दाटवी' भी प्राप्त हुए हैं। कहा जाता है कि इन्होंने अलंकार, नायिका भेद और काव्य रीति से संबंधित सात-आठ ग्रन्थ और लिखे जिनमें से अलंकार-दर्पण (सन् १७६१) और गुलाल चन्द्रोदय (सन् १७६३) का भी पता लगा है। इनका रचनाकाल सन् १७४३–१७८० तक माना जा सकता है। इनका नैषध का अनुवाद अनेक प्रकार के छन्दों में सानुप्रास ब्रजभाषा में हुआ है। अपनी काव्यगत विशेषताओं के कारण यह एक स्वतन्त्र ग्रंथ के समान जान पड़ता है। कृष्ण-चन्द्रिका प्रबन्ध काव्य है और इसमें विस्तार पूर्वक कृष्ण-चरित्र का वर्णन है। इनकी ब्रजभाषा में कहीं-कहीं प्राकृत और संस्कृत शब्दावली भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है।

इनकी रचना के उदाहरण निम्नांकित हैं—

त्रिभुवन भूषन भूमि भूरि वर नगर सिरोमनि।
झलझलात छवि अच्छ-अच्छ लखि भाषति धनि-धनि।
सोहत विकट कपाट जटित पुर द्वार कटिक मय
मनौ रच्यो कैलास शंभु निज बास भक्त पै।
अनु सजत सुमेरु प्रदच्छिना चहुँ सुबरन प्राकार पर
सरवरि जहाँन को करि सकै सब नरवर नव-नगर कर ॥१॥

दिग्गज दबत दबकत दिगपाल भूरि, धूरि की धुँधेरी सो अँधेरी आभा भान की।
धाम औ धरा को माल बाल अबला को भरि तजत परान राह चहत पराण की।

सैयद समत्थ भूप अली अकबर-दल चलत बजाय मारु दुंदुभी धुकान की।
फिर फिर फनतु फनीस उलटतु ऐसे चोली खोलि ढोली ज्यों तमोली पाके पान की ॥२॥

ब्रजनिधि—'ब्रजनिधि' जयपुर नरेश महाराजाधिराज श्री सवाई प्रतापसिंह जी देव का उपनाम था। इनका जन्म सन् १७६४ ई० में हुआ था। इनका जीवन अनेक वीरतापूर्ण घटनाओं से युक्त है। महाराज प्रतापसिंह के १२ रानियाँ थीं और उनसे उत्पन्न हुए पुत्र और पुत्रियों से इनका परिवार भरा हुआ था। ये महाराज वैद्यक और संगीत के भी विद्वान् थे और इनके आश्रय में अनेक कवि विद्वान् और पण्डित रहा करते थे। ब्रजनिधि के रचे २३ ग्रंथ हैं जिनके नाम हैं—प्रीतिलता, स्नेह-संग्राम, फाग-रंग, प्रेम-प्रकाश, बिरह-सलिला, स्नेह बहार, मुरली विहार, रमक-जमक बतीसी, रास का रेखता, सुहाग रीति, रंग चौपड़, प्रीति-पचीसी, प्रेम-पंथ, ब्रज-श्रृंगार, ब्रजनिधि मुक्तावली, ब्रजनिधि पद-संग्रह, हरिपद संग्रह, रेखता संग्रह। इन ग्रंथों में 'रेखता संग्रह' और 'रास का रेखता' खड़ी बोली में लिखे गये ग्रंथ हैं। ब्रजनिधि का गोलोक-वास सन् १८०३ ई० में रक्तविकार और अतिसार रोगों के कारण हुआ। इन्होंने स्वयं तो एक बड़ी संख्या में ग्रन्थों की रचना की ही; अन्य अनेक ग्रन्थों की रचना कराई भी, जो इतिहास, धर्म शास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, संगीत, आदि विषयों से सम्बन्ध रखते हैं। उनकी रचनाएँ सरल और मधुर हैं। ब्रजभाषा शब्दावली के बीच में राजस्थानी शब्द भी प्रायः आ गये हैं। उदाहरण के लिए कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं—

घूमत घायल से घिरे, घबराए घनश्याम।
घरी घरी घर-घर फिरत, घोखत राधा नाम॥
सोनजुही तुव गुन बँध्यो, रह्यो भँवर मंडराय।
छुटैं रसिक पुन होयगो, उत गुलाब विकसाय॥
अति उमगी री आज, प्रीति-नदी सु अगाध जल।
धार माँझ ये प्रान, दरस थाँग बिन नाहि कल॥

प्रीति मैं घात की बात ही मैं सुदगा कौ कियो रे कियो रे कियो।
कूबरि पाय कै धै लपटाय कै, यों रे जियो रे जियो रे जियो।
जोग को रोग लै आय ऊधो अबै, तैं रे दियो रे दियो रे दियो।
पीउनै साँप लौं प्रानै ब्रजैनिधि, चाहै पियो रे पियो रे पियो।

दरियाव इश्क के में मैं जाता हूँ बुड़ा, मिलता नहीं है होश देखते उड़ा।
है कौन दस्तगीर जुदाई से दे छुड़ा, ब्रजनिधि के चरन माँहि मैं निसदिन रहूँ जुड़ा।

गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव—गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणि-

देव, इन तीनों कवियों की महत्त्वपूर्ण देन हिन्दी साहित्य को है। तीनों कवियों ने मिल कर 'भाषा-महाभारत' की रचना की, जो महाभारत और हरिवंश का विभिन्न छन्दों में भाषानुवाद है। इन कवियों में गोकुलनाथ महाराज काशी-नरेश के बन्दीजन और कवि रघुनाथ के पुत्र थे और गोपीनाथ पौत्र। दोनों ही पिता-पुत्र उत्तम कोटि के कवि थे। मणिदेव गोकुलनाथ के शिष्य थे। इन तीनों ने मिल कर काशीनरेश महाराजा उदितनारायण सिंह की आज्ञा से लगभग ५० वर्ष के समय में यह विशाल भावानुवाद तैयार किया। अनुमान से यह कार्य सन् १७७३ ई० से सन् १८२७ ई० तक चलता रहा। इस अनुवाद के अतिरिक्त गोकुलनाथ के रचे ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

चेत-चन्द्रिका, गोविन्द-सुखद-विहार, राधाकृष्ण-विलास, राधा जी का नख-शिख, नाम-रत्न-माला कोष, सीता राम गुणार्णव, अमरकोष भाषा, और कवि-मुख-मण्डन। महाभारत में तीनों कवियों की रचनाओं का उल्लेख अलग अलग है। उनकी रचना के उदाहरण निम्नांकित हैं—

गोकुलनाथ

पेंच खुले पगरी के उड़ै फिरै कुंडल की प्रतिमा मुख पौरी।
तैसियै लोल लसैं जुलफैं रहैं ये हो न मानति धावति धौरी।
गोकुलनाथ किये गति आतुर चातुर की छवि देखि न बौरी।
ग्वालनि ते कढ़ि जात चल्यो फहरात कंधा पर पीत पिछौरी।

चंद्रवदनी कहहु हमसो सत्य सो अभिराम।
भरी परमा कान्ति सों सुकुमारता की धाम॥
कमलनयने अंग तो सब वसीकर के यंत्र।
चारुहासिनि सुधा से तव बचन मोहन मंत्र॥

गोपीनाथ

जीव रहे लों जियन को करिबो उचित उपाय।
बुद्धिमान तरि आपदा लहत पार सुखपाय॥
हैं स्वछन्द ये दोय अरि तीजो जो मारजार।
है ता पहँ आपद परो प्रान-घात उपचार॥

मणिदेव

गरजि गरजि अखण्ड गति गहि उभय वीर उदण्ड।
करत चालन दोइ दण्डन चपल अतिशय चण्ड॥
सब्य कोउ अपसब्य फिरि जो सब्य सो अपसब्य।
फिरत बाहत गदा गरुई सुभट भा भरि भब्य॥

सब्द सों भरि दियो अब्दहिं स्तब्ध भे नहिं नेक।
टूटि-टूटि अचूक बाहन गहे जय की टेक॥

वृन्दावन जी—वृन्दावन जी का जन्म शाहाबाद जिले के बारा नामक ग्राम में सन् १७८१ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम धर्मचन्द्र जैन था। सन् १८०३ ई० में ये काशी में रहने लगे और इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। ये आशुकवि थे। इनका विचार तुलसीकृत रामायण की भाँति जैन रामायण बनाने का था जिसके ७१ सर्ग इनके पुत्र अजितदास ने बनाये। वृन्दावन जी ने १५ वर्ष की अवस्था ही में काव्य रचना प्रारम्भ कर दिया था। इनके रचे हुए ग्रन्थ ये हैं—चौबीसी पाठ, तीस चौबीस पाठ, छन्द-शतक, अरहत-पासा-केवली, प्रवचन-सार, जैन छन्दावलि। काव्य की दृष्टि से छन्द-शतक उनकी उत्तम रचनाओं का संग्रह है। वृन्दावन जी ने यमक अनुप्रास आदि का सुन्दर प्रयोग किया है। इन्होंने व्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में ही अपनी काव्य-रचना की। रचना के उदाहरण निम्नांकित हैं—

बेजान में गुनाह मुझसे बन गया सही
कंकरी के चोर को कटार मारिये नहीं
आनन्दकन्द श्रीजिनंद देव है तुही
जस वेद औ पुरान में परमान है यही॥१॥

चारु चरन आचरन चरन-चित हरन चिह्न कर
चन्द चन्द तन चरित चन्द थल चहत चतुर नर
चतुक चण्ड चक चूरि चारि दिक् चक्र गुनाकर
चंचल चलित सुरेस चूल नुत चक्र धनुर्धर
चर अचर-हितू तारन-तरन सुनत चहकि चिर नंद सुचि
जिन चन्द चरन चरच्यो चहत चित चकोर नचि रच्चि रुचि॥२॥

गिरिधरदास—'गिरिधरदास' का वास्तविक नाम गोपालचंद्र था। यह काव्य में उपनाम था। ये भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता थे। भारतेन्दु के उल्लेख से जान पड़ता है कि इन्होंने चालीस ग्रंथों की रचना की। गिरिधर दास जी का जन्म सन् १८३३ ई० में हुआ था। इनके पिता हर्षचन्द्र काशी के बड़े प्रसिद्ध रईस थे। गोपालचंद्र ने संस्कृत और हिन्दी भाषा में अपने परिश्रम से योग्यता प्राप्त की और इन दोनों भाषाओं की पुस्तकों का सुन्दर संग्रह इनके पास था। इस पुस्तकालय का नाम ही इन्होंने 'सरस्वती भवन' रखा था। ये बड़े ही विद्याव्यसनी थे और विद्वानों और कवियों का जमघट इनके यहाँ बराबर लगा रहता था। गिरधरदास का परलोकवास सन्

१८६० ई० में हुआ था। इनके रचे ग्रन्थ हैं—जरासंध बध, भारती भूषण महाकाव्य, भाषा व्याकरण, रसरत्नाकर, ग्रीष्म वर्णन, मत्स्यकथामृत, बाराह कथामृत, नृसिंह कथामृत, वामन कथामृत, परशुराम कथामृत, रामकथामृत, बलराम कथामृत, बुद्ध कथामृत, कल्कि कथामृत, नहुष नाटक, गर्गसंहिता, बाल्मीकि रामायण (अनुवाद), छन्दोवर्णन, नीति, अद्भुत रामायण, लक्ष्मी-नखशिख, वार्ता संस्कृत, ककारादि सहस्रनाम, गया यात्रा, गयाष्टक, द्वादश-कमल, कीर्तन, संकर्षणाष्टक, दनुजारिस्तोत्र, शिवस्तोत्र, गोपालस्तोत्र, भगवत् स्तोत्र, श्रीराम स्तोत्र, श्रीराधा स्तोत्र, शमाष्टक, कालिय कालाष्टक। इनमें से अधिकांश तो भक्ति संबंधी ग्रन्थ हैं। कुछ ही काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जरासंध वध ११ सर्ग तक लिखा प्रबंध काव्य है और बड़ा ही सुन्दर है। इनकी रचनाओं में अलंकार विशेष रूप से शब्दालंकार (यमक) का चमत्कार खूब मिलता है। उदाहरण देखिये—

सब के सब केशव के सब के हित के गज सोहते सोभा अपार हैं।
जब सैलन सैलन सैलन ही फिरै सैलन सैलहिं सीस प्रहार हैं।
'गिरिधारन' सो पदकंज लै धारन धारन पै वसुधारन फार हैं।
अरि वारन वारन वारन पै सुर वारन वारन वारन वार हैं ॥१॥

जगह जड़ाऊ जामैं जड़े हैं जवाहिरात,
जगमग जोति जाकी जग में जमति है।
जामें जदुजानि जान प्यारी जात रूप ऐसी,
जगमुख ज्वाल ऐसी जोन्ह सी जगति है।
'गिरिधर दास' जोर जबर जवानी को है,
जोहि जोहि जलजा हूँ जीव मैं जकति है।
जगत के जीवन के जिय को चुराये जोय,
जोए जोषिता को जेठ जरनि जरति है ॥२॥

द्विजदेव (मानसिंह)—अयोध्या के राजा मानसिंह ही 'द्विजदेव' उपनाम से कविता लिखते थे। इनकी रचनाओं के नाम शृंगार बत्तीसी और शृंगार लतिका कहे जाते हैं। शृंगार लतिका विशाल ग्रन्थ है। इसकी टीका अयोध्या नरेश महाराज प्रतापसिंह 'ददुआ' जी ने की है। द्विजदेव की रचनाओं का प्रचार इस बीच काव्यप्रेमियों के बीच खूब रहा और पद्माकर की कविता के समान ही यह जनप्रिय रही। इनकी रचना बड़ी ही सरस और भावपूर्ण होती थी। भाषा अत्यंत प्रांजल तथा अनुप्रास और शब्दगत चमत्कार से पूर्ण है। इनके ऋतु-वर्णनों में एक अद्भुत उल्लास की अनुभूति व्यक्त हुई

है। इनकी रचना उत्कृष्ट व्रजभाषा काव्य की विशेषताओं से सम्पन्न है। कुछ उदाहरण ये हैं—

सुरही के भार सूधे सबद सुकीरन के,
मदिरन व्यादि करैं अनत कहूँ न जौन।
द्विजदेव त्यों ही मधुभारन अपारन सों,
नेकु झुकि भूमि रहैं मोगरे मरुअ दौन।
खोलि इन नैननि निहारौं तौ निहारौं कहा?
सुखमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।
चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो चंद,
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन॥१॥

आजु सुभायन ही गईं बाग, विलोकि प्रसून की पाँति रही पगि।
ताहि समै तहँ आए गोपाल, तिन्है लखि औरो गयो हियरो ठगि॥
पै द्विजदेव न जानि परयो धौं कहाँ तिहि काल परे अँसुवा जगि।
तू जो कही, सखि! लोनो सरुप सो मो अँखियान को लोनी गई लगि॥२॥

घहरि घहरि घन सघन चहूँदा घेरि,
छहरि-छहरि विष-बूँद बरसावै ना।
द्विजदेव की सौं अब चूक मत दाँव एरे,
पातकी पपीहा! तू विथा की धुनि गावै ना॥
फेरि ऐसे औसर न ऐहै तेरे हाथ एरे,
मटकि मटकि मोर सोर तू मचावै ना।
हौं तौ बिन प्रान, प्रान चहत तजो ई अब,
कत नभ चंद तू अकाश चढ़ि धावै ना॥३॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतियुग कलात्मक एवं शृंगारिक चेतना का युग था। इस बीच में भक्ति, नीति, वीर, प्रेमाख्यान आदि काव्य-धाराओं का भी विकास हुआ जो पूर्ववर्ती युगों की प्रधान धारायें थी, परन्तु प्रमुख साहित्यिक चेतना शृंगारिक एवं रीति-काव्य की प्रवृत्ति के रूप में विकसित हुई। अन्य धाराओं के काव्यों में भी इस प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा यह भी हम देख चुके हैं। इस युग में उत्कृष्ट कवित्व-प्रतिभा से युक्त कवि बड़ी संख्या में उत्पन्न हुए। उनकी रचनाओं द्वारा व्रजभाषा का परिष्कार, संस्कार, एवं सुंदर शृङ्गार हुआ। व्रजभाषा प्रौढ़ एवं सूक्ष्म भाव-भंगिमाओं को प्रकाशित करने में समर्थ हुई। अवधी काव्य भी काफी परिमाण में लिखा गया; पर उसमें व्रजभाषा के से विविध प्रयोग नहीं हुए। वह अधिकांशतः प्रेमाख्यानों की भाषा बनी

रही या बरवै छन्दों के लिए प्रयुक्त हुई। छन्दों के प्रसंग में यह नहीं कहा जा सकता कि अन्य छन्द नहीं प्रयुक्त हुए। इस युग की असंख्य रचनाओं में छन्दों के समस्त रूपों का प्रयोग प्राप्त हो सकता है; परन्तु विशेषतया रीति एवं श्रृंगारिक काव्य के लिए कवित्त-सवैया, दोहा-सोरठा छन्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ।

रीतिकालीन साहित्य में लौकिक एवं भोगात्मक प्रवृत्तियों की ही प्रधानता दिखलाई देती है। कोई एक लक्ष्य उस समय के जन-जीवन में नहीं रहा जो कि व्यापक प्रेरणा को जगा सकता और साधनापूर्ण जीवन का विकास करता। अतएव साहित्य में भी किसी नवीन जीवन-दर्शन या सामाजिक, या धार्मिक व्यापक आन्दोलन का प्रतिबिम्ब देखने को नहीं मिलता। साहित्यिक उक्ति-चमत्कार एवं सौन्दर्य-चित्रण के क्षेत्र को छोड़ कर रूढ़ि और परंपरा की लकीरें इस युग के साहित्य में बड़ी गहराई तक बनी दिखलाई देती है। प्रतिभायें भी इन्हीं बँधी लकीरों के सहारे ही चलती हुई दिखलायी देती हैं; क्योंकि इस युग में प्रायः आत्मतेज का ह्रास ही परिलक्षित होता है। सिक्खों, मराठों और राजपूतों के तेज का प्रकाश सीमित ही था; क्योंकि उनके प्रयत्नों में देशव्यापी सामाजिक एवं राष्ट्रीय भावना को प्रेरित और जाग्रत करने का लक्ष्य नहीं था। छुटपुट उदाहरण आत्मतेज के अवश्य मिल जाते हैं; पर इस युग के मानस को आन्दोलित कर देने वाला न तो कबीर और तुलसी का सा ही व्यक्तित्व था और न राष्ट्रीय चेतना को प्रबुद्ध करने वाला गांधी जैसा नेता ही। अतः काव्य की रचना अपने रस चल रही थी। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि औसत साहित्यिक चेतना इस युग की अन्य युगों से कहीं अधिक प्रबुद्ध थी। जन-साधारण के घरों में काव्य के ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ उस समय मिल सकती थीं। मुद्रण यंत्र का विकास न होने पर भी अधिकांश रचनायें निजी अथवा राज-पुस्तकालयों में सुरक्षित रहीं। यह उस युग की कला एवं साहित्यप्रियता का प्रमाण है। अतः अनेक दृष्टियों से इस युग के काव्य की अपनी महत्ता और विशिष्टता है।

आधुनिक काल

(सन् १८५० से ......)

•

आधुनिक साहित्य [नवचेतना काल]

सामयिक परिस्थितियाँ

पाश्चात्य सम्पर्क और नव-चेतना का उदय

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के संघर्ष सम्पर्क और समन्वय का परिणाम है। इस काल के साहित्य में विलक्षण विविधता पाई जाती है। न केवल काव्य के अन्तर्गत एक यथार्थवादी भौतिक दृष्टिकोण का विकास ही दिखलाई देता है वरन् गद्य-साहित्य के प्रादुर्भाव एवं विभिन्न रूपों में विकास के कारण साहित्य हमारे ऐहिक और यथार्थ जीवन का पूर्णरूपेण वास्तविक प्रतिबिंब बन कर उतरा है। पूर्ववर्ती काव्य-धाराओं में साहित्य के अंतर्गत जीवन के कुछ विशिष्ट रूपों अंगों और तथ्यों का ही समावेश हो पाया था। साहित्यकार को सौन्दर्य और कुरूपता से भरे विकारों एवं सद्गुणों से युक्त मानव-जीवन के विविध क्रिया-कलापों से सुन्दर और कल्याणकारी रूप को चुनना पड़ता था, वह सामयिक समस्याओं और संघर्ष के प्रति उपेक्षा का भाव रख कर स्थायी और शाश्वत को ही अपनी रचना में स्थान देता था। परंतु आधुनिक काल का साहित्य विशेष रूप से गद्य-साहित्य जीवन के यथार्थ किन्तु उपेक्षित रूप का ही विशेष रूप से उपजीवी बना। इस प्रकार साहित्य में जीवन का अधिक व्यापक चित्रण होने से वह हमारे जीवन के अधिक निकट आ सका। इसका श्रेय परिस्थितिगत संपर्कों के परिणाम स्वरूप विकसित हुए वर्तमान काल के गद्य-साहित्य को ही विशेष रूप से है।

राजनीतिक स्थिति

औरंगज़ेब के गद्दी पर बैठने से पहले ही शिवाजी और चंपतराय की स्वाधीनता-चेष्टा प्रकट हो चुकी थी। १६६५ में पुरन्दर की सन्धि से शिवाजी ने औरंगज़ेब की अधीनता मानी। अगले वर्ष वह आगरे गया और वहाँ कैद हो गया। उस समय मुगल-साम्राज्य की सेना अजेय समझी जाती थी। पर जब शिवाजी तीन महीने बाद कैद से भाग गया तो मुगल साम्राज्य की धाक टूट गई। ३ वर्ष तैयारी कर शिवाजी ने फिर युद्ध छेड़ा। उससे प्रेरणा पा कर उत्तर भारत में भी विद्रोह होने लगे। नारनौल, ब्रज, बुन्देलखंड, अफगानिस्तान, पंजाब सब जगह विद्रोह हुए और औरंगज़ेब उनका दमन करता रहा। शिवाजी की मृत्यु के बाद उत्तर भारत के विद्रोहों को कुचल कर औरंगज़ेब दक्षिण गया। बीजापुर और गोलकुंडा को जीत कर मराठों से जा उलझा। संभाजी १६८६ में मारा गया। तब महाराष्ट्र के स्वाधीनता-संग्राम का नेतृत्व राजाराम ने सँभाला। औरंगज़ेब ने राजाराम को रायगढ़ में घेर लिया तो वह वहाँ से निकल कर महाराष्ट्र की रक्षा रामचन्द्र नीलकंठ बावडेकर को सौंप कर जिंजी चला गया। औरंगज़ेब ने जिंजी को घेर लिया। १६६२ में महाराष्ट्र के तीन गढ़ों के सिवाय शेष सारा भारत औरंगज़ेब के कब्जे में आ गया। पर उस अवस्था में भी रामचंद्र बावडेकर ने महाराष्ट्र में ६ गढ़ और जीत कर ३० हज़ार फौज खड़ी कर ली और उस फौज से मराठा सेनापति संताजी घोरपड़े ने जिंजी पर शाही सेना को परास्त कर दिया। तब से पासा पलट गया। संताजी और धनाजी ने जहाँ तहाँ मुगल फौजों को हराया। संताजी की विजयों की प्रतिक्रिया उत्तर भारत में भी हुई। जहाँ तहाँ विद्रोह होने लगे। औरंगज़ेब १७०५ में जब लौटने लगा तो वह विजयी हो कर नहीं हार कर लौट रहा था। १७०७ में उसकी मृत्यु के बाद मराठा शक्ति क्रमशः प्रबल होती गई। १७२० में बाजीराव पेशवा बना। मुगल साम्राज्य को उखाड़ देना उसने अपनी नीति बनाई। मुगल दरबार में उस समय भारतीय मुसलमानों और तुर्कों में संघर्ष चल रहा था। १७३७ में रामनवमी के दिन बाजीराव दिल्ली जा पहुँचा। पर वहाँ उसने देखा कि बादशाह और हिन्दुस्तानी मुसलमान उससे संधि करना चाहते हैं पर तुर्क नहीं करने देते तो उसने अपनी नीति बदल ली। मुगल सम्राट् को बचाये रखना और अपनी रक्षा में ले लेना तब से मराठा दरबार की नीति हो गई। इस बीच फ्रांसीसी और अंगरेज भी दक्षिण और बंगाल में आ गये थे। इन सब का संघर्ष चलता रहा। १७४० में बाजीराव चल बसा और उसका बेटा

बालाजी पेशवा हुआ। बालाजी की मूर्खता और सहायता से अंगरेजों ने मराठा बेड़ा डुबा दिया और १७५७ में पलाशी की लड़ाई जीती। उस जीत से बंगाल अंग्रेजों के हाथ आ गया। उसी समय उत्तर में पठान समस्या आ खड़ी हुई। नजीब रुहेले ने पेशवा से प्रस्ताव किया कि अब्दाली से समझौता कर के सब मिल कर अंग्रेज़ों को बंगाल से निकाल दें, पर पेशवा को यह मंजूर न था। फलतः १७६१ में पानीपत की तीसरी लड़ाई हुई। पठान और मराठे दोनों पस्त हो गये। ११ वर्ष बाद मराठों ने पानीपत की क्षति-पूर्त्ति कर ली, पर इस बीच अंग्रेज भारत में जम चुके थे। अब अंग्रेजों और मराठों का सीधा मुकाबला हुआ जिसमें अंग्रेज़ क्रमशः प्रबल होते गये, फिर भी १८वीं शताब्दी के अन्त तक मराठा राज्य भारत की प्रमुख शक्ति रहा; पर १७९९ में टीपू और १८०० नाना फडनीस की मृत्यु से अंग्रेजों का पलड़ा भारी हो गया। नाना के बाद मराठे सरदार भी सब जगह स्वतंत्र राजा बन गये थे। अंग्रेजों ने एक एक कर सब को जीत लिया। सन् १८०२ के अन्तिम दिन पेशवा बाजीराव द्वितीय उनकी शरण में आया और १८०३ में जनरल लेक ने दिल्ली जीत कर मुगल-सम्राट् शाह आलम को अपनी रक्षा में ले लिया। १८०५ में जसवन्तराव होलकर की संधि के साथ मराठों का अन्तिम प्रतिरोध समाप्त हुआ। १८१६ में नेपाल से संधि हुई और १८४५ में जब जंगबहादुर ने तत्कालीन प्रधान मंत्री अपने मामा माथबरसिंह को गोली मार कर और १६ महीने बाद प्रधान मन्त्री फतहजंग की हत्या और कोट का कत्ले आम करके राजा रानी को निर्वासित कर शक्ति हथिया ली तो नेपाल राज्य भी अंग्रेजों की कठपुतली बन गया। १८४६ में ही सिक्खों का अन्तिम पराभव हुआ और अंग्रेज़ समूचे भारत के एकच्छत्र सम्राट् हो गये।

१७५७ में अंग्रेजों ने बंगाल जीता था और १८०३ में दिल्ली। इस बीच उनका राज्य क्रमशः भारत में फैलता गया। जो जो प्रदेश वे जीतते वहाँ पुराने कायदे कानूनों को हटा कर अपना कानून चलाते। उन्होंने अपने ढंग की दीवानी और फौजदारी कचहरियाँ स्थापित कीं। नई लगान-बंदी हुई, नये ढंग की पुलिस आई। राज-काज के लिए उन्हें अंग्रेजी पढ़े लिखे कारिन्दों की आवश्यकता थी, उसके लिए जहाँ तहाँ स्कूल खोले। स्कूलों के लिए पुस्तकों की आवश्यकता थी, सो छापेखाने खुले। इन्हीं दिनों रेल तार आदि का आविष्कार हुआ था। सामरिक और व्यापारिक दोनों क्षेत्रों में उनका उपयोग अपेक्षित था, सो रेल तार और डाकघर सारे देश में फैल गये।

फोर्ट विलियम कालेज और हिन्दी गद्य का प्रारंभ

शिक्षा के प्रसार और भाषा-साहित्य आदि की समस्याओं को सुलझाने के लिए सन् १८०० ई० में कलकत्ते में फोर्ट-विलियम कालेज की स्थापना की गई। इसकी स्थापना से खड़ी बोली के विकास की नींव पड़ गई। इसके पहले भी ईस्ट इंडिया कंपनी अपने कार्यों के लिए जिस हिन्दुस्तानी—हिन्दवी या हिन्दुई—का प्रयोग करती थी वह भी खड़ी बोली के ही ढाँचे में ढली हुई थी। अन्तर केवल इतना ही था कि उसमें प्रचलित बोलचाल, उर्दू फारसी, के शब्द जो कि राजकीय कार्यों में प्रयुक्त होते थे, समाविष्ट रहते थे। इस भाषा के ही आगे चल कर दो रूप विकसित हुए। एक खड़ी बोली हिन्दी और दूसरा उर्दू। इन दोनों में प्रमुख भेद शब्दावली का ही है। भाषा की दृष्टि से कोई विशेष भेद नहीं है। जो भेद इस बीच में बहुत बड़े मत-वैषम्य और विवाद को जन्म दे सका वह फारसी लिपि के द्वारा विशेष रूप से उत्पन्न किया गया था। हिन्दी खड़ी बोली भी जो देव-नागरी लिपि में लिखी जाती थी, दो रूपों में प्रचलित हुई, एक में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य था और दूसरी में फारसी शब्दों का, जिन्हें क्रमशः राजा लक्ष्मण-सिंह और राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने अपनाया और प्रचारित किया। फोर्ट विलियम कालेज के संचालक डाक्टर जान गिलक्राइस्ट थे। उन्होंने जो वक्तव्य और भाषण दिये उनसे इस बात का स्पष्ट पता चलता है कि शिक्षा-विज्ञान और भारत की प्रधान भाषाओं और साहित्यों का प्रचार करना उनका उद्देश्य था। उन्होंने अनेक विद्वानों और लेखकों को देश के विभिन्न भागों से बुलाया। अनेक मुंशियों और पंडितों से पाठ्य पुस्तकों का निर्माण कराया। इस कालेज में सन् १८०० ई० में लल्लूलाल की नियुक्ति हुई। लल्लूलाल का पद 'भाखा मुंशी' का था। कालेज के दूसरे पंडित सदल मिश्र थे। उनके अतिरिक्त नरसिंह, गंगाप्रसाद शुक्ल, ख्यालीराम, ब्रह्मसच्चिदानंद, मधूसूदन तर्कालंकार, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दीनबन्धु आदि विद्वान भी विभिन्न समयों में प्रस्तावित कार्य की सहायतार्थ नियुक्त किये गए। इनका कार्य व्याकरण, कोष तथा पाठ्य पुस्तकें तैयार करना ही प्रमुख रीति से था। इस प्रकार नियमित रूप से हिंदी गद्य के प्रचार की नींव पड़ी।

हिन्दी-गद्य के प्रचार का एक दूसरा स्रोत भी था। यह स्रोत ईसाइयों द्वारा हिन्दी में लिखित प्रचार-साहित्य था। 'हेनरी मार्टिन' का 'न्यू टेस्टामेन्ट' सर्वप्रथम देवनागरी अक्षरों में १८१७ ई० में प्रकाशित हुआ। परन्तु इसकी

भाषा उर्दू थी। इसके बाद १८१६ ई० में 'सुसमाचार' (गास्पेल) का प्रकाशन प्रारंभ हुआ है और फिर 'धर्मपुस्तक' के नाम से 'ओल्ड टेस्टामेंट का 'हिन्दुई' भाषा में अनुवाद कलकत्ता 'आग्जिलियरी बाइबिल सोसाइटी' के द्वारा दो भागों में १८३४ और १८३५ में प्रकाशित हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन अनुवादों की भाषा उर्दू, व्रजभाषा-मिश्रित खड़ी बोली सी है। इसके उपरान्त धीरे-धीरे ईसाई-हिन्दी-साहित्य अनेक पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुआ, जो गद्य और पद्य दोनों रूपों में है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान युग के पूर्व ही हिन्दी-गद्य का प्रारंभ हो चुका था। वर्तमान समय में जब से पत्र-पत्रिकाओं का प्रारम्भ हुआ तब से हिन्दी-गद्य विशेष रूप से प्रगतिवान हुआ है। हिन्दी के पत्र-साहित्य का उदय "उदंत मार्तंड" के रूप में ३० मई सन् १८२६ को हुआ। यह कलकत्ते से निकला। इसके प्रकाशक कानपुर निवासी पंडित युगलकिशोर शुक्ल थे। यह पत्र पूर्णतया सूचनात्मक था। उसके बाद १८२६ में वंग-दूत, १८४४ में बनारस-अखबार, १८४६ में मार्तंड, १८५२ में बुद्धि-प्रकाश (सम्पादक मुंशी सदासुखलाल) तथा १८५४ में 'समाचार सुधावर्षण'। १८५७ के बाद निकलने वाले पत्रों की एक बहुत लम्बी सूची 'गार्सां द तासी' के 'इस्त्वार द ल लित्रेत्यूर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी' के द्वितीय संस्करण में दी गई है। जिनमें से प्रमुख हैं—अवध गज़ट समाचार (लखनऊ); बनारस-अखबार, भारतखण्ड अमृत (आगरा), वृत्तान्त-विलास (भूटान), वृत्तान्त दर्पण (आगरा), विद्यादर्श (मेरठ), बुद्धिप्रकाश (आगरा), ग्यान-प्रदायिनी पत्रिका (लाहौर), जग-लाभ-चिन्तक (अजमेर), जगत समाचार (मेरठ), कवि-वचन-सुधा (बनारस), लोक-मित्र (सिकन्दरा), मार्तण्ड (कलकत्ता), प्रजाहित (इटावा), समय विनोद (नैनीताल), समाचार (लखनऊ), सुधावर्षा (कलकत्ता), तत्वबोधिनी पत्रिका (बरेली), वृत्तान्त-दर्पण (इलाहाबाद)। इस प्रकार पत्र-पत्रिकाओं के साथ हिन्दी खड़ी बोली गद्य का उदय हुआ, जिसके प्रेरक पाश्चात्य सम्पर्क थे।

राजनीतिक आन्दोलन, विचार और नव-जागरण

आधुनिक काल का प्रारंभ १८५७ के प्रथम स्वाधीनता-युद्ध से मानना चाहिए। यद्यपि प्रारंभ में अंगरेजों का आगमन भारतीय जनता के लिए एक परिवर्तन के रूप में आया, परन्तु धीरे-धीरे लोगों के मन में यह बात स्पष्ट हो गई कि ये हमारे ही भारतीय सिपाहियों और सेना के बल पर हमारे देश पर शासन कर रहे हैं। अतः नाना साहब (बिठूर) और उसके मंत्री अज़ीमुल्ला ने

भारत के अनेक राज्यों में स्वाधीनता युद्ध की विचारधारा प्रचारित की। अज़ीमुल्ला फ्रेंच अंगरेजी आदि कई भाषायें जानता था। वह लंदन गया और वहाँ से यूरोप घूमता हुआ वापिस आया। क्रीमिया में अंगरेजों का रूसियों से युद्ध हो रहा था, जो अज़ीमुल्ला ने आँखों देखा था। अंग्रेज़ों को क्रीमिया में उलझा देख अज़ीमुल्ला ने भारत में युद्ध छेड़ने का अच्छा मौका समझा। ६ मई सन् १८५७ को मेरठ में विद्रोह हुआ और इस प्रकार स्वाधीनता की प्रथम तरंग एक वर्ष तक चलती रह कर फिर अंगरेज़ी फौज के दमन और भारतीय राजा-महाराजाओं के विश्वासघात से शांत हुई। नाना साहब, बाँदा का नवाब जो बाजीराव का वंशज था, बख्तखाँ, मौलवी अहमदशाह, तांत्या टोपे, झाँसी की रानी, इस स्वाधीनता संग्राम के वीर सेनानी थे।

इसके बाद विक्टोरिया का शासनकाल भारत में आया। अनेक प्रकार की सान्त्वना देने वाली घोषणायें की गईं। धर्म में हस्तक्षेप न करने की नीति घोषित की गई और इसके बाद अंग्रेजी प्रभुत्व अंग्रेजी सभ्यता, भाषा और शिक्षा के रूप में भारतवर्ष में व्याप्त हुआ। प्रशासकीय विस्तार के लिये याता-यात के साधनों का सघन जाल फैला। अंग्रेजी, सभ्यता, साहित्य और भाषा की उच्चता का प्रचार करने के लिए लार्ड मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा देने वाले विद्यालयों की स्थापना का विचार प्रकट किया और इस प्रकार पाश्चात्य रंग में भारतीय शिक्षित समाज बुरी तरह रँगा जाने लगा। अंग्रेजों की सीधे संघर्ष कर के प्रभुत्व स्थापन करने की नीति अब नहीं थी, वरन् अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी भाषा, सभ्यता, संस्कृति, वेशभूषा के गुलाम बना कर भारतीयों के अंग्रेजीकरण द्वारा शासन सुदृढ़ करने वाली नीति चालू की गई। हम इसका प्रभाव प्रत्यक्षतः समकालीन हिन्दी साहित्य में भी देखते हैं। भारतेन्दु युग के कवियों-द्वारा हम प्रारंभ में तो विक्टोरिया रानी और अंग्रेजों की प्रशंसा देखते हैं। उनकी प्रशासकीय व्यवस्था, यातायात, सुरक्षा, न्याय-संबंधी सुविधा के लिए उनके गुण गाये जाते हैं; परन्तु बाद में यह स्पष्ट हो जाता है कि "सर्वस लिए जात अंग्रेज, हम केवल लेक्चर के तेज।" अंग्रेजों की शोषणनीति और अपनी जाति को उच्च और अधिक संस्कृत समझने की भावना प्रकट हो गई और इस प्रकार उनके चंगुल से छुटाने की भावना भी कुछ विचारकों में जाग्रत हुई।

सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य पहले तो भारतीयों में प्रशासकीय कार्यों में सहयोग देने की भावना का विकास करना था। परन्तु जब इसमें बाल गङ्गाधर तिलक ऐसे व्यक्ति आये, तब

यह स्वाधीनता प्राप्त करने वाली संस्था के रूप में बदल गई। भारतीय स्वाधीनता की भावना और भी अधिक १६०५ के बंग भंग कानून से तीव्र हो गई। और भीतर भीतर क्रांतिकारी संस्थाओं का विकास हुआ जो राज्य-परिवर्तन के लिए संगठन और कार्य कर रही थीं। इस दल के लोगों में उल्लेखनीय नाम हैं, हरदयाल, बाल गंगाधर तिलक, अरविन्द घोष, रास-बिहारी बोस आदि। इन्हीं की परम्परा में, शचीन्द्रनाथ, भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुखदेव, राजगुरु आदि व्यक्ति हुए। १६१४ में युरोप में द्वितीय महायुद्ध छिड़ा जो १६१६ में समाप्त हुआ। इसके अंत में अंग्रेजों की भारतीय शासन और शोषण की नीति और भी स्पष्ट हो गई।

इस समय कांग्रेस में गाँधी जी का प्रवेश हुआ और एक बड़ी कर्मठ और प्रतिभा-संपन्न व्यक्तियों की टोली संयोग से भारतीय राष्ट्र को प्राप्त हो गई थी जिसमें गाँधी के अतिरिक्त लाला लाजपतराय, मोतीलाल नेहरू, मदनमोहन मालवीय आदि थे। अतः अब स्वाधीनता आन्दोलन का दूसरा ही रुख हुआ। वह अब व्यवस्थित, सुदृढ़ एवं वैधानिक भित्ति पर खड़ा हुआ था। इस आन्दोलन का प्रधान कार्य स्वदेशी आन्दोलन था। इसके अतिरिक्त, नमक-कर-विरोध, असहयोग, सविनय अवज्ञा-भंग आदि कार्यक्रम आये। इसकी तीव्रता जलियाँवाले बाग के हत्याकांड और नेताओं की गिरफ्तारी तथा दमन से और भी बढ़ती गई। इस प्रकार की स्वाधीनता की लहर को उत्तेजित करने में प्रान्तीय भाषाओं और हिन्दी के साहित्यकारों ने खूब काम किया। बंकिम चन्द्र चटर्जी, विष्णु शास्त्री चिपलूणकर, तिलक, विवेकानन्द, रामतीर्थ, हरप्रसाद शास्त्री, हरप्रसाद द्विवेदी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन आदि ने अपनी रचनाओं से इस स्वाधीनता की विचारधारा को प्रचारित किया। बंकिमचन्द्र के उपन्यास आनन्दमठ (१८८२ ई०) का 'वन्दे-मातरम्' गीत देश का राष्ट्र-गीत बना।

धीरे धीरे इस आन्दोलन ने एक व्यापक जन-आन्दोलन का रूप धारण कर लिया और बच्चे, स्त्री, नौजवान सभी के हृदय में उमंग जगी। अनेक प्रकार के राष्ट्रीय गान, राष्ट्रध्वज गान, प्रयाण गान बने जो जुलूसों को निकालते समय गाये जाते थे। इन अनेक उत्तेजक प्रेरक गीतों की रचना किसने की यह आज पता भी नहीं। इन गानों के भीतर चित्रित भारतीय स्वाधीनता की कल्पना ने लोगों को विह्वल कर दिया और कष्ट सहने और बलिदान देने की मस्ती लोगों में भर गई। इसको फूँकने वाले वे अनेक हिन्दू मुसलमानों द्वारा इसी समय बनाये गये गान थे जिनका आज कोई लेखा नहीं

और जिनके रचने वाले भी अज्ञात हैं। यह स्थिति सन् २१ से ३० तक की थी।

इस भयावह जनान्दोलन की लहर का सामना अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति से किया। खिलाफत आन्दोलन की सफलता को देख कर उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम दंगों को प्रेरित किया। इस नीति के परिणाम स्वरूप देश में भयंकर दंगों का सूत्रपात हुआ। भगतसिंह को फाँसी देने के बाद उठी हुई प्रबल क्रांति की लहर को मार्ग-भ्रष्ट करने के लिए अप्रैल सन् १९३० में जो भयंकर दंगा हुआ उसमें गणेशशंकर विद्यार्थी जैसा साधक भी बलि हो गया जिसके लिए गांधी जी ने कहा था कि मैं 'ऐसी ही मृत्यु चाहता हूँ'। मुस्लिम लीग की स्थापना, हिन्दी से उर्दू को अलग करने के प्रयत्न आदि इसी कूटनीति के परिणाम हैं जिससे हम देखते हैं कि भारतीय स्वाधीनता की प्राप्ति में काफी बाधायें पड़ती गईं और अन्त में जो स्वाधीनता आयी वह भारत को विभक्त कर के और इस प्रकार विभक्त कर के जिससे कि अब भी मेल न हो सके; अन्यथा यह भारत महादेश एक समर्थ, समृद्ध और सुखी विशाल राष्ट्र में परिणत हो जाता। सन् १९३० और ४० के बीच का साहित्य साधनात्मक और उत्तेजक साहित्य है। १९३५ के प्रशासकीय अधिकार प्राप्त करने पर जो साहित्य में पलायनवाद आया और जोश की भावना कम हो गई थी वह सन् ४० के बाद फिर उभरी और ४२ के आन्दोलन में तो राष्ट्रीय यज्ञ की अन्तिम स्वाहा 'करो या मरो' के रूप में आई। इस युग का साहित्य भी ऐसा ही जोशपूर्ण और प्रेरक है। यद्यपि यह समय ऐसा था जब कि साहित्यकार तक सक्रिय कार्य-कर्त्ता बन गये थे। अतः उक्तियों से नहीं कार्य से ही भावना का प्रकाशन चल रहा था। इस सघन क्रियाशक्ति के परिणाम स्वरूप सन् १९४७ में भारतीय स्वाधीनता प्राप्त हुई। ४७ के बाद नवचेतना नवनिर्माण में परिणत हो गई है। हिन्दी साहित्य ने इस नवजागरण और राष्ट्रीय चेतना का अनुसरण ही नहीं किया उसे प्रेरित भी किया और उसका मार्ग-दर्शन भी किया।

धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन—इस समस्त राजनीतिक जागरण की पृष्ठभूमि में सन् १८०० ई० के बाद से चलने वाले धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन हैं। और यदि यह कहा जाय कि राजनीतिक आन्दोलन को चारित्रिक दृढता तथा विश्वास और अध्यवसाय की शक्ति प्राप्त हुई तो इन्हीं आन्दोलन के फलस्वरूप हुई, तो अत्युक्ति नहीं। इन समस्त आन्दोलनों के मूल में समाज-सुधार और भारतीय स्वाधीनता का उद्देश्य था। किन्हीं किन्ही में वह पूर्ण प्रकट रहा, किन्हीं में प्रच्छन्न और चलते चलते लुप्त भी हो

प्रचार तो स्वामीजी का प्रधान दृष्टिकोण था। स्वामीजी गुजराती थे, उनकी शिक्षा-दीक्षा संस्कृत में हुई थी। उन्होंने सब से पहले वेदों का प्रचार संस्कृत में प्रारम्भ किया। पर इसे सभी लोग समझ न पाते थे। एक बार ये कलकत्ते गये तो वहाँ पर केशवचन्द्र सेन और भूदेव मुखर्जी के सुझाव से इन्होंने हिन्दी में प्रचार करना प्रारम्भ किया; क्योंकि यही साधारण लोगों के लिए राष्ट्रभाषा या अन्तरप्रान्तीय भाषा का काम कर रही थी।

अंग्रेजी तो बीच में शिक्षित समुदाय के विकास के बाद राजभाषा बनी थी; परन्तु उसके पहले भी सांस्कृतिक रूप से राष्ट्रभाषा का कार्य हिन्दी ही करती थी। इतना ही नहीं इसके भी प्रमाण मिलते हैं कि बंगालियों के सुझाव पर बिहार में यह सरकारी प्रस्ताव भी पास हुआ था कि उत्तरी भारत में राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी का ही प्रयोग किया जाय; क्योंकि यही एक उपयुक्त भाषा है।

इस प्रकार आर्यसमाज के आन्दोलन ने उच्च शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना की जिसमें समस्त ज्ञान के साथ साथ वैदिक धर्म की भी शिक्षा दी जाती थी और इस प्रकार एक दल कर्मठ एवं त्यागी कार्यकर्त्ताओं का उत्तरी भारत में तैयार हो गया। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में इस समाज का महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसने समस्त वेदों का ज्ञान हिन्दी (राष्ट्रभाषा) के माध्यम से सुलभ कर दिया।

उपर्युक्त व्यावहारिक जीवन को प्रगतिवान् बनाने वाले आन्दोलनों के अतिरिक्त गहरी चिन्तना एवं आध्यात्मिक साधना को जगाने वाले आन्दोलनों में स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के कर्मठ वेदान्तवाद और रहस्य-वाद या अध्यात्मवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके द्वारा भारतीय चिन्तन-साधना एवं संस्कृति की गहराई, शाश्वतता एवं सार्वभौमता स्वतः सिद्ध हो गई और विवेकानन्द जी के विदेश-भ्रमण के पश्चात् तो भारतीय धर्म के प्रति उच्च धारणा की प्रतिष्ठा हुई। इनकी विचारधारा का प्रभाव राजनीतिक आन्दोलन को ठोस भूमि देने में पड़ा ही, साथ ही साथ उस समय के साहित्य में जो एक गहरी आध्यामिकता एवं रहस्यभावना का विकास हुआ वह इन्हीं की विचार एवं भावधारा के कारण था।

आर्य समाज ब्राह्म समाज आदि के साथ 'थियोसाफी' आन्दोलन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान इस युग के नवीन जागरण में योग देने की दृष्टि से है। राष्ट्रीयता का विकास और भारतीय आध्यात्मिकता का नवोत्थान इस 'ब्रह्म विद्या समाज' के द्वारा निश्चय रूप से हुआ, यद्यपि इस समाज का नाम और

उत्पत्ति विदेशी है। इसका उद्देश्य परोक्ष नियमों का अनुसंधान, विज्ञान की प्रगति के साथ बढ़ने वाली अति-भौतिकता की रोक, उच्चनैतिकतापूर्ण पवित्र जीवन का प्रचार, और प्राच्य उच्च धर्मों के तत्त्वों का प्रचार एवं धार्मिक कट्टरता का शमन था। पाश्चात्य और भारतीय तथा अन्य विभिन्न धर्मों के तथ्यों के समन्वय करने का इसमें महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया। इसका प्रचार करने वाली श्रीमती एनी बीसेंट थी। जो अपने को पूर्व जन्म की हिन्दू मानती थी तथा हिन्दू धर्म को सर्वश्रेष्ठ भी। उन्होंने भारतीयता और हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान में महत्त्वपूर्ण कार्य किया और अनेक संस्थायें भी खोलीं।

इस प्रकार धार्मिक आन्दोलनों ने जो संस्कार तैयार किये उन्हीं से ओत-प्रोत इस युग के सामाजिक और राजनीतिक नेता रहे और उन्हीं से प्रभावित हो कर साहित्य की सृष्टि भी हुई। स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महामना मालवीय, डा० राधाकृष्णन आदि के कार्य इन्हीं आन्दोलनों के संस्कारों से समन्वित हैं। इनका परिणाम यह हुआ कि भारतीय संकीर्णता छूट गई। भारतीय संस्कृति के गौरव की प्रतिष्ठा हुई और एक साधनात्मक संतसुलभ त्याग और चारित्र्य का विकास हुआ जिसमें भारतीय जनता को जगाने की सामर्थ्य थी। विवेकानंद और गाँधी के समन्वयशील दृष्टिकोण ने भारतीय साहित्य को उदार एवं उच्च प्रेरणाओं से भर दिया जिसे पाश्चात्य चेतना का समावेश होने पर भी भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि और तत्त्व प्रचुरता के साथ मिले। रवीन्द्रनाथ की आस्तिकता और रहस्यवाद परमहंस रामकृष्ण, विवेकानंद, बीसेंट आदि से प्रभावित और प्रेरणाप्राप्त थे अतः उसे पाश्चात्य ईसाइयों की देन कहना भ्रम है। इस दृष्टि-कोण का तो समन्वय इन धार्मिक नेताओं ने स्वयं अपने सिद्धान्तों में कर ही लिया था। इन सभी विचार-धाराओं ने हिन्दी साहित्य—विशेषतः छायावादी हिन्दी काव्य—को गहराई के साथ प्रभावित किया। स्वामी दयानन्द और विवेकानन्द आदि के प्रचार से वेदों, उपनिषदों और संस्कृत के दार्शनिक और भक्ति साहित्य का अध्ययन नयी चेतना के दृष्टिकोण से प्रारम्भ हो गया था। इस दिशा में साहित्यिक एवं शैलीगत नेतृत्व रवीन्द्रनाथ ठाकुर का था; परन्तु विचार एवं भावधाराओं के प्रेरक अनेक स्रोत थे।

नवचेतना से युक्त आध्यात्मिक साधना की अत्यन्त उच्च भूमि में जाने वाले तथा रहस्यभावना को वैज्ञानिक रूप में स्पष्ट करने वाले महायोगी परमचेतन महर्षि अरविन्द थे। विद्वत्ता में ये ऊपर कहे हुए सभी व्यक्तियों से ऊँचे थे। ये पहले क्रान्तिकारी प्रतापी राजनीतिक कार्यकर्ता थे, उसके बाद

ये आध्यात्मिक साधना की ओर झुके और फिर तत्त्वद्रष्टा योगी के रूप में प्रकट हुए। ये कवि भी थे और इनके महाकाव्यों, गीतों और महाप्रबन्धों में उच्च आध्यात्मिक आनंद की अनुभूति प्रकट हुई है। महर्षि अरविन्द का अतिमानव-वाद पृथ्वी के स्वर्गीकरण का विश्वास ले कर चलता है। उनकी मुक्ति की साधना वैयक्तिक साधना नहीं, समस्त समाज की मुक्ति इसमें सम्मिलित है। इसमें कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों का समन्वय है, जिसे वे योग कहते हैं। इस साधना के द्वारा व्यक्ति और समाज अतिमानवता (चाहे उसे देवत्व कह सकते हैं) के स्तर पर पहुँच सकता है जिससे उसके दुःख और विकार दूर हो सकते हैं। यह उनके सिद्धांत का एक पक्ष है—साधनात्मक पक्ष। दूसरा है जिसे भक्ति साहित्य की शब्दावली में अनुग्रह या कृपा कह सकते हैं। जीव जिस प्रकार ऊपर उठना चाहता है उसी प्रकार परमात्मा या चित् शक्ति नीचे उतरना चाहती है। यह उसकी कृपा के रूप में समझा जा सकता है। इस प्रकार महर्षि अरविन्द ने भारतीय दर्शन का समन्वय करके समस्त साधनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या की और भक्तिवादी अवतार की धारणा के लिए एक तर्क-संगत वैज्ञानिक भूमि का अनुसंधान किया। चिन्तन, साधना और प्रयोग का आध्यात्मिक क्षेत्र में आधुनिक युग के अन्तर्गत सर्वोच्च बौद्धिक सिद्धांत है और अरविन्द की उपलब्धि आइन्स्टीन के आविष्कार से कहीं अधिक तत्त्वगर्भित है। भारतीय दर्शन का यह विकास गर्व की वस्तु है।

आस्तिकता और समन्वयवादी दृष्टिकोण का एक और चमत्कार गांधी जी की सिद्धियों और उपलब्धियों में देखा जा सकता है। उन्होंने परमचेतन शक्ति पर दृढ़ विश्वास रख कर विशाल भारतीय जनसमुदाय की सात्विक शक्तियों का संगठन किया। गांधी जी का आधार गीता का कर्म एवं अनासक्ति योग था। अहिंसा और सत्य को उन्होंने अपने कार्यक्रम का आधार बनाया और अहिंसा के ही प्रयोग का ऐसा अभूतपूर्व चमत्कार सिद्ध कर दिखाया कि जो स्वाधीनता भारतीय जनता का स्वप्न थी, वह सन् ४२ के आन्दोलन और बलिदान के बाद सन् १९४७ में सत्य हो गई। गांधी जी के धर्म-प्रधान राजनीतिक-सामाजिक आन्दोलन ने भारतीय जनता के आत्मबल को जगा दिया। उसमें नैतिकता, दृढ़ता, उदारता और उच्च चारित्र्य के गुणों को गांधी जी ने प्रकटाया और इस प्रकार आध्यात्मिकता और व्यावहारिक जीवन के बीच का भेद मिट गया। ऊँच-नीच का भाव मिटा कर संत गांधी जी ने साम्य-दृष्टि का प्रचार किया। उन्होंने बुद्धि-हृदय-कर्म तीनों का समन्वय किया।

इन धार्मिक एवं सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों ने ही आधुनिक

हिन्दी साहित्य को नवीन चेतना, नवीन विचार और नवीन भाव प्रदान किये। आधुनिक हिन्दी काव्य के प्रथम चरण में राष्ट्रीय-चेतना, द्वितीय में गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव और तृतीय में आधुनिक नव-चेतना को अपना कर चलने वाले जीवन-दर्शनों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। भारतेन्दु राष्ट्रीयतावादी हैं। मैथिलीशरण गुप्त गांधीवादी, प्रसाद आनन्दवादी तथा सुमित्रानन्दन पंत क्रमशः गांधीवादी, साम्यवादी और अरविन्दवादी हैं। गुंजन के बाद की रचनाओं में हम इन प्रभावों को स्पष्ट देखते हैं। आज इन दार्शनिक एवं धार्मिक चेतनाओं का प्रभाव फिर कम हो गया है, तभी प्रयोगवादी साहित्य में नये कलात्मक प्रयोग प्रारंभ हो गए हैं। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आज का साहित्यकार संस्कृतिवादी या नव-निर्माणवादी तो है ही।

भाषा की समस्या और राष्ट्रभाषा का विकास

भाषा और विशेषतया राष्ट्रभाषा की समस्या का संबंध भारतीय स्वाधीनता के साथ है। स्वाधीन स्थिति में भारत को सदैव एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता रही है। और यह राष्ट्रभाषा का सूत्र छिन्न-भिन्न होते ही भारत दासता की बेड़ियों में पड़ा। वैसे भाषा और राष्ट्रभाषा-संबंधी समस्या ने आधुनिक युग में ही अपना सिर उठाया। पूर्ववर्ती युगों में इस प्रकार की समस्या सामने कभी नहीं रही; क्योंकि तब दो धर्मों या जातियों में भेद डालने वाली कोई तीसरी जाति नहीं थी। हिन्दू और मुसलमानों को धर्म और भाषा के आधार पर परस्पर लड़ाने की नीति अंग्रेज़ी शासकों ने बर्ती। फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना में भारतीय जनता के साथ संपर्क स्थापित करने के लिए किसी व्यापक—सारे भारत में प्रचलित—भाषा को सीखना अंग्रेज़ अधिकारियों का उद्देश्य था। परन्तु उन्होंने अपनी शासन-सम्बन्धी सुविधा और भारतीय हिन्दू-मुस्लिम संगठन के बीच खाई खोदने की नीति के अनुसार हिन्दी और उर्दू दो भाषाओं को अलग अलग रूप में ग्रहण कर प्रोत्साहित किया। लल्लूलाल जी इस कालेज के भाषा-पंडित थे। उनके द्वारा रचे गये ग्रंथ जिस हिन्दी या हिन्दुई भाषा में थे, उसे एक नई भाषा के रूप में इन लोगों ने स्वीकार किया। परन्तु इस खड़ीबोली को उस समय निर्मित नई भाषा के रूप में स्वीकार करना एक भ्रम मात्र था। खड़ी बोली या हिन्दुई भाषा, हिन्दी भाषा की उसी प्रकार एक बोली के रूप में प्रचलित थी जिस प्रकार ब्रजभाषा और अवधी। पूर्ववर्ती साहित्य में प्रसिद्ध रचनायें ब्रजभाषा और अवधी में मिलती हैं, यह देख कर कुछ अंग्रेज़ विद्वानों ने यह

स्वीकार कर लिया कि यह भाषा पहले प्रचलित न थी। कुछ लोगों ने यह भी लिखा कि यह व्रजभाषा और पंजाबी के मेल से बनी। परन्तु यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है। दैनिक व्यवहार और अन्तरप्रान्तीय उपयोग के लिए इस खड़ी बोली का ही प्रयोग किया जाता था। इसे घुमक्कड़ और व्यापारी बोलते थे और जिसे कुछ लोगों ने सधुक्कड़ी भाषा कहा है वह यही भाषा थी। अप्रैल १६४० के विशाल भारत में प्रकाशित आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का लेख "२०० वर्ष पुरानी खड़ीबोली के पत्रों के नमूने" देखने से पता चलता है कि बँगला संवत् १२०४ में अन्तरप्रान्तीय प्रयोग के लिए जिस प्रकार के पत्रों के नमूने सिखाये जाते थे वे खड़ीबोली के व्यवहार की पुष्टि करते हैं। इस भाषा को हिन्दुस्थानी भाषा कहा गया है। जैसा कि नीचे के उद्धरण से प्रकट होगा—

"अथ हिन्दुस्थानीय भाषाया (यां) पत्र लिखन प्रकारः।
स्वस्तिश्री सकल उपमायोग्य हमारे आप्त अमुक को महाराज के संदेश। आगे हमको तुम्हारे मुलुक की फलानी चीज़ चहती है। तिस वास्ते हमारा पास (से) फलाना शकस को भेजा है। पैशैं ताँ तिस्के पास दिये हैं तुमको किताब लिखी है। तिस माफिक् सभ बात का खसमाना करि किताब के ब्वहुकुम सभ चीज हमको सितारी भेज देना। राह मो जोखिम की डर होअ ते आपने आदमी साथ करि देना। (पत्र कौमुदी : महामहोपाध्याय वररुचि)

अकबर के आइने अकबरी में भी (खंड १, पृ० ११३ अंग्रेज़ी संस्करण) इस बात का उल्लेख है कि अकबर की आज्ञा से कुछ संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के अनुवाद हिन्दुई में हुए थे। इससे यह स्पष्ट है कि लल्लूलाल जी ने जिस भाषा में गद्य ग्रंथ लिखे उसका व्यावहारिक जीवन में गद्य के रूप में प्रयोग पहले से चला आता था। यदि यह प्रयोग न होता; तो आगरे के रहने वाले व्रजभाषा-भाषी लल्लूलाल उस भाषा का निर्माण कहाँ से करते। हाँ, यह बात अवश्य थी कि काव्य-भाषा के रूप में पूर्ववर्ती युगों में व्रजभाषा ही अधिक व्यापक थी और साहित्यिक राष्ट्रभाषा का काम कर रही थी। तभी तो भूषण चिन्तामणि आदि अपनी व्रजभाषा रचनाओं को शिवाजी तथा दक्षिण के भोंसला राजाओं और मुसलमान शाहों को भी सुना कर उन्हें प्रसन्न कर सके और उनके आश्रय में व्रजभाषा ग्रंथ लिख गये। परन्तु यह न समझना चाहिए कि खड़ी बोली का व्यवहार काव्य में बिलकुल ही नहीं हुआ। उसके व्यवहार की एक दीर्घ परम्परा है और यह परम्परा यह सिद्ध करती है कि इस भाषा का प्रयोग जनसाधारण के मध्य भिन्न भाषाभाषी लोग एक

दूसरे को समझने के लिए करते थे।

खड़ी बोली में काव्य-रचना की परम्परा पुरानी है यह बात अनेक प्राचीन कवियों (जो हिन्दू और मुसलमान दोनों ही हैं) की रचनाओं के उदाहरणों से सिद्ध हो जायगी। हिन्दी काव्य के इतिहास में सबसे प्राचीन प्रयोग खुसरो का मिलता है और उन्होंने इस भाषा को हिन्दी ही कहा है। जैसे—

बाला था सबको मन भाया। बढ़ा हुआ कुछ काम न आया।
मैं कह दीया उसका नाँव। अर्थ करो नहिं छोड़ो गाँव॥ (दीया)
गोरी सुन्दर पातली, केसर काले रंग।
ग्यारह देवर छोड़ के, चली जेठ के संग॥ (अरहर)

इसी प्रकार कबीर की खड़ी बोली हिन्दी इन पंक्तियों में है—

कासी में हम प्रकट भये हैं रामानन्द चेताये।
समरथ का परवाना लाये हंस उबारन आये॥
... ...
मैं कहता हूँ आँखिन देखी। तू कहता कागद की लेखी।

इसी प्रकार की और भी पंक्तियाँ हैं। कृष्णभक्त मुस्लिम कवयित्री ताज की पंक्तियाँ, जिसका समय सन् १६५० के आस पास है, खड़ी बोली की हैं—

छैल जो छबीला सब रंग में रँगीला बड़ा
चित्त का अड़ीला कहूँ देवतों से न्यारा है।
माल गले सोहै नाक मोती सेत जोहै कान,
कुंडल मन मोहै लाल मुकुट सिर धारा है।
दुष्ट जन मारे सब सन्त जन उबारे 'ताज'
चित्त में निहारे मन प्रीत करन बारा है।
नन्द जू का प्यारा जिन कंस को पछारा वह,
वृन्दावन बारा कृष्ण साहेब हमारा है।

रहीम का मदनाष्टक भी खड़ी बोली में ही है। उसे पढ़कर हरिऔध की पंक्तियों का स्मरण हो आता है—

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखन वाला चाँदनी में खड़ा था।
कटि तर बिच मेला पीत सेला नवेला
अलि बन अलबेला यार मेरा अकेला॥

केवल मुस्लिम कवियों ने ही नहीं हिन्दू कवियों ने भी शुद्ध खड़ी बोली

में लिखा है जिनमें कुलपति, आलम, रघुनाथ, आनंदघन, सूदन, सीतल, नागरीदास, पद्माकर, ग्वाल, ललितकिशोरी, ब्रजनिधि आदि कवियों की कुछ रचनायें प्रमाण स्वरूप दी जा सकती हैं। यहाँ हम, सीतल, पद्माकर और ग्वाल की कुछ पंक्तियाँ उदाहरण के लिए दे रहे हैं—

शिव विष्णु ईश बहुरूप तुइ नभ तारा चारु सुधाकर है।
अम्बा धारानल शक्ति स्वधा स्वाहा जल पौन दिवाकर है।
हम अंशा अंश समझते हैं सब खाक जाल से पाक रहे।
सुन लालबिहारी ललित ललन हम तो तेरे ही चाकर हैं।
सीतल (१७३० ई०)

हिम्मत बहादुर भूप है।
शुभ शंभु रूप अनूप है।
दिल दानवीर दयाल है।
अरिवर निकर का काल है।
पद्माकर (१८वीं शताब्दी उत्तरार्ध)

आये परवाना पर चले न बहाना यहाँ
नेकी कर जाना फेर आना है न जाना है॥ ग्वाल (१६वीं शताब्दी)

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से तो खड़ी बोली काव्य-भाषा के पद पर पूर्णतया आसीन हुई ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि खड़ी बोली हिन्दी जो आज हमारी राष्ट्रभाषा है, फोर्ट विलियम कालेज में निर्मित नहीं हुई है और न उर्दू के प्रादुर्भाव और विकास से ही इसका सम्बन्ध है। जिसकी रचनाएँ खुसरो से ले कर इंशाअल्लाखाँ, अमीर अली मीर जैसे मुस्लिम तथा अनेक हिन्दू कवियों की कृतियों में मिलती हैं, वह हिन्दी भाषा की एक सतत प्रवहमान बोली थी। और खुसरो और इंशाअल्ला दोनों ही ने उसे हिन्दी या हिन्दवी ही कहा है।

इस धारा के अतिरिक्त इस हिन्दी खड़ी बोली का एक रूप दक्खिनी हिन्दी के अन्तर्गत भी मिलता है। दक्षिण में सन् १३४७ ई० में बहमनी सल्तनत की स्थापना की गई और उसके छिन्न भिन्न हो जाने पर गोलकुंडा, बीदर, अहमदनगर, बीजापुर, बरार के राज्य बने। दाक्षिण में तो द्रविड़ भाषायें तेलुगु, तमिल आदि इस क्षेत्र में बोली जाती थीं, पर इन राज्यों के मुसलमान जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह उत्तर भारत की खड़ी बोली ही थी; पर दक्षिण में प्रयुक्त होने के कारण वह 'दकनी', दक्नी या 'दक्खिनी' कहलाती थी। इसका कविता में प्रयोग होने पर रेखता नाम पड़ा। वहाँ के मुसलमान बादशाह और जनता इसलिए ब्रजभाषा काव्य का सम्मान करते थे,

क्योंकि उनकी स्वयं की भाषा भी हिन्दी ही थी। केवल उसकी लिपि फारसी थी जिससे अनेक हिन्दी शब्दों के उच्चारण में अन्तर पड़ जाता था। खड़ी बोली हिन्दी काव्य के विकास में इस दक्खिनी हिन्दी की शायरी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उससे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि जो उर्दू या रेखता के नाम से प्रसिद्ध हुई वह हिन्दी से कोई भिन्न भाषा नहीं थी। दक्खिनी हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध कवियों की पंक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि उन्हें हिन्दी खड़ी बोली काव्य लिखने में काफी सफलता मिली और उनका काव्य लोकप्रिय काव्य है—

हमने तुमको दिल दिया तुमने लिया और दुख दिया।
तुम यह किया हम वह किया यह ही जगत की रीत है

(सादी १५५५ ई०)

तेरे दरसन को मैं हूँ सांइ माती। मुजे लावो पिया छाती सों छाती।
पियारे हात धर सँभालो मुजको। कि तिलतिल दूती तुज माती डराती॥
परेम प्याला पिलावों मुँज को दम दम। कि तू है दो जगत् में मुँज सँगाती।

(मुहम्मद कुली कुतुबशाह १६०० ई०)

विरागी जो कहाते हैं उसे घरबार करना क्या।
हुई जोगिन जो कोइ पी की उसे संसार करना क्या।
जो पीवे प्रीत का पानी उसे क्या काम पानी सों
जो भोजन दुख का करते हैं उसे आधार करना क्या।

(वली १६६८–१७७४ ई०)

दक्खिनी हिन्दी में स्थानीय प्रभावों के साथ तथा फ़ारसी लिपि के विकारों के कारण कुछ भिन्नता दिखलायी देती है; मगर वह बोलचाल की खड़ी बोली है। अतः इस बोली के संबंध में न तो यही सत्य है कि यह आधुनिक युग की वस्तु है और यह फोर्ट विलियम कालेज में जन्मी थी और लल्लूलालजी उसके जन्मदाता थे और न यही सत्य है कि यह भारतीय मुस्लिम समाज के द्वारा फारसी और ब्रजभाषा को मिला कर बनायी गई। यह हिन्दी की एक बोली है जैसे ब्रजभाषा और अवधी। इसका क्षेत्र दिल्ली के आसपास के जिलों में है जहाँ के लोगों की यह मातृभाषा है। मुसलमानों का शासन दिल्ली में ही पहले पहल कायम हुआ अतः उन्होंने इसी भाषा को पहले सीखा। उनकी विजय और राज्य-विस्तार के साथ यह भाषा फैली; यह सत्य है। साथ ही यह भी सत्य है कि साधु संन्यासी और उपदेशक जो तीर्थाटन करते थे और विभिन्न प्रान्तों में भ्रमण करते थे उनकी भी यही भाषा थी।

मुसलमानों ने व्रजभाषा और अवधी में भी कवितायें लिखीं। इन कवियों की संख्या सैकड़ों है। परन्तु हिन्दी काव्य के प्रसंग में व्रजभाषा का पूर्ववर्ती युगों में विशेष महत्त्व है। खड़ीबोली हिन्दी की रेखता शैली में मुसलमान कवियों की प्रारंभिक रचनायें बोलचाल की हिन्दी की परम्परा में हैं; परन्तु आगे विशेषरूप से कुछ सांप्रदायिकता के अधिक बढ़ जाने से जब अंग्रेज़ों की भेदनीति अधिक चलने लगी, तब रेखता शैली में अरबी फारसी शब्दावली की इतनी भरमार हुई, साथ ही विदेशी परंपराओं चित्रणों को भी इतना अधिक भर दिया गया कि उर्दू नाम से प्रचलित शैली हिन्दी खड़ी बोली से भिन्न भाषा कही जाने लगी। परन्तु भाषा के मूल तत्त्वों की दृष्टि से दोनों एक ही भाषा हैं।

तथ्य यह है कि यहाँ के मध्यकालीन मुसलमान शासकों का भाषा-संबंधी कोई विरोध नहीं था। धर्म की कट्टरता अवश्य कुछ मुसलमानों में थी, पर भाषा—विशेष रूप से व्रजभाषा काव्य—को आश्रय देने वाले बहुत बड़ी संख्या में मुसलमान हैं। उसके लेखक तो हैं ही जैसा कि पहले कहा जा चुका है। अनेक मुसलमान बादशाहों के सिक्कों तक में हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों का प्रयोग हुआ है—महमूद गज़नवी, शाहबुद्दीन गोरी, एलतमश, फीरोजशाह, रज़िया, अलाउद्दीन, मसऊदशाह, गयासुद्दीन तुगलक, शेरशाह, अकबर आदि के सिक्कों में हिन्दी अक्षरों का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार खड़ी बोली हिन्दी जो हिन्दी के रूप में आज भारत की राष्ट्रभाषा है, पहले से ही अधिक व्यापक थी। व्यापकता के कारण ही अंग्रेजों ने फोर्ट विलियम कालेज में अंग्रेज अफसरों को इसकी शिक्षा देने का प्रबन्ध किया था।

ग्राम समाज में हिन्दू मुसलमान सभी की भाषा उस क्षेत्र की बोली है, वह चाहे व्रज हो या अवधी या बंगाली। परन्तु यह नगरों में सर्वाधिक प्रचलित हिन्दी, हिन्दुस्तानी, उर्दू, रेखता—एक ही भाषा के भिन्न भिन्न नाम हैं और जहाँ पर एक दूसरी में भेद दिखलायी देता है, वहाँ शैलीगत भेद है जिसमें कहीं अरबी फारसी की शब्दावली अधिक आई है और कहीं संस्कृत शब्दावली अधिक, परन्तु अपनी सरलता एवं अकृत्रिम रूप में सब एक ही भाषा के अन्तर्गत हैं।

मूलतः दोनों में कोई भेद नहीं। हिन्दी जानने वाले उर्दू और उर्दू जानने वाले हिन्दी समझते हैं। दीवाल वास्तव में लिपि के कारण खड़ी हो जाती है। अंग्रेजों ने अपने काम के लिए दोनों ही रूपों को अपनाया और दोनों ही को प्रोत्साहन दिया। परन्तु यह प्रारंभिक निश्चय था। आगे

चल कर अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों की स्थापना होने पर काम चलाने के लिए अंग्रेजी जानने वाले हिन्दुस्तानी मिलने लगे। अतः इन दोनों ही भाषा-रूपों का महत्त्व भी समाप्त हो गया और अंग्रेजी ही भारत की राजभाषा के रूप में व्यवहृत होने लगी।

भारतेन्दु जी के समय 'निज भाषा' के रूप में भारतीय भाषा का आन्दोलन फिर चला और गद्य साहित्य तथा नवीन विचारों को प्रकट करने वाला पद्य साहित्य भी खड़ी बोली में रचा जाने लगा। उधर उर्दू साहित्य भी खूब विस्तृत और विकसित हुआ परन्तु जहाँ तक सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों का प्रश्न है, दोनों ही का व्यवहार और विकास होता रह सकता था। उस समय दोनों में एक प्रकार की होड़ सी थी कि किसका विकास अधिक हो। दोनों ही साहित्यों में आगे चल कर नवीन राष्ट्रीय भावनाओं का प्रकाशन हुआ और दोनों ही साहित्य जनप्रिय रहे। परन्तु प्रश्न तो राजनीतिक और अखिल भारतीय कार्यों में व्यवहार का था।

आगे चल कर जब कांग्रेस के आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा तब फिर राष्ट्रभाषा का प्रश्न उठा। पहले तो काम अंग्रेजी के माध्यम से चल जाता था, परन्तु जब देश को जाग्रत करने और देशव्यापी आन्दोलन चलाने का प्रश्न आया, तो फिर राष्ट्रव्यापी भाषा के रूप में हिन्दुस्तानी को स्वीकार किया गया और बहुत दिनों तक देवनागरी और फारसी दोनों लिपियों का प्रयोग होता रहा। इधर द्विवेदी युग में हिंन्दी भाषा और साहित्य ने विलक्षण समृद्धि प्राप्त कर ली थी; अतः राष्ट्रभाषा के रूप में उसी को स्वीकार करने का भाव अधिकांश के मन में था।

यह एक आश्चर्य और संयोग की बात है कि हिन्दी की व्यापकता का अनुभव कर इसे राष्ट्रभाषा बनाने का प्रस्ताव और उसका इस रूप में व्यवहार अन्य प्रान्तीय भाषा-भाषियों द्वारा ही हुआ। स्वामी दयानंद गुजराती थे। उन्होंने संस्कृत में शिक्षा पाई और आर्यसमाज का प्रचार उन्होंने संस्कृत में प्रारंभ किया था। पर जब वे कलकत्ते पहुँचे और प्रसिद्ध ब्राह्मसमाजी नेता केशवचन्द्र के संपर्क में आये, तो उन्होंने हिन्दी में प्रचार करने का सुझाव दिया। तब से स्वामीजी ने हिन्दी को भारत के जनसमूह की भाषा मान कर उसी में अपने उपदेशों का प्रचार करना प्रारंभ किया। इधर गांधीजी ने हिन्दी का ही राष्ट्र की जनता से संपर्क स्थापित करने के लिए व्यवहार किया। श्रीमती ऐनी बीसेंट भी हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा मानती थीं। इस प्रकार जब अंग्रेजी के स्थान पर देशभाषा के व्यवहार का प्रश्न आया, तो एक स्वर से सभी ने हिन्दी का ही

समर्थन किया।

अन्य प्रान्तीय भाषाओं की तुलना में तो हिन्दी प्रचार की दृष्टि से व्यापक भाषा है ही। साथ ही यह ऊपर कहा जा चुका है कि हिन्दी और उर्दू में भाषा की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। लिपि के प्रश्न पर तो अंग्रेज़ों, जर्मन विद्वानों यहाँ तक कि मुसलमान विद्वानों का भी यह मत रहा है कि देवनारी लिपि सुगमता से सीखी जा सकती है। यह अधिक वैज्ञानिकता के साथ उच्चारित ध्वनियों को व्यक्त करती है अतः इसी का व्यवहार होना अधिक संगत है। इस पृष्ठभूमि में उपर्युक्त परिस्थितियों और तर्कों के समर्थन के साथ जब भारत को स्वाधीनता प्राप्त हुई और उसके गणतंत्रीय विधान की रचना के लिए विधान्-परिषद् बैठी, तब उसके द्वारा १४ सितम्बर सन् १९४९ को हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया और राष्ट्रलिपि हुई देवनागरी।

काव्य में भाषा की समस्या

भाषा की समस्या का दूसरा पक्ष काव्य भाषा से संबंध रखता है। राष्ट्रभाषा के निश्चय करने में जिस प्रकार कई स्थितियों और अवस्थाओं में मतवैषम्य और वादविवाद चले, उसी प्रकार उससे भी कहीं अधिक सरगर्मी भारतेन्दु युग में लगभग १९०० ई० तक काव्यभाषा के संबंध में वादविवाद चलते रहे। वास्तव में भारतेन्दु युग, जो १८५७ से १९०० तक माना जाना चाहिए, अनेक परिवर्तनों और उथल-पुथल का युग था। पिछले पृष्ठों में उल्लिखित राजनीतिक उथल-पुथल और धार्मिक आन्दोलनों से यह स्पष्ट है कि यह एक संक्रांति और परिवर्तन का युग था। परिवर्तन के समय न तो सहसा कोई पुरानी परंपरा छोड़ ही दी जाती है और न एक दिन में नयी धारा अपना ली जाती है। कुछ दिनों तक संघर्ष चलता ही रहता है और उसके बाद उसकी अवस्था निश्चित हो पाती है। भारतेन्दु जी के पहले व्रजभाषा ही काव्य का माध्यम थी। भारतेन्दु के पिता व्रजभाषा के उच्चकोटि के कवि थे और स्वयं भारतेन्दु जी की भी व्रजभाषा की रचना साहित्य को एक महान् देन है। फिर भी भारतेन्दु नवचेतना का स्वागत करने वाले व्यक्ति थे। गद्य के लिए तो खड़ी बोली स्वीकार की ही जा चुकी थी; प्रश्न पद्य या कविता में किस भाषा का प्रयोग किया जाये, यह था। भारतेन्दु जी ने खड़ी बोली में भी रचना की है और वह सामयिक भी है और सुन्दर भी। सितम्बर १८८१ ई० के भारत मित्र में निकली हुई उनकी एक रचना का नमूना है—

गरमी के आगम दिखलाये रात लगी घटने।
कुहू कुहू कोयल पेड़ों पर बैठ लगी रटने।
ठंडा पानी लगा सुहाने आलस फिर आई।
सरस सुगन्ध सिरिस फूलों की कोसों तक छाई।
उपवन में कचनार बनों में टेसू हैं फूले।
मदमाते भौंरें फूलों पर फिरते हैं भूले।।

भारतेन्दु जी ने खड़ी बोली में प्रयत्न और परिश्रम किया, पर उनकी रचना ब्रजभाषा जैसी उन्हें पसन्द न आयी। अतः उन्होंने अपनी पुस्तक "हिन्दी भाषा" में लिखा था—"मैंने कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी इससे निश्चय होता है कि ब्रजभाषा में ही कविता करना उत्तम होता है।" यहाँ पर भारतेन्दु जी का अपना निजी अनुभव प्रकट होता है। इन्होंने खड़ी बोली का विरोध किया हो ऐसी बात नहीं और न खड़ी बोली के विपरीत ब्रजभाषा में लिखने का प्रचार ही किया। परन्तु उनके इस विचार को ले कर काफी वाद-विवाद चला। भारतेन्दु के विश्वासों और तर्कों को ले कर डा० ग्रियर्सन भी खड़ी बोली में रचना करना असफल और असंभव समझते थे और उनके साथ ब्रजभाषा पक्ष के समर्थक थे, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पंडित राधाचरण गोस्वामी और आगे चल कर सत्यनारायण 'कविरत्न', बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आदि। रत्नाकर जी ने अपने ग्रंथ समालोचनादर्श में १८९६ ई० में लिखा था :—

जात खड़ी बोली पै कोऊ भयो दिवानो।
कोउ तुकान्त बिन पद्य लिखन में है अरुझानो।।

जार्ज ग्रियर्सन के विपक्ष में श्री फेड्रिक पिन्काट खड़ी बोली का समर्थन कर रहे थे। खड़ी बोली आन्दोलन का झंडा उठाने वाले वास्तव में थे बिहार के बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री। उन्होंने सन् १८८८ में "खड़ी बोली का पद्य" नाम का एक संग्रह तैयार किया जिसकी भूमिका पिन्काट महोदय ने लिखी।

खड़ी बोली का पक्ष समर्थन करने वाले प्रधानतया थे श्रीधर पाठक जिन्होंने न केवल तर्कों और आरोपों का उत्तर दिया, वरन् स्वयं खड़ीबोली की सुन्दर रचना करके और उसमें ब्रजभाषा जैसा लालित्य ला कर दिखा दिया कि खड़ी बोली में भी सुन्दर रचना हो सकती है। उन्होंने भारतेन्दु जी की दुहाई देने वाले लोगों को उत्तर दिया कि यदि उन्होंने प्रयत्न छोड़ दिया था तो इसके अर्थ यह नहीं कि सभी को प्रयत्न छोड़ देना चाहिये और यह तथ्य ही है कि श्रीधर पाठक को काफी सफलता मिली। उनकी खड़ी बोली की रचनाओं

जैसे 'एकान्त वासी योगी'[1] और 'जगत सचाई सार' की देश और विदेश में भी प्रशंसा हुई। जगत सचाई सार की प्रशंसा खूब हुई। मिश्रबंधुओं ने तो यहाँ तक लिखा कि यह खड़ीबोली में बड़ी ही मनोहरता के साथ लिखा गया है और व्रजभाषा में भी इसके जोड़ बहुत न मिलेंगे। आगे चल कर बाबू बालमुकुन्द गुप्त, नाथूराम 'शंकर' आदि के प्रयत्नों और विशेष रूप से आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में आ जाने के उपरान्त खड़ी बोली का साहित्य (गद्य और पद्य दोनों) व्यवस्थित रूप से चलने लगा। यह भी निश्चय हो गया कि अब काव्य और गद्य दोनों ही की भाषा एक हो और वह खड़ी बोली हो। साथ ही खड़ी बोली की व्याकरण संबंधी त्रुटियों का परिहार भी होने लगा। आगे चल कर उसमें 'शंकर' 'पाठक', 'पूर्ण', 'हरिऔध' मैथिलीशरण गुप्त आदि की रचनायें जब प्रकट हुईं, तब वह सामान्यतया काव्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। द्विवेदी युग में भी व्रजभाषा के समान प्रांजलता और लालित्य लाने का प्रयास हुआ जिसके परिणाम स्वरूप खड़ी बोली के गौरवमय छायावादी काव्य का विकास हुआ।

परंपरागत काव्य-धाराओं का विकास

आधुनिक युग में पूर्ववर्ती काव्य परंपराओं का विकास मध्य काल जैसा नहीं दिखलायी देता। भक्तियुग के बाद की अधिकांश परंपरायें रीति युग में चलती रहती हैं; परन्तु रीतियुग की परंपरायें उस युग की भाँति वर्तमान काल में नहीं दिखलायी देतीं। युग-परिवर्तन के साथ साथ साहित्यिक परंपरा में भी मोड़ आये; क्योंकि राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक सभी क्षेत्रों में महान् एवं गहरे परिवर्तनों का श्रीगणेश हो चुका था। अतएव आधुनिक काल की काव्यधाराओं को हम ४ शाखाओं में ले सकते हैं—(१) व्रज-काव्य-धारा, (२) अवधी काव्यधारा, (३) खड़ी बोली हिन्दी काव्यधारा, (४) रेखता या उर्दू काव्यधारा। इन शाखाओं में आधुनिक कालीन काव्य का विकास हुआ है। इनमें इस युग के जो नवीन परिवर्तन देखने को मिलते हैं, वे खड़ी बोली और रेखता काव्य-धाराओं के अन्तर्गत हैं। व्रज और अवधी काव्य-धाराओं में भी नवचेतना की लहर आई, परन्तु उनमें उतनी अधिक विकसित न हो

---

१. एकान्तवासी योगी प्रसिद्ध अंग्रेजी काव्य 'हरमिट' का अनुवाद था। जब यह प्रकाशित हुआ, तो २२ मई, सन् १८८८ में "होमबर्ड मेल" नामक लंदन के पत्र में उस पर आलोचना निकली थी।

सकी, क्योंकि खड़ीबोली हिन्दी को ही काव्य के लिए उपयुक्त ठहराया गया। हिन्दी और उर्दू काव्य में युग की नई चेतना राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक चेतना के विकास के रूप में समाविष्ट हुई, जिसके भारतेन्दु, द्विवेदी, छायावादी, प्रगतिवादी युगों में नवीन विशेषताओं और प्रयोगों को अपनाने वाले नवीन रूप दिखलायी देते हैं। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद की नूतन-सांस्कृतिक निर्माण की चेतना का विकास हुआ है जिसका स्वरूप अभी बन रहा है। इस प्रकार पूर्ववर्ती परंपराओं को समेटने वाली व्रज-काव्य-धारा ही है।

क. व्रज-काव्य-धारा

इस काव्यधारा के भीतर आधुनिक काल में आ कर वीर और भक्ति-परंपराओं का विकास अधिक नहीं हुआ; परन्तु शृंगार और रीति की परंपरा काफी दिनों तक चलती रही। वीर काव्य-धारा का रूप राष्ट्रीय अथवा देश प्रेम-संबंधी छन्दों में मिलता है। परन्तु इस राष्ट्रीय प्रवृत्ति में करुणा और निराशा के भावों का भी खूब समावेश हुआ। इस धारा का विशेष प्रवाह भारतेन्दु के समय में रहा और भारतेन्दु युग के बाद वह गौण रूप से चलने लगी; क्योंकि खड़ी बोली काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। यहाँ हम व्रजभाषा काव्यधारा के कुछ महत्त्वपूर्ण कवियों का परिचय दे रहे हैं—

सेवक—सेवक असनी के रहनेवाले ब्रह्मभट्ट और प्रसिद्ध ठाकुर कवि के पौत्र थे। इनका जन्म सन् १८१५ ई० में हुआ था और ८६ वर्ष की अवस्था में सन् १८८१ में इनका देहान्त हुआ। इनके वंशज अब भी असनी में विद्यमान । सेवक ने अपने वंश का परिचय स्वयं इस प्रकार दिया है—

"श्री ऋषिनाथ को हौं मैं पनाती और नाती हौं श्री कवि ठाकुर केरो।
श्री धनीराम को पूत मैं सेवक शंकर को लघु बंधु ज्यों चेरो॥"

सेवक बड़े सन्तोषी व्यक्ति थे। इन्होंने नायिका-भेद, ऋतु एवं भावों का वर्णन करने वाला वाग्विलास ग्रंथ लिखा। इसके अतिरिक्त इनके ग्रंथ हैं—पीपा प्रकाश, ज्योतिष प्रकाश, बरवै-नखशिख। सेवक की रचना सुन्दर होती थी। यहाँ पर एक छन्द उदाहरणरूप दिया जाता है—

उनए घन देखि रहैं उनये दुनये से लताद्रुम फूलों करैं।
सुनि सेवक मत्त मयूर के सुर दादुर ऊ अनुकूलो करैं।
तरपैं दरपैं दबि दामिनि दीह यही मन माँह कबूलो करैं।
मनभावती के सँग मैनमई घनश्याम सबै निसि झूलो करैं॥

सरदार कवि— सरदार कवि टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। कवि-

प्रिया, रसिक-प्रिया, बिहारी सतसई, सूर के दृष्टकूट पदों की टीकाओं के द्वारा लोग इन्हें जानते हैं। ये काशी-नरेश महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायणसिंह के आश्रय में थे। इनका रचना काल १८४५ से १८८३ ई० तक है। ये पुरानी परम्परा के कवि थे और इन्हें रामकाव्य के भीतर रखा जा सकता है, फिर भी इनमें रीति-शृंगार-काव्य की भी प्रवृति मिलती है। टीकाओं में ये शास्त्रीय पद्धति का अनुगमन करते हैं और भाव-अलंकार आदि का निर्देश करते हैं। इनके रचे हुए ग्रंथों के नाम हैं—साहित्य सरसी, व्यंग्य विलास, षटऋतु, शृंगार संग्रह, साहित्य सुधाकर, हनुमतभूषण, तुलसीभूषण, मानसभूषण, राम-रत्नाकर, रामरसजंत्र, रामलीला प्रकाश। ये बड़े मर्मज्ञ टीकाकार और सरस कवि थे। भाषा और भाव दोनों का चित्ताकर्षक समन्वय इनकी रचनाओं में मिलता है। उदाहरण—

परिपूरन प्रेम तें पागि सिवा प्रतिजाम पतिव्रत पालती हैं।
निसिवासर ध्यान धरे तिनको मन ते तन नेक न हालती हैं।
'सरदार' निबाहनहार यही हम कौन कला लखि लालती हैं।
ननदी ये तिहारी सदा बतियाँ नटसाल लौं साहब सालती हैं।

ललितकिशोरी-ललितमाधुरी—लखनऊ के निवासी साह बिहारी-लाल वैश्य के पौत्र साह कुंदनलाल और साह फुंदनलाल गोस्वामी राधागोविन्द के शिष्य हो कर कृष्णभक्त हो गये थे और ललितकिशोरी एवं ललितमाधुरी नाम से रचना करते थे। सन् १८५६ में ये वृन्दावन चले गये थे जहाँ पर एक मंदिर बनवाया। इन्होंने सखी भाव से कृष्ण की उपासना की। इस भाव के अनुसार इनकी रचनायें बड़ी ही मधुर और सरस हैं। इन्होंने लगभग २००० पृष्ठों में कवितायें लिखी हैं जिनमें अष्टयाम, लीला, रसकेलि आदि का वर्णन किया गया है। प्रेमभाव से इनकी रचनायें ओतप्रोत हैं। इनका रचना काल १८७३ तक रहा। इन्होंने खड़ी बोली में भी लिखा है। उदाहरण—

अंग अंग सों अंबुकन, झरि झरि आवत नीर।
चंद स्रवत पीयूष कै, बरसत दामिनि बीर॥१॥
कब हौं सेवा कुंज को, ह्वैहौं वृक्ष तमाल।
ललिता कर गहि बिरमिहैं, ललित लड़ैती लाल॥२॥

लाभ कहाँ कंचन तन पाये।
बचननि मृदुल कमलदल लोचन दुखमोचन हरि निरखि न ध्याये॥
तन मन धन अरपन नहिं कीन्हों प्रान प्रानपति गुननि न गाये।
योवन धन कलधौत धाम सब मिथ्या सिगरी आयु गँवाये॥

गुरुजन गरब विमुख रँगराते डोलत सुख संपति बिसराये।
ललितकिशोरी मिटै ताप नहिं बिनु दृढ़ चिन्तामनि उर लाये ॥३॥

गोविन्द गिल्लाभाई—भावनगर (गुजरात) राज्य के सिहोर नामक स्थान में गोविन्द गिल्लाभाई का जन्म सन् १८४८ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम गिल्लाभाई और माता का नाम लविंगाबाई था। नौ वर्ष की अवस्था में इन्होंने विद्याध्ययन प्रारम्भ किया और १४ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह हो गया। जैन साधु पानाचंदजी से इन्होंने साहित्य पिंगल आदि की शिक्षा पाई। पहले ये गुजराती में लिखते थे; परन्तु बाद को ये हिन्दी के क्षेत्र में आये। ये बड़े उत्साही व्यक्ति थे। हिन्दी काव्य के क्षेत्र में इनकी बहुत बड़ी सेवा है। इनका लगभग ८० वर्ष की अवस्था में देहान्त हुआ। इनके द्वारा रचे ग्रन्थों की सूची यह है—विष्णुविनय पचीशी, परब्रह्म पचीशी, विवेक विलास, लच्छन बत्तीसी, शिखनख चंद्रिका, राधारूप मंजरी, भूषणमंजरी, श्रृंगार षोड़शी, राधामुख षोड़शी, पयोधर षोड़शी, नैन मंजरी, छवि सरोजिनी, प्रेम पचीशी, प्रबोध पचीशी, नीति विनोद, श्रृंगार सरोजिनी, षटऋतु वर्णन, पावसपयोनिधि, समस्यापूर्ति प्रदीप, वक्रोक्ति विनोद, श्लेषचंद्रिका, प्रारब्ध पचासा, गोविन्दज्ञान पावनी, प्रवीन सागर की बारह लहरी, गोविन्द हजारा, अलंकार अंबुधि आदि। गुजराती होते हुए भी इनका व्रजभाषा काव्य करने का प्रयत्न स्तुत्य है। ये कृष्णकाव्य परम्परा के कवि हैं और समस्यापूर्ति से इन्हें बड़ा अनुराग था।

उदाहरण—

बेनिका पैं व्याल वारौं भाल ही में भेष वारौं,
कोटिक कमल बारौं लोचन रसाल पें।
गाल पें गुलाब वारौं नाशिका पैं कीर वारौं,
'गोविंद' प्रबाल वारौं ओंठ अति लाल पें।
कंठ पें कपोत वारौं कुचन पें कोक वारौं,
गंग के तरंग वारौं मोतिन के माल पें।
पेट ही पें पान वारौं जंघन पें रंभ वारौं,
मंजुल मतंग वारौं सुन्दरी तो चाल पें ॥१॥

प्यारी तुम अंगन की नकल बनाइ विधि,
विश्व में बहाइ सोइ नजरें परति है।
आनन समान छवि चन्द की सुहाति पुनि,
श्रवन समान छवि सीपिनी धरति है।

लोचन समान छबि वारिज विभात पुनि,
बेनी के समान ब्याली वेश विहरति है।
गोविन्द अनेक ऐसी आँख ते अनूप तेरी,
नकल निरखि मोहि कल न परति है ॥२॥

ईसुरी—ये बुन्देलखंड के छतरपुर राज्यान्तर्गत बगौरा के निवासी थे और चतुर्भुज नम्बरदार के कारिन्दा थे। इनका जन्म समय सन् १८७० के लगभग और रचनाकाल १९०० के लगभग है। इनकी रचनायें झाँसी, ओड़छा छतरपुर आदि क्षेत्रों में बड़ी प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा उस क्षेत्र की बुन्देलखंडी भाषा है; पर इनके पद बड़े ही भावपूर्ण हैं। इनकी फागें विशेष रूप से प्रचलित हैं। ये एक लोककवि की ख्यति प्राप्त कर चुके हैं। एक उदाहरण है—

बखरी रइयत हैं भारे की, दई पिया प्यारे की।
कच्ची भीत उठी माटी की, छई फूस-चारे की।
वेबंदेज बड़ी बेबाड़ा, जेइ में दस द्वारे की।
नहीं किवार किवरिया एकौ, बिना कुची तारे की।
'ईसुर' चाए निकारौ जिदिना, हमें कौन उबारे की।

बाघेली कुँवरि जी—कुँवरि जी रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह जी की पुत्री थीं और जोधपुर के महाराज यशवंतसिंह के छोटे भाई श्री किशोरसिंह को ब्याही थीं। इनकी कृष्णभक्ति प्रशंसनीय है। इन्होंने एक कृष्ण-मन्दिर भी बनवाया था। कानपुर के रसिक-समाज की समस्याओं पर ये कवितायें लिखा करती थीं। इन्होंने अवधविलास और कृष्ण विलास नामक दो ग्रन्थों की रचना की थी। इनका स्वर्गवास १९०८ ई० में हुआ। इनकी रचना बड़ी ही ललित है। ये कृष्णकाव्य परम्परा की सुकवयित्री थीं। एक छंद उदाहरणार्थ यहाँ दिया जाता है—

सुन्दर सुरंग अंग अंग पै अनंग वारौं,
जाके पद पंकज पै पंकज दुखारो है।
पीत पटवारो मुख मुरली सँवारो प्यारो,
कुंडल झलक सिर मोर पंख धारो है।
कोटिन सुधाकर की सुखमा सुहात जाके,
मुखमाँ लुभाती रमा रंभा सी हजारो है।
नन्द को दुलारो श्री जसोदा को पियारो जौन,
भक्त सुखसारो सो हमारो रखवारो है।

उपर्युक्त परिचयों से यह स्पष्ट होता है कि कृष्ण और रामकाव्य की

पूर्ववर्ती परम्परा चल अवश्य रही थी, परन्तु वह प्रवाह उसमें न रह गया था; क्योंकि लोग नवीन विषयों पर नवीन ढंग का काव्य चाहते थे। साथ ही इन दोनों काव्य-धाराओं के प्रसंग में साहित्य-रसिक आधुनिक कवियों की तुलना सहज ही पूर्ववर्ती उत्कृष्ट कवियों से करने लगते थे। अतः यह काव्य समस्या-पूर्ति या स्वान्तःसुखाय रूप में चलता रहा, पर इसका व्यापक प्रचार न हुआ। कुछ कवियों जैसे 'रत्नाकर' 'कविरत्न' आदि की सरसता पर अवश्य लोग मुग्ध थे। इनका परिचय हम आगे देंगे।

रीति-काव्य-धारा का भी प्रवाह चलता रहा और लक्षण दे कर उसके उदाहरण लिखने की परिपाटी समाप्त नहीं हुई। वह तो अभी तक चलती जा रही है। हाँ अन्तर इतना अवश्य हो गया कि इस युग में लक्षण अधिकांश गद्य में लिखे गये और उदाहरण व्रज भाषा पद्य में और कहीं-कहीं खड़ी बोली पद्य में भी। इसके अतिरिक्त ऐसे ग्रंथ भी लिखे गये जो विद्यार्थियों को काव्यशास्त्र की शिक्षा देने के लिए थे। लक्षण गद्य में और उनकी व्याख्या के साथ उदाहरण लेखक के स्वरचित न हो कर किसी अन्य के द्वारा लिखे हुए रहते थे जो उत्तम होने के कारण चुन लिये गये थे। यह रचनात्मक प्रतिभा की विशेषता रखने वाले ग्रन्थ नहीं अतः हमारे क्षेत्र में नहीं आते। रीतिकाव्य की परम्परा में आने वाले कवियों में कविराजा मुरारिदान, अयोध्यानरेश, महाराज प्रतापसिंह, कन्हैयालाल पोद्दार, गुलाबसिंह, जगन्नाथप्रसाद भानु, लाला भगवानदीन, मिश्रबंधु, बिहारीलाल भट्ट, अर्जुनदास केडिया, हरिऔध, राम शंकर शुक्ल रसाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने रस, छन्द, अलंकार आदि के लक्षण दे कर उनके उदाहरण-स्वरूप अपनी व्रजभाषा या खड़ी बोली की पूर्व परम्परा पर चलने वाली रचनायें की हैं।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी साहित्य के अग्रदूत हैं। ये विलक्षण काव्य-प्रतिभा ले कर जन्मे थे। ये बड़े घर में प्रतिभासंपन्न कवि और भक्त पिता के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए थे। भारतेन्दु बंगाल के प्रसिद्ध सेठ अमीचंद के वंशज थे। इनके पिता बाबू गोपाल-चन्द्र 'गिरिधरदास' उपनाम से कविता करते थे और ४० ग्रंथों के रचयिता थे। भारतेन्दु का जन्म ९ सितम्बर सन् १८५० ई० को हुआ था। काव्य-प्रतिभा इनमें जन्मजात थी। पाँच छः वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने दोहा बनाया था और पिताजी की गोष्ठी में अनेक बार अपनी प्रतिभा का परिचय दे चुके थे। एक बार वे 'कच्छप कथामृत' ग्रंथ के एक अपने रचे दोहे 'करन चहत जस चारु, कछु कछुवा भगवान को', इस मंगलाचरण की पंक्ति की व्याख्या कर रहे

थे। इसके अर्थ में किसी ने 'कच्छप भगवान' अर्थ किया, किसी ने कहा—'कुछ कुछ वा भगवान' अर्थ है। भारतेन्दु जी ने उत्तर दिया—कि आप उस भगवान का यश वर्णन करना चाहते हैं जिसको कुछ कुछ स्पर्श किया है। (कछुक छुवा भगवान को)। बालक की प्रतिभा देख कर लोग आश्चर्य में पड़ गये थे। भारतेन्दुजी ६ वर्ष की अवस्था में ही पितृविहीन हो गये थे। अतः वे अधिक स्वच्छन्द हो गये। भारतेन्दु की यात्राओं ने इनके मन में काव्य-रचना और देशप्रेम की भावना को दृढ़ कर दिया था। इन्होंने १८ वर्ष की अवस्था में सन् १८६८ ई० में 'कविवचन सुधा' नामक पत्र निकाला जिसमें सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक विषयों पर लेख और रचनायें रहती थीं। १८७३ में हरिश्चन्द्र मैगज़ीन निकाली। इन्होंने कविता के विकास के लिए 'कविता वर्द्धिनी सभा', 'कवि समाज' आदि संस्थाओं की स्थापना की। ये न केवल कवि थे, वरन् उदार आश्रयदाता एवं कला के प्रशंसक भी थे। इन्होंने कवि परमानंद को 'बिहारी सतसई' के संस्कृत अनुवाद पर ५००) का पुरस्कार प्रदान किया था और एक दोहे पर महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी को १००) दिया था। भारतेन्दु ने हिन्दी प्रचार तथा राजभाषा के रूप में उसे प्रतिष्ठित कराने के लिए बड़ा ही उद्योग किया था। इनकी कविमंडली में अंबिकादत्त व्यास, रामकृष्ण वर्मा, सरदार, नारायण, हनुमान, दीनदयाल गिरि, दत्त, मन्नालाल द्विज आदि काशी का श्रेष्ठ कवि-समाज सम्मिलित होता था। इसमें समस्यापूर्तियाँ होती थीं। बाहर से भी कविगण इसमें सम्मिलित हुआ करते थे, जिनके नाम हैं—बाबा सुमेरसिंह (आजमगढ़), बूँदी की श्रीमती चंद्रकला बाई, बिहार के बाबू शिवनंदन सहाय, सिहोर काठियावाड़ के गोविन्द गिल्लाभाई, सीतापुर के रामेश्वरसिंह और अयोध्या के कवि लछिराम आदि। रत्नाकरजी भी अपने प्रारंभिक काल में दो एक बार पहुँचे थे। इनसे प्रभावित हो कर कानपुर का कवि-समाज, मिर्जापुर का कवि-समाज, आजमगढ़ का कवि-समाज आदि बने जहाँ पर समस्यापूर्ति साहित्य का खूब विकास हुआ। इस प्रकार भारतेन्दु के समय में साहित्यिकता और काव्याभिरुचि की एक लहर फैल गई थी।

भारतेन्दुजी ने चारों ओर बड़ी जागृति फैलाई। इन्होंने एक बड़ी संख्या में ग्रंथ लिखे जो भारतेन्दु ग्रंथावली और नाटकावली के रूप में प्रकाशित हुए हैं। इन्होंने २० नाटक, ८ आख्यान-उपन्यास, २७ काव्य, ७ स्तोत्र, १८ परिहास-प्रहसन, ८ अनुवाद, ८ धर्म इतिहास संबंधी लेख, तथा अन्य अनेक इतिहास, राजभक्ति, देशप्रेम, साहित्यप्रेम संबंधी लेख और ग्रंथ

लिखे जो धीरे-धीरे प्रकाश में आ रहे हैं। भारतेन्दुजी का एक विशाल साहित्य है। और यह सब कुछ उन्होंने ३५ वर्ष की अल्पावस्था में ही कर दिखाया। उनका देहान्त २ जनवरी सन् १८८५ ई० को हुआ। भारतेन्दुजी अपने में एक संस्था थे। उनके द्वारा एक बड़ा ज़ोरदार भाषा और साहित्य का आन्दोलन जाग्रत हुआ। उनकी विशाल प्रतिभा का सभी लोहा मानते थे और उनके देहान्त के समय राजा-प्रजा, कवि-विद्वान् साहित्य-प्रेमी सभी दुःखी हुए।

भारतेन्दु जी बड़े भावुक और रसिक थे। वे बड़े शौकीन थे। कहते हैं कि प्रत्येक दिन के लिए उनके पैड पर अलग अलग रंगों से तिथि और दिन अंकित रहते थे। वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता हैं। गद्य, कविता, नाटक, सब में उनकी समान गति थी। उनकी ब्रजभाषा-काव्य की माधुरी देख कर तो सूर, मतिराम, देव, बिहारी और पद्माकर की याद आ जाती है। भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी साहित्य के लिए मधुमास बन कर आये। उसकी रंगीनी उनकी रचनाओं में फूटी पड़ती है; उन्होंने सभी रसों की सृष्टि की और चार नये रसों की स्थापना की। अवधी, खड़ी बोली, उर्दू और ब्रज—सभी में उन्होंने लिखा। उनके ब्रजभाषा-काव्य के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्तामनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत ॥१॥

इन दुखियान को न सुख सपने हूँ मिल्यो,
यों ही सदा व्याकुल विकल अकुलायँगी।
प्यारे हरिचन्द जू की बीती जानि औध जो पै,
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायँगी।
देखो एक बार हू न नैन भरि तोंहि याते,
जौन जौन लोक जैहैं तहीं पछितायँगी।
बिना प्रानप्यारे भये दरस तिहारे हाय!
देख लीजै आँखैं ये खुली ही रहि जायँगी ॥२॥

बोल्यो करैं नूपुर श्रवन के निकट सदा,
पद तल लाल मन मेरे विहर्यो करैं।
बाजी करै बंसी धुनि पूरी रोम रोम मुख,
मन मुसुकानि मन्द मनहिं हर्यो करैं।

'हरीचन्द' चलनि मुरनि बतरानि चित,
छाई रहै छबि जुग दृगन भरयो करै।
प्रान हूँ ते प्यारो रहै प्यारो तू सदाई तेरो।
पीरो पट सदा जिय बीच फहरयो करै ॥३॥

सीखत कोउ न कला उदर भरि जीवत केवल।
पसु समान सब अन्न खात पीवत गंगा जल।
धन विदेस चलि जात तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान ह्वै रहत अकलहत रचि न सकत कल।
जीवत विदेस की वस्तु लै ता बिन कछु नहिं करि सकत।
जागो जागो अब साँवरे सब कोउ रुख तुमरो तकत ॥४॥

ब्रज के लता पता मोंहि कीजै।
गोपी पद पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै।
आवत जात कुंज की गलियन रूप सुधा नित पीजै।
श्री राधे राधे मुख यह वर मुँह माँग्यो हरि दीजै ॥५॥

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'—'प्रेमघन' जी सरयूपारीण ब्राह्मण, मिर्जापुर के प्रसिद्ध रईस, महाजन, व्यापारी और ज़मीदार परिवार में १८५५ ई० में उत्पन्न हुए थे। ५ वर्ष से ही इनकी शिक्षा प्रारंभ हुई थी। पं० रामानंद पाठक की शिक्षा से इनका साहित्यानुराग जाग्रत हुआ। इन्होंने भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया। सन् १८७४ ई० में इन्होंने मिर्ज़ापुर में 'रसिक समाज' की स्थापना की। इसके बाद इन्होंने 'आनन्द कादंबिनी और 'नागरी नीरद' नामक मासिक और साप्ताहिक पत्रों का संपादन किया। इनमें तथा अन्य पत्रों में इनकी सामयिक तथा ब्रजभाषा की उत्तम रचनायें प्रकाशित हुई हैं। 'प्रेमघन' में ब्रजभाषा का बड़ा प्रेम था। ये साहित्य-सम्मेलन के तीसरे अधिवेशन के सभापति थे जो सन् १९१२ में कलकत्ते में हुआ था। इनकी रचनायें 'प्रेमघन सर्वस्व' नाम से सम्मेलन से प्रकाशित हुई हैं जिनका संपादन इनके पौत्र ने किया है। इनमें जितना साहित्य-प्रेम था उतना ही देशप्रेम भी। भारतेन्दु जी की प्रवृत्तियाँ इनमें भी मिलती हैं और ये उनसे बहुत प्रभावित भी थे। इन्होंने सामायिक रचनायें खूब लिखी हैं। उदाहरण—

बगियान बसंत बसेरो कियो, बसिये तेहिं त्यागि तपाइये ना।
दिन काम कुतूहल के जे बने, तिन बीच बियोग बुलाइये ना।
'घनप्रेम' बढ़ाय कै प्रेम अहो, बिथा-बारि बृथा बरसाइये ना।
चितै चैत की चाँदनी चाह भरी, चरचा चलिबे की चलाइये ना ॥१॥

हिन्दुस्तानी भाषा कौन कहाँ तें आई ?
को भाषत किहि ठौर कोउ किन देहु बताई ?
कोउ साहिब खपुष्प सम नाम धरयो मनमानो।
होत बड़न सो भूलहु बड़ी सहज यह जानो।
हरि हिन्दी की बोली अरु अच्छर अधिकारहिं।
लै पैठारे बीच कचहरी बिना बिचारेहि ॥२॥

विनायक राव—सागर के रहने वाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका जन्म १८५५ ई० में हुआ था। इन्होंने एफ० ए० तक शिक्षा पाई थी। ये शिक्षा-विभाग में अध्यापक तथा अन्य पदों पर रहे। इन्होंने एक संस्कृत पाठशाला भी खोली थी। जबलपुर के 'भानु कवि समाज' ने इन्हें कवि नायक की उपाधि दी थी तथा भारत धर्म महामंडल ने 'साहित्य भूषण' की। इन्होंने ६ वर्ष के कठिन परिश्रम के बाद रामचरितमानस की विनायकी टीका लिखी थी। इन्होंने विविध विषयों पर निम्नलिखित ग्रंथ लिखे—

संसार की बाल्य अवस्था, व्याख्याविधि, हिन्दी की पहली से चौथी तक पुस्तकें, जटल काफिया, मानस की टीका, अयोध्या रत्नभंडार, काव्य कुसुमाकर (३ भाग)। रचनाओं के उदाहरण—

पुन्यहिं पूरण पाप विनासन कीरति भक्ति बढ़ावन।
दायक ज्ञानरु घायल मोह विशुद्ध सुप्रेममयी मुद पावन।
श्रीमद रामचरित्रसुमानस नीर सुभक्ति समेत नहावन।
'नायक' ते जन सूरज रूप जहान के ताप को ताप नसावन ॥१॥

जनक दुलारी सुकुमारी सुधि पाई पिय,
चहत चलन बन इच्छा नरनाह की।
उठि अकुलाय घबराय संग जान हेतु,
सकुचति विनय सुनाई चित चाह की।
सास समझाई राम विविध बुझाई कहि,
बन दुखदाई कठिनाई बहु राह की।
पति पद प्रेम लखि 'नायक' कहत सत्य,
तिया हुती पतिव्रता मानी नाहीं नाह की ॥२॥

प्रतापनारायण मिश्र—पं० प्रतापनारायण मिश्र का जन्म सन् १८५६ ईस्वी में हुआ था। ये बैजे गाँव (ज़िला उन्नाव) के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम संकटाप्रसाद था। प्रतापनारायण स्कूल में पढ़ने के लिए भेजे गये परन्तु इनका मन न लगा। १६ वर्ष की अवस्था में इन्होंने

स्कूल में पढ़ना छोड़ दिया। मिश्रजी को अंगरेजी का साधारण ज्ञान था परन्तु अपने परिश्रम से इन्होंने उर्दू, फारसी और संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। प्रतापनारायण जी गोरे रंग के दुबले-पतले शरीर के व्यक्ति थे। इनकी कमर भी जल्दी ही झुक गयी थी। सिर और दाढ़ी के बाल ये रखाये रहते थे। ये बड़े मौजी और स्वच्छन्द प्रकृति के व्यक्ति थे और मुँह-तोड़ उत्तर देने में प्रसिद्ध थे। इनके बचपन में भारतेन्दु के 'कवि वचन सुधा' नामक पत्र की बड़ी धूम थी। मिश्रजी ने भी सन् १८८३ में 'ब्राह्मण' नामक मासिक पत्र निकाला, जिसमें हास्य-व्यंग-पूर्ण शिक्षाप्रद लेख छपते थे। उन दिनों कानपुर में 'लावनी' गाने का बड़ा प्रचलन था। पंडित जी भी इससे प्रेरित हो कर कभी कभी लावनी लिखने लगे। इन्हें नाटक खेलने का बड़ा शौक था। इन्होंने बीस पुस्तकें लिखीं और बारह पुस्तकों का अनुवाद किया। पुस्तकों के नाम ये हैं—कलि कौतुक रूपक, कलि प्रभाव नाटक, हठी हमीर नाटक, गो-संकट नाटक, जुआरी खुआरी प्रहसन, प्रेम पुष्पावली, मन की लहर, शृंगार विलास, दंगल खंड, लोकोक्ति शतक, तृप्यन्ताम्, ब्रैडला स्वागत, भारत दुर्दशा, शैव सर्वस्व, प्रताप संग्रह, रसखान शतक, मानस विनोद, वर्णमाला, शिशु विज्ञान, स्वास्थ्य-रक्षा। इनकी रचना बड़ी प्रभावपूर्ण होती थी और हास्य-व्यंग्य-पूर्ण भी। सामयिक दुर्दशा का भी इन्होंने बड़ा सजीव चित्र खींचा है। रचना के उदाहरण—

तब लखिहौं जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ कहँ तरसत॥
जहँ आमन की गुठली अरु बिरछन की छालैं।
ज्वार चून महँ मेलि लोग परिवारहिं पालैं॥
नोन तेल लकरी घासहुँ पर टिकस लगे जहँ।
चना चिरौंजी मोल मिलैं जहँ दीन प्रजा कहँ।
जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्त्व कहुँ कैसेहु नाहीं॥
कहिय कहाँ लगि नृपति दबे हैं जहँ रिन भारन।
तहँ तिनकी धन कथा कौन जे गृही सधारन॥

अम्बिकादत्त व्यास—साहित्याचार्य पंडित अंबिकादत्त व्यास का जन्म सन् १८५८ में जयपुर में हुआ और ये दूसरे ही साल अपने पिता पंडित दुर्गादत्त के साथ काशी चले आये। दस वर्ष की अवस्था में ये कविता लिखने लगे थे। जब ये ग्यारह वर्ष के थे तब इन्होंने एक समस्या की पूर्ति

इस प्रकार की थी—

चमकि चमाचम रहे हैं मनिगन चारु,
सोहत चहूँधा धूमधाम धन धाम की।
फूल फुलवारी फल फैलि कै फवे हैं तऊ,
छवि छटकीली यह नाहिंन अराम की।
काया हाड़ चाम की लै राम की बिसारी सुधि,
जाम की को जानै बात करत हराम की।
अम्बादत्त भाखैं अभिलाखैं क्यों करत झूँठ,
मूँदि गईं आँखैं तब लाखैं कौन काम की।

व्यासजी ने काशी में संस्कृत का बड़ा गहरा अध्ययन किया था। इन्हें अपनी विद्वत्ता और पांडित्य पर भारत-रत्न, बिहारभूषण आदि उपाधियाँ प्राप्त हुई थीं। व्यासजी ने छोटी बड़ी कुल मिला कर ७८ पुस्तकें लिखीं, जिनमें शास्त्र, आयुर्वेद, दर्शन, व्याकरण, समीक्षा, यात्रा, काव्य आदि अनेक विषयों के ग्रंथ हैं। अपने ग्रंथ 'बिहारी बिहार' में इन्होंने बिहारी के दोहों पर कुंडलियाँ बनाई थीं। व्यासजी विद्वान और कवि थे। इनका देहावसान १९ नवम्बर सन् १९०० ई० में हुआ। इनका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

मधुर दुंदुभी संग मधुर बाजत शहनाई।
मधुर मधुर ही राग मधुरता हिय बगराई।
अँखियन मैं भरि जात मधुर यह रूप लुनाई।
धन्य मधुरता जहाँ संभुहू गये लुभाई।
देवधुनीहु काशी ढिग लहि आनँद सोवति।
परम प्रेम जनु पागि नासिका के पग धोवति।
मुक्ति लता के अंकुर से सींचति सो धावति।
लहरन को लहरात प्रेम अतिसै सरसावति॥

ठाकुर जगमोहनसिंह—जगमोहनसिंह का जन्म सन् १८५७ ई० में विजयराघवगढ़ में हुआ था और इनके पिता ठाकुर सरयूसिंह वहाँ के राजा थे। सिपाही-विद्रोह में उनका राज्य जब्त कर लिया गया। इनकी शिक्षा काशी में हुई। ये १६ वर्ष की अवस्था से ही काव्य करने लगे थे और उसी समय ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के संपर्क में आये। ये तहसीलदार और फिर असिस्टैंट कमिश्नर के पद पर नियुक्त किये गये। सरकारी नौकरी में रह कर भी ये साहित्य-सेवा करते रहे। इनका स्वर्गवास सन् १८९८ ई० में हुआ। इनके बनाये हुए ग्रंथों के नाम हैं—श्यामा स्वप्न, श्याम सरोजिनी, प्रेम-

संपत्तिलता, मेघदूत, ऋतुसंहार, कुमारसंभव, प्रेम हज़ारा, सज्जनाष्टक, प्रलय, ज्ञान प्रदीपिका, सांख्य सूत्रों की टीका, वेदान्त सूत्रों (बादरायण) पर टिप्पणी और वानी वार्ड विलाप। इनकी रचनाओं से इनका प्रकृति-प्रेम झलकता है। प्रकृति के चित्रण इनके ऐसे हैं जैसे कि ये उसपर विभोर हो कर चित्रण कर रहे हैं। प्रेम-श्रृंगार वर्णन में सुकुमारता एवं माधुरी इनकी कविताओं में फूटी पड़ती है। अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग इनकी रचना को बड़ा ही सरस बना देता है। उदाहरण—

कुलकानि तजी गुरुलोगनि मैं बसिकै सब बैंन कुबैंन सहा।
परलोक नसाय सबै विधि सों उनमत्त को मारग जानि गहा।
'जगमोहन' धोय हया निज हाथन या तन पाल्यो है प्रेम महा।
सब छोड़ि तुम्हैं हम पायो अहो तुम छोड़ि हमै कहौ पायो कहा ॥१॥

याही मग ह्वै कै गये दंडकबन श्रीराम।
तासों पावन देस यह विंध्याटवी ललाम।
विंध्याटवी ललाम तीर तरवर सों छाई,
केतकी कैरव कुमुद कमल के पुंज सुहाई।
भन 'जगमोहनसिंह' न सोभा जात सराही,
ऐसो बन रमनीय गये रघुबर पग याही ॥२॥

साल ताल हिंताल वर सोभित तरुन तामल।
नव कदंब अरु अंब बहु विलसत निम्ब बिसाल ॥३॥

नाथूराम शंकर शर्मा—नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' उपनाम से कविता लिखते थे। इनका जन्म सन् १८५९ में हरदुआगंज (अलीगढ़) में हुआ। इनके पिता का नाम रूपराम शर्मा था। ये गौड़ ब्राह्मण थे। इनकी माता का देहान्त साल डेढ़ साल की अवस्था में ही हो गया था। शंकरजी नहर विभाग में काम करते रहे; वहाँ कानपुर में इनका संपर्क प्रतापनारायण मिश्र जो से हुआ और इस प्रकार इनकी काव्य-प्रतिभा का विकास हुआ। वह समय समस्यापूर्ति काव्य-रचना का था। समस्यापूर्ति शंकर जी की बड़ी ही चमत्कारी होती थी। इन पूर्तियों के उपलक्ष में इन्होंने अनेक पदक पुरस्कार और उपाधियाँ प्राप्त की थीं। शंकरजी की अधिकांश रचनायें ब्रजभाषा में ही हैं। बाद में इन्होंने खड़ी बोली में लिखा। उसमें भी ब्रजभाषा का सा ही प्रवाह है। शंकर ने विविध विषयों पर मुक्तक काव्य लिखा है। सभी रसों पर कविता की है। इनके काव्य की विशेषता इनकी शब्दावली के प्रवाह तथा इनकी नूतन कल्पना में देखी जा सकती है। इन्हें 'कवि शिरोमणि' की उपाधि मिली थी। इनकी

रचनाओं का संग्रह 'शंकर सर्वस्व' नाम से निकला है। इनकी रचनाओं का साहित्य रसिकों में बड़ा सम्मान था। शंकर जी आर्यसमाजी थे और इनकी कुछ रचनाओं में वैसे ही विचार मिलेंगे। इनकी रचनाओं के नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

मंगल करनहारे कोमल चरन चारु,
मंगल से मान मही मोद में धरत जात।
पंकज की पाँखुरी सौ आँगुरी अँगूठन की,
जाया पंचवान जी की भाँवरी भरत जात।
'शंकर' निरख नख नग से नखत श्रेणी,
अम्बर सों छूट छूट पायन परत जात।
चाँदनी में चाँदनी के फूलन की चाँदनी पै,
हौले हौले हंसन की हाँसी सी करत जात ॥१॥

भरिबो है समुद्र को शंबुक में, छिति को छिगुनी पर धारिबो है।
बँधिबो है मृणाल सों मत्त करी, जुही फूल सों सैल बिदारिबो है।
गनिबो है सितारन को कवि 'शंकर' रेणु सों तेल निकारिबो है।
कबिता समुझाइबो मूढ़न को, सविता गहि भूमि पै डारिबो है ॥२॥

ईस गिरिजा को छोड़ यीशु गिरजा में जाय,
'शंकर' सलोने 'मैन' मिस्टर कहावेंगे।
बूट पतलून कोट कम्फर्टर टोपी डाँटि,
जाकट की पाकट में 'वाच' लटकावेंगे।
घूमेंगे घमंडी बने रंडी का पकड़ हाथ,
पियेंगे बरण्डी मीट होटल में खावेंगे।
फारसी की छार सी उड़ाय इँगरेज़ी पढ़,
मानों देवनागरी का नाम ही मिटावेंगे ॥३॥

'शंकर' नदी नद नदीसन के नीरन की,
भाप बन अंबर से ऊँची चढ़ जायगी।
दोनों ध्रुव छोरन लौं हल में पिघल कर,
घूम घूम धरनी धुरी से बढ़ जायगी।
झारेंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति,
जारेंगे खमण्डल में आग मढ़ जायगी।
काहू विधि विधि की बनावट बचेगी नाहिं,
जो पै वा वियोगिनि की आह कढ़ जायेगी।

जगन्नाथप्रसाद 'भानु'—भानुजी हनुमान नाटक के रचयिता बख्शीराम के पुत्र थे। इनका जन्म सन् १८५८ ई० में मध्य प्रदेश में हुआ था। इन्हें बचपन में हिन्दी और अंगरेजी की साधारण शिक्षा मिली थी। परन्तु ये अपनी योग्यता के बल पर असिस्टैंट कमिश्नर के पद तक पहुँचे थे। इनका निवास-स्थान विलासपुर था। ये बड़े ही उदार और परोपकारी थे। अकाल और महामारी के समय इन्होंने इतनी सहायता का काम किया था कि कहीं कहीं इनके नाम के भजन गाये जाते हैं। इन्होंने अपना अधिकांश समय हिन्दी की सेवा में व्यतीत किया था। ये काव्यशास्त्र के आचार्य थे। इनका अपना प्रेस था और वहीं इनके ग्रंथ छपे। इनके नाम पर मध्य प्रदेश में अनेक स्थानों पर 'भानु कवि समाज' की स्थापना हुई। इनका सरकार तथा राजा-महाराजों के यहाँ भी बड़ा ही सम्मान था। इन्हें रायबहादुर साहित्याचार्य आदि की पदवियाँ प्रदान की गई थीं। भानुजी को हिन्दी, उर्दू, मराठी, उड़िया, संस्कृत आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। इनके रचे हुए ग्रंथों के नाम हैं—काव्य-प्रभाकर, छन्द प्रभाकर, नव पंचामृत, रामायण, काव्य-कुसुमांजलि, छन्द-सारावली, हिन्दी काव्यालङ्कार, अलंकार प्रश्नोत्तरी, रसरत्नाकर, काव्य-प्रबन्ध, नायिकाभेद-शंकावली, अंक विलास, काल प्रबोध, गुलजारे सखुन, गुलजारे फ़ैज़। उदाहरण—

गावत गजानन सकुचि एक आनन तें,
जात चतुरानन हूँ बैठि वश लाज के।
मौन गहि रहे शंभु कहि पंच आनन ते,
भाषत षड़ानन ना सामुहें समाज के।
कहौ पुनि कौन बिधि गाइये गुणानुवाद,
'भानु' लघु आनन ते देव सिरताज के।
शेष जब गावैं सहसानन ते तौं हूँ गुन,
गाये ना सिरात व्रजराज महाराज के ॥१॥

देखे कालिका को जंग, सब होय जात दंग,
मति कबिहू की पंग, करि न सकैं बखान।
कहूँ देखो न जहान, नहिं परो कहूँ कान,
ऐसो युद्ध भो महान महा प्रलय लखान।
यातुधान कुल हान देखि देव हरषान,
मन मुदित महान हने तबल निसान।
जब झमकि झमकि पग ठमकि ठमकि,
चहूँ लमकि लमकि कारी भारी किरपान ॥२॥

श्रीधर पाठक—पाठक जी का जन्म जनवरी सन् १८६० ई० में जोन्धरी गाँव में हुआ था। ये सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज पंजाब से आ कर आगरा जिले के इस गाँव में बसे थे। इनके पिता पंडित लीलाधर पंडित और भगवद्भक्त थे। श्रीधर पाठक की शिक्षा का प्रारम्भ संस्कृत से हुआ था। ये बड़े ही कुशाग्रबुद्धि व्यक्ति थे। दस साल की अवस्था में ही ये संस्कृत बोल लेते थे। इसके बाद इन्होंने फारसी और अंग्रेजी पढ़ी। मिडिल परीक्षा में ये प्रान्त भर में सर्वप्रथम आये थे और एण्ट्रेंस में प्रथम श्रेणी पाई थी। ये गवर्नर के दफ्तर में नौकर थे, जिसमें ये सुपरिंटेंडेंट के पद तक पहुँचे थे। ये अपने काम में मुस्तैद आदमी थे। पेंशन पाने के बाद ये प्रयाग के लूकरगंज में पद्मकोट नामक बँगला बनवा कर रहने लगे थे। पाठक जी प्रकृति के प्रेमी थे और प्राकृतिक सौन्दर्य इनकी रचनाओं में भरा पड़ा है। ये बड़े ही सहृदय और अध्ययनशील व्यक्ति थे। इन्होंने यद्यपि भाषा संबंधी आन्दोलन में खड़ी बोली के पक्ष का समर्थन किया था; पर ये व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही में सुन्दर रचना करते थे। इनके अनुवाद 'एकान्तवासी योगी' की प्रशंसा लंदन के अखबारों तक में निकली थी। इनके काव्य में अपना विशिष्ट लालित्य है। अनुवादों में मूल का पूरा सौन्दर्य भरने में ये पूर्णतया सफल हुए हैं। व्रजभाषा-काव्य के कुछ नमूने यहाँ पर दिये जा रहे हैं—

कै यह जादूभरी विश्व बाजीगर-थैली।
खेलत में खुलि परी सैल के सिर पै फैली।
पुरुष प्रकृति कौं किधौं जबै जोबन रस आयौ।
प्रेम-केलि-रस-रेलि करन रँग-महल सजायौ ॥१॥
खिली प्रकृति पटरानी के महलन फुलवारी।
खुली धरी कै भरी तासु सिंगार पिटारी।
प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति।
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति ॥२॥
विमल-अंबु-सर-मुकुरन महँ मुख-बिम्ब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आपही तन मन वारति।
यहीं स्वर्ग सुखलोक यहीं सुर कानन सुन्दर
यहिं अमरन को ओक यहीं कहुँ बसत पुरन्दर ॥३॥

(कश्मीर सुषमा)

हे घन ! किन देसन महँ छाये, वर्षा बीति गई।
फिरहु कहाँ भरमाये, क्या यह रीति नई ॥

सावन परम सुहावन, पावन सोभा जोय।
सो बिन तुमरे आवन, रह्यो भयावन होय॥
गयौ सलूनो सूनो, तुम बिन निपट उदास।
दुख बाढ़ै दिन दूनो, चहुँ दिसि परि रह्यो त्रास॥
सरवर सरित सुखानी, रजमय मलिन अकास।
ऊबि अवनि अकुलानी, रजमय मलिन अकास॥

इस प्रकार पाठक जी की कविता में व्रजभाषा के प्रयोग में भी नवीनता है। पुराने इन्होंने छन्दों और भावों की परिपाटी छोड़ कर नवीन भावों का समावेश किया। इनकी व्रजभाषा भी खड़ी बोली का पुट लिये हुए है।

महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी—सुधाकर जी के पिता का नाम पंडित कृपालदत्त था। ये ज्योतिष के पंडित थे। ये उस समय मिर्ज़ापुर में थे। 'सुधाकर' नामक पत्र आने के समय ही पुत्रोत्पत्ति की खबर मिलने पर इनका नाम 'सुधाकर' रखा गया। इनका जन्म १८६० ई० में हुआ था। इनकी स्मरणशक्ति बड़ी तीव्र थी। ज्योतिष और गणित में इन्होंने बड़ी प्रतिभा दिखाई जिसे देख कर प्रसिद्ध गणितज्ञ बापूदेव शास्त्री ने इनका परिचय संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल ग्रिफ़िथ से कराया। उसके बाद बापूदेव के अवकाश-ग्रहण करने पर ये संस्कृत कालेज में गणित-ज्योतिष के अध्यापक हुए। सुधाकर जी भारतेन्दु-मंडली के सदस्य थे। हिन्दी में इन्होंने १७ पुस्तकें लिखीं। ये नागरी प्रचारिणी सभा के सभापति भी रहे। इनकी विद्वत्ता के कारण ही इन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि मिली थी। इनका कथन था कि संस्कृत काव्य से बढ़ कर हिन्दी काव्य में आनंद मिलता है। १८ नवम्बर सन् १९१० में काशी में इनका स्वर्गवास हुआ। इन्होंने विनय-पत्रिका के पदों का संस्कृत में अनुवाद भी किया। व्रजभाषा में इनके दोहे और पद सुन्दर हैं।

उदाहरण—

राजा चाहत देन सुख, पर परजा मतिहीन।
पर जामत ही चहत है, भूमि करन पग तीन॥१॥
छपि छपि कर परकास में, लुप्त रहे जे ग्रंथ।
पढ़ि पढ़ि के पंडित भये, बने नये बहु पंथ॥२॥
अरनी की करनी भई, चकमक चकनाचूर।
घर घर गंधक गंध में, आगि रहति भरपूर॥३॥
बाप चलाई एक मत, बेटा सहस करोर।
भारत को गारत किये, मतवाले बरजोर॥४॥

अब कविता को समय नहिं, निरखहु आँखि उघारि।
मिलि मिलि कर सीखो कला, आपन भला विचारि ॥५॥

बाबू राधाकृष्णदास—राधाकृष्णदास जी का जन्म सन् १८६५ ई० में हुआ था। ये भारतेन्दु बाबू के फुफेरे भाई थे। दस महीने की आयु में ही इनके पिता का देहान्त हो गया था अतः ये भारतेन्दु के परिवार में ही पले थे। इनमें भी कविता लिखने की प्रवृत्ति बचपन में ही थी। इन्होंने अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, फारसी, बँगला और गुजराती भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया था। १६ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'निस्सहाय हिन्दू' नामक एक उपन्यास लिखा था। इन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा का काम भी खूब किया। ये बड़े ही सुशील और सज्जन थे। इनके रचे, संपादित, अनुवादित—सभी प्रकार के ग्रन्थों की संख्या २२ है। इनके अतिरिक्त भी इनके लेख हैं। इनकी ब्रजभाषा की रचना सरस और भावपूर्ण होती थी। वर्णन भी सुंदर हैं। उदाहरण—

उन्नत सिर गिरि अवलि गगन सों उत बतरावत।
इत सरवर पाताल भेदि अति छवि छहरावत।
मन्द पवन सीरी बहै होन लगे पतझार।
पर्नकुटी नरसिंह लसत मानौं कोउ अवतार।
हरन भुवभार को ॥

मुखमंडल अति शांत कांतिमय चितवन सोहै।
भरे अनेकन भाव व्यग्र चारिहुँ दिशि जोहै।
वीर मंडली घेरि कै प्रभु की गति रहे जोहि।
मनु भीषम सर-सयन पर कौरव पांडव रहे सोहि।
हृदय उमड्यो परै ॥
(प्रताप विसर्जन से)

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—अयोध्यासिंह उपाध्याय अगस्तगोत्रीय सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम भोलासिंह उपाध्याय था। अयोध्यासिंह का जन्म सन् १८६५ ई० में आजमगढ़ जिले के निजामाबाद में हुआ था। इनके पूर्वज बदायूँ के रहने वाले थे। ५ वर्ष में शिक्षा का प्रारंभ हुआ। कुछ शिक्षा इन्होंने कालेज में पायी; परन्तु इन्होंने उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, संस्कृत का ज्ञान पाया। १६ वर्ष की अवस्था से इन्होंने अध्यापकी प्रारंभ की और बढ़ते-बढ़ते ये काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यापक नियुक्त हुए। सिक्ख संप्रदाय के साधु बाबा सुमेरसिंह के सत्संग से इन्हें हिन्दी काव्य में

विशेष अभिरुचि जाग्रत हुई। इन्होंने काफी दिनों तक कानूनगो के रूप में भी सरकारी काम किया। हरिऔध जी का परिवार भरा-पूरा है। उपाध्याय जी ने गद्य-पद्य में अनेक ग्रंथ लिखे। हरिऔध जी ने पहले पहले प्रियप्रवास में संस्कृत वृत्तों का प्रयोग किया। इन्होंने सरल बोलचाल के मुहावरों वाली रचनायें भी की हैं जो पद्य प्रसून, चोखे चौपदे, चुभते चौपदे आदि में संगृहीत हैं। वैदेही वनवास इनका प्रबंध काव्य है। इन्होंने व्रजभाषा में भी रचनायें की हैं। पारिजात भी इनका बड़ा प्रबंध काव्य है। इनका 'रस-कलस' रस को ले कर लिखा गया रीतिग्रंथ है। इसमें व्रजभाषा काव्य का उदाहरण मिलता है। इन्होंने साहित्य के इतिहास, आलोचना, उपन्यास आदि सभी क्षेत्रों में अपनी लेखनी सफलतापूर्वक चलाई। रस-कलस में इन्होंने कुछ आधुनिक नायिकाओं, जैसे देश-प्रेमिका, लोक-सेविका, धर्म-प्रेमिका आदि की कल्पना की है और अपने ग्रंथ में इन्होंने वात्सल्य रस की शास्त्रीय प्रतिष्ठा की। हरिऔध जी की व्रजभाषा रचना अत्यंत सरस और प्रवाहपूर्ण होती थी। कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं—

तेरी ही कला से कलानिधि है कलानिधान,
    है सकेलि तेरी केलि कलित पतंग मैं।
गुरु गिरिगन हैं तिहारी गुरुता के लहे,
    पावन प्रसंग है तिहारो पूत संग मैं।
'हरिऔध' तेरी हरियाली से हरे हैं तरु,
    तू ही हरि बिहर रहा है हर अंग मैं।
तेरो रंग ही है रंग रंग के प्रसूनन मैं,
    तू ही है तरंगित तरंगिनी-तरंग मैं॥१॥

मिलि मिलि मोदवारी मुकुलित मल्लिका सों,
    कुंज कुंज क्यारिन कलोल करि फूलै हौ।
पान कै प्रकाम रस आम मंजरीन हू के,
    अभिराम उर के आराम उनमूले हौ।
'हरिऔध' ठौर ठौर भौंर भुकि भूमि भूमि,
    चूमि चूमि कंज की कलीन अनुकूले हौ।
तजि महमही मंजु मालती चमेलिन को,
    कौन भ्रम बेलिन भ्रमर आज भूलै हौ॥२॥

नयनन तें सूझत नहीं, मुँह में रहे न दाँत।
अपनो तन अपनो नहीं, मन को मोह न जात॥३॥

कुल ललना सकुची सहमि, मिले नैन ते नैन।
मुँह के मुँह में ही रहे, कहे अनकहे बैन ॥४॥
इतनो हूँ समुझत नहीं, तऊ बनत हैं पूत।
जाको कहत अछूत है, वामैं कैसी छूत ॥५॥

बालमुकुन्द गुप्त—गुप्त जी का जन्म सन् १८६५ ई० में रोहतक जिले के गुरियानी नामक ग्राम में हुआ था। ये अग्रवाल वैश्य थे। सन् १८८७ में ये मिर्ज़ापुर जिले के चुनार से प्रकाशित होने वाले 'चुनार' अखबार के संपादक हुए। फिर लाहौर से निकलने वाले 'कोहेनूर' उर्दू अखबार के सम्पादक बने। उसके बाद सन् १८८६ में कालाकांकर के 'हिन्दोस्तान' का संपादन-भार लिया। उसके उपरान्त 'हिन्दी बंगबासी' में गये और १८६८ में 'भारतमित्र' के संपादन का कार्य ग्रहण किया। यहीं से इनकी प्रतिभा प्रकट हुई। गुप्त जी बड़े सरल और सत्यप्रिय व्यक्ति थे, परन्तु आलोचक ये बड़े तीव्र थे। जब डट जाते थे तो फिर उसकी सब पोल खोल देते थे। इनके लेखों की धाक थी। इनका विनोदी रूप इनके 'शिव शंभु का चिट्ठा' में प्रगट होता है। ये खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में लिखते थे और इनकी कविता भी बड़ी ही चुटीली होती थी। इन्होंने अनेक ग्रंथों का अनुवाद भी किया। इनकी रचनाओं में स्वदेश-प्रेम की भावना प्रकट होती है। समाज की कुरीतियों पर भी इनके व्यंग्य सीधे चुटीले आघात करते हैं। कुछ उदाहरण—

सेल गई बरछी गई, गये तीर तलवार।
घड़ी छड़ी चश्मा भये, छत्रिन के हथियार ॥१॥
जहाँ लरै सुत बाप सँग, और भ्रात सों भ्रात।
तिनके मस्तक सों हटै, कैसे पर की लात ॥२॥
अपनो कछु उद्यम नहीं, तकत पराई आस।
अब या भारत भूमि में, सबै बरन हैं दास ॥३॥

(सभ्य बीबी की चिट्ठी से)

मम मुख 'पौडर' रोज़' सों, मानहुँ खिल्यो गुलाब।
तुम खड़ि माटी पोत कै, माथो कियो खराब ॥१॥
बावरची के हाथ हम, खाँय सदा तर माल।
चूल्हा फूँकत तुम सदा, खाओ रोटी दाल ॥२॥

लाला भगवानदीन 'दीन'—लालाजी के पूर्वज नवाबी ज़माने में बख्शी थे। भगवानदीन जी का जन्म सन् १८६६ ई० में फतहपुर जिले के बरवट गाँव में हुआ था। इन्होंने उर्दू और फारसी की शिक्षा घर पर ही प्राप्त

की। ये श्रीवास्तव कायस्थ थे। माता के देहान्त के बाद ये अपने पिता और फूफा के पास बुन्देलखंड चले गये। उसके बाद ये छात्रवृत्ति प्राप्त कर म्योर सेन्ट्रल कालेज में भरती हुए; परन्तु पढ़ाई न चल सकी और ये अध्यापक हो गये। छतरपुर में भी अध्यापक रहे। सन् १६०७ ई० में ये सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में उर्दू के टीचर हुए। उसके बाद ये हिन्दी 'शब्द सागर' के सहायक संपादक रहे और फिर हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक हुए। हिन्दी में कविता करने का इन्हें बचपन से ही शौक था। इन्होंने अनेक पत्रों का संपादन किया और अनेक काव्य-गोष्ठियों का आयोजन किया। इनकी दूसरी पत्नी बुन्देला बाला थीं जो स्वयं कविता करती थीं। इन्होंने अनेक ग्रंथों का संपादन किया और अनेक ग्रंथों की सुन्दर टीकायें लिखीं। ये बड़े काव्य-मर्मज्ञ थे। इनकी व्याख्यायें बड़ी ही रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक होती थीं। इनके ग्रंथ नवीन बीन, नदी में बीन, वीर छत्राणी, वीर बालक और वीर पंचरत्न हैं। उदाहरण—

सुनि मुनि कौसिक तें साप को हवाल सब,
बाढ़ी चिंत करुना की अजब उमंग है।
पद-रज डारि करे पाप सब छारि करि,
नवल-सुनारि दियौ धामहूँ उतंग है।
'दीन' भनै ताहि लखि जात पति लोक और,
उपमा अभूत को सुझानो नयो ढंग है।
कौतुक निधान रामराज की बनाय रज्जु,
पद तें उड़ाई ऋषि-पतिनी-पतंग है ॥१॥

थोरे घास पानी में अघानी रहै रैनि दिन,
दूध दही माखन मलाई देत खाने को।
पूतन तें खेती करवाय देत अन्न वस्त्र,
जाके हाड़ चाम आँत गोबर ठिकाने को।
'दीन' कवि मेरे जान याही बात अनुमानि,
मुनिन महान धर्म मान्यो गो चराने को।
ऐसे उपकारी की कृतज्ञता बिसारि अब,
भारत निवासी मारे फिरैं दाने दाने को ॥२॥

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—रत्नाकर जी का जन्म सन् १८६६ ई० में काशी में हुआ था। ये दिल्ली वाले अग्रवाल वैश्य थे। इनके पूर्वज मुगल बादशाहों के यहाँ उच्च पदाधिकारी थे। रत्नाकर जी के पिता का नाम पुरुषोत्तम दास था। वे फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता थे। उन्हें हिन्दी कविता से भी

बड़ा प्रेम था अतः वह रत्नाकर जी में भी अंकुरित हुआ। भारतेन्दु भी इनकी प्रतिभा देख कर प्रसन्न हुए थे। इन्होंने फ़ारसी एम्० ए० तक पढ़ी, यद्यपि ये परीक्षा न दे सके थे। १६०० ई० में रियासत आवागढ़ में इन्हें नौकरी मिली; परन्तु अस्वास्थ्य के कारण उसे छोड़ कर ये काशी चले आये। उसके बाद अयोध्यानरेश महाराज प्रतापनारायणसिंह के प्राइवेट सेक्रेटरी हुए और १६०६ तक रहे। महाराज की मृत्यु के बाद महारानी के सेक्रेटरी अन्त तक रहे। पहले रत्नाकर जी उर्दू में रचना करते थे; परन्तु बाद में हिन्दी के क्षेत्र में आये और यहाँ तक बढ़े कि व्रजभाषा के ये सर्वश्रेष्ठ आधुनिक कवि माने जाते हैं। इनके छन्द सेनापति, देव, मतिराम और पद्माकर से टक्कर लेते हैं। रत्नाकर जी सदा रईसी ठाठ से रहते थे और बड़े ही हँसमुख एवं मिलनसार थे। इनके रचे ग्रंथ दो संग्रहों में छप चुके हैं उनके नाम ये हैं—हिंडोला, समालोचनादर्श, साहित्य रत्नाकर, घनाक्षरी नियम रत्नाकर, हरिश्चन्द्र, गंगावतरण, शृङ्गारलहरी, गंगा विष्णु लहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक, कलकाशी और उद्धव शतक। इन्होंने चन्द्रशेखर कृत हम्मीर हठ, कृपाराम की हिततरंगिणी और दूलह कवि के कंठाभरण का संपादन तथा बिहारी सतसई की टीका की। इनका शरीरपात २१ जून १६३२ को हरद्वार में हुआ।

रत्नाकर जी का व्रजभाषा पर विलक्षण अधिकार था। भाषा भाव और कल्पना तीनों का रमणीय सामंजस्य इनकी रचना में मिलता है। भाव के अनुकूल इनकी भाषा विलक्षण ओजपूर्ण गति से चलती है। उद्धवशतक और गंगावतरण इनकी उत्कृष्ट रचनाये हैं। उदाहरण—

बोधि बुधि विधि के कमंडल उठावत हीं,
धाक सुरधुनि की धंसी यौं घटघट मैं।
कहै 'रतनाकर' सुरासुर ससंक सबै,
बिबस बिलोकत लिखे से चित्रपट मैं।
लोकपाल दौरन दसौं दिसि हहरि लागे,
हरि लागे, हेरन सुपात बर बट मैं।
खसन गिरीस लागे त्रसन नदीस लागे,
ईस लागे कसन फनीस कटि तट मैं ॥१॥
लैकै उपदेस औ सँदेसमय ऊधौ चले,
सुजस कमाइबैं उछाह-उद्गार मैं।
कहैं 'रतनाकर' निहारि कान्ह कातर पै,
आतुर भये यों रह्यो मन न सँभार मैं।

ज्ञान गठरी की गाँठि छरकि न जान्यो कब,
हरैं हरैं पूँजी सब सरकि कछार मैं।
डार मैं तमालनि की कछु बिरमानी अरु,
कछु उरभानी है करीरनि की भार मैं ॥२॥
प्रेम मद छाके पग परत कहाँ के कहाँ
थाके अंग नैननि शिथिलता सुहाई है।
कहै 'रतनाकर' यौं आवत चकात ऊधौ,
मानो सुधियात कोऊ भावना भुलाई है।
धारत धरा पै ना उदार अति आदर सौं,
सारत बँहोलिनि जो आँस अधिकाई है।
एक कर राजै नवनीत जसुदा को दियौ,
एक कर बंसी बर राधिका पठाई है ॥३॥
बिरह ब्यथा की कथा अकथ अथाह महा,
कहत बनै न जो प्रवीन सुकवीन सों।
कहै 'रतनाकर' बुभावन लगे ज्यों कान्ह,
ऊधौ को कहन हेत ब्रज जुवतीन सों।
गहवरि आयो गरो भभरि अचानक त्यों,
प्रेम परयो चपल चुचाइ पुतरीन सों।
नैकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सों,
रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीन सों ॥४॥

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'—पूर्ण जी के पिता का नाम राय वंशीधर था और वे जबलपुर में वकालत करते थे। वहीं पर 'पूर्ण' जी का जन्म सन् १८६८ ई० में हुआ था। इनके परिवार के सभी लोग सुशिक्षित थे। बादशाही समय में इन्हें राय की पदवी मिली थी। थे लोग कानपुर जिले के भदरस नामक ग्राम में रहने लगे थे। 'पूर्ण' जी बचपन ही से कला के उपासक और संगीत के प्रेमी थे। इन्होंने हाईकोर्ट वकील की ट्रेनिंग प्राप्त कर कानपुर में वकालत करना आरंभ किया था और थोड़े ही समय में कानपुर के साहित्यिक और नागरिक जीवन में ये अग्रणी हो गये। ये सन् १९१५ में गोरखपुर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए थे। कानपुर 'रसिक समाज' के बड़े कार्यशील सदस्य थे। पूर्ण जी आशुकवि थे और अधिकांश में व्रजभाषा में कविता करते थे। समस्या-पूर्तियाँ भी ये बड़ी ही सुन्दर करते थे तथा सार्वजनिक कार्यों में इनका बड़ा हाथ रहता था। ये बड़े विद्वान थे। एक

बार इन्होंने कचहरी में अपनी पूरी बहस पद्य में की थी। लंदन की रायल एशियाटिक सोसायटी के ये सदस्य थे। इन्होंने कालिदास के 'मेघदूत' का व्रजभाषा में ललित अनुवाद किया था। इनका चन्द्रकला भानुकुमार नाटक अत्यंत प्रसिद्ध है। इनकी रचनायें 'पूर्ण संग्रह' नाम से प्रकाशित हुई थीं। सीधी साधी शब्दावली में प्रवाह डालने वाली इनकी कविता होती थी। पूर्ण जी का देहावसान् ३० जून सन् १६१५ ई० में हुआ। इनकी रचना में व्रजभाषा का प्रयोग होते हुए भी नव्य भावनाओं और दृश्यों का चित्रण हुआ है। अतः ये परंपरा की दृष्टि से नवीन हैं, यद्यपि व्रजभाषा में ही इन्होंने अधिक लिखा है। उदाहरण—

सुखद सीतल सुचि सुगंधित पवन लागी बहन।
सलिल बरसन लगी बसुधा लगी सुषमा लहन।
लहलही लहरान लागी सुमन बेली मृदुल।
हरित कुसुमित लगे झूमन वृच्छ मंजुल विपुल ॥१॥
नील नीरद सुभग सुरधनु बलित सोभाधाम।
लसत मनु बनमाल धारे ललित श्री घनश्याम।
कूप-कुंड गँभीर सरवर नीर लाग्यो भरन।
नदी नद उफनान लागे लगे झरना झरन ॥२॥

लक्ष्मी दीजै लोक में मान दीजै। विद्या दीजै सभ्य सन्तान दीजै।
हे हे स्वामी प्रार्थना कान कीजै। कीजै कीजै देश-कल्याण कीजै ॥३॥

ऊपर प्रकृति के सुन्दर चित्र और देश-प्रेम की भावना प्रकट करने वाले छन्द दिये गये हैं। उनकी दो एक व्यंग्यपूर्ण अन्योक्तियों का नमूना द्रष्टव्य है—

कोल्हू को कठिन भार काठ औ कबार तापै,
कांधै पै सँभार धायो तिन भुस खाय खाय।
सूधो चलतो तौ होती मंजिलें विपुल पार,
नन्दीपुर जाय हरखातो सुख पाय पाय।
होनहार नाहीं इन तिलन में तेल नेक,
'पूरन' सचेत होहु चित हित लाय लाय।
अजहूँ चखन खोलि सोच तौ अनारी भला,
केती गैल काटी बैल रातौ दिन धाय धाय ॥४॥

चल ना करत काठ दल है कसार सारी,
गिनती गिनन ही को साथी ये घनेरे हैं।

देखि कै चढ़ाई आगे पीछे को करत खींच,
जानि कै उतार बृथा ठेलत करेरे हैं।
इंजन सबल वीर धूम सौं कहत बात,
एक तौ विघन मग माँहि बहुतेरे हैं।
तापै ये अलाल बिन बूझ बिन सूझ वारे,
डब्बे मुरदार यार पीछे परे मरे हैं ॥५॥

ब्रजभाषा काव्य रचने वाले इस समय के भी बहुत से कवि हैं। खड़ी बोली के काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर भी ब्रजभाषा से ही अधिकांश कवि काव्य लिखना प्रारंभ करते थे। अतः थोड़ा बहुत ब्रजभाषा काव्य अन्य बहुत से कवियों ने भी किया, जिनका विवरण देना कठिन है। उल्लेखनीय नामों में सैय्यद अमीर अली मीर, कन्हैयालाल पोद्दार, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, मिश्रबंधु, रामदास गौड़, माधव शुक्ल, रामचन्द्र शुक्ल, शिवाधार पांडेय, जयशंकर प्रसाद, अनूप शर्मा, रामनाथ जोतिसी (अयोध्या के राजकवि), बचनेश, राधेश्याम, साहेबसिंह भटनागर (प्रेम अभिलाष प्रबंध के लेखक), बलदेवप्रसाद मिश्र (काशी), रामशंकर शुक्ल 'रसाल', रामचन्द्र शुक्ल 'सरस', डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, ब्रजचन्द, बचनेश, (फरुखाबाद), नूतन (मौरावाँ), राय राजेश्वर बली, कृष्णदेव प्रसाद 'बेढब', दुलारे लाल, राय कृष्णदास, अमृत लाल चतुर्वेदी, किशोरचन्द्र कपूर, त्रिभुवननाथ 'सरोज', जानकीनाथ सिंह 'मनोज', 'गिरीश' 'फलके' हृदयनारायण पांडेय 'हृदयेश', देवीप्रसाद जी शुक्ल 'प्रणयेश', हरि नारायण जी गौड़ 'हरिजू', सत्यनारायण पांडेय, राजेश दयाल 'राजेश' आदि हैं। यहाँ पर हम कुछ अधिक प्रसिद्ध कवियों का विवरण दे कर यह प्रसंग समाप्त करेंगे। इन कवियों के अतिरिक्त भी अन्य कवि हैं जिन्होंने ब्रजभाषा में रचना की है या अब भी कर रहे हैं। इनमें कुछ ने तो अनेक ललित सुन्दर और महत्त्वपूर्ण कृतियों का निर्माण किया है। आधुनिक समस्त ब्रजभाषा काव्य के साथ तभी न्याय किया जा सकता है, जब इसपर अलग से लिखा जाय। पूरे साहित्य के इतिहास की सीमाओं से बँधे होने के कारण पूर्ण विवरण देना कठिन है। इन कवियों में अधिक प्रख्यात दो तीन कवियों का यहाँ पर परिचय दिया जाता है।

सत्यनारायण 'कविरत्न'—सत्यनारायण 'कविरत्न' का जन्म अलीगढ़ के सनाढ्य ब्राह्मण-परिवार में सन् १८८४ ई० में हुआ था। इनके माता-पिता का स्वर्गवास बचपन ही में हो गया था, अतः मौसी के यहाँ इनका पालन-पोषण हुआ। मौसी के यहाँ ये बड़े प्यार से रहे, परन्तु मौसी भी शीघ्र

अब न सतावौ ।
करुणाघन इन नैननि सों द्वै बुँदिया तो टपकावौ ।
सारे जग सों अधिक कियो का ऐसो हमने पाप ।
नित नव दई निर्दई बनि जो देत हनैं सन्ताप ।।
साँची तुमहिं सुनावत जो हम, चौंकत सकल समाज ।
अपनी जाँघ उघारे उघरति, बस अपनी ही लाज ।।
तुम आछे हम बुरे सही बस, हमरो ही अपराध ।
करनो हो सों अजहूँ कीजै, लीजै पुन्य अगाध ।।
होरी सी जातीय प्रेम की, फूँकि न धूरि उड़ावौ ।
जुग कर जोरि यही 'सत' माँगत, अलग न आर लगावौ ।।

वियोगी हरि—'वियोगी हरि' का वास्तविक नाम पंडित हरिप्रसाद द्विवेदी है। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण और बुन्देलखंड के छतरपुर राज्य के निवासी हैं। इनके पिता का नाम पंडित बलदेवप्रसाद द्विवेदी था। इनका जन्म सन् १८९६ ई० में रामनवमी के दिन हुआ था। छह महीने बाद ही इनके पिता का देहान्त हो गया अतः इनका पालन-पोषण ननिहाल में हुआ। वहीं इन्होंने शिक्षा पाई। ७ वर्ष की आयु में इन्होंने एक कुंडलिया बनाई थी और बचपन से ही ये विनयपत्रिका और श्रीमद्भागवत के भक्त थे। इन्होंने मैट्रिक की परीक्षा पास की तब से इनका संपर्क दर्शन शास्त्र से हुआ। ये बचपन ही से एकान्तप्रिय हैं। छतरपुर महाराज की धर्मपत्नी स्व० जुगल प्रिया इन्हें पुत्रवत् प्यार करती थीं। वे माध्व-संप्रदाय की कृष्णभक्त थीं। उनके प्रभाव ने इन्हें भी कृष्णभक्त बनाया। १८ वर्ष की आयु में इन्होंने प्रेम विषय को ले कर चार पुस्तकें—प्रेमशतक, प्रेमपथिक, प्रेमांजलि, प्रेम परिषद—लिखीं। इन्होंने बहुत आग्रह करने पर भी विवाह नहीं किया। ये भारत के अनेक तीर्थस्थानों में घूमे हैं और सूर सागर, ब्रजमाधुरी सार, सन्त काव्यधारा आदि का संपादन इन्होंने किया है। 'सम्मेलन पत्रिका' का भी चार वर्ष तक वियोगी हरि ने संपादन किया। इनकी रचनायें निम्नलिखित हैं जो प्रेम, भक्ति, राष्ट्रीयता, बालजीवन से संबंध रखती हैं—छद्मयोगिनी, साहित्य विहार, कवि कर्तन, अनुराग वाटिका, वीर हरदौल, मेवाड़ केशरी, चरखा-स्तोत्र, गाँधीजी का आदर्श, चरखे की गूँज, वीरवाणी, गुरु पुष्पांजलि, बीर सतसई आदि। इनकी कुल मिलाकर ४० कृतियाँ होंगी। वियोगीहरिजी ने गद्यगीत भी सुन्दर लिखे हैं। सन् १९३४ के बाद से ये देश-सेवा के कार्यों में संलग्न हैं। १९३९ से इन्होंने हरिजन-सेवा का व्रत लिया और काम करते

रहे। आजकल गांधी-स्मारक निधि, भूदान-आन्दोलन और भारत-सेवा-समाज से संबंधित इनका कार्य चल रहा है। ये एक तपस्वी साहित्यिक, भक्त एवं देशभक्त हैं। इनकी रचना सरस एवं ललित है। ये ब्रजभाषा के प्रेमी हैं। रचनाओं के कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

ब्रजबानी पद माधुरी, मधु-सानी रसलीन।
बिधि-रानी गावति अजौं, जासु गुननि लै बीन॥
जापै तृन लौं वारिये, राग विराग सुहाग।
बड़े भाग तें पाइये, सो अगाध अनुराग॥
लखि जिनके मजबूत भुज, काँपत हैं जमदूत।
भारत भू ते उठि गये, वै बाँके रजपूत॥
पावस ही मैं धनुष अब, सरित तीर ही तीर।
रोदन ही मैं लाल दृग, नौ रस ही मैं वीर॥

मों बौरी के ढिंग मति बैठै।
हौं तौ बैठी ही अपने रंग, या गृह तू मति पैठै।
कैसी लोक-लाज कुल कैसो, कहा निगम की बानी।
भ्रमरी ह्वै हरि वदन कमल पै, घूमत फिरत दिवानी।
मो अँखियन गड़ि गई गँसीली, पिय चितवनि अनियारी।
किरकिरात पै नैन तिहारे, या मति पै बलिहारी॥
आई कहा निकासन उर तें, काँटो अरी हठीली।
चुभ्यो रहन दै लागति बाकी, मीठी कसक चुभीली॥
लागी लगन नाँय छूटेगी, भई स्याम की दासी।
नेमसिंधु तजि प्रेम-बुंद की, हौं चातकी पियासी॥

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'—'सनेही' जी कानपुर के मंडलीक कवियों में से हैं। कवित्त-सवैया छन्द को आधुनिक युग में चमकाने वाली कवि-मंडली के आप गुरु हैं और सचमुच 'सनेही' जी की कृपा जिस कवि पर हो गई, वह इस शैली को सिद्ध ही करके मानता है। सनेही जी ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही में प्रवाहपूर्वक लिखने वाले कवियों में हैं। उक्ति का अनूठापन, शब्द-प्रयोग का चमत्कार, छन्द की बँधी हुई गति और कल्पना की रूपसर्जिनी विशेषता इनके काव्य की विशेषतायें हैं। 'सनेही' जी का जन्म उन्नाव जिले के हड़हा नामक ग्राम में सन् १८८३ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम अवसेरी लाल शुक्ल था। सनेही जी की बाल्यावस्था में ही पिता स्वर्गवासी हो गये थे। हिन्दी-उर्दू ले कर इन्होंने मिडिल परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इन्होंने

फ़ारसी-उर्दू का विशेष अध्ययन किया। ये मिडिल स्कूल के मास्टर हुए, तब ये उर्दू में रचनायें करते थे। बाद में हिन्दी कविता के क्षेत्र में आये। इनकी 'कृषक क्रन्दन' नामक रचना सबसे पहले 'प्रताप' में छपी। उसे लोगों ने बहुत पसन्द किया। इधर द्विवेदी जी का भी ध्यान खिंचा और इस प्रकार १९१४ ई० से ये सरस्वती में लिखने लगे। 'शंकर' के समय में ही सनेही जी की कविता की ख्याति हो चुकी थी। 'सनेही' जी समस्यापूर्ति में बड़े ही पटु थे। इसके बाद इन्होंने नौकरी छोड़ साहित्य-सेवा का व्रत लिया और 'सुकवि' का संपादन करने लगे। सुकवि पत्र को सनेही जी ने अपना विशिष्ट रूप प्रदान किया और काफी दिनों तक संपादन करते रहे। अपने युग की समस्या-पूर्ति तथा कवित्त-सवैया काव्य का यह अनुपम पत्र है। अब सनेही जी वयोवृद्ध हो कर अपने गाँव में ही रहते हैं, फिर भी वे बड़े बड़े कवियों और लेखकों को प्रेरणा देते रहते हैं। उनकी मंडली उनके मार्ग पर अब भी गतिशील है। ये 'सनेही' और 'त्रिशूल' दो उपनामों से कविता करते हैं। 'अनूप' और 'हितैषी' इनके ही शिष्य हैं जो आधुनिक खड़ी बोली काव्य में अपना विशिष्ट महत्त्व प्राप्त कर चुके हैं।

कुछ रचनायें ये हैं—

नारी गही बैद सोऊ बनिगो अनारी सखि,
जानै कौन व्याधि यहि गहि गहि जाति है।
कान्ह कहें चौंकति बकति चकराति लखि,
धीरज की भीति हाय ढहि ढहि जाति है।
सही सहि जाति नाहिं, कही कहि जाति नाहिं,
कछू को कछू 'सनेही' कहि कहि जाति है।
बहि बहि जात नेह, दहि दहि जात देह,
रहि रहि जात प्रान, रहि रहि जात हैं।

जैसे वे हैं नंद वसुदेव के सझैले सुत, वैसे वह दासी नीच नाइन निकाम है।
जैसे वे 'सनेही' हैं त्रिभंगी रसरंगी बने, वैसे वाके कूबर कमर पै ललाम है।
जैसे वे हैं रीझत सरस रस रंगनि मैं वैसे वह जानत रिझैबो अभिराम है।
नीके रहैं दोऊ हम कोऊ न कहैंगी कछु, पीत पट वारे सों हमारो कौन काम है॥२॥

दर्पन मैं हिय के वह मूरति, आय बसी न चलीं ततबीरैं।
सो ह्वै टूटूक 'सनेही' गयो, वै परी विरहागिनि ताप की भीरैं।
दोउन मैं प्रतिबिंबित ह्वै करि, दूनी लगी उपजावनि पीरैं।
सालति एकै रही उर में अब, एक ते ह्वै गईं द्वै तसवीरैं॥३॥

बंस की ह्वै कै छुड़ावति बंस ही, तीर सी ह्वै हनै बीर सी तानैं।
बेधी गई तऊ बेध की बेदना बूझै न, बेधति खेद न आनै।
सूखि गयी, हरियारी तऊ रही, ह्वै कै हरी है सुखावति प्रानै।
पीवै सुधा अधरामृत पै बरै, बाँसुरिया बिष बोइबो जानै ॥४॥
भूले गोप गैया, नँदरैया, जसुमति मैया,
मधुपुर माँहि पायी ऐसी मधुप्याली है।
माखन न दीन्हों उन्हैं माखन न दीन्हों कब,
तूरि नेह नात उन धूरि मुख डाली है।
कल-कल हंसिनी बिहाय ब्रजबारिन को,
कुबरी कुटिल काकपाली एक पा ली है।
प्रीति ही निराली, राह-नीति ही निराली आली,
देखी नटनागर की नीति ही निराली है ॥५॥

ख. अवधी-काव्य-धारा

अवधी काव्यधारा का पूर्ववर्ती रूप हमें प्रेमाख्यान या प्रबंधकाव्यों की ठेठ अवधी में देखने को मिलता है अथवा बरवै छन्दों के रूप में। प्रबंधकाव्यों का अपना महत्त्व है, पर जो प्रांजलता एवं साहित्यिक विशेषता 'मानस' ने भाषा के क्षेत्र में उपलब्ध की थी, वह इन प्रेमाख्यान काव्यों ने नहीं की। उनमें लोकभाषा का ही रूप देखने को मिलता है। बरवै छन्दों में अधिकांश नायिकाभेद या रीति काव्य लिखा गया। परन्तु इने-गिने कवियों ने ही इस क्षेत्र में अवधी भाषा का प्रयोग किया। सन्तकाव्य भी कुछ अवधी भाषा में हैं जैसे मलूकदास, चरणदास, रामरूप, पलटू आदि की बानियों में अवधी काव्य के कुछ उदाहरण मिलते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन कवियों ने अवधी भाषा के साहित्यिक रूप के विकास में कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं दिया। विशेष प्रकार का काव्य ही इस भाषा में लिखा जाता रहा। जो परंपरा गोस्वामी जी ने चलाई थी, वह भाषा की दृष्टि से आगे न बढ़ सकी। अतः अन्तरप्रान्तीय साहित्यिक भाषा के रूप में रीति युग में ब्रजभाषा का ही विस्तार हुआ। जैसा कि अभी ब्रजभाषा-काव्य-धारा के अध्ययन से प्रकट हुआ है कि इसमें आधुनिक युग में उत्कृष्ट काव्य की रचना हुई है और ब्रजभाषा-खड़ी बोली का वादविवाद भी चलता रहा है, वह बात अवधी के साथ नहीं आ सकी। उसका कारण यही जान पड़ता है कि उसका प्रयोग क्षेत्रीय विशेषताओं को ले कर होता रहा है जिससे उसे व्यापकता प्राप्त न हो पायी। अवधी के क्षेत्र के अनेक

कवियों ने व्रजभाषा में लिखा और सुन्दर व्रजभाषा काव्य की सृष्टि की। भिखारीदास, द्विजदेव, प्रतापनारायणसिंह, भारतेन्दु, हरिऔध, रत्नाकर, सनेही आदि के नाम इस संबंध में लिये जा सकते हैं।

भाषा में प्रांजलता का विकास तभी होता है जब कि उत्कृष्ट प्रतिभायें उस भाषा का प्रयोग करती हैं और विविध प्रयोग होते हैं। तुलसी और जायसी की प्रबंध-काव्य-धारा को छोड़ कर अन्य क्षेत्रों में और इनके बाद विशेष निष्ठा के साथ इस भाषा का प्रयोग युग के किसी प्रतिभा-संपन्न कवि ने नहीं किया अतएव अवधी का काव्य उतना विस्तृत नहीं हुआ। लोकगीतों और लोक-छन्दों में कुछ कवियों ने अवश्य अवधी भाषा का प्रयोग किया है, परन्तु वह गौणतः है। इधर आधुनिक युग में क्षेत्रीय भाषा के काव्य को तब से प्रोत्साहन मिला, जब से हमारे लोक-साहित्य का उद्धार हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि अवधी का लोकसाहित्य बड़ा ही समृद्ध है। आकाशवाणी के क्षेत्रीय कार्यक्रमों को इस नवीन जागृति का विशेष श्रेय है जिससे कि लोकगीत और लोकसाहित्य की रचना को एक नूतन प्रेरणा प्राप्त हुई है। यहाँ पर हम अवधी काव्यधारा का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र काव्य की सहज प्रतिभा से संपन्न थे। अतएव उनकी वाणी से भाषा-साहित्य की समस्त परम्पराओं का काव्य अपने प्रकृत रूप में प्रस्फुटित होता था। खड़ी बोली को वे अंगीकार न कर पाये, पर जो लिखा वह सुन्दर लिखा। व्रजभाषा में तो उनमें सूर, बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर, सभी की विशेषताओं के दर्शन होते हैं। अपने हास्य-विनोद अथवा व्यंग्यपूर्ण काव्य में उन्होंने लोक-प्रचलित गीतों की शैली पर भी लिखा था। होली, कजरी, लावनी, भजन बिल्कुल लोक-प्रचलित रूपों में लिखे। इनमें अवधी भाषा का प्रयोग किया गया है। एक पद उदाहरण के लिए यहाँ दिया जाता है—

काहे तू चौका लगाये जयचँदवा।
अपने स्वारथ भूलि लुभाये, काहे चोटीकटवा बोलाये, जयचँदवा।
अपने हाथ से अपने कुल कै, काहे ते जड़वा कटाये, जयचँदवा॥
फूट कै फल सब भारत बोये, बैरी कै राह खुलाये, जयचँदवा।
औरो नासि तैं आपौ बिलाने, निज मुँह कजरी पोताये जयचंदवा॥

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के भावों का लोकशैली में रखने के कारण बहुत अधिक प्रचार हुआ।

'प्रेमघन'—'प्रेमघन' ने भी लगभग भरतेन्दु की ही परम्परा अपनायी

और उनके अनेक छन्द, कजली, होली आदि इसी लोक-भाषा में हैं। अवधी में लिखा हुआ उनका एक पद यहाँ दिया जाता है। इस प्रकार के पद स्त्रियाँ प्रायः ढोलक पर लटके में गाती हैं—

सोहै न तोकै पतलून साँवर गोरवा।
कोट बूट जाकेट कमीच क्यों पहिरि बने बैबून साँवर गोरवा।
काली सूरत पर काला कपड़ा देत किये रँग दून साँवर गोरवा।
अंगरेजी कपड़ा छोड़ह कितौ ल्याय लगावह मुँहे चून साँवर गोरवा।
दाढ़ी राखि कै बार कटावत और बढ़ाये नाखून साँवर गोरवा।
चलत चाल बिगरैल घोड़ सम बोलत जैसे मजनून साँवर गोरवा।
चन्दन तजि मुँह ऊपर साबुन काहे मलह दुऔ जून साँवर गोरवा।
चूसह चुरुट लाख पर लागत पान बिना मुँह सून साँवर गोरवा॥
अच्छर चारि पढ़ेह अंगरेजी बनि गये अफलातून साँवर गोरवा।
मिलहिं मेम तोहें कैसे जेकर 'फ़ेयर फ़ेस लाइक दी मून' साँवर गोरवा॥
बिसकुट केक कहाँ तू पैब्या चाभह चना भले भून साँवर गोरवा।
डियर प्रेमघन हियर दयाकर गीत न गावो लेम्पबून साँवर गोरवा॥

प्रतापनारायण मिश्र—मिश्र जी तो विनोदी तबीयत के व्यक्ति ही थे। हास्य-विनोद-पूर्ण रचनायें इन्होंने खूब लिखी हैं। इनकी रचनाओं में सामयिक रंग का चटकीलापन खूब है। 'ब्राह्मण' पत्र के ग्राहक जब अपना चन्दा न भेजते थे और आठ महीने हो जाते थे तो उस समय टोली बना कर गानेवालों की शैली की नकल पर एक गीत उन्होंने यह लिखा था—

आठ मास बीते जजमान। अब तौ करौ दच्छिना दान, हरगंगा।
काशी पुन्नि गया माँ पुन्नि। बाबा बैजनाथ माँ पुन्नि, हरगंगा॥
आजु काल्हि जो रुपया देव। मानौ कोटि जज्ञ करि लेव, हरगंगा।
माँगत हमका लागै लाज। पर रुपया बिन चलै न काज, हरगंगा॥
जो कहुँ द्याहौ बहुत खिझाय। या कौनिउ भलमंसी आय, हरगंगा।
'ब्राह्मण' का तुम रुपया देव। दूध पूत सब हमसे लेव, हरगंगा॥

मिश्र जी ने 'आल्हा' भी अवधी में लिखा है जो 'गाय' पर है। इनका एक बड़ा ही रोचक छन्द 'बुढ़ापा' पर है।

हाय बुढ़ापा तोरे मारे अब तौ हम नकन्याय गयेन।
करत धरत कछु बनतै नाहीं, कहाँ जान औ कइस करन॥
छिन भरि चटक छिनै माँ मद्धिम जस बुझात खन होय दिया।
तैसे निखउख देखि परत हैं हमरी अक्किल के लच्छन॥१॥

अस कुछ उतरि जात है जी ते बाजी बेरियाँ बाजी बात ।
कैसेहू सुधि नहिं आवति है मूड़ै काहे न दइ मारन ॥
कहा चहौं कुछु निकरत कुछु है, जीभ राँड़ का है यहु हाल ।
कोऊ यहिकै बात न समझै चाहै बीसन दाँय कहन ॥२॥
डाढ़ी नाक याक माँ मिलिगै बिन दाँतन मुँह अस पोपलान ।
ठोढ़ी पर बहि बहि आवति है, कबौं तमाखू जो फाँकन ॥
बार पाकिगे रीरौ झुकिगै, मूड़ौ डगमग हालै लाग ।
हाथ पाँव कुछु रहै न आपन, केहि के आगे दुखु रवावन ॥३॥
येही लकुटिया के बूते अब जस तस डोलित डालित है ।
जेहि का लैकै सब कामेन माँ सदा खखारत फिरत रहेन ॥
जियत रहैं महराज सदा जो हम ऐसेन का पालत हैं ।
नाहीं तौ अब को धौं पूँछै केहि के कौने काम के हन ॥४॥

शिवसम्पत्ति शर्मा—शिवसंपत्ति सुजान शर्मा का जन्म आजमगढ़ के उदियाँव गाँव में सन् १८६३ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम रघुवीर शर्मा था। ये भूमिहार ब्राह्मण थे। संस्कृत, हिन्दी, फ़ारसी के ज्ञाता थे और अध्यापक थे। ये बड़े उत्साही और साहित्य-प्रेमी व्यक्ति थे। निस्पृहता और उच्च विचारों के कारण ये जहाँ भी रहे वहाँ के लोग इनकी प्रशंसा करते हैं। इन्होंने लगभग ४० पुस्तकों की रचना की जो अवधी और व्रजभाषाओं में हैं। पुस्तकों के नाम हैं—शिक्षावली, सुजानशतक, नीतिशतक, शिवसंपत्ति सर्वस्व, नीति चन्द्रिका, आर्यधर्म चंद्रिका, वसन्त चंद्रिका, चौताल चंद्रिका, सभामोहनी, यौवन चन्द्रिका, जौनपुर जलप्रवाह विलाप, मनमोहनी, पचरा प्रकाश, भारत विलाप, प्रेमप्रकाश, व्रजचन्द्र विलास, प्रयाग प्रपंच, सावन-विरह-विलाप, राधिका उराहनो, ऋतु विनोद, कजली चंद्रिका, स्वर्णकुँवरि विनय, शिवसंपत्ति विजय, ऋतु संहार, शिवसंपत्ति साठा, प्राण पियारी, कलिकाल कौतुक, उपाध्यायी उपद्रव, चित्त चुरावनी, स्वार्थी संसार, नये बाबू, पुरानी लकीर के फकीर, शतमूर्ख प्रकाशिका, भूमिहार-भूसुर-भूषण, कलियुगोपकार ब्रह्महत्या, रामनारायण स्तोत्र, दिल्ली दरबार, ब्रिटिश विजय, गोरखधंधा, संसार स्वप्न। इनकी रचना भावगर्भित है। इसमें संसारिक अनुभव एवं नीति शिक्षा भी रहती है और हास्य व्यंग्य भी। उपर्युक्त रचनाओं में कुछ अवधी की हैं शेष व्रजभाषा की। पचरा प्रकाश की अवधी का नमूना देखिये। लोकगीत की छटा छिटक रही है—

छैला जिनि करु दे हियाँ के गुमनवाँ ना।
यामे नली नली सब जोरी, देखत हौ जो काली गोरी।

पाँचो तत्त्वन थोरी थोरी, ब्रह्मा करिके मिश्रित, बिरचे जिय भवनवा ना ॥
जब लौं चाहे तब लों बोलै, जग में चारिहु ओरन डोलै।
करि बहु भाँति विनोद कलोलै, चाहै जब करै छोड़ि के गवनवा ना ॥
कोऊ जग में काम न आवै, बितहित सबै सनेह लगावै।
निरधन लखि नहिं पास बिठावै, एइसे इहि दुनिया के इनसनवा ना ॥
भज ले ब्रह्म सनातन प्यारे, रहना विषय भोग से न्यारे।
श्री शिवसंपति हितू हमारे, खाली चारिहु वेद के कहनवाँ ना ॥

महावीरप्रसाद द्विवेदी—पंडित महावीरप्रसाद जी का विशेष परिचय गद्य के प्रसंग में दिया जायेगा। ये युगप्रवर्त्तक हिन्दी के आचार्य थे जिनकी छत्रच्छाया में हिन्दी तुतली बोली से बढ़ कर प्रौढ़ भाषा के रूप में विकसित हुई। द्विवेदीजी ने खड़ी बोली हिन्दी को ही प्रोत्साहित किया। ये खड़ी बोली में ही रचना करते थे, फिर भी इनकी कुछ रचनायें अवधी की भी हैं। "सरगौ नरक ठिकाना नाँहि" नामक आल्हा अवधी में ही है जिसकी कुछ पंक्तियाँ ये हैं—(इनमें कल्लू अल्हैत की जीवनी है)—

देवि सारदा तुमका सँवरौ मनियाँ देव महोबे क्यार।
तुमहीं रच्छक हौ सब जग के बेड़ा खेइ लगायौ पार ॥
आपन कथा सुनावौं तुमका सुनिये ज्वानौ कान लगाय।
जब सुधि आवै उन बातन का जियरा कलपि कलपि रहि जाय ॥१॥
एक्का एकु पढ़ै हम लागेन परै लागि नित हम पै मारु।
छिन छिन मैंहाँ लाला डौंकैं कलुवा आपन हाथ निकारु।
छड़ी तड़ातड़ हम पै बरसै लागीं नित कम से कम बीस।
अटई डंडा तऊ न छवाँड़ा भैया अस हम रहेन खबीस ॥२॥
परेन प्याँच माँ ज़ेर जबर के हालि हालि लागेन अभुआय।
घर माँ जानै पढ़ै फारसी चिलमैं भरत दिनौं ना जाँय।
पढ़ा करीमा अहमदनामा खालिकबारी बारा दाँय।
दस्तूरुस्सुबियाँ पढ़ि डारा जिनके पढ़े पितर तरि जाँय ॥३॥
यहू के आगे और बढ़ेन हम पढ़ी किताबैं हम छा सात।
मनु तो रहै अरब माँ अरबी पढ़ी जाय पै बदे कै बात।
घर माँ कहै लाग सब कोऊ कल्लू बन्द करहु यहु खेलु।
बहुत पारसी जो तुम पढ़िहौ तुम्हैं परी व्याचैं का तेलु ॥४॥
भैंसि भवानी कै तब सेवा लागेन करै पढ़ब गा छूटि।
बहुवन दूध दुहा इन हाथन धार न कबहूँ दुहत माँ टूटि।

मोटरिन कटिया भुथरा सानी कीन रोजु हम बाँह चढ़ाय।
मस्त भयेन तब आल्हा गावा उपर दुहत्था हाथु उठाय ॥५॥

रामचरित उपाध्याय—उपाध्याय जी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनका जन्म सन् १८७२ ई० में गाज़ीपुर में हुआ था। इनके पिता पंडित रामप्रपन्न एक विद्वान् पंडित थे। उन्होंने इन्हें व्याकरण पढ़ाया। अनेक स्थानों पर रहने के बाद जब पिता का स्वर्गवास हो गया, तब ये काशी में पढ़ने लगे और विद्या प्राप्त की। अपने गुरु की आज्ञा से इटावे में एक रईस के पुत्र को पढ़ाने के लिये रहे। फिर काशी आये और आचार्य की परीक्षा पास की। उपाध्यायजी में पंडित रामचरित त्रिपाठी के संपर्क से काव्य-रचना की अभिरुचि जागी और ये होली, कजली, चैती आदि लिखने लगे। फिर इन्होंने विजयी वसन्त, श्रावणश्रृंगार, सुधाशतक, रामचरितावली, बरवा चौसई, सतसई आदि की रचना अवधी और व्रजभाषा में की। सन् १९०६ के बाद इन्होंने खड़ी बोली में लिखना प्रारंभ किया और सूक्ति मुक्तावली, राष्ट्र-भारती, देवदूत, देवसभा, रामचरितचंद्रिका, रामचरितचिंतामणि, देवी द्रौपदी, उपदेश रत्नमाला, भारतभक्ति, मेघदूत, सत्य हरिश्चन्द्र, विचित्र विवाह, अंजना, सुन्दरीसिन्दूर आदि खड़ी बोली में लिखा। उपाध्यायजी की ख्याति रामचरितचिंतामणि से विशेष है परन्तु इन्होंने कजली आदि तथा बरवा चौसई अवधि में लिखीं। उदाहरण—

सुधा सुधा मधु मधु विधु, वसुधा माँहि।
सुजन संग सम सपनेहु, सुखप्रद नाँहि॥
धरे एक कर मुरली, गिरि कर एक।
हँसत नचहु मम नैनन, स्याम छिनेक॥
करु सखि दूर अँगेठिया, हिम भय नाँहि।
धधकति काम अगिनिया, नित हिय माँहि॥
बड़वानल सम रविजा छबि, होइ जाति।
पूस प्रात जब बिरहिन, अहकि नहात॥
नहिं बिनवत नहिं मनवत जपत न नाम।
प्रेम नेम मम केवल निरखहु राम॥

शिवरत्न शुक्ल 'सिरस'—बछरावाँ जिला रायबरेली निवासी पंडित शिवरत्न शुक्ल 'सिरस' भी एक समर्थ साहित्यकार हैं। इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की जिनकी भाषा व्रजभाषा है। इनकी व्रजभाषा में भी अवधी का पुट मिलता है जो अवधी क्षेत्र में निवास करने के कारण स्वाभाविक ही है। परन्तु

इनके ग्रंथ परिहास-प्रमोद और नीतिसतसई बैसवाड़ी अवधी में लिखे गये हैं। ब्रजभाषा में इन्होंने श्री रामावतार, प्रभु चरित्र, आर्यसनातनी संवाद, भरतभक्ति (प्रबंध) आदि ग्रंथ लिखे हैं। राम तिलकोत्सव (प्रबंध) की खड़ी बोली में रचना की और इस प्रकार ये रामकाव्यधारा के कवि हैं। रामचरित संबंधी इन ग्रंथों में अनेक मौलिक कल्पनायें हैं। और रामतिलकोत्सव में तो इन्होंने बड़े लम्बे-लम्बे विवरण-पूर्ण वर्णन दिये हैं। इनका काव्य प्रसादगुण-पूर्ण है। व्यंग्य उतना नहीं जितना स्पष्टार्थ; फिर भी कवि की उदात्त भावना और सूक्ष्म दृष्टि सराहनीय है। परिहास में, रूढ़ियों आडम्बर आदि पर प्रहार हैं। बड़ी मनोरंजक रचनायें हैं। नीतिसतसई में कवि ने अनेक उदाहरणों से आधुनिक समाज के लिए उपयोगी निष्कर्ष एवं अनुभवों का संकलन किया है।

कुछ उदाहरण ये हैं—

बड़ो काज को आपु करु, लै सेवक जन संग।
धुरा घुमत पहिया घुमैं, रेल होत नहि बंद॥
राखिय नौकर ताहि नहिं, जो स्वामी बनि जाय।
चीता पाले भय रहत, प्रान न लेइ रिसाय॥
करत विलास विलायतै, देसी रूप ललाम।
भैंस मगन जल मैं रहैं, जदपि तासु थल धाम॥
कुल के अगुनी जे अहैं, करु अगुआ नहिं संग।
बार बढ़े फूहर लगैं, उपजे जद्यपि अंग॥
बड़ेन बड़ाई दयो कवि, छोटहु को जस दीन।
केसव कवि कीन्हों अमर, पातुरि रायप्रवीन॥

इनके अतिरिक्त अवधी में अनेक कवि हुए हैं जिनकी रचनायें अभी प्रकाश में नहीं आयीं और क्षेत्रीय सीमा में ही बँध कर रह गयीं। कुछ प्रसिद्ध कवियों के नाम हैं—हरिमंगल मिश्र, शुकदेव मिश्र, शिवसिंह सेंगर, भवनकवि, भवानीप्रसाद पाठक 'भावन', मिलिन्द, शंभुनाथ मिश्र, गुणाकर त्रिपाठी, पंचम, माधव, बच्चूलाल, शिवरत्न मिश्र, गंगाप्रसाद, जयगोविन्द, रघुवंश, प्रयागदत्त, तोरनदेवी शुक्ल 'लली', मृगेश, लक्ष्मणप्रसाद 'मित्र', अनूप शर्मा, शारदाप्रसाद भुसुंडि, लक्ष्मीशंकर मिश्र 'निशंक', बद्रीप्रसाद 'पाल', लिखीस जी, महावीरप्रसाद, रामगुलाम वैश्य, सोनेलाल द्विवेदी, सुमित्राकुमारी 'सिनहा', 'प्रणयेश', केदारनाथ 'नवीन', गिरीश, सरोज, आदि। इनका प्रभाव क्षेत्रीय है। जो दो-चार अधिक प्रसिद्ध वर्तमान कवि हैं उनका परिचय हम यहाँ दे रहे हैं—

बलभद्रप्रसाद दीक्षित 'पढ़ीस'—पढ़ीस जी इस क्षेत्र में अवधी काव्य को प्रेरणा देने वाले कवि हैं। इनकी रचनाओं में आधुनिक भाव एवं विचार बोलचाल की किसानू भाषा में प्रकट किये गये हैं जिससे कि वे इस क्षेत्र में अधिक लोकप्रिय हैं। 'पढ़ीस' जी साधक साहित्यकार थे। इन्होंने कविता, कहानी, निबंध आदि सभी लिखा है, पर अवधी में ही। पढ़ीस जी आकाशवाणी लखनऊ के देहाती प्रोग्राम में काम करते थे और उसका यह रोचक रूप बनाने का श्रेय उन्हीं को है। इनके पुत्र बुद्धिभद्र भी बड़े होनहार साहित्यिक थे; परन्तु थोड़े दिन हुए पिता पुत्र दोनों ही कालकवलित हो गये। इनकी रचनाओं में आधुनिक आडंबरपूर्ण सभ्यता पर व्यंग्य मिलता है। एक रचना की पंक्तियाँ हैं—

बलिहार भयेन हम उइ बिरिया तुम याक बिलाइति पास किह्यउ।
अभिलाखइ खुब खुब पूरि गईं जब याक बिलाइति पास किह्यउ।
बजरा का बिरवा तुम भुलेउ, का आइ करयाला तुम पूँछ्उ।
छगरी का भेंडी कहसि कहेउ जब याक बिलाइति पास किहेउ।

देहाती—दयाशंकर दीक्षित का उपनाम 'देहाती' है। अवधी में बड़ी चुटीली कविता करते हैं। इनमें कहीं कहीं घाघ और भड्डरी की परंपरा के दर्शन होते हैं। ये कानपुर (कुरसवाँ) के निवासी हैं। बोलचाल की क्षेत्रीय भाषा में इनकी जैसी रचनाओं का बड़ा प्रभाव पड़ता है। उदाहरण—

ई चारिउ नित ही पछितात। इनके रहै न पैसा पास।
अनपढ़ मनई बड़ पढ़ जोय। सुरजि उवै पर उठै जो सोय।
कामु परे जो देवै रोय।
कहै देहाती करु बिस्वास। इनके रहै न पइसा पास।
ई चारिउ नित ही पछितात।
करै परोसिन ते नित रारि। ख्यातन बाहर बवै उखारि।
स्याना लरिका देय निकारि। उतरी उमिरि मेहरिया बारि।
कहै देहाती सुनि लेव बात। ई चारिउ नित ही पछितात॥

वंशीधर शुक्ल—ग्रामीण अवधी की रचना करने वाले कवियों में सबसे अधिक कल्पनाशील कवि वंशीधर जी हैं। इनका जन्म सन् १९०४ ई० में मन्यौरा जिला सीतापुर में हुआ था। ये पहले आकाशवाणी, लखनऊ में काम करते थे, परन्तु अब तो स्वच्छन्द हैं। इनकी भाषा सीतापुरी अवधी है, परन्तु इनके प्रयोग में आ कर उसमें कुछ विलक्षण सामर्थ्य जाग उठी है। इन्होंने प्रायः छोटे-छोटे छन्द ही चुने हैं; पर इनके वर्णन बड़े ही रोचक हैं

जिनमें ये बड़े बारीक-बारीक विवरण विचित्र व्यंजना के साथ प्रस्तुत करते हैं। इनके ग्राम्य जीवन के वर्णन बड़े लुभावने हैं। इनकी "राम मड़ैया" रचना तो अत्यंत प्रसिद्ध है। इन्होंने कवि-सम्मेलन, मुशायरा, म्यूजिक कान्फरेंस, कैम्प आदि के जो वर्णन दिये हैं वे बड़े ही व्यंग्यपूर्ण हैं और कवि के आदर्श की कसौटी पर ये आधुनिक आडम्बर कसते चलते हैं। कवि की दृष्टि बड़ी ही सूक्ष्म और पैनी है। भावुकता और कल्पना के साथ तीखे प्रहार करने में वह नहीं चूकता। शुक्ल जी कवि-सम्मेलनों आदि के द्वारा अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण हम यहाँ दे रहे हैं—

नदी किनारे सड़क न गल्ली द्वारे भरी तलैया।
हुएँ बनी है राम सहारे अपनी राममड़ैया।
जहाँ बयारि लगावै झाड़ू जुगनू दिया दिखावै।
सुअर सियार चील्ह गिरहरियाँ कागा दुंदु मचावै।
जहाँ बजै रैदास कै डफुली नाचै कुँवर कन्हैया।
हुएँ बनी है बनकुंजन माँ अपनी राम मड़ैया॥

× × ×

कक्कू! हम सुनेन पंडितन ते संगीतौ बेदै के समान।
मोहन आकर्षन बसीकरन, रामौ रीझैं सुनि मधुर तान॥
दुखिया दुखु भूलैं गीत सुनै सुखिया सुखु भूलै गीत सुनै।
हरहा गोरू चिरइउ नाचैं, फुलबगियौ फूलै गीत सुनै॥
सोचेन दुनिया का तार तार गाना गावै सुर ताल भरा।
मुलु सही रूपु रागिनी क्यार अत्र लौं हमका ना समुझि परा॥

चंद्रभूषण त्रिवेदी—चन्द्रभूषण जी और वंशीधर शुक्ल जी के कारण ही आधुनिक अवधी काव्य को नया सम्मान मिला और इस काव्यरचना की एक नयी जाग्रति की लहर फैल गई है। चन्द्रभूषण का जन्म सन् १६२२ में हुआ था। ये १६४२ में लखनऊ रेडियो के पंचायतघर कार्यक्रम के कलाकार के रूप में आये और तब से यहीं पर हैं। इनका जन्मस्थान उन्नाव जिले का रावतपुर नामक ग्राम है। त्रिवेदीजी ने अनेक कवितायें, नाटक, प्रहसन, गीत आदि लिखे हैं। इनके तीन कविता-संग्रह बौछार, भिनुसार और फुहार प्रकाशित हुए हैं। एक नाटक-संग्रह 'रतौंधी' नामक भी मिलता है। त्रिवेदी जी लोक-साहित्य की जन्मजात प्रतिभा ले कर आये। इनकी हास्य-व्यंग्य-पूर्ण रचनायें तो लोगों को हँसी से लोट-पोट कर ही देती हैं, इनकी जो प्रकृति-चित्रण-संबंधी रचनायें हैं वे भी अतीव सुन्दर हैं। वर्णन की बारीकी, नव्यकल्पना और ठेठ

अवधी भाषा की विवरण देने वाली कहीं-कहीं ध्वन्यात्मक शब्दावली इनकी रचना को एक विशिष्ट आकर्षकता प्रदान करती है। इनकी रचना के उदाहरण—

खटमल छाड़ौ मोरी खटिया।
ना जानै कइसे तुम आयो आपन जाति बढ़ायो।
मचवन मा तुम किला बनायो घिरिगे सेखा पटिया।
मसल कहीगै छेदु करौ ना जेहि पतरी माँ ज्योंवौ।
तुम तौ चूसौ खून हमारे, बसौ हमरि ही खटिया।।
दिन दिन दूबर होत गयेन हम तुम होइ गयेउ ललेगा।
जिनकै खाट विपति माँ भ्वागैं, मौजै करैं कपटिया।
दूबर मनइन का चूसौ ना, चूसौ गात ललेगे।
स्वादु कौन है ई देही माँ हाड़ मास कै टटिया।।१।।

जगत कै रचना सुघर विचारि। कोइलिया बन बन करति पुकार।
करौंदन गमकि उठी अरघानि। मिले मानौं प्रानन का प्रान।।
पकरियाँ पातन दे लदि परीं। चिलउलिन हरियर तितुली फरीं।।
उपजि गे नींबिन कोंप लजील। टेहरनि मानौं पनपा सील।
पीपरन निरमल झलमल पात। मगन होइ लहर लहर लहरात।
जरे बिरछन के पातन दीप। बयरिया चन्दनु दीन्हेसि लीप।
बिरिछ भ्याँटैं फूलन के हार। चिरइयाँ गावैं किरति अपार।।
डरइयाँ झूमैं चँवर डोलाय। पतउवा तारी दिहिनि बजाय।
रँगीली तितुली पंख पसारि। लहरि दइ नाचीं छटा निहारि।।२।।

इस प्रकार भूषण जी की रचना बड़ी मोहक होती है। ऐसी विशद चित्रावली वही प्रस्तुत कर सकता है जिसने प्रकृति के बीच अपना जीवन बिताया हो। यह कवित्व प्रतिभा आधुनिक अवधी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु है।

अवधी के ठेठ काव्य का विवरण यहाँ दिया गया है। साहित्यिक अवधी के क्षेत्र में आधुनिक युग के दो कवि वर्तमान हैं। इन दोनों की प्रसिद्धि 'कृष्णायन' को ले कर हुई है। इनमें से एक हैं पंडित द्वारकाप्रसाद मिश्र और दूसरे हैं रामस्वरूप विशारद।

द्वारकाप्रसाद मिश्र—पंडित द्वारकाप्रसाद मिश्र आजकल मध्य प्रदेश नागपुर में रहते हैं। ये उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के रहने वाले हैं। मिश्र जी बड़े प्रसिद्ध राजनीतिक कार्यकर्त्ता और देश के महान् नेता हैं। ये

पहले मध्य प्रदेश में गृहमंत्री थे। आजकल सागर विश्वविद्यालय के उप-कुलपति हैं। साहित्यिक, राजनीतिक और सामाजिक तीनों ही क्षेत्रों में आपकी महान् उपलब्धियाँ हैं। आपने 'लोकमत' 'श्रीशारदा' और 'सारथी' का संपादन किया। 'सारथी' तो अपने ढंग का हिन्दी का साप्ताहिक है जो उत्कृष्ट राजनीतिक आलोचना, व्यंग्य चित्रावली और साहित्यिक सामग्री से संपन्न निकलता है। साहित्यिक क्षेत्र में मिश्र जी की ख्याति 'कृष्णायन' के प्रकाशन के बाद हुई। कृष्णायन की रचना आपने जेल में की थी। इसके प्रारंभिक मंगलाचरण में भी इस बात का संकेत है—

जन्मेउ बन्दीधाम जो जन जननी मुक्ति हित।
बन्दउँ सोइ घनस्याम, मैं बन्दी बन्दितनय॥

कृष्णायन एक महाकाव्य है। इसमें कृष्ण के केवल भक्तवत्सल रूप का ही उद्घाटन नहीं, वरन् उनकी राजनीतिक एवं सामाजिक महानता का भी उद्घाटन है। वे एक अवतारी महापुरुष हैं। कृष्ण के पूर्ण एवं प्रामाणिक वृत्त का संचय करके लेखक ने आधुनिक युग के लिए प्रेरणा देने वाले रूप में कृष्ण को प्रतिष्ठित किया है। ग्रंथ दोहा-चौपाई छन्दों में अवधी भाषा में है। यह अवधी जायसी की सी ठेठ अवधी न हो कर संस्कृत शब्दावली से युक्त अवधी है। रामचरितमानस की प्रांजलता और प्रवाह तो इसमें नहीं आ पाया; पर ठेठपन इससे दूर कर दिया गया है। और इसकी अपनी निजी माधुरी है। यह मानस की परंपरा की ही एक कड़ी है। कृष्णायन आधुनिक अवधी की एक उत्कृष्ट रचना है। पुराना कथानक एवं परिपाटी होते हुए भी इसमें आधुनिक विचारधारा की प्रेरक बातें कही गई हैं। इसके वर्णन बड़े-रोचक तथा भाव एवं विचार पूर्ण है। उदाहरण—

मुकुट जासु हिमवंत, चरण पखारत सिन्धु नित।
जन्मत जहँ भगवंत, प्रणमहुँ भारत मातु सोई॥१॥
जननि चरण जलजात, भक्तिसहित बन्दहुँ बहुरि।
मधुपुर दिसि हरिजात, भार जासु दुःसह हरन॥२॥

त्यागत व्रज व्रजराज अधीरा। होत विमुख बरसे दृग नीरा।
छायेउ दुर्दिन सहसा स्यंदन। स्यामल नवल सरीर सजल घन।
चंद्रक केस कलाप ललामा। सुरपति चाप उदित अभिरामा।
जलकण छलकि कपोलन छाये। पाटल पावस विन्दु सोहाये।
विलसत वर वक्षस्थल हारा। मौक्तिक उज्ज्वल पावस धारा।
स्यन्दन घर्घर गर्जन घोरा। भ्रान्त मत्त नर्तत पथ मोरा।

रथ गति दोलित केशव पासा। शोभित हलधर तड़ित विलासा।
सारथि सुफलक-सुवन-प्रभंजन। वाजि वेग हरि वारिद वाहन॥
धावत प्रलय पयोधि-धृत, दुर्दिन स्यन्दन रूप।
उद्वेलित बोरन चहत, द्वीपकंस यदु भूप।

रामस्वरूप मिश्र 'विशारद'—'कृष्णायन' प्रबंध काव्य के दूसरे रचयिता हैं श्री विशारद जी। ये रायबरेली जिले के रहनेवाले हैं। ये भी राजनीतिक कार्यकर्त्ता तथा उच्च विचार के व्यक्ति हैं। इन्होंने दो ग्रंथ लिखे हैं एक कृष्णायन दूसरा सुविचार सतसई। सुविचार सतसई में सामाजिक नीति की उदात्त बातें हैं। इसमें आधुनिक राष्ट्रीय विचारधारा को भी प्रश्रय मिला है और इस सतसई में सर्वोदय और समाजवाद जैसे शतक भी हैं। काव्य की दृष्टि से यह वृन्द सतसई से तुलनीय है। इनका कृष्णायन मिश्र जी के कृष्णायन से भिन्न उद्देश्य वाला है। इसका प्रधान ध्येय राजनीति एवं सामयिक विचारधारा की प्रेरणा न हो कर भक्ति ही अधिक कहना चाहिये। इस पर पौराणिक पद्धति का प्रभाव है जिसकी इसमें रक्षा का प्रयत्न है। इसमें महाभारत, भागवत और हरिवंश पुराण का आधार लिया गया है। इसकी शैली सरल एवं प्रवाहपूर्ण है। इनके वर्णन बड़े रमणीय हैं। एक उदाहरण यह है—

नवल देह वय नवल वपु, श्याम गौर अभिराम।
अंग अंग प्रति होत बलि, कोटि कोटि रति काम॥
नव बूँदन घन बरसन लागा। प्रगट करत मनु नव अनुरागा।
भीजी नवल चूनरी सारी। भिजेउ पीताम्बर नवल विहारी॥
नवद्रुम कुंज पुंज महँ जाई। छिपी राधिका छिपे कन्हाई।
भीजि बसन सुखवन दोउ लागे। अतिहित बिमल प्रेम अनुरागे॥
राधा निज हियहार उतारी। चहेउ देहुँ प्रिय हिय महँ डारी।
पर रहि गई हृदय यह लाई। अन्तर करिय भरत अँकुवाई॥
लागि कंठ भरि दोउ गलबाहीं। बिहरत सघन कुंज बन माँही।
भई बेर बहु दोउ मन जानी। निज निज गेह गये भय मानी॥
भूलि राधिका चूनरी, हरि निज तन पर डारि।
पीताम्बर निज राधिका, तन पर धरेउ सुधारि॥

इस प्रकार अवधी काव्यधारा भी प्रवहमान है। इसमें ललित रचनाओं का अभाव नहीं। नवीन प्रेरणा और रोचक वर्णन इस काव्य में मिलते हैं। फिर भी इस काव्य की क्षेत्रीय विशेषतायें ही हैं। व्यापक प्रचार इस काव्य का नहीं; कारण यह है कि ब्रजभाषा के समान इसका व्यापक प्रचार पहले नहीं

हुआ और आज हमारी गण्यमान्य भाषा खड़ी बोली के रूप में प्रतिष्ठित है। खड़ी बोली की काव्य-धारा ही अनेकयुगीन विचारधाराओं को अपना कर बह रही है। उसमें नये मोड़, नये प्रयोग, नयी छाया, नयी आभा एवं नूतन विस्तार आया है। आधुनिक युग की समस्त चेतना को समेट कर चलने के कारण इस युग की प्रमुख हिन्दी-काव्य-धारा यही है जिसका विवरण हम आगे दे रहे हैं।

नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) काव्य-धारा

आधुनिक नव चेतना को समेट कर, युग की विचार-धारा के अनुकूल अपने को ढाल कर विकसित होता हुआ नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) काव्य है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है यह नागरी हिन्दी शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित पश्चिमी हिन्दी की एक बोली का ही साहित्यिक रूप है। इस भाषा में ही अमीर खुसरो, कबीर, रहीम, सीतल आदि कवियों ने रचनायें कीं, परन्तु व्यापक रूप से व्रजभाषा और अवधी साहित्य के प्रभाव के कारण इसका पद्य साहित्य अधिक विकसित न हो सका। इसी दिल्ली और मेरठ के आस पास बोली जाने वाली भाषा में अरबी फारसी के शब्दों को मिला कर मुसलमान शासकों ने जनसाधारण से संपर्क स्थापित करने के लिए प्रयोग किया जो कि हिन्दी, हिन्दुई, हिन्द्वी, आदि नामों से पुकारी गई और जिसका नाम पद्य में रेखता और गद्य में उर्दू हुआ। आगे चल कर हिन्दी की फारसी अरबी शब्दों से मिश्रित शैली जो कि अधिकतर फारसी लिपि में लिखी जाती है उर्दू भाषा के नाम से प्रख्यात हुई, और उसमें व्यापक साहित्य का विकास हुआ। परन्तु वास्तविकता यही है कि नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) और उर्दू दो अलग भाषा नहीं हैं, वरन् एक ही भाषा की दो शैलियाँ है। दोनों ही शैलियों में युगीन चेतना और विचारधारा की अभिव्यक्ति हुई है अतः हिन्दी साहित्य के इतिहास में दोनों ही का महत्त्व है। यह समझना भी भूल है कि ये दो शैलियाँ भाषा के रूप में दो धर्मावलंबी-हिन्दू-मुस्लिम-समुदाय के प्रयोग से विकसित हुई हैं। क्योंकि अनेक मुसलमानों ने व्रजभाषा अवधी और नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) में लिखा है और सुन्दर लिखा है और अनेक हिन्दुओं ने उर्दू शैली में उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया है। ऐसे भी लेखक हैं जिन्होंने दोनों ही शैलियों में लिखा है जैसे—रतनाकर, सनेही, प्रेमचंद, अश्क आदि। अतः हिन्दी और उर्दू के प्रश्न का संबंध धर्म से नहीं जोड़ना

चाहिए। दोनों एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं; लिपि-भेद ही दोनों में विशेष अन्तर डालने का कारण हुआ। बोलचाल की दृष्टि से दोनों ही समुदाय एक दूसरी की भाषा पूर्णतया समझते हैं, यह व्यावहारिक तथ्य है। अतः यहाँ हम दोनों ही शैली की काव्यधाराओं के विकास का संक्षिप्त परिचय देंगे।

नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) काव्य-धारा का विकास

नागरी हिन्दी को विशेष साहित्यिक गौरव आधुनिक काल में ही आ कर मिला। पहले तो यह केवल कुछ ही कवियों के द्वारा प्रयुक्त हुई। नागरी हिन्दी की कविता को हम पाँच युगों में विभाजित कर सकते हैं। १. भारतेन्दु युग (राष्ट्रीय चेतना युग, १८५७ से १९००) २. द्विवेदी युग (आन्दोलन युग, १९०० से १९२० तक), ३. छायावाद युग (विद्रोह या स्वच्छन्दतावादी युग, १९२० से १९४० तक), ४. प्रगति युग (क्रांति-युग, १९४० से १९५० तक), ५. नवयुग (निर्माण या प्रयोगशील युग, १९५० से आगे)।

पूर्ववर्ती कालों के समान अधिक विस्तार न होते हुए भी अर्थात् लगभग १०० वर्षों का यह आधुनिक काल ही पाँच युगों में विभक्त हुआ है। इसका कारण है आधुनिक युग की परिवर्तनशील प्रकृति। आज के अविश्वासी एवं प्रगतिशील युग में किसी परंपरा या स्थिति को पकड़ कर बैठना बड़ा कठिन है। अतः राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक क्रांतियों तथा नव-चेतना के उद्भव के साथ साहित्य के क्षेत्र में भी परिवर्तन देखने को मिलते हैं। साहित्य हमारी संस्कृति का अंकुर है। जीवन के क्षेत्र में नवीन विचारों के बीज पड़ने पर नवीन भावनाओं की वृष्टि एवं आन्तरिक क्रांति और आंदोलन की गर्मी पा कर यह साहित्य का अंकुर—नवीन अंकुर निकलता है। इसे साधना की रक्षा-भावना का वारिसिंचन चाहिये। आधुनिक युग की विभिन्न धाराओं की परिवर्तनशीलता का यही रहस्य है। उत्कृष्टता, प्रभाव और प्रयोगों में हीन न होते हुए भी आधुनिक नागरी हिन्दी काव्य पर जो सबसे बड़ा लांछन है, वह यही है कि उसका अधिकांश जनसाधारण में लोकप्रिय न हो सका। दोनों को दूर रखने के अनेक कारण रहे हैं। भारतीय स्वाधीनता के बाद वे धीरे धीरे दूर हो रहे हैं और आशा है कि नवयुग का साहित्य, जो राष्ट्रीय नवनिर्माण का सन्देश ले कर विकसित हो रहा है, सर्वसाधारण का भी साहित्य हो सकेगा और विद्वान् नागरिकों का भी। यहाँ हम संक्षेप में आधुनिक काव्य के विभिन्न युगों की रचनाओं का परिचय दे रहे हैं।

क. भारतेन्दु युग (राष्ट्रीय चेतना युग)

(सन् १८५० से १९०० तक)

भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य-धारा के नये मोड़ का युग है। जैसा कि पहले परिस्थितियों के विश्लेषण में दिया जा चुका है, इस युग में अनेक राजनीतिक उथल-पुथल एवं धार्मिक सांस्कृतिक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। पाश्चात्य संपर्क के परिणामस्वरूप भारत में राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ। सन् १८५७ के विद्रोह के बाद अंग्रेजी शासन की दमन और भेदनीति के कारण राष्ट्रीयता की भावना खुल कर प्रवाहित न हो पायी। इसमें कहीं कहीं तो राजभक्ति की भावना मिलती है और विक्टोरिया या अंग्रेज बहादुर की प्रशंसा के छुन्द सुनाई पड़ते हैं, और कहीं अंग्रेज स्तोत्र और भारत की दुर्दशा के गान। भाषा और भावना की दृष्टि से यह संक्रमण काल था और विचारों और साहित्य को निश्चित भूमि न प्राप्त हो सकी थी। फिर भी भारतेन्दु और उनके सहयोगी हिन्दी कवि इस युग के नवजागरण का सन्देश फूँकनेवाले वैतालिक हैं। वे देशवासियों को भारत की दुर्दशा की ओर तथा अपने प्राचीन गौरव की ओर सचेत करते हैं और इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना का उषाकाल यह भारतेन्दु युग है। इस युग के प्रमुख कवियों का परिचय यहाँ दिया जाता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द—भारतेन्दु मंडल के अधिकांश लेखकों ने भारन्तेदु बाबू हरिश्चन्द्र से प्रभावित हो कर गद्य तो नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) में लिखा; परन्तु पद्य के लिए जो भाषा स्वीकार की वह व्रजभाषा ही थी। अतः उस समय के लेखकों बालकृष्ण भट्ट, दामोदर शास्त्री सप्रे, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, रामकृष्ण वर्मा, सुधाकर द्विवेदी, राधाचरण गोस्वामी, लाला सीताराम, राधाकृष्णदास आदि सभी ने भारतेन्दु की ही नीति को अधिकांश में स्वीकार किया। इन लेखकों का गद्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योग है, परन्तु पद्य में खड़ी बोली या नागरी हिन्दी का प्रयोग इन लोगों ने कम किया। पद्य लिखा, तो व्रजभाषा में। भारतेन्दु, प्रेमघन आदि की कुछ रचनायें खड़ी बोली में हैं, जो अच्छी हैं; पर खड़ी बोली में रचना करने में इनका मन न रम सका। फिर भी उनका विरोध खड़ी बोली से न था। आगे के लोगों ने जो कार्य किया वह भारतेन्दु जी के प्रयोगों को ले कर ही। वैसे वे खड़ी बोली (नागरी हिन्दी) में भी सुन्दर रचना कर सकते थे, केवल उनका अभ्यास उन्हें न था। उनकी खड़ी बोली कविता के कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

सितम्बर १८८१ में 'भारत मित्र' के लिए भारतेन्दु जी ने ये कवितायें भेजी थीं—

बरसा सिर पर आ गई, हरी हुई सब भूमि।
बागों में झूले पड़े, रहे भ्रमर गण झूमि॥
खोल खोल छाता चले, लोग सड़के के बीच।
कीचड़ में जूते फँसे, जैसे अघ में नीच॥

+ + +

गरमी के आगम दिखलाये रात लगी घटने।
कुहू कुहू कोयल पेड़ों पर बैठ लगी रटने॥
ठंडा पानी लगा सुहाने आलस फिर आई।
सरस सुगन्ध सिरस फूलों की कोसों तक छाई॥
उपवन में कचनार वनों में टेसू हैं फूले।
मदमाते भौंरे फूलों पर फिरते हैं भूले॥

आधुनिक और सामयिक भावों की व्रजभाषा भी खड़ी बोली का रूप धारण कर रही थी। भारतेन्दु के अंतिम कहे जाने वाले पद में यह बात प्रगट है—

डंका कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई।
देखो लाद चले पंथी सब तुम क्यों रहे भुलाई॥
जब चलना ही निहचै है तो लै किन माल लदाई।
हरीचंद हरिपद बिनु नहिं तौ रहि जैहौ मुँह बाई॥

इस पद की प्रथम दो पंक्तियाँ खड़ी बोली की हैं और तीसरी और चौथी पंक्तियों में व्रजभाषा और अवधी का पुट आ गया है। इस प्रकार हम भारतेन्दु-युग के मध्य तक काव्य-क्षेत्र में खड़ी बोली का प्रयोगात्मक रूप ही देखते हैं। यह कह देना असंगत न होगा कि गद्य में खड़ी बोली की एक ज़ोरदार शैली विकसित हो चुकी थी; पर पद्य में खड़ी बोली के प्रयोग का आन्दोलन प्रारंभ हुआ था। पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) कविता का नमूना देखिये—

अकाल का वर्णन

अब नहीं यहाँ खाने भर को भी जुरता।
नहिं सिर पर टोपी नहीं बदन पर कुरता॥
है कभी न इसमें आधा चावल चुरता।
नहिं साग मिले नहिं कन्द मूल का भुरता॥

नहिं जात भूख की भई पीर संभारी।
भागो भागो अब काल पड़ा है भारी॥

आनंद अरुणोदय की रचना खड़ी बोली में है—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का।
समझ अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका।
अरुणोदय एकता दिवाकर प्राची दिशा दिखाती।
देखा नव उत्साह परम पावन प्रकाश फैलाती।
उद्यम रूप सुखद मलयानिल दक्षिण दिश से आता।
शिल्प कमल कलिका कलाप को बिना विलम्ब खिलाता।
देशी बनी वस्तुओं का अनुराग पराग उड़ाता।
शुभ आशा सुगन्ध फैलाता मन मधुकर ललचाता।
उन्नति पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा लखाई।
खग 'वन्देमातरम्' मधुर ध्वनि पड़ने लगा सुनाई।
उठो आर्य सन्तान सकल मिलि बस न विलम्ब लगाओ।
ब्रिटिश राज स्वातंत्र्यमय समय व्यर्थ न बैठ बिताओ॥

यह नव जागरण की भावना नव संगठन और औद्योगिक उन्नति की थी। भारतेन्दु के युग के कवियों में अधिकांश का स्वर विद्रोही का स्वर नहीं, वरन् देशोन्नति करने के लिए उद्बोधन और जागरण का स्वर है। इस नवीन चेतना और भावना को खड़ी बोली के माध्यम से व्यक्त करने की प्रवृत्ति इस युग में दिखलायी पड़ती है; परन्तु साहित्यिक विषयों और अन्य सरस भावों की अभिव्यक्ति में व्रजभाषा चलती रही। दोनों ही के पक्ष और विपक्ष सामने स्पष्ट हो रहे थे।

इस युग के हिन्दी कवियों ने उर्दू शैली में भी कविता रची है। भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र की रचनायें तो बड़ी ही रोचक हैं। प्रतापनारायण मिश्र की एक रचना देखिए—

विवादी पड़े हैं यहाँ कैसे कैसे
कलाम आते हैं दरमियाँ कैसे कैसे।
बने पढ़ के गौरण्ड भाषा द्विजाती
मुरीदाने पीरे-मुग़ा कैसे कैसे।
बसो मूर्खते देवि, आर्यों के जी में
तुम्हारे लिये हैं मकाँ कैसे कैसे।

अनुद्योग आलस्य सन्तोष सेवा
हमारे भी हैं मिहरबाँ कैसे कैसे।
अभी देखिये क्या दशा देश की हो
बदलता है रँग आसमाँ कैसे कैसे।
हैं निर्गन्ध इस भारती बाटिका के
गुलो लाल ओ अरगवाँ कैसे कैसे।
हमें वह दुखद हाय भूला है जिसने
तवाना किये नातवाँ कैसे कैसे।
प्रताप अब तो होटल में निर्लज्जता के,
मज़े लूटती हैं ज़बाँ कैसे कैसे।

प्रतापनारायण जी विद्रोही भावना के तेज़ आदमी थे अतएव कभी कभी ऐसे उद्‌गार उनके निकल आते थे। मिश्रजी ने अधिकतर व्रजभाषा में या अवधी में लिखा है।

भारतेन्दु युग के समाप्त होते-होते नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) में कविता लिखने का ज़ोर हो गया था और इस समय सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य पंडित श्रीधर पाठक का था।

श्रीधर पाठक—ये आधुनिक युग में खड़ी बोली (नागरी) हिन्दी कविता के नेता हैं। इस काव्य को इन्होंने एक निश्चित पद पर प्रतिष्ठित किया। खड़ी बोली आन्दोलन के भी ये तेजस्वी और प्रतिभासंपन्न कार्यकर्त्ता थे। नागरी हिन्दी की कविता में ललित और माधुर्य वैसा ही आ सकता है जैसा कि व्रजभाषा-काव्य में, इस बात को इन्होंने सत्य सिद्ध कर दिया। और उस समय में सिद्ध किया जब कि युगीन साहित्यिक-शिल्पी व्रजभाषा के लालित्य पर मुग्ध हो कर उसे ही काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित रखने के पक्ष में थे। भारतेन्दु जैसे युगनायक के मत के विपरीत अपनी मान्यता स्थापित कर देना पाठक जी जैसे तेजस्वी व्यक्ति का ही कार्य था। पाठकजी ने व्रजभाषा में भी ललित रचना की। परन्तु इनका विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) के क्षेत्र में हुआ। इनकी रचनाओं में अनेक नूतन प्रवृत्तियों का अंकुर देखा जा सकता है; जैसे देशप्रेम, राष्ट्रीय गौरव, प्रकृति प्रेम, स्वच्छन्दतावाद आदि। इनके प्रकृति-चित्रण अत्यंत सुन्दर हैं। राष्ट्रीय गानों की परंपरा डालने वाले श्रीधर पाठक ही हैं। देश की दुर्दशा के चित्रण के साथ नव चेतना को जगाने वाले इनके छन्द हैं। इनकी भाषा में एक निजी माधुर्य, प्रवाह और लालित्य है। इनकी भाषा खड़ी बोली के ढाँचे पर

है फिर भी उसमें व्रजभाषा के अव्ययों, विभक्ति-चिह्नों, तथा क्रियाओं का प्रयोग मिलता है। संस्कृत और अंग्रेजी कविताओं के हिन्दी अनुवाद इनके बड़े ही ललित हैं। इनके अंग्रेजी कवि गोल्डस्मिथ के अनुवाद श्रांत पथिक और ऊजड़ गाँव बड़े प्रसिद्ध हैं। इन्होंने कुछ व्यंग्यात्मक संस्कृत में भी कविता की है। इनके लिखे ग्रंथों के नाम हैं—आराध्य शोकांजलि, श्री गोखले प्रशस्ति, एकान्तवासी योगी, ऊजड़ ग्राम, श्रान्त पथिक, जगत सचाई सार, काश्मीर-सुषमा, मनोविनोद, गोखले गुणाष्टक, देहरादून, तिलिस्माती मुँदरी, गोपिका गीत, भारत गीत।

इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

ये सब भाँति भाँति के पक्षी ये सब रंग-रंग के फूल।
ये वन की लहलही लता नव ललित-ललित शोभा के मूल।
ये नदियाँ ये झील सरोवर कमलों पर भौंरों की गुंज।
बड़े सुरीले बोलों से अनमोल घनी वृक्षों की कुंज।
ये पर्वत की रम्य शिला औ शोभा सहित चढ़ाव-उतार।
निर्मल जल के सोते झरने सीमारहित महाविस्तार।
लरजन गरजन घन-मंडल की बिजली बरषा का संचार।
जिसमें देखो परमेश्वर की लीला अद्‌भुत अपरंपार ॥१॥

पाठक जी की 'जगत सचाई सार' की इन पंक्तियों में जैसे प्रसाद की कामायनी की भाषा अंकुरित हो रही हो, ऐसा लगता है।

वंदनीय वह देश जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।
बांधवता में बँधे परस्पर परता के अज्ञानी हों।
निन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अज्ञानी हों।
सब प्रकार परतंत्र पराई प्रभुता के अभिमानी हों ॥२॥

× × ×

कहीं पैं स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु बीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है।
हरेक स्वर में नवीनता है, हरेक पद में प्रवीनता है।
निराली लय है औ लीनता है अलाप अद्‌भुत मिला रही है।
अलक्ष्य पदों से गत सुनाती तरल तरानों से मन लुभाती।
अनूठे अटपट स्वरों में स्वर्गिक सुधा की धारा बहा रही है।
कोई पुरन्दर की किंकरी है कि या किसी सुर की सुन्दरी है।
वियोगतप्ता सी भोगभुक्ता हृदय के उद्‌गार गा रही है।

कभी नई तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन कभी विनय है।
दया है दाक्षिण्य का उदय है अनेकों बानक बना रही है।
भरे गगन में हैं जितने तारे हुए हैं बदमस्त गत पै सारे।
समस्त ब्रह्मांड भर को मानो दो उंगलियों पर नचा रही है।
सुनो तो सुनने की शक्तिवालो सको तो जा कर के कुछ पता लो।
है कौन जोगन ये जो गगन में कि इतनी हलचल मचा रही है।

नाथूराम शंकर शर्मा—(१८५६–१६३२), शंकर जी का समय भारतेन्दु युग से ले कर द्विवेदी युग और उसके बाद तक आता है। शंकर जी की समस्या-पूर्तियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं। इन्होंने व्रज और खड़ी बोली दोनों ही में सुन्दर रचना की। शंकर की भाषा को देख कर कोई नागरी हिन्दी की असामर्थ्य पर विश्वास ही नहीं कर सकता। दोनों ही बोलियों में इनके कवित्त अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। कविता करने का इन्हें बड़ा अभ्यास भी था और सुन्दर प्रतिभा भी थी। इनकी रचना में स्पष्ट उद्बोधन, उपदेश नहीं वरन् तीव्र एवं तीखे व्यंग्य हैं। हास्यविनोद भी इनकी रचनाओं में खूब मिलता है। इनकी रचना में विविध रस मिलते हैं। नखशिख-सौन्दर्य-चित्रण में इनकी कल्पना की उड़ान सराहनीय है।

इन्होंने एक लम्बी रचना में कृष्णराधा को गौरांग अंग्रेज साहेब बनने के लिए आवाहन करते हुए लिखा है—

देव आदि के अधिवेशन में पूरे करना इतने काम।
हिप हिप हुर्रा के सुनते ही, खाना टिफन पाय आराम।
झंझट झगड़े मतवाले के, जानों सब के खंड विभाग।
तीन चार दिन की बैठक में, कर दो संशोधन वेलाग।
बनिये गौर श्यामसुन्दर जी, ताक रहे हैं दर्शक दीन।
हमको नहीं हँसाना बन के, बाघ वितुंडी कछुआ मीन।
धार सामयिक नेतापन को, दूर करो भूतल का भार।
निष्कलंक अवतार कहेंगे, शंकर सेवक बारंबार॥

संभवतः यह आक्षेप ब्राह्म समाजियों पर है। इनकी कविता बड़ी चुटीली होती है। शंकर की खड़ी बोली रचना के नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

कज्जल के कूट पर दीप शिखा सोती है कि,
　　　श्याम घन-मंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंग में कलाधर की कोर है कि,
　　　राहु के कबंध पै कराल केतु तारा है।

शंकर कसौटी पर कंचन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि,
ढाल पर खाँड़ा कामदेव का दुधारा है ॥१॥
तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी,
मंगल मयंक मंद मंद पड़ जायेंगे।
मीन बिन मारे मर जायँगे सरोवर में,
डूब डूब 'शंकर' सरोज सड़ जायँगे।
चौंक चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायँगे।
बोलो इन अँखियों की होड़ करने को अब,
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायँगे।
आँख से न आँख लड़ जाय इसी कारण से,
भिन्नता की भीति करतार ने लगाई है।
नाक में निवास करने को कुटी शंकर की,
छवि ने छपाकर की छाती पै छवाई है।
कौन मान लेगा कीर-तुंड की कठोरता में,
कोमलता तिल के प्रसून की समाई है।
सैकड़ों नकीले कवि खोज खोज हारे पर,
ऐसी नासिका की और उपमा न पाई है।

'शंकर' की रचना खड़ी बोली में होते हुए भी मुख्य प्रवृत्ति के अनुसार रत्नाकर और सनेही की परंपरा का बीज है यद्यपि उन्होंने अन्य शैलियों में भी लिखा है; परन्तु सबसे अधिक कवित्व इसी शैली में देखने को मिलता है। बुढ़ापा का वर्णन उर्दू शैली में देखिये—

बुढ़ापा नातवानी ला रहा है।
ज़माना ज़िन्दगी का जा रहा है।
किया क्या ख़ाक? आगे क्या करेगा?
अख़ीरी वक़्त दौड़ा आ रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु युग के समाप्त होते होते नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) कविता की साहित्यिक विशेषतायें निखरने लगी थीं। फिर भी ब्रजभाषा की विशेषताओं से वह पूर्ण मुक्त न हो पाई। भाषा-संबंधी स्थिरता भारतेन्दु युग में पूर्ण न हो सकी। खड़ी बोली भाषा का सुधार और परिष्कार

द्विवेदी युग में हुआ। शंकर वास्तव में दोनों ही युगों के कवि थे। इसी से इनकी भाषा में यह प्रौढ़ता है।

द्विवेदी युग (आन्दोलन युग)

(सन् १६०० से १६२५ तक)

द्विवेदी युग राष्ट्रीय जागरण का युग है। कांग्रेस की स्थापना के बाद भारतीय गौरव के पुनरुत्थान संबंधी आन्दोलनों का ज़ोर इस युग में था। आर्यसमाज का आन्दोलन ज़ोर पकड़ रहा था। इधर थियोसाफिकल विचारों का प्रसार तथा रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ आदि महात्माओं के आध्यात्मिक संस्कार करने वाले आन्दोलन चल रहे थे और उधर युरोप में १६१४ में युद्ध छिड़ा जो १६१६ में समाप्त हुआ। इस युग में महात्मा तिलक के उग्र राष्ट्रीयतावाद की लहर फैल चुकी थी। साथ ही गांधी जी भी राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण कर चुके थे। युद्ध का समय गांधी जी ने अंग्रेज़ शासकों की सचाई को परखने के लिए प्रयुक्त किया। परन्तु जब वे सच्चे न उतरे, तो १६२१ से सत्याग्रह आन्दोलन का श्रीगणेश भी हुआ। इधर नागरी प्रचारिणी सभा और साहित्य सम्मेलन की स्थापना भी हो चुकी और हिन्दी प्रचार और उसके माध्यम से राष्ट्रीय भावना के संचार का आन्दोलन भी चलना प्रारंभ हो गया था। द्विवेदी जी के हाथ में 'सरस्वती' आ जाने से खड़ी बोली साहित्य को अभूतपूर्व प्रोत्साहन तो मिला ही; एक बहुत बड़ा और समर्थ पथप्रदर्शक भी मिल गया। अतएव इस युग में न केवल साहित्य (काव्य) ग्रंथों का ही सृजन हुआ; वरन् हिन्दी शिक्षा एवं सामान्य ज्ञान को बढ़ाने वाले शास्त्र एवं विज्ञान के ग्रंथ भी लिखे जाने लगे और उन्हें प्रकाशित और प्रचारित किया गया। इस प्रकार यह युग आन्दोलन तथा हिन्दी के भंडार की श्रीवृद्धि का समय है। गद्य-पद्य, व्याकरण, दर्शन, छन्द, अलंकार आदि पर ग्रंथों की रचना हुई। द्विवेदी युग में जहाँ विविध विषयों पर रचना का सूत्रपात हुआ, वहीं कवियों और साहित्यकारों को भी बड़ी प्रेरणा मिली। इस समय का निबंध, कहानी, उपन्यास, नाटक सभी साहित्य प्रगति की ओर बढ़ता दिखाई देता है। उसकी उपलब्धियाँ चाहे इस युग को चमत्कृत न कर पायी हों, पर आगे जो उत्कृष्ट साहित्य आया उसकी प्रेरणा का स्रोत इस युग को माना जा सकता है। यहाँ पर हम नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) के प्रमुख कवियों और उनके काव्य का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी—पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् १८६४ ई० में रायबरेली जिले के दौलतपुर नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम था पं० रामसहाय द्विवेदी। गाँव के स्कूल में हिन्दी उर्दू की शिक्षा-प्राप्त कर इन्होंने संस्कृत की पुस्तकें पढ़ीं और फिर १३ वर्ष की अवस्था में रायबरेली अंग्रेज़ी पढ़ने गये। अंग्रेज़ी के साथ इनकी दूसरी ज़बान फ़ारसी थी। कारणवश ये पुरवा (उन्नाव) फिर फतेहपुर के स्कूलों में पढ़े। उसके बाद पिता के साथ साथ बम्बई गये और वहाँ पर रह कर गुजराती और मराठी सीखी। कुछ समय के उपरान्त उन्होंने रेलवे की नौकरी की और कई पदों पर ये नागपुर, अजमेर, बम्बई, खँडवा, होशंगाबाद, इटारसी, झाँसी आदि स्थानों में रहे। इस बीच इन्होंने बँगला भी सीखी। हिन्दी कविता की ओर इनकी रुचि बचपन से ही थी। आगे चल कर ट्राफिक सुपरिंटेंडेंट से इनकी न बनी और इन्होंने इस्तीफा दे दिया और हिन्दी साहित्य-सेवा का व्रत ले लिया। द्विवेदी जी ने इस बीच अपने परिश्रम से काफी अच्छी विद्वत्ता प्राप्त की।

द्विवेदी जी संस्कृत और हिन्दी दोनों ही भाषाओं में कविता करते थे इन्होंने खड़ी बोली में कविता तो की ही। खड़ी बोली (नागरी हिन्दी) भाषा का परिष्कार किया और अनेक लेखकों और विद्वानों को हिन्दी में लिखने की प्रेरणा प्रदान की। सरस्वती का संपादन इन्होंने २० वर्षों तक किया और इस बीच की 'सरस्वती' पत्रिका संग्रहणीय है। उसमें विविध विषयों का ज्ञान और साहित्य रहता था। द्विवेदी जी का एक और बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य अंग्रेज़ी, संस्कृत और बँगला पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद था। यह कार्य इन्होंने स्वयं भी किया और दूसरों से भी कराया। इनके लेखों और पुस्तकों की एक बहुत बड़ी लम्बी सूची है। इनकी मुख्य मुख्य पुस्तकें निम्नांकित हैं—अद्‌भुत आलाप, आख्यायिका सप्तक, आध्यात्मिकी, आलोचनांजलि, कविता कलाप, कालिदास की निरंकुशता, कालिदास और उनकी कविता, कालिदास की समालोचना, किरातार्जुनीय की टीका, कुमारसंभव की टीका, कुमार-संभवसार, कोविद कीर्तन, चरित चर्चा, जल चिकित्सा, नाट्य शास्त्र, नैषध चरित-चर्चा, प्राचीन चिह्न, प्राचीन पंडित और कवि, पुरातत्त्व प्रसंग, पुरावृत्त, मेघदूत की टीका, रघुवंश की टीका, रसज्ञरंजन, लेखांजलि, वनिता-विलास, वाग्विलास, विक्रमांकदेव चरित चर्चा, विचार विमर्श, विदेशी विद्वान, विज्ञान वेत्ता, वेणी संहार नाटक, वैचित्र्य चित्रण, संपत्तिशास्त्र, साहित्य संदर्भ, साहित्या-लाप, साहित्य सीकर, सुकवि संकीर्तन, सुमन, हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, हिन्दी

महाभारत, काव्यमंजूषा आदि।

द्विवेदी जी बड़े पुरुषार्थी, विनोदी, उदात्त एवं सुलझे विचार वाले व्यक्ति थे। देश-प्रेम और साहित्य-प्रेम इनके भीतर कूट-कूट कर भरा था। इनका सारा समय लिखने-पढ़ने में ही बीतता था। इस युग के अनेक बड़े कवि द्विवेदी जी के आशीष और कृपा से इतने बड़े बने। अन्त समय में ये अपने गाँव में ही रहने लगे थे। वहाँ इनका एक बड़ा पुस्तकालय था। वृद्धावस्था में इन्हें जलोदर हो गया था और उसी से ये २१ दिसम्बर सन् १६३८ को स्वर्गवासी हुए। इनके व्यक्तित्व और कार्य ने साहित्य में नवीन शक्तियों को जन्म दिया। इसी से इनके नाम से ही यह युग प्रख्यात है। इनकी रचना के उदाहरण—

सुरम्यरूपे ! रसराशिरंजिते,
विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गई ?
अलौकिकानंदविधायिनी महा,
कवीन्द्रकान्ते ! कविते ! अहो कहाँ ?

कटु इन्द्रायण में सुन्दर फल मधुर ईख में एक नहीं।
बुद्धिमान्द्य की सीमा तूने दिखलाई है कहीं कहीं।
निपट सुगन्धहीन यदि तूने पैदा किया पलाश।
तो क्या कंचन में भी तुझको भरना था न सुवास॥

विश्व बनाने वाला तुझको सब कोई बतलाते हैं।
विहग बनाने में भी तेरी भूल किन्तु हम पाते हैं।
यदि तेरे कर में कुछ होता कला-कुशल लवलेश।
काक और पिक एक रंग के क्यों होते लोकेश !

नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं।
सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े बड़े उग आते हैं।
घोर घमंडी पुरुषों की क्यों टेढ़ी हुई न लंक।
चिह्न देख जिसमें सब उनको पहिचानते निशंक॥

द्विवेदी जी की कविता वास्तव में विचारात्मक है, कल्पना और अनुभूति की रमणीयता एवं व्यंजना का विलास इनकी खड़ी बोली रचना में नहीं है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय—(१८६५-१६४५) उपाध्याय जी का परिचय व्रजभाषा काव्य-परंपरा के प्रसंग में दिया जा चुका है। उपाध्याय जी का समय भारतेन्दु युग के अंतिम चरण से प्रारंभ हो कर, द्विवेदी और छायावाद युगों तक रहता है। परन्तु प्रधानतया वे द्विवेदी युग के ही कवि हैं। नागरी

हिन्दी (खड़ी बोली) के क्षेत्र में सबसे प्रथम इन्होंने ही अपना नवीन दृष्टि से महाप्रबंध 'प्रियप्रवास' लिखा जिसमें महाकाव्य की अनेक विशेषतायें पायी जाती हैं। उपाध्यायजी की कविता शैली की दृष्टि से दो रूपों में देखी जा सकती है—१. संस्कृत-गर्भित शैली और २. बोलचाल की मुहावरेदार शैली। वास्तव में स्वाभाविक शैली तो दोनों का ही समन्वय चाहती है। उपाध्यायजी ने दोनों ही शैलियों का अतिरेक प्रकट कर दिखाया है। उपाध्यायजी को संस्कृत-शैली में लिखने का आग्रह इस कारण से है कि राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की रचना यदि संस्कृतनिष्ठ है, तो अन्य प्रान्तीय भाषाओं को बोलने वाले जैसे बंगाली, मराठी, तथा दक्षिण भारत की भाषायें बोलने वाले उसे सरलतापूर्वक समझ सकेंगे। अतः इन्होंने अपने काव्य "प्रियप्रवास" में इसी प्रकार की भाषा का अधिकतर प्रयोग किया है। कहीं कहीं तो वह संस्कृत विशेषणों से ही युक्त है और हिन्दी केवल एक आध क्रियापद में ही सिकुड़ कर रह गयी है; जैसे—

रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीडा-कला-पुत्तली॥

परन्तु कहीं ऐसी भाषा है जिसमें कि बोलचाल भाषा है; जैसे—

है कलेजे को धुला देता कोई। मैल चितवन पर कोई लाता नहीं।
कौन दुखिया आसुओं पर हो सदय। पूछ ऐसों की कहीं होती नहीं॥

उपाध्याय जी के ग्रंथ ये हैं—प्रिय प्रवास, वैदेही वनवास, पारिजात, चोखे चौपदे, बोलचाल, रसकलश, पद्य प्रसून, काव्यलता, ऋतु मुकुर, काव्योपवन, प्रेम पुष्पोपहार, प्रेमप्रपंच, प्रेमांबु, प्रस्रवण, प्रेमांबु-प्रवाह, प्रेमांबु-वारिधि तथा अन्य संग्रह।

अपने ग्रन्थों की रचना से 'हरिऔध' जी ने यह सिद्ध कर दिखाया कि खड़ी बोली में हर प्रकार की रचना हो सकती है। हरिऔध जी ने प्रकृति के चित्रण बड़े ही स्वाभाविक और मोहक रूप में किये हैं और संध्या, वनस्थली आदि के वर्णन बड़े ही रोचक हैं। इनका चरित्र-चित्रण भी स्वाभाविक और सीधा है। भावों का सरल वर्णन, विलाप आदि सर्वसाधारण पर प्रकाश डालने वाले हैं। उपाध्याय जी की शक्ति अभिधा ही है, लक्षणा और व्यंजना इनके काव्य में अपना चमत्कार कम दिखा पायी है।

सामयिक प्रभाव के अनुकूल तथा अपने भक्ति प्रधान संस्कारों के परिणामस्वरूप हरिऔध जी के काव्य में रहस्यात्मकता भी समाविष्ट हो गई है। खड़ी बोली के उस प्रारंभिक काल को देखते हुए इस प्रकार की रचना

अत्यन्त सुन्दर और उत्कृष्ट है। एक छन्द यह है—

किसके लुभाने के बहाने मनमाने कर,
रात में खज़ाने रत्नराजि के हैं खुलते।
किसके कहे से ओस विन्दु सुमना वर्षा के,
मोह कर मानस हैं मोतियों से तुलते।
'हरिऔध' किसके सहारे से समीर द्वारा,
मंजुल मही में हैं मरन्द भार ढुलते।
किसके करों से है ये अरुणिमा निराली मिली,
किसके धुलाये ये धवल फूल धुलते॥

वास्तव में द्विवेदी युग के दो कवियों "हरिऔध" और मैथिलीशरण गुप्त के कृतित्व के कारण आधुनिक नागरी हिन्दी साहित्य गौरवान्वित हुआ और लोगों को निश्चय हो गया कि इसका भविष्य उज्ज्वल है। प्रियप्रवास और साकेत जैसी रचनाओं के सामने आ जाने पर किसी को भ्रम न रह सका।

'हरिऔध' खड़ी बोली के प्रथम महाकवि हैं। प्रियप्रवास में कृष्ण और राधा का चरित्र मानवीय भूमि पर चित्रित करके उन्होंने इन अवतारी चरित्रों को हमारी भावना के अत्यन्त निकट ला दिया है। राधा के चित्रण में युग की नारी के गौरव और उसके सेवा भाव के संदेश की अभिव्यक्ति हुई है। इस समय के सभी कवियों ने नारी के गौरव की प्रतिष्ठा का महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया है। वैदेही वनवास और पारिजात में भी इनके नारी गौरव तथा उदात्त नैतिक एवं रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति हुई। 'हरिऔध' जी का आधुनिक हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

बालमुकुन्द गुप्त—इस युग के कवियों में प्रकृति के यथातथ्य चित्रण की विशेषता पायी जाती है। बालमुकुन्द गुप्त ने यद्यपि व्रजभाषा में अधिकांश लिखा है, पर खड़ी बोली की रचना भी इनकी द्विवेदी युग की विशेषताओं (जिनमें यथातथ्य अभिधात्मक वर्णन प्रमुख हैं) से संयुक्त है। इनकी 'वंसतोत्सव' रचना की कुछ पंक्तियाँ हैं—

आ आ प्यारी वसन्त सब ऋतुओं में प्यारी।
तेरा शुभागमन सुन फूली केसर क्यारी।
सरसों तुझको देख रही है आँख उठाये।
गेंदे ले ले फूल खड़े हैं सजे सजाये॥
आस कर रहे हैं टेसू तेरे दर्शन की।
फूल फूल दिखलाते हैं गति अपने मन की।

बौराई सी ताक रही है आम की मौरी।
देख रही है तेरी बाट बहोरि बहोरी ॥

इस प्रकार सीधा सा उलझन, प्रतीक, लाक्षणिकता, संकेत आदि से रहित प्रकृति का चित्रण द्विवेदी युग के कवियों में देखने को मिलता है।

रामचरित उपाध्याय—उपाध्याय जी का परिचय 'अवधी काव्य-धारा' के प्रसंग में दिया जा चुका है। इन्होंने अधिकांश खड़ी बोली हिन्दी में ही लिखा है और इनका 'रामचरित चिन्तामणि' बहुत कुछ प्रियप्रवास की शैली पर लिखा गया प्रबंध काव्य है जिसमें राम के जीवन-चरित्र का वर्णन हुआ है। इसके भीतर भी आधुनिक नवीन भावनाओं का समावेश हुआ है। अपने कथानक का आधार वाल्मीकीय रामायण को बनाते हुए भी यथास्थान उसे संक्षिप्त कर दिया है जिसके कारण तथा अन्य वर्णन में कहीं-कहीं औचित्य का ध्यान नहीं रखा गया। देश-भक्ति-भावना से प्रेरित यह ग्रंथ है। यह भावना उपदेशात्मक रूप में प्रकट हुई है जो कि इस युग का ही प्रभाव है। इनकी रचना के उदाहरण ये हैं—

सरसता-सरिता-जयिनी जहाँ। नवनवा नवनीत-पदावली।
तदपि हा यह भाग्य-विहीन की। सुकविता कवि तापकरी हुई।
मन ! रमा रमणी रमणीयता। मिल गई यदि ये विधि-योग से।
पर जिसे न मिली कविता सुधा। रसिकता सिकता सम है उसे ॥१॥

विमल चित्त हो दानशील हो, शूरवीर हो सरल विचार।
सत्य वचन हो, प्रेम युक्त हो, करे सभी से सम व्यवहार।
ज्ञानी सहृदय हो उपकारी, और गुणी हो, अपना धर्म।
कभी न छोड़े देश भक्त हो, ये सब सत्पुरुषों के कर्म ॥२॥

परगुण को गाते रहते हैं, दोष किसी का नहिं कहते हैं।
निजकुल को करते हैं मंडित, क्यों सखि सुरगण ? नहिं सखि पंडित ॥३॥

सैयद अमीर अली 'मीर'—सैयद अमीर अली द्विवेदी युग के प्रसिद्ध कवि हैं। इनका नाम आदर के साथ लिया जाता है। इनका जन्म सन् १८७३ ई० में मध्यप्रदेश के सागर नगर में हुआ था। इनके पिता का नाम मीर रुस्तम अली था। बाल्यावस्था में पिता का स्वर्गवास होने से चाचा के यहाँ इनका पालन हुआ। ये पुलिस विभाग के कर्मचारी थे। ये बड़े ही सज्जन थे। पेंशन प्राप्त करने के बाद ये देवरी नामक स्थान में रहने लगे। ये पढ़ने में भी बड़े तेज़ थे। वास्तव में ये पहले उर्दू में लिखते थे। पर एक बार 'भानुकवि समाज' की ओर से "लोभ ते अमी के अहि चढ़्यो जात चन्द पै"

समस्या अखबार में छपी; मीर ने इसकी पूर्ति इस प्रकार की—

सीता-राम ब्याह को उछाह अवलोक सब,
जनक समाज बलि जात सुखकन्द पै।
वेद कुल रीति जैसी आज्ञा वसिष्ठ दीनी,
भाँवरी के सुन्दर समय निरद्वन्द पै।
ता समै दुलही माँग भरबे चलायो हाथ,
दूल्हा ने सिंदूर लै अंगूठा में अमन्द पै।
उपमा तहँ ऐसी मन भाई कवि मीर मनो,
लोभ ते अमी के अहि चढ़ो जात चंद पै॥

इसमें कुछ छन्द संबंधी दोष होने के कारण पुरस्कार तो न मिल सका; पर समाज की ओर से एक उत्साहवर्द्धक पत्र मिला। तब से ये साहित्य का अध्ययन करने लगे और लिखने लगे। गोस्वामी जी का 'रामायण' इन्हें बड़ा प्रिय था। 'मीर' जी हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने के पक्षपाती थे। इन्होंने बड़ी परिमार्जित नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) में रचनायें की हैं। इन्हें 'साहित्य-रत्न', 'काव्य रसाल' आदि की उपाधियाँ साहित्यिक संस्थाओं से मिली थीं। इनका देहावसान सन् १६३७ ई० में रात को रेल की पटरी पार करते समय डब्बे से कट जाने के कारण हुआ था। इनके रचे ग्रन्थ हैं—बूढ़े का ब्याह, नीति-दर्पण, सदाचारी बालक, उलाहना पंचक, अन्योक्ति शतक आदि। इनकी रचना के नमूने—

तारीफ सुनते हैं तुम्हारी हम बहुत। सार्थक करती नहीं क्यों नाम को।
मात गंगे! पाप अरि को दो बहा। शुद्ध कर दो हिन्द के हृद्धाम को॥१॥

× × ×

हिन्दू मुसलमान हों किंवा भारत में जनमे ईसाई।
जननी जन्मभूमि के नाते सब ही हैं भाई भाई।
मिलकर ऐसे करो काम हो जिससे उन्नत देश समाज।
भूल जायें कल की वे बातें जिससे कलह न होवे आज।
देशी कला वृद्धि करने को करो स्वदेशी वस्तु पसन्द।
धन स्वाहा होता हो जिनमें उन बातों को कर दो बन्द।
गरज काम वे करो बन्धु तुम जिनसे यश-रवि पड़े न मन्द।
भारत का मस्तक हो ऊँचा, राजा प्रजा रहे सानंद॥२॥

कैदी होने के प्रथम, था अलि मीर स्वतंत्र।
उसे पवन ने छल लिया, कह के मोहन मंत्र।

कह के मोहन मंत्र तंत्र सा फिर कुछ करके।
उसे गयी ले खींच, पास में गहरे सर के।
पड़ा प्रेम में अचल, वहाँ लकड़ी का भेदी।
था जो कोमल कमल, बनाया उसने कैदी ॥३॥

कामताप्रसाद गुरु—मध्य प्रदेश में सागर के पास गढ़पहरा नामक स्थान में इनके पूर्वज उत्तर भारत से आये थे। और अपनी योग्यता के कारण वहाँ के दाँगी (राजपूत) राजाओं की रानियों के 'गुरु' रूप में नियुक्त हुए। दाँगियों के बाद मराठे राजाओं के यहाँ भी इनका वैसा ही सम्मान रहा। इसी कुल में पंडित कामताप्रसाद 'गुरु' का जन्म सन् १८७५ ई० में सागर में हुआ था। ये कान्यकुब्ज पांडेय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गंगाप्रसाद 'गुरु' था। इनकी शिक्षा सागर में हुई थी। ये वहीं हाई-स्कूल में शिक्षक का कार्य करने लगे। शिक्षाक्षेत्र में अनेक पदों पर इन्होंने कार्य किया। इनका साहित्य और व्याकरण के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य है। इन्होंने इलाहाबाद में 'सरस्वती' और 'बालसखा' का सम्पादन भी किया था। गुरु जी अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी, उड़िया, बँगला, मराठी आदि भाषाओं का ज्ञान रखते थे। इनका 'हिन्दी-व्याकरण' व्याकरण-क्षेत्र में आदर्श ग्रंथ माना जाता है। ये बड़े अच्छे समालोचक कवि थे। इनके दोनों पुत्र भी कवि हैं जो अब जबलपुर में रहते हैं। इनकी कविता प्रसादगुणसंपन्न, सरल एवं प्रवाहमयी होती है। कुछ रचनायें इनकी व्यंग्यात्मक भी हैं। उदाहरण—

जीती जाती हुई जिन्होंने भारत बाजी।
निज बल से मलमेट विधर्मी मुगल कुराजी।
जिनके आगे ठहर सके जंगी न जहाजी।
हैं जगजाहिर वही छत्रपति भूप शिवाजी ॥ (शिवाजी)

माता का तन सार पिता का तू सर्वस है।
दोनों का संसार वंश का विस्तृत यश है।
माता-पितानुराग प्रगट तेरा यह तन है।
मूर्तिमान सौभाग्य पुत्र तू अद्भुत धन है ॥ (बालक)

कालचाल से हैं खुले, तेरे भाग्य विचित्र।
भारत में तू हो गई, कंठी तुल्य पवित्र ॥
धज्जी, चिंदी, चीथड़ा, लत्ता है तू आप।
पर अनिष्ट सर्वत्र तव, राज्य रहा है व्याप ॥ (नेकटाई)

गिरिधर शर्मा 'नवरत्न'—गिरिधर शर्मा का जन्म सन् १८८१ में झालरापाटन में हुआ था। पिता का नाम ब्रजेश्वर भट्ट था। इनके पूर्वज राजगुरु थे। इन्होंने जयपुर और काशी में शिक्षा पायी। ये संस्कृत के भी विद्वान थे और अनेक संस्कृत-हिन्दी ग्रंथों की रचना की। इनके लेख विभिन्न पत्रों में निकलते रहे। काशी के विद्वत्समाज ने इनकी योग्यता और प्रतिभा पर मुग्ध हो कर 'नवरत्न' की उपाधि से इन्हें विभूषित कया। इन्हें 'महोपदेशक' तथा 'व्याख्यान भास्कर' की भी उपाधियाँ मिली थीं। उदाहरण—

मेरा देश देश का मैं, देश मेरा जीव प्रान,
मेरा सम्मान मेरे देश की बड़ाई में।
जिऊँगा स्वदेशहित, मरूँगा स्वदेशकाज,
देश के लिए न कभी करूँगा बुराई मैं।
भीषण भयंकर प्रसंग में भी भूल के भी,
भूलूँगा न देशहित राम की दुहाई मैं।
जब लौं रहेगी साँस सर्वस भी लुटा दूँगा,
ईश को भी झुका लूँगा देश की भलाई में॥

मैं जो नया ग्रंथ विलोकता हूँ। भाता मुझे सो नव मित्र सा है।
देखूँ उसे मैं नित बार बार। मानों मिला मित्र मुझे पुराना॥

रामदास गौड़—रामदास गौड़ ने हिन्दी साहित्य के भंडार को वैज्ञानिक साहित्य द्वारा भरने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। 'विज्ञान' पत्र के सम्पादक ये रहे। इन्होंने साहित्य और संस्कृति संबंधी अनेक ग्रंथों की रचना की। इनका लिखा "हिन्दुत्व" भारतीय संस्कृति का विशाल महाकोश है। गौड़ जी का जन्म सन् १८८१ ई० में जौनपुर में हुआ था। पर ये काशी में रहने लगे थे। ये गौड़ कायस्थ थे, इन्होंने रसायनशास्त्र में एम० एस-सी० पास किया था। इन्होंने अनेक साहित्यिक और शिक्षा-संबंधी संस्थाओं में कार्य किया। इन्होंने कुछ लेख 'अब्दुल्ला' नाम से भी लिखे थे। गौड़ जी बड़े देशभक्त, भाषा-मर्मज्ञ एवं साहित्यप्रेमी थे। इन्हें 'विज्ञान हस्तामलक' पुस्तक पर मंगलाप्रसाद-पारितोषिक मिला था। इनका देहावसान सन् १९३७ में काशी में हुआ। उदाहरण—

खेत गये सब सूख सूम के हिय सी धरती।
यद्यपि डाले गोड़, न छोड़े ऊसर परती।
कहीं न बरसा मेह खेह भागों ने खाई।
कहीं हुई अतिवृष्टि सृष्टि सब बोर बहाई।

कुछ भी कहीं कुधान्य कभी भूले से होते।
खाते उल्लू मूस घूस टिड्डी दल तोते।
फैले कितने रोग महामारी ने लूटे।
मरे असंखों लोग भाग भारत के फूटे॥

गौड़ जी ने दोहे और पद ब्रजभाषा में भी लिखे हैं।

गयाप्रसाद शुक्ल सनेही—सनेही जी का परिचय ब्रजभाषा काव्यधारा के प्रसंग में दिया जा चुका है। सनेही जी कवित्त-सवैया लिखने की विलक्षण प्रतिभा ले कर उत्पन्न हुए हैं। इनकी प्रारंभिक रचनाओं की ही प्रशंसा प्रसिद्ध कवित्त-सवैया लेखक 'शंकर' ने की थी। सनेही जी की रचनायें—प्रेमपचीसी, कुसुमांजलि, कृषक-क्रन्दन, मानस-तरंग और करुणभारती आदि हैं। सनेही जी की रचना में भाषा भाव और कल्पना की अद्भुत रमणीयता एवं आभा विद्यमान रहती है। कवित्त-सवैया छन्दों में यद्यपि अन्तिम पंक्ति ही विशेष चमत्कारिणी होती है, परन्तु 'सनेही' जी की रचनाओं में प्रायः प्रत्येक पंक्ति जगमगाती है। ये आधुनिक कवित्त-सवैयाकारों की मंडली के गुरु हैं।

कुछ उदाहरण ये हैं—

आँखों आँखों में न मुसकराते कभी आते जाते,
छुटते ही लोचनों में जल भरते नहीं।
बनना न होता यदि उनको हृदयहार,
हँसते ही हँसते हृदय हरते नहीं।
सच्ची जो लगन, नहीं मिलन असंभव तो,
आशावान प्रेमी हैं निराश मरते नहीं।
अंगीकार करना न उनको 'सनेही' होता,
नहीं कर देते 'नहीं-नहीं' करते नहीं॥१॥

जीवन समर में अमर वर दें अमर,
जीत ले विरोधियों को विश्व के विजेता! जा।
लाख भय भ्रांति हो अशांति का न लेना नाम,
परम प्रशांत चित्त होके शांतिचेता! जा।
वायु प्रतिकूल है, हुआ करे न चिन्ता कर,
नाव नीति की तू निज बल पर खेता जा।
साथी वही जिसने कि हाथी के लगाया हाथ,
एक बस साहस 'सनेही' साथ लेता जा॥२॥

रूपनारायण पांडेय—पंडित रूपनारायण पांडेय, लखनऊ शहर के

रानी कटरा मुहल्ले के निवासी हैं। इनका जन्म सन् १८८४ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम शिवराम पांडेय था। एक वर्ष की अवस्था में ही पिता का देहावसान हो गया था और ये अपने पितामह के लालन-पालन में शिक्षित हुए। परन्तु थोड़े ही समय बाद पितामह का भी देहावसान हो गया। तदुपरान्त अपने परिश्रम से ही आप अध्ययन करते रहे और संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती तथा उर्दू का ज्ञान प्राप्त किया। साहित्यिक अभिरुचि पांडेयजी की बचपन ही से थी और १५ वर्ष की अवस्था से ही लिखना आरम्भ कर दिया था। पांडेयजी की विशेष देन अनुवाद-क्षेत्र में है। हिन्दी के भंडार को भरने के लिए इन्होंने लगभग १०० ग्रंथों का अनुवाद किया। इन्होंने बँगला की 'कृत्तिवास रामायण' का भी हिन्दी अनुवाद किया था। पांडेयजी अनेक पत्रों के संपादक भी रहे। लखनऊ की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'माधुरी' का इन्होंने बहुत काल तक संपादन किया। इन्होंने २०० से अधिक गद्य लेख और १०० से अधिक पद्य रचनायें की हैं। पांडेयजी की रचना में द्विवेदीकालीन काव्य का परिमार्जित रूप देखने को मिलता है। इनकी कविता बड़ी मधुर और भावपूर्ण होती है। पांडेयजी ने समस्यापूर्ति काव्य भी लिखा है। इनके नागरी हिन्दी (खड़ीबोली) सवैयों और कवित्तों में भी एक सुष्ठु रवानी है। इनके द्वारा अनुवादित और रचित प्रमुख रचनायें निम्नांकित हैं—

शुकोक्ति सुधासागर (श्रीमद्भागवत का समग्र अनुवाद), महाभारत का अनुवाद, रंभाशुक-संवाद (पद्यानुवाद), शांतिकुटीर, चौबे का चिट्ठा, दुर्गादास, उसपार, शाहजहाँ, नूरजहाँ, सीता, पाषाणी, सूम के घर धूम, भारतरमणी, बंकिम निबंधावली, बाल-कालिदास, राजारानी, घर बाहर, रमा, पतित पति, मूर्ख-मंडली, कृष्णाकुमारी, अज्ञातवास, भगवतीशतक, शिवशतक, पत्रपुष्प, दुरंगी-दुनिया, अबला का बल, कर्तव्य पालन आदि। इनकी रचनाओं का संग्रह पराग नाम से छपा है। उदाहरण—

अहह! अधम आँधी आ गई तू कहाँ से!
प्रलय घन घटा सी छा गई तू कहाँ से!
पर-दुख-सुख तूने हा न देखा न भाला!
कुसुम अधखिला ही हाय यों तोड़ डाला! (दलित कुसुम)

बन बीच बसे थे फँसे थे ममत्व में, एक कपोत कपोती कहीं।
दिनरात न एक को दूसरा छोड़ता, ऐसे हिले मिले दोनों वहीं॥
बढ़ने लगा नित्य नया नया नेह, नई नई कामना होती रही।
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं॥

सुविशाल नभों में उड़े फिरते, अवलोकते प्राकृत चित्र छटा।
कहीं शस्य से श्यामल खेत खड़े, जिन्हें देख घटा का भी मान घटा॥
कहीं कोसों उजाड़ में झाड़ पड़े, कहीं आड़ में कोई पहाड़ सटा।
कहीं कुंजलता के वितान तने, सब फूलों का सौरभ था सिमटा।

(वन विहंगम से)

मन्नन द्विवेदी—पंडित मन्नन द्विवेदी 'गजपुरी' जिला गोरखपुर के गजपुर गाँव के निवासी तथा ब्रजभाषा के कवि पंडित मातादीन द्विवेदी के पुत्र थे। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म सन् १८८५ ई० में हुआ था। बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त कर ये तहसीलदार हो गये थे। लिखने का शौक इनको बचपन ही से था। ये बड़े देशभक्त, सरस हृदय, मिलनसार थे और हिन्दी के अच्छे लेखक थे। इनके ग्रंथ हैं—बन्धु विनय, धनुषभंग, आर्यललना, रणजीतसिंह का जीवन चरित्र, गोरखपुर विभाग के कवि, भारतवर्ष के प्रसिद्ध पुरुष, रामलाल (उपन्यास) मुसलमानी राज का इतिहास।

रचना के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

जन्म दिया माता सा जिसने किया सदा लालन-पालन।
जिसकी मिट्टी जल आदिक से विरचित है हम सबका तन।
गिरिवर गण रक्षा करते हैं उच्च उठा निज शृंग महान।
जिसके लता द्रुमादिक करते हैं हमको निज छाया दान।
ऐसी मातृभूमि मेरी है स्वर्ग लोक से भी न्यारी।
जिसके पद कमलों पर मेरा तन मन धन सब बलिहारी ॥१॥

हिमालय सर है उठाये ऊपर, बगल में झरना झलक रहा है।
उधर शरद के हैं मेघ छाये, उधर फटिक जल छलक रहा है॥
इधर घना वन हरा भरा है, उपल पै तरुवर उगाया जिसने।
अचंभा इसमें है कौन प्यारे, पड़ा था भारत जगाया उसने॥

— — —

हमारे भारत के नौनिहालो, प्रभुत्व वैभव विकास धारे।
सुहृद हमारे हमारे प्रियवर, हमारी माता के चख के तारे॥
न अब भी आलस में पड़ के बैठो, दशों दिशा में प्रभा है छायी।
उठो अँधेरा मिटा है प्यारे, बहुत दिनों में दिवाली आई ॥२॥

राष्ट्रकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त—मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग के सबसे महत्त्वपूर्ण कवि हैं। हिन्दी के सौभाग्य से आप अब भी जीवित हैं और राष्ट्रभाषा के साहित्य के भंडार भरने और उसके हितों की रक्षा करने में

संलग्न हैं। इनकी सेवाओं और कार्यों के परिणामस्वरूप आपको भारतीय संसद् (लोकसभा) का सदस्य मनोनीत किया गया है। गुप्त जी का जन्म सितम्बर सन् १८८६ ई० में हुआ था। इस वर्ष ७० वें वर्ष को पूर्ण करने पर इनको अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया जा रहा है। गुप्तजी का जन्मस्थान चिरगाँव, जिला झाँसी है। इनके पिता सेठ रामचरण भी हिन्दी में कविता करते थे और बड़े भक्त थे। उनका उपनाम 'कनकलता' था। मैथिलीशरण जी ने स्कूलों और कालेजों में अधिक शिक्षा नहीं प्राप्त की; परन्तु घर पर इन्होंने संस्कृत, बँगला, अंग्रेजी, उर्दू आदि का ज्ञान प्राप्त किया। बचपन में ही इन्होंने एक छप्पय बनाया था जिस पर प्रसन्न हो कर सेठ जी ने इन्हें सफल कवि होने का वरदान दिया था। आज उनका आशीर्वाद सफलीभूत है।

साहित्यिक क्षेत्र में गुप्त जी के मार्ग-प्रदर्शक थे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी। 'सरस्वती' में प्रकाशित रचनाओं के द्वारा ही गुप्त जी को हिन्दी संसार जानने लगा। धीरे धीरे ये बड़ी ही परिष्कृत और ललित रचनायें लिखने लगे और विविध विषयों पर इन्होंने बहुत से काव्य रचे। कविता का क्षेत्र छोड़ कर ये काव्य के अन्य क्षेत्रों में नहीं गये। परन्तु इस क्षेत्र की समस्त कृतियाँ उनकी ४० से ऊपर हैं। गुप्तजी की रचनायें भारतीय संस्कृति के विविध रूपों से संबंध रखती हैं। उनका अधिकांश आधार रामायण, महाभारत, बुद्ध का जीवन चरित तथा कुछ ऐतिहासिक घटनायें और महापुरुष हैं। आधुनिक कवियों में किसी ने भी इतने खंड प्रबंध न लिखे होंगे जितने गुप्त जी ने। गुप्त जी ने बँगला, संस्कृत और अंग्रेज़ी से अनुवाद भी किये हैं। 'मेघनाद वध (बँगला से), स्वप्नवासवदत्ता (संस्कृत से), उमर खैयाम की रुबाइयाँ (अंग्रेज़ी से) अनूदित ग्रन्थ हैं। अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ये हैं—अनघ, चन्द्रहास, तिलोत्तमा, रंग में भंग, जयद्रथ वध, भारत भारती, शकुन्तला, पत्रावली, वैतालिक, पद्मावली, किसान, अनघ, पंचवटी, स्वदेश संगीत, गुरु तेग बहादुर, हिन्दू, शक्ति, सैरन्ध्री, बनवैभव, बकसंहार, झंकार, साकेत, द्वापर, सिद्धराज, यशोधरा, नहुष, विकट भट, मौर्य विजय, मंगलघट, त्रिपथगा, विश्ववेदना, गुरुकुल और जय भारत। गुप्त जी के विख्यात करनेवाली 'भारत भारती' है जिसके द्वारा इन्होंने राष्ट्रीय जागरण का शंख फूँका था। काव्य-प्रेमियों के बीच जयद्रथवध, पंचवटी, यशोधरा और साकेत ग्रंथों के द्वारा गुप्त जी को सम्मान प्राप्त हुआ। साकेत इनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है और आधुनिक युग का महाकाव्य।

गुप्त जी के काव्य का सबसे बड़ा गुण सरलता है। सरल और विशद वर्णन द्विवेदी युग की विशेषतायें हैं; परन्तु अन्य कवियों की अपेक्षा गुप्त जी की

हुए भी अपनी व्यापक वैष्णव भावना प्रकट की है। इनके मंगलाचरणों में इनका बुद्धि-वैभव और सूझ प्रकट होती है। गुप्त जी की रचनाओं में देश-प्रेम और राष्ट्रीयता अपने सांस्कृतिक आवरणों में परिवेष्टित हो कर आये हैं। और उनके लगभग प्रत्येक ग्रंथ का कुछ न कुछ संदेश है। कविता के संबंध में उनकी धारणा सामाजिक एवं आदर्शवादी है। वे उसे जीवन के लिए मानते हैं। गुप्त जी ने गीति काव्य की सृष्टि भी नागरी (खड़ी बोली) हिन्दी में युगीन नवचेतना और भावनाओं को अपना कर की है। इनके प्रकृति-चित्रण बड़े ही सुन्दर और मनोग्राही हैं। साथ ही चरित्र-चित्रण भी बड़े ही यथार्थ और मनस्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण करने वाले हैं, ऊपरी नहीं। इनकी रचनाओं में हम नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) के शैशवावस्था से ले कर प्रौढ़ावस्था तक के रूप को देख सकते हैं। ये उदात्त भावना के उच्च अभि-व्यंजना-कौशल से संपन्न कवि हैं और आधुनिक कवियों में इनका स्थान शीर्ष पर है।

लोचनप्रसाद पांडेय—पांडेय लोचनप्रसाद जी का जन्म सन् १८८७ ई० में बिलासपुर जिले के बालपुर नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता पंडित चिन्तामणि पांडेय विद्याप्रेमी सज्जन थे। इन्होंने वहाँ एक पाठशाला और पुस्तकालय स्थापित किया था। इसी पाठशाला में लोचन-प्रसाद जी की शिक्षा का श्रीगणेश हुआ था। सन् १९०५ में उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से एंट्रेन्स पास किया; परन्तु उसके बाद घर पर ही उड़िया, बँगला और संस्कृत भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। इन्होंने उड़िया और हिन्दी दोनों में ही काव्य की रचना की है। इनके द्वारा रचे ग्रंथ—दो मित्र, बाल विनोद, नीतिकविता, माधवमंजरी, मेवाड़ गाथा, चरितमाला, रघुवंश सार, पद्यकुसु-मांजलि, कविताकुसुममाला आदि हैं। इन्होंने अंग्रेजी में भी कुछ पुस्तकें लिखीं हैं। इन्होंने ८-१० वर्षों के परिश्रम से एक 'कोसल-प्रशस्ति रत्नावली' प्रान्त के शिलालेखों के आधार पर तैयार की है। सन् १९२१ में ये मध्य प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी थे। इनके छोटे भाई मुकुटधर पांडेय भी रचना करते हैं। पांडेय जी की कविता की भाषा सरल, और मधुर तथा प्रवाहपूर्ण है। वर्णन भी बड़े ललित हैं। उदाहरण—

बन एक बड़ा ही मनोहर था, रमणीयता का शुचि आकर सा !
सुख शांति के साज से पूरा सजा, वह सोहता था कुसुमाकर सा।
शुभ सात्विक भाव की लीलास्थली, कुछ प्राप्त उसे था अहो ! वर-सा।
रहती थी वहाँ मृग दंपति एक, विचार के कानन को घर सा ॥१॥

रावण ने कर बंधु विरोध लखो निज संपति जान गँवाई।
वालि ने व्यर्थ सुकंठ को कष्ट दे खोई स्वजीवन राज बड़ाई।
भूल से भी न कभी करिये निज भाइयों से इस हेतु लड़ाई।
काम हैं आते विपत्ति के काल में, गाँठ का कंचन पीठ का भाई ।।२।।

रामनरेश त्रिपाठी—पंडित रामनरेश त्रिपाठी का जन्म सन् १८८६ ई० में हुआ था। आप जौनपुर के रहने वाले हैं। त्रिपाठी जी की शिक्षा जौनपुर में हुई। इनके गाँव का नाम कोइरीपुर है। त्रिपाठी जी हिन्दी, उर्दू, अंग्रेज़ी और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता हैं तथा मराठी, गुजराती और बँगला भी जानते हैं। त्रिपाठी जी की ख्याति का प्रधान स्तंभ है इनकी कविता-कौमुदी जिसे इन्होंने सात भागों में प्रकाशित किया। इस कविता-कौमुदी के ग्राम-गीत भाग के संग्रह में इन्होंने बड़ा ही परिश्रम किया। यह कहा जाय कि ग्राम-गीतों की ओर आधुनिक शिक्षित हिन्दी समाज को प्रेरित करने का श्रेय त्रिपाठी जी को है, तो यह पूर्णतया सत्य है। कविता-कौमुदी के सातों भागों में भारतीय आर्य भाषाओं के प्रधान कवियों और उनकी रचना का परिचय मिलता है। त्रिपाठी जी ने बालसाहित्य पर भी अनेक पुस्तकें लिखी हैं और आलोचना पर भी। इनके रचे हुए प्रमुख ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं—

कविता कौमुदी ७ भाग, पथिक, मिलन, स्वप्न, मानसी, स्वप्नचित्र, जयंत, प्रेमलोक, तरकस, मारवाड़ के मनोहर गीत, सुदामा चरित, घाव और भड्डुरी, हमारा ग्राम साहित्य ३ भाग, बुझौवल, बुद्धि विनोद, मोती चूर के लड्डु, अशोक, चन्द्रगुप्त, आल्हा, तुलसीदास और उनका काव्य, रामचरित मानस की टीका, हिन्दुस्तानी शब्दकोश आदि। हिन्दी संसार और साहित्य के लिए त्रिपाठी जी की बड़ी सेवायें हैं।

त्रिपाठी जी के काव्य में देश-प्रेम और स्वच्छन्दतावाद की विशेषताएँ मिलती हैं। काल्पनिक कथानक को ले कर जो खंड काव्य उन्होंने लिखे हैं, वे देशप्रेम की भावना को जगाने वाले हैं। उसका उपदेश न दे कर भी पथिक और स्वप्न जैसी कृतियों का राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की भावना को जगाने में, बड़ा प्रभाव पड़ता है। इनके चरित्र-चित्रण में कोई न कोई उदात्त आदर्श विद्यमान रहता है। त्रिपाठीजी के प्रकृति के चित्रण भी बड़े ही सुन्दर एवं संकेतात्मक है। इनकी भाषा प्रवाहमयी तथा शब्दावली मधुर है। पथिक की प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं—

रागरथी रवि-राग-पथी अविराग विनोद बसेरा।
प्रकृतिभवन के सब विभवों से सुन्दर सरस सबेरा।

एक दिवस अति मुदित उदधि के बीचि-विचुम्बित तीरे।
सुख की भाँति मिला प्राची से आ कर धीरे धीरे॥

प्रकृति-चित्रण में इनकी कल्पना बड़ी ही नव्य है तथा आलंकारिक योजना बड़ी स्वाभाविक एवं सरस है जैसे—

सिन्धु विहंग तरंग पंख को फड़का कर प्रतिक्षण में।
है निमग्न नित भूमि अंड के सेवन में रक्षण में॥१॥

तथा

अंशुराशि के शुभागमन की वेला समझ समीप।
वन में बुझा चुके थे सुर भी निज निज घर के दीप॥२॥
रात दिवस की बूँदों द्वारा तन घट से परिमित यौवन जल।
है निकला जा रहा निरंतर यह रुक सकता नहीं एक पल॥३॥

इस प्रकार त्रिपाठी जी की रचना में छायावादी स्वच्छन्दतावाद झाँकता हुआ दृष्टिगत होता है। ये वास्तव में दोनों ही प्रवृत्तियों को अपनाने वाले कवि हैं।

छायावाद युग (स्वच्छन्दतावादी या विद्रोह युग)

(सन् १९२० से १९४० ई० तक)

छायावाद का विश्लेषण

छायावाद, आधुनिक हिन्दी काव्य की एक विशेष प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति का संबंध केवल विषय या वर्ण्यगत ही नहीं, वरन् वर्णन या शैलीगत भी है। इसके लक्षण के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद रहा; परन्तु यह मतभेद प्रायः इस काव्य की एकाध विशेषता को ध्यान में रख कर इसकी व्याख्या करने के कारण था। छायावाद के मूल में वैयक्तिकता का दृष्टिकोण है। इसके भीतर वस्तु का तटस्थ वर्णन नहीं, वरन् व्यक्तिनिष्ठ विश्लेषण होता है। यह व्यक्तिगत प्रभाववादी काव्य शैली है जिसमें कवि किसी वस्तु, व्यक्ति या घटना का स्थूल वर्णन न करके उसके द्वारा पड़े हुए अपने वैयक्तिक प्रभाव के रूप में विश्लेषण करता है। इसके मूल में आधुनिक प्रगीतात्मकता (Lyricism) अन्तर्निहित है। छायावाद के दो पक्ष हैं—प्रथम स्थूल जगत या वस्तु की सूक्ष्म एवं आन्तरिक विशेषताओं का विश्लेषण; द्वितीय सूक्ष्म अनुभूतियों एवं प्रभावों का साकार, सजीव चित्रण। स्थूल व्यक्तित्व की अपेक्षा उसके रूप, रंग, गुण की छाया का वर्णन होने से इसका 'छायावाद' नाम प्रसिद्ध हुआ। अनुभूति की सूक्ष्म तरंगों का चित्रण

करना छायावादी कवि का प्रधान उद्देश्य है।

आधुनिक युग के हिन्दी काव्य के अन्तर्गत इस प्रवृत्ति के आने के स्पष्ट कारण हैं। इस प्रवृत्ति का प्रधान प्रभाव सन् १६२० से ४० तक रहा। इस शैली के विकास का प्रधान कारण द्विवेदी-युग के काव्य की इतिवृत्तात्मकता है जिसमें वस्तु या व्यक्ति की स्थूल रेखाओं का अभिधात्मक वर्णन हुआ; जिसमें सूक्ष्मता, संकेतात्मकता एवं व्यंजकता का अभाव था। अतः प्रसाद, निराला, पन्त आदि कवियों ने हिन्दी के खड़ी बोली काव्य में माधुर्य एवं अभिव्यंजना भरने के उद्देश्य से इस शैली का प्रयोग किया। इसका विकास टैगोर की बँगला-कविताओं एवं अंग्रेज़ी की रोमांटिक कविताओं के सम्पर्क से हुआ।

द्विवेदी युग नवीन प्रयोगों का युग था। आर्यसमाज के प्रचार ने समाज में उपदेशात्मकता, परुष पुरुषत्व तथा सुकुमार श्रृंगारिकता के विरोध के संस्कार बनाये थे। कांग्रेस के आन्दोलन ने समाज और देश के उत्थान का ध्यान सर्वोपरि कर दिया था। इधर भारतेन्दु-युग तक प्रचलित भक्ति-श्रृंगार-काव्य की प्रवृत्तियाँ अब असामयिक घोषित कर दी गई थीं। अतः द्विवेदी युग के लेखकों के सामने क्या कहें और किस प्रकार कहें, यह समस्या थी। खड़ी बोली में रचना करनी थी, शुद्ध व्याकरण-सम्मत भाषा का प्रयोग भी आवश्यक था; अतएव सरल, वस्तु-निष्ठ, इतिवृत्तात्मक शैली का प्रचलन हुआ। नई भाषा के प्रयोग के कारण शब्द में अर्थ-गौरव-पूर्ण व्यंजकता का, जो ब्रजभाषा में खूब आ चुकी थी, अभाव था। अतः इस युग के कवियों ने उदात्त भावनाओं को अधिकांश पद्यबद्ध ही किया। प्रांजल, मंजुल एवं व्यंजक अभिव्यक्ति की कमी खटक रही थी। इस कमी की पूर्ति के प्रयास में छायावादी शैली का विकास हुआ।

अपने युग की काव्यधारा के रूप में छायावाद एक प्रवृत्ति है किन्तु उसकी शब्द-चयन, शब्द-संस्कार, प्रतीक-शोधन, अप्रस्तुत-संयोजन एवं वर्ण्य विषय के प्रति जो एक दृष्टि है, वह उसे काव्यगत शैली के रूप में प्रतिष्ठित करती है। ठीक इसी प्रकार जैसे संस्कृत की पांचाली, वैदर्भी आदि रीतियाँ हैं। छायावादी भी एक काव्य-शैली है। अतः दो प्रसंगों में प्रयुक्त होने से भ्रम न होना चाहिए।

छायावाद में जो आलंबन या वर्ण्य विषय की अस्पष्टता है उसके भी सामाजिक एवं राजनीतिक कारण हैं। हिन्दी क्या, भारतीय काव्य के अन्तर्गत पहली बार कवि ने अपनी व्यक्तिगत लौकिक प्रेमानुभूति को खुल कर व्यक्त करने

का कदम उठाया। कवि का यह वैयक्तिक रूप पूर्ववर्ती साहित्य में केवल भक्त रूप में है। या कहीं और है, तो दैन्य, करुण आदि भावों के प्रकाशन के रूप में। परन्तु प्रेम की अनुभूति को अपनी कह कर व्यक्त करने की परंपरा नहीं। रीति युग के स्वच्छन्द कवियों—घनानंद, बोधा आदि को भी अपने प्रेमपात्र में ईश्वरीयता का संकेत करना पड़ा। वही दशा इस समय भी कवि की थी। अपनी वैयक्तिक भावनाओं को अपने निजी लौकिक रूप में व्यक्त करने के प्रयास में उसे अस्पष्टता का वातावरण बनाना पड़ा जिससे अलौकिकता का स्वाँग भी उसमें भरा जा सका। यह अस्पष्टता का सामाजिक कारण था। राजनीतिक दृष्टि से भी कवि देश-प्रेम की भावना को खुल कर व्यक्त न कर सकता था क्योंकि इस भावना का दमन चल रहा था और अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य न था। अतः वहाँ भी दूसरे के माध्यम से प्रतीक, अन्योक्ति आदि के सहारे देश-प्रेम का संकेत किया जिससे कानूनी शिकंजे से अपने को मुक्त रख सके। अतः छायावादी काव्य में अस्पष्टता देखने को मिलती है। भावना के अनुसार उसका अर्थ लगाया जा सकता है।

इस प्रकार की पृष्ठभूमि में प्रतिभा-संपन्न कवियों ने इस अत्यन्त संयत छायावादी शैली का विकास किया; जिसकी विशेषताओं का विश्लेषण निम्न प्रकार से कर सकते हैं—

सबसे पहली विशेषता छायावादी काव्य की है 'वैयक्तिकता'। यह वैयक्तिकता दो रूपों में देखी जा सकती है—एक तो कल्पना और अनुभूति पर पड़े व्यक्तिगत प्रभावों का विश्लेषण इस काव्य में हैं। कवि अपने अहं के प्रति अत्यंत जागरूक है। उसकी चेतना किसी वस्तु को अपने रूप में व्यक्त करने का आग्रह करती है।[1] निराला जी ने जिसे 'मैं शैली' कहा है। यह युग की बढ़ती हुई प्रगीतात्मकता के कारण है जिसमें भावों को ज्यों के त्यों अपने रूप में व्यक्त कर देने की विशेषता है; किसी प्रबंध का ताना-बाना बुनने की आवश्यकता नहीं। किसी प्रकार का नाटक रचने की आवश्यकता नहीं। वैयक्तिकता का दूसरा रूप है साधारण के स्थान पर विशिष्ट का स्पष्टीकरण जो सामान्य अनुभूति का विषय है, उसे उस रूप में चित्रित न करके अपने कल्पना-गृहीत विशिष्ट रूप में चित्रित करना। छायावाद की इस प्रवृत्ति ने अतिशय आलंकारिकता को जन्म दिया। और कविता सर्वसाधारण की वस्तु न रह गयी। वह विशिष्ट संस्कारों वाले मनों का ही मनोरञ्जन करने लगी।

वैयक्तिक दृष्टिकोण ने ही जिस दूसरी प्रवृत्ति को जन्म दिया, वह है 'स्वच्छन्दतावाद'। लोक-हृदय की चिन्ता किये बिना ही भावों का स्वच्छन्द

प्रकाशन, व्यक्तिगत प्रेम-भावना का खुल कर चित्रण तथा भाषा और शब्दावली का स्वच्छन्द प्रयोग इसके अन्तर्गत हैं। भावों के स्वच्छन्दतावाद के कारण औचित्य का ध्यान भी कहीं-कहीं नहीं रह जाता जिससे रस के स्थान पर रसाभास अधिक मिलता है। इसी प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप अलंकार, छन्द और भाषा के क्षेत्र में इस धारा के कवियों ने नवीन प्रयोग किये हैं।

छायावाद की तीसरी विशेषता है 'भावुकता'। छायावादी कवि वास्तव में भावुक का पर्याय ही बन गया। भावुकता वस्तु या व्यक्ति को एक उदात्त गौरव प्रदान करती है। इसके कारण भाव या चरित्र को न तो यथार्थ पृष्ठ-भूमि मिल पाती है और न वह लोकानुभूति में उतर ही पाता है। भावुकता विभाव पक्ष की नितांत उपेक्षा करती है जिससे साधारणीकरण नहीं हो पाता और सबको तन्मय कर देने वाली काव्य-रचना नहीं हो पाती। इस भावानुभूति के लिए केवल वही व्यक्ति उपयुक्त हैं जो विभाव पक्ष को कल्पना में ला सकें, या जिनके उसी प्रकार के विशिष्ट अनुभव हों। इस प्रकार यह भावुकता अयथार्थ और हवाई ही है।

छायावाद की चौथी विशेषता है 'काल्पनिकता'। क्योंकि वस्तुओं के यथार्थ वर्णन के विद्रोह में यह प्रवृत्ति जाग्रत हुई, अतः वर्णन में काल्पनिकता इसका प्रमुख गुण है। कल्पना इस काव्य का प्रधान तत्त्व है। कल्पनागत वस्तु या व्यक्ति की विशेषता, गुण या छाया का उद्घाटन छायावाद में हुआ है। यह कल्पना सर्वत्र यथार्थ का आधार ग्रहण कर नहीं चलती; वरन् अधिकांश विशृंखल है। काल्पनिक विशेषता के कारण छायावादी काव्य में चित्रात्मकता का गुण प्रचुरता से देखने को मिलता है। कवि जैसे चित्रकार की भाँति संकेत चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा हो, ऐसा जान पड़ता है। साथ ही साथ एक चित्रावली धीरे-धीरे हमारे सामने उद्घाटित होती है। परन्तु चित्रों की वह झाँकी तारतम्य-हीन रूप में ही प्रायः आती है। कोई क्रम या एकसूत्रता का प्रायः अभाव होने के कारण एक चित्र यहाँ का है तो दूसरा वहाँ का। एक धरती का तो दूसरा आकाश का। इस प्रकार प्रसंगबद्ध या तारतम्यहीन और संगत चित्रावली न होने के कारण हमारी चित्तवृत्ति इधर-उधर मारी-मारी फिरती है और काव्य में रसानुभूति जैसी तन्मयता नहीं प्राप्त हो पाती।

फिर भी कल्पना की विशेषता काव्य को एक विशिष्ट आभा, चमत्कार और रंगीनी प्रदान कर देती है इसमें सन्देह नहीं। छायावादी काव्य में विविध वर्णों (रंगों) के सूक्ष्म संकेत, गति और चेष्टा का चित्रण, आन्तरिक भावों

और स्पन्दनों का साक्षात्कार होता है। जैसे—

रुपहले सुनहले आम्र बौर। नीले पीले औ' ताम्र भौंर।
गहरे धुँधले धुले साँवले। मेघों से मेरे भरे नयन। (पन्त)

छायावाद का कवि वास्तव में संगत विवरण के पीछे नहीं पड़ता; वरन् वह सूक्ष्म से सूक्ष्म सौन्दर्य-रेखाओं को स्पष्ट करने तथा बारीक से बारीक भाव-भंगिमा को चित्रित करने में प्रयत्नशील रहता है। इस दृष्टि से उसकी भ्रमर वृत्ति है जिसकी कल्पना इधर से उधर उड़ती रहती है, परन्तु कहीं रम नहीं पाती।

छायावाद स्थूल रूपरेखाओं के स्थान पर सूक्ष्म छायात्मक चित्रण में प्रवृत्त रहता है। वह आंतरिक प्रभाव का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। स्थूल का मन और कल्पना पर पड़े प्रभाव का सूक्ष्म विश्लेषण तथा सूक्ष्म अनुभूतियों को रूप-रंग दे कर साकार करना उसका ध्येय है। छायावाद का कवि बाह्य अंगों में प्रतिबिंबित और तरंगित सुषमा और सौन्दर्य की आभा को ग्रहण करना चाहता है। अपने इस कार्य के लिए उसने लयात्मक सूक्ष्म चेतना का विकास किया है। भाव के अनुकूल लय और छन्दोविधान करना; भाव के मोड़ पर, उतार-चढ़ाव पर लय में परिवर्तन उपस्थित करना; रूप की सुषमा और भाव की प्रकृति (कोमलता और कठोरता) के अनुसार शब्द-चयन और वर्ण-संगठन करना; आवश्यकतानुसार शब्द एवं वर्ण की पुनरावृत्ति करना; प्रकृत ध्वनियों एवं झंकृतियों का द्योतक वर्णविधान रचना—छायावादी काव्य-कला की सूक्ष्म बारीकी है। यह कला कभी कभी कुछ ऐसा अविश्लेष्य प्रभाव डालती है कि पाठक या श्रोता भाव की संगति एवं चित्रों के तारतम्य पर ध्यान न दे कर लयात्मक झंकृति का ही आनन्द लेता हुआ बढ़ता जाता है। छायावादी काव्य की यह विशेषता, पाठक को ही नहीं; कवि को भी प्रवंचित करती है। प्रायः वह शब्द पर मुग्ध हो कर लय सृष्टि करता चला जाता है। अर्थ की अभिव्यक्ति, भाव की संगति और औचित्य के प्रति वह जागरूक नहीं रह पाता। इसी से कुछ आलोचकों ने छायावादी काव्य में विचारगत एवं रागात्मक सामंजस्य का दोष स्पष्ट किया है। परन्तु शब्दों और वर्णों के प्रयोग एवं ध्वनि-संयोजन ने छायावादी काव्य में छान्दसिक एवं आलंकारिक प्रयोगों का एक प्रशस्त क्षेत्र खोल दिया है। कुछ शब्द-योजनायें निम्नांकित पंक्तियों में देखी जा सकती हैं—

चमक झमक मय मंत्र वशीकर
छहर छहर मय विष-सीकर।

स्वर्ग सेतु से इन्द्र धनुष धर,
काम रूप घनश्याम अमर।

× × ×

सरल चटुल विमल विपुल हिमशिशु हुलसाये।
कुन्द धवल, तुहिन तरल, तारादल ये।।

× × ×

बाँसों का झुरमुट, संध्या का झुटपुट
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ, टी वी टी टुट् टुट्।

(सुमित्रानंदन पंत)

कंकरण क्वरिणत रणित नूपुर थे हिलते थे छाती पर हार।
मुखरित था कलरव गीतों में, स्वर लय का होता अभिसार।।

(प्रसाद)

× × ×

गरज गरज घन गरज गरज घन घोर
राग अमर अम्बर में भर निज रोर।

(निराला)

छायावादी काव्य विशेषरण-प्रधान काव्य है। इस काव्य में क्रियापदों का प्रयोग बहुत कम और विशेषरण पदों का अतिबहुल है। कभी कभी छायावाद को शब्द-बहुल काव्य की संज्ञा दी जाती है। वास्तव में इस प्रवृत्ति के कवियों ने अपनी सूक्ष्म अनुभूतियों के लिए उपयुक्त शब्दशोधन में प्रचुर प्रयोग किये हैं जिसके परिणाम स्वरूप हम अनेक नवीन उपमानों एवं प्रतीकों का प्रयोग इसके भीतर देखते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इन प्रयोगों की प्रेरणा का श्रेय तत्कालीन बँगला काव्य और अंग्रेजी के रोमांटिक काव्य को है। फिर भी इस दिशा में छायावाद ने नवीन प्रयोग की सुन्दर परंपरा डाली। हम यहाँ तक कह सकते हैं कि आज का प्रयोगवाद छायावादी प्रयोग-परम्परा के ही विकास का वर्तमान रूप है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि छायावाद में शैली की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ और खड़ी बोली हिन्दी काव्य को सुष्ठु अभिव्यंजना का अतीव मधुर एवं प्रांजल रूप इसके अंतर्गत प्राप्त हुआ।

परन्तु दृष्टिकोण के अतिशय वैयक्तिक होने के कारण इस काव्य में यथार्थ जीवन का स्पन्दन एवं वास्तविक अनुभूति की तन्मयता न आ पायी। यह काव्य कुछ अत्यधिक ऐकांतिक एवं एकांगी हो गया। कलात्मक उत्कर्ष को

अपनाते हुए भी यह असामाजिक सा है। समस्त समाज के जीवनगत अनुभवों या भावों के स्पन्दन की सप्राणता एवं सजीवता का अभाव इसमें खटकता रहा। व्यक्तिगत निराशा एवं वैयक्तिक सूक्ष्म बारीक सौन्दर्य की छाया ने इस काव्य को अकेले पढ़ने वाली वस्तु के रूप में सीमित कर दिया।

छायावादी निराशा में समाज के भीतर के संघर्ष एवं विषाद का हाहाकार ध्वनित न हो सका। प्रेम और सौन्दर्य की मिठास एक रुचि विशिष्ट हो कर रह गयी। आनंदमय व्यापक सौन्दर्यानुभूति की धारा में लोगों को मग्न करने की क्षमता उसमें न आ पायी।

छायावाद की कलात्मक उपलब्धियाँ उत्कृष्ट होते हुए भी उसमें जीवन से पलायन का स्वर काफी प्रखर था। न तो जीवन का डट कर उपभोग करने का पौरुष उसमें व्यक्त हो सका और न संघर्ष का सामना करने का साहस ही। संघर्ष के क्षणों में यह पलायनवाद का स्वर बेसुरा जान पड़ा और लोगों को ऐसा लगा कि जैसे छायावाद सामाजिकता के स्थान पर एकान्त-प्रियता का रोग पैदा कर रहा है। अतः १९३८ ई० के बाद इसके विपरीत प्रगतिवाद के लक्षण प्रकट होने लगे।

देश को स्वतंत्र करने का जब आन्दोलन चल रहा था तब छायावादी काव्य की कलात्मक उपलब्धियों को संकलित करने का धैर्य हमारे भीतर न था। हम तो कुछ जोशीला जुझाऊ और यथार्थ जीवन की झलक से पूर्ण काव्य चाहते थे और इसी इच्छा के परिणामस्वरूप आगे प्रगतिवाद का जन्म और विकास हुआ। परन्तु अब हमें लगता है कि छायावाद ने आधुनिक युग को हिन्दी का उत्कृष्ट काव्य प्रदान किया। छायावाद ने हमारी सौन्दर्य-भावना को विकसित, परिष्कृत और उदात्त बनाया। उसने हमारी काव्यात्मक अभिव्यक्ति में नवीन प्रयोग का द्वार खोला। इस काव्य ने नारी के गौरव की प्रतिष्ठा की; क्योंकि नारी कोमल और सुकुमार गुणों की प्रतीक और सौन्दर्य का आश्रय है। इस प्रवृत्ति ने जड़ता और चेतना का सामंजस्य किया। प्रकृति का मानवीकरण, उसमें चेतना एवं मानव-भावना का आरोप इस युग में अपने ढंग से हुआ। प्रकृति केवल मानव-भावनाओं का उद्दीपन मात्र नहीं; वरन् आलंबन बन गयी। वह सखी, प्रेरक, सन्देशवाहिका के रूप में प्रकट हुई। वह रहस्य के भंडार के रूप में व्यक्त हुई, वह जीवन के हाहाकार के बीच शांति की गोद बन कर प्रकटी। इस प्रकार जीवन और जगत दोनों के आकर्षक तत्त्वों के प्रति कवियों के एक रोमांटिक, एक भावुक दृष्टिकोण की प्रवृत्ति छायावादी काव्य में पायी गई। आधुनिक हिन्दी साहित्य में यह काव्य एक उत्कृष्ट कलात्मक

निधि के रूप में मान्य है।

छायावाद के प्रमुख कवि

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, छायावाद की तीन प्रवृत्तियाँ हैं, एक में छायावादी शैली का प्रयोग राष्ट्रीय भावना, देश-प्रेम या क्रान्ति को जगाने के लिए किया गया है। दूसरी में छायावादी शैली का वैयक्तिक प्रेमभावना या सौन्दर्य-चित्रण के लिए प्रयोग किया गया है और तीसरी में इसका प्रयोग आध्यात्मिक ईश्वरोन्मुख प्रेम या रहस्यभावना की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि कोई एक कवि निश्चित रूप से इनमें एक ही प्रवृत्ति का कवि है, क्योंकि अधिकांशतः सभी प्रवृत्तियाँ अधिकांश कवियों में देखी जा सकती हैं। फिर भी मोटे तौर पर प्रसाद, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', निराला, सुभद्राकुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी, नरेन्द्र, दिनकर, में प्रथम प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं; पंत, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, अंचले, नरेन्द्र, नेपाली, मुकुटधर में द्वितीय प्रवृत्ति के तथा, प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि में तृतीय प्रवृत्ति के। इन कवियों में से बहुतों में आगे चलकर प्रगतिवादी और प्रयोगवादी प्रवृत्तियों का भी विकास देखा जाता है। यहाँ पर हम प्रमुख कवियों का परिचय दे रहे हैं—

जयशंकर प्रसाद—आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ और महाकवि जयशंकर प्रसाद छायावाद के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। छायावादी प्रवृत्ति को निश्चित भूमि प्रसाद के 'आँसू' के प्रकाशित और प्रचलित हो जाने पर ही प्राप्त हुई है। प्रसाद की प्रवृत्ति क्या नाटक, क्या कहानी सर्वत्र छायावादी है। इनकी अभिव्यंजना में एक विलक्षण छायात्मक (धुँधली) आभा झलकती है और अपने विषय को भी ये पूर्णतया अनावृत नहीं करते, उस पर आवरण डाले रहते हैं। संकेतों, प्रतीकों, उपमानों की गुँथी हुई बहुरंगी चित्रावली प्रसाद जी की कविता की विशेषता है। प्रसाद जी का समय अधिकांशतः द्विवेदी युग में व्यतीत हुआ; परन्तु द्विवेदी युग की अभिधात्मक इतिवृत्तात्मकता के विपरीत प्रसाद, निराला और पन्त का मानस सदैव विद्रोह करता रहा। उसी विद्रोह का परिणाम इस प्रवृत्ति का विकास था।

जयशंकर 'प्रसाद' का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित परिवार में सन् १८६० ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम देवीप्रसाद साहु था जो सुँघनी साहु के नाम से प्रसिद्ध थे। ये बड़े दानी थे और कई संस्कृत-विद्यार्थियों को

सहायता देते रहते थे। प्रसादजी की शिक्षा प्रारंभ में घर पर ही संस्कृत से प्रारंभ हुई। फिर स्कूल में अंग्रेज़ी पढ़ने गये। जब ये सातवीं कक्षा में थे तभी पिता का देहान्त हो गया। अतः इनकी शेष शिक्षा घर पर ही हुई। इन्होंने अंग्रेज़ी और संस्कृत दोनों ही का अच्छा ज्ञान अपने स्वाध्याय द्वारा प्राप्त किया था। आगे चल कर भाई की मृत्यु से सब घर का भार इन पर आ गया, पर इनकी काव्य-रचना जो बचपन से ही प्रारंभ हुई थी, फिर भी चलती रही। 'प्रसाद' जी समस्यापूर्ति में भी भाग लेते थे। प्रसाद जी ने तीन विवाह किये थे। दूसरी पत्नी के मरने पर तीसरा विवाह अपने भौजाई के विशेष आग्रह पर किया। इनके पुत्र रत्नशंकर हैं।

प्रसाद जी बड़े परिश्रमी थे। वे कसरत भी करते थे। बचपन में सोने के कटोरे में दूध पीने वाले और रईसी में रहनेवाले 'प्रसाद' पर दैव-दुर्विपाक से अनेक आपत्तियाँ आईं और ये ऋणी भी हो गये थे। पर इन्होंने अपनी व्यावसायिक बुद्धि से सब कुछ निपटाया। प्रसाद जी के यहाँ बराबर गोष्ठियाँ जमती रहती थीं। सन् १६१० में इन्होंने 'इन्दु' नामक मासिक पत्र निकाला। प्रसादजी ने कई तीर्थयात्रायें की थीं और उनमें विलक्षण प्रतिभा थी। प्रसादजी कवि, नाटककार, कहानीकार, सभी रूपों में सफल और उत्कृष्ट लेखक थे। ऐतिहासिक नाटकों की इस नये रूप में परंपरा इन्होंने ही डाली। ये प्रतिभासंपन्न कवि थे। पहले इन्होंने व्रजभाषा में लिखना प्रारंभ किया था, परन्तु बाद में खड़ीबोली (नागरी) हिन्दी छायावादी काव्य की सृष्टि की। इनकी रचनाओं के नाम हैं—चित्राधार, काननकुसुम, प्रेम पथिक, करुणालय, महाराणा का महत्त्व, झरना, आँसू, लहर और कामायनी।

प्रसाद जी की प्रसिद्धि काव्य-क्षेत्र में सन् १६२५ में आँसू के प्रकाशन के बाद हुई और सन् १६३५ में कामायनी के प्रकाशन के बाद तो ये सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। इनकी प्रथम रचना चित्राधार १६०६ ई० में प्रकाशित हुई थी। १६२० तक की रचनाओं में आँसू और छायावादी काव्य की भूमि बनती जा रही थी। अतः आँसू छायावाद की समस्त विशेषताओं को लेकर अवतरित हुआ।

प्रसाद जी प्रेम और सौन्दर्य के कवि थे और इस दृष्टि से वे रीतियुगीन स्वच्छन्द प्रेम-काव्य की परंपरा में आ बैठते हैं। जिस प्रकार बोधा ने 'यह प्रेम को पंथ करार है री तलवार की धार पै धावनो है' कहा था और जैसे घनानंद ने प्रकट किया था कि "अति सूधो सनेह को मारग है जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं", उसी प्रकार 'प्रसाद' भी प्रेमपथिक में कहते हैं—

प्रेम पवित्र पदार्थ न इसमें कहीं कपट की छाया हो।
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्तिमात्र में बना रहे।
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबकी समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं॥

प्रेम का यह दृष्टिकोण जो नहीं समझते वे 'आँसू' के प्रेम भाव के उद्‌गारों को नहीं समझ सकते। प्रेम वह भाव है जहाँ पर कि लौकिक व्यक्तित्व अलौकिकता में तिरोभूत हो जाता है। अभिव्यंजना कौशल का जो सौष्ठव और छायावाद की कलात्मक आभा का जो उत्कर्ष 'आँसू' की पंक्तियों में निखरा है, वह आधुनिक हिन्दी काव्य की एक महत्त्वपूर्ण कलात्मक उपलब्धि है। कुछ पंक्तियाँ स्वतः इसे स्पष्ट करेंगी—

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छायी।
दुर्दिन में आँसू बन कर वह आज बरसने आयी।
घन में सुन्दर बिजली सी बिजली में चपल चमक सी
आँखों में काली पुतली पुतली में श्याम झलक सी।
प्रतिमा में सजीवता सी बस गई सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में जो अलग रही लाखों में।
लावण्य-शैल राई सा जिस पर वारी बलिहारी।
उस कमनीयता कला की सुषमा थी प्यारी-प्यारी॥
बस गई एक बसती है स्मृतियों की इसी हृदय में।
नक्षत्र लोक फैला है जैसे इस नील निलय में॥

लहर में अधिकांश रहस्यवादी काव्य है और बड़ी सारगर्भित प्रतीक-योजना है। और कामायनी तो प्रसाद जी की सर्वश्रेष्ठ कृति है। वह आधुनिक हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ रचना है जिसमें मानव-सभ्यता के विकास का आदि से ले कर अन्त तक प्रतीकात्मक विश्लेषण है। कामायनी के वर्णन बड़े ज़ोरदार हैं फिर भी संकेतात्मक। चरित्र-चित्रण की रेखायें एक दक्ष शिल्प की तूलिका के आघात की परिचायक हैं। क्या रूप, क्या प्रभाव, क्या गुण कुछ शब्दों में ही छलक पड़ते हैं। गदराये सेव की भाँति कामायनी के छन्दों का सौन्दर्य आन्तरिक भाव की मधुरिमा को प्रकट करता है। कामायनी रामचरितमानस के समान युग युग का काव्य है। कुछ पंक्तियाँ यह प्रमाणित कर देंगी—

लतिका घूँघट की चितवन की, वह कुसुम दुग्ध की मधु धारा।
प्लावित करती मन अजिर रही, था तुच्छ विश्व वैभव सारा॥

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघवन बीच गुलाबी रंग॥
नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजतनग पगतल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में॥

प्रसाद जी की प्रेम-भावना उदात्त है और सौन्दर्य-कल्पना उत्कृष्ट। विषादमयी साधना का परिणाम शुभ और विलास का परिणाम नाश होता है। प्रसाद जी की रचनाओं में आधुनिक चेतना का सुन्दर समावेश हुआ है। इनकी रचनाओं का शाश्वत महत्त्व है। प्रसाद हिन्दी काव्य के गौरव हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी—चतुर्वेदी जी का जन्म सन् १८८८ ई० में बाबई, जिला होशंगाबाद में हुआ था। इनके पिता का नाम पंडित नन्दलाल चतुर्वेदी था। इन्होंने नार्मल पास कर सन् १६०४ में अध्यापकी प्रारंभ की। अंग्रेजी का ज्ञान बाद को अर्जित किया। इन्होंने 'कर्मवीर' पत्र का संपादन किया। १६२१ के सत्याग्रह में ये जेल गये और उसके बाद राजनीतिक आन्दोलन में लग गये। कर्मवीर बाद को खँडवा से निकला। चतुर्वेदी जी 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से रचना करते हैं। वहाँ की जनता के बीच इनका बड़ा सम्मान है। चतुर्वेदी जी भावुक कल्पनाशील राष्ट्रीय कवि हैं। इनकी रचनाओं में प्रमुखता प्रेम भाव की है। ये बड़े स्पष्टवक्ता हैं। इनकी गद्य रचनायें भी बड़ी ही कवित्वपूर्ण हैं। इनकी रचनाओं के नाम हैं—हिम किरीटिनी, हिम तरंगिनी, कृष्णार्जुन युद्ध, वनवासी, माता आदि। उदाहरण—

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं मोती माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ।
चाह नहीं देवों के शिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना वन-माली उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।

सुनावें तो बिजली के वाक्य, शीश भूपालों के झुक जायँ।
सृष्टिकर मरने से बच जाय, शस्त्र चंडालों के रुक जायँ।
प्रेम के पालक हों या न हों, प्रणों के पूरे पालक हों।
'भारती' ने यों रो कर कहा, देश में ऐसे बालक हों॥

गोपालशरण सिंह—'ब्रजभाषा की सी मिठास' वाले गोपालशरण सिंह की रचना बड़ी ही स्वाभाविक प्रवाह से युक्त सरल होती हैं। ये रीवाँ राज्य में नई गढ़ी इलाके के प्रतिष्ठित इलाकेदार रहे हैं। पिता का नाम

जगतबहादुर सिंह था। गोपालशरण सिंह का जन्म सन् १८६१ ई० में हुआ था। बचपन ही से ये होनहार थे। सन् १६१० में इन्होंने एण्ट्रेंस पास किया था। उसके बाद फिर आगे न पढ़ सके। ये बड़े ही सरल सहृदय व्यक्ति हैं। १४-१५ वर्ष की अवस्था से ही ये कविता करने लगे थे। १६१६ से इनकी रचनायें सरस्वती में निकलने लगी थीं। ये रीवाँ राज्य के मंत्रिमंडल में भी रहे हैं। साहित्यिक संस्थाओं और समारोहों में भी इनका सक्रिय सहयोग रहता है। आजकल प्रायः ये प्रयाग में रहते हैं जहाँ पर साहित्यकारों का अड्डा जमा रहता है। इनकी रचनायें विविध विषयों पर हैं। रचनाओं के मुख्य संग्रह ये हैं—माधवी, कादंबिनी, मानवी, ज्योतिष्मती, संचिता, विश्वगीत आदि। उदाहरण—

पावन प्रेम - सदन ! है अनन्त जीवन !
विश्वमोहिनी सुन्दरता का पद पद पर प्रसरण !
चूमा करती हैं रवि-किरणें जिसके चारु चरण !
जग छवि अवलोकन ! है अनन्त जीवन !
हैं पल्लवित विटप शाखायें कुसुमित है कानन।
मधु मकरन्द दान करता है खिलखिल सुमन सुमन।
कोकिल कल कूजन ! है अनन्त जीवन ॥

(कादंबिनी से)

प्रकृति सुन्दरी की गोदी में खेल रहा है शिशु सा कौन !
कोलाहलमय जग को हरदम चकित देखता है तू मौन !
जग के भोलेपन का प्रतिनिधि, सहज सरलता का आख्यान।
विमल स्रोत मानव-जीवन का, तू है विधि का करुण विधान !

(ग्राम से)

बालकृष्णशर्मा 'नवीन'—'नवीन' जी "साहित्य-जगत के कई पहलों वाले हीरा" हैं। इनकी प्रतिभा का विकास स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी के संरक्षण में हुआ है। 'नवीन' जी का जन्म ग्वालियर राज्य के भयाना नामक गाँव में १८६७ ई० में हुआ था। इनके पिता बहुत ही निर्धन और भगवद्भक्त थे। बचपन में माता के मुख से सुने अष्टछाप कवियों की पदावली का इन पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। नाथद्वारे में भी ये रहे। माता ने बड़ी गरीबी में अनाज पीस कर उन्हें मिडिल तक पढ़ाया था। उसके बाद उज्जैन से हाई स्कूल पास किया। लखनऊ कांग्रेस से इनका संपर्क गणेश जी से हुआ और तब से उनके आश्रय में ये रहने लगे। बी० ए० के फाइनल साल में १६२१ में

असहयोग आन्दोलन छिड़ा, पढ़ना छोड़ ये जेल गये। जेल में 'विस्मृता उर्मिला' की रचना प्रारंभ हुई। उसके बाद 'कुंकुम' लिखा गया। नवीन जी प्रताप के संपादक रहे। इनकी लेखनी में बड़ा बल है। कानपुर के ये प्रमुख कार्यकर्ता भी हैं। आन्दोलन के दिनों में अपने ओजस्वी भाषणों के कारण ये 'कानपुर के शेर' कहे जाते थे। आजकल भारतीय संसद् के सदस्य हैं।

काव्य के क्षेत्र में 'नवीन' जी स्वच्छन्दतावादी हैं—भाषा, छन्द, भाव सब में ये स्वच्छन्दता के प्रेमी हैं। इनकी रचनाओं में एक प्रकृत माधुर्य विद्यमान रहता है। रचनायें इनकी उद्गार हैं, चाहे वे दार्शनिक हों, चाहे राष्ट्रीय और चाहे शृंगारिक। इनके गीत बड़े ललित होते हैं। कुछ राष्ट्रीय गीत तो इनके अनल-गान हैं। उदाहरण—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आये—एक हिलोर उधर से आये।
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये।
नाश और सत्यानाशों का, धुँआधार जग में छा जाये।
बरसे आग जलद जल जायें, भस्मसात् भूधर हो जायें।
पाप पुण्य सदसद्भावों की, धूल उड़ उठे दायें बायें।
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक टूक हो जायें।

आज बरसों बाद प्रियतम मिल गये जीवन-डगर में।
मृत मनोरथ के सुमन से खिल गये जीवन-डगर में।
वे धुँये के तूल से छाये हुए थे सजल बादल।
झर रहा था गगन के उर से मगन यौवन लगन जल।
उस सिहरते नीम नीचे झुक दृगों ने चरण सींचे।
नेह रस बस उधर उनके हिल गये जीवन डगर में॥

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—छायावादी काव्य में ओज और पुरुषत्व को ले कर आने वाले महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला हैं। 'निराला' जी का जन्म १८९७ ई० में बंगाल के महिषादल राज्य के मेदिनीपुर में हुआ था। इनके पिताका नाम पं० रामसहाय त्रिपाठी था जो उस राज्य के कर्मचारी थे। पैतृक घर निराला जी का उन्नाव जिले के गढ़ाकोला नामक गाँव में है और निराला जी के लिए प्रसिद्ध भी है "कविन मा आला भा निराला गढ़ाकाला का।" स्कूल में जब ये पढ़ते थे तभी ये बँगला में कविता करते थे। ९ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने हिन्दी-ज्ञान प्राप्त किया और व्रजभाषा और अवधी में छन्द लिखने लगे। इन्हें हिन्दी की ओर लाने का श्रेय इनकी

पत्नी को है जो साहित्यिक अभिरुचि की महिला थीं। खड़ी बोली में निराला जी की सबसे पहली रचना 'जुही की कली' है।

निराला जी पर स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद जी के दार्शनिक विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा और इन्होंने वेदान्त का अध्ययन किया। कुछ दिन ये 'मतवाला' नामक हास्य व्यंग्य प्रधान पत्र का संपादन भी करते रहे। निराला जी की रचना में रहस्यवादी विशेषता काफी है। निराला की रचना बड़ी गंभीर होती है।

निराला जी ने आधुनिक काव्य के अनेक क्षेत्रों में नवीन प्रयोगों का प्रवर्तन किया। नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) काव्य के क्षेत्र में संस्कृत वृत्तों का प्रयोग हरिऔध जी ने तथा अन्य मात्रिक छन्दों का प्रयोग गुप्तजी ने किया है, परन्तु छन्द को आधुनिक युग की गद्यात्मक भावना के समीप लाने के लिए निराला जी ने मुक्त छन्द और मुक्तगीतों के प्रयोग किये। ये छन्द हिन्दी के स्वाभाविक छन्दों पर आधारित होते हुए भी विषम छन्द हैं। बँगला और अंग्रेजी से मुक्त छन्दों के संस्कार ले कर खड़ी बोली के क्षेत्र में प्रवेश करने वाले निराला जी ने छन्द प्रयोग का नवीन मार्ग प्रशस्त किया। प्रसाद, पन्त, गुप्त आदि ने भी ऐसे प्रयोग किये, पर इनमें अग्रगामी 'निराला' ही हैं।

निराला जी के छन्दों में शब्द-योजना भी अपनी निराली रहती है। और कहा जा सकता है कि वर्ण-शब्द-संयोजन की अद्भुत सूझ निराला जी को है। कविता में इन्होंने उत्कृष्ट साहित्यिक तथा संस्कृत-निष्ठ शब्दावली का भी प्रयोग किया है और बिल्कुल बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का भी। इनकी रचना में छायावादी, रहस्यवादी प्रवृत्तियों के साथ प्रगतिवादी और प्रयोगवादी विशेषतायें भी मिलती हैं। गद्य के क्षेत्र में ये सफल व्यंग्य-लेखक हैं। इनकी पद्य रचनाओं में भी व्यंग्य देखने को मिलता है। रचनाओं की पंक्तियाँ उदाहरण स्वरूप यहाँ हैं। इनकी शब्दावली में प्रभाव की व्यंजना है।

> दिवसावसान का समय
> मेघमय आसमान से उतर रही है
> वह संध्या सुन्दरी परी सी
> धीरे धीरे धीरे!

संध्या का प्रभाव यहाँ व्यंजित है। इसी प्रकार जागरण संदेश है—

> जागो फिर एक बार,
> प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें,

अरुण पंख तरुण किरण खड़ी खोल रही द्वार।
जागो फिर एक बार!
आँखें अलियों की किस मधु की गलियों में फँसी—
बन्द कर पाँखें, पी रही हैं मधु मौन,
अथवा सोईं कमल कोरकों में
बन्द हो रहा गुंजार!

इनकी अनेक रचनायें जैसे भिखारी, तोड़ती पत्थर, विधवा, यथार्थ जीवन के प्रगतिशील दृश्य हैं; फिर भी मुख्यतया ये छायावादी, दार्शनिक गूढ़ता से युक्त रचना करने वाले कवि हैं। इनकी मुख्य धारा देश-प्रेम, अध्यात्म-भावना तथा प्रेमभाव है।

श्री सुमित्रानंदन पंत—आधुनिक युग की सुकुमार भावना, कोमल कल्पना के कवि श्री सुमित्रानंदन जी का कवि रूप युगानुरूप चेतना को समन्वित करता हुआ विकसित हो रहा है। सबसे पहले आप प्रकृति-प्रेमी कोमलकांत पदावली को ले कर शुभ प्रेम-भावना तथा शिशु-सुलभ जिज्ञासा और भोले भावों को ले कर अवतरित हुए। पन्त जी की प्रारंभिक रचनाओं ज्योत्स्ना, पल्लव, गुंजन आदि में प्राकृतिक सौन्दर्य और प्रेम के प्रति किशोर अल्हड़ संवेदन-शीलता के दर्शन होते हैं; परन्तु आगे चल कर देश की राजनीतिक स्थिति ने जब युगानुकूल गांधीवाद की ललकार की तब उसका स्वर पंत जी की कविताओं में झंकृत हुआ। प्रगतिवादी आन्दोलन चलने पर साम्यवादी भावना और चेतना की लहर जब पूँजीवाद और सामन्तवाद के विरुद्ध संचरित हुई, तो पन्त की रचनाओं युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या, आदि में प्रगति और नवक्रांति का संदेश प्रकट करने वाली यथार्थवादी धारा की रचना देखने को मिलती है। आज जब हमारा देश स्वतन्त्र हो गया है और नवनिर्माण और नवप्रयोग की धूम मची हुई है, तब पन्त जी नूतन सांस्कृतिक एवं सामाजिक निर्माण का संदेश ले कर आते हैं। पन्त जी पर स्वामी विवेकानन्द तथा महर्षि अरविन्द के आध्यात्मिक दर्शन का प्रभाव भी खूब है। स्वर्ण किरण, स्वर्णधूलि, आदि में इसके प्रमाण मिलेंगे। काव्य के क्षेत्र में आज भी पन्त जी प्रगतिमान् हैं। पन्त जी प्रवृत्ति से छायावादी हैं, परन्तु आदर्श से ये उदार-मानवतावादी हैं। यह उदार-मानवतावाद, भक्तियुग के व्यापक सर्वात्मवाद का ही एक रूप है। अतः यह कोई विदेशी वस्तु नहीं, वरन् भारतीय संस्कारगत प्राचीन धारणा का नूतन उदार स्वरूप है।

श्री सुमित्रानंदन पंत का जन्म सन् १९०० ई० में अल्मोड़ा जिले के

सुन्दर प्रकृति के रमणीय लीला-क्षेत्र कौसानी नामक गाँव में हुआ था। आपके पिता का नाम पं० गंगादत्त पन्त था जो कौसानी राज्य के कोषाध्यक्ष पद पर काम करते थे। प्रारंभिक शिक्षा गाँव में प्राप्त कर फिर आपने बनारस में हाई स्कूल पास किया। आपकी कालेज की शिक्षा द्वितीय वर्ष के आगे न चल सकी। आपने विवाह नहीं किया। काव्य लिखने की रुचि आपमें प्रारंभ से है और प्रकृतिदत्त है। आप कुछ दिनों तक कालाकांकर राज्य में रहे। उसके बाद इलाहाबाद में। आजकल आप अखिल भारतीय आकाशवाणी के हिन्दी-परामर्शदाता के रूप में हैं।

पन्त जी आदर्शवादी हैं। कोई न कोई आदर्श आपकी कल्पना में सदैव रहता है जो स्वयं को तथा समाज को कुछ प्रेरणा देता रहता है। पंत जी के काव्य के विषय सामाजिक एवं सांस्कृतिक हैं।

पन्त जी ने प्रसाद और निराला जी के समान छन्दों और अलंकारों के क्षेत्र में नवीन प्रयोग किये हैं। कलात्मक सूक्ष्म बारीकियों की प्रतिभा ने पन्त जी की शब्दावली में एक विलक्षण मार्दव और सौष्ठव भर दिया है। पन्त जी की रचनायें सूक्ष्म रूप-चित्रावली से ओत-प्रोत हैं। निराकार भावनाओं और वस्तुओं को अपने गुणों के रूप-चित्रण द्वारा साकार करने की क्षमता पन्त जी में अद्भुत है। जैसे बादल का एक चित्रण देखिये—

कभी चौकड़ी भरते मृग से भू पर चरण नहीं धरते।
मत्त मतंगज कभी झूमते सजग शशक नभ को चरते॥
कभी अचानक भूतों का सा प्रकटा विकट महा आकार।
कड़क कड़क जब हँसते हम सब थर्रा उठता है संसार॥
फिर परियों के बच्चों से हम सुभग सीप के पंख पसार।
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में पकड़ इन्दु के कर सुकुमार॥

छायावादी कवियों में लाक्षणिकता खूब है और पन्त जी में वह अपने बड़े सहज रूप में प्रकट हुई है। इनकी प्रमुख रचनाओं के नाम हैं—उच्छ्वास, ग्रंथि, वीणा, पल्लव, गुंजन, युगांत, युगवाणी, ग्राम्या, पल्लविनी, स्वर्ण-किरण, स्वर्णधूलि, उत्तरा, अतिमा, युगपथ, मधुज्वाल, रजत-शिखर, आदि। पन्त जी आज भी नवीन प्रयोगों में संलग्न हैं।

सुभद्राकुमारी चौहान—छायावाद युग की राष्ट्रीय काव्यधारा के भीतर सुभद्राकुमारी जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका जन्म सन् १६०४ ई० में प्रयाग में हुआ था। इनके पिता का नाम ठाकुर रामनाथसिंह था। इनका विवाह खँडवा के ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान से हुआ। सुभद्रा जी का अध्ययन

विवाह के बाद भी चालू रहा। इनके पति कांग्रेस का काम करते थे और 'कर्मवीर' के संपादन में भी सहयोग देते थे। सुभद्राजी स्वयं भी सत्याग्रह में भाग ले कर जेल गई थीं। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में इनकी रचनायें निकला करती थीं; परन्तु काव्य के क्षेत्र में इनकी विशेष ख्याति "झाँसी की रानी" वाली कविता से हुई जो कि अत्यन्त प्रचलित कविता है। इनके रचे ग्रंथ हैं—मुकुल, बिखरे मोती, त्रिधारा, उन्मादिनी, सभा का खेल, आदि। सुभद्राकुमारी के काव्य में व्यक्त भावनायें बड़ी शुभ्र और स्वाभाविक हैं। हमारी सहज भावनाओं का इतना सरल चित्रण आधुनिक युग में कोई और कवि नहीं कर पाया। सूर और तुलसी की सुगमता के साथ इन्होंने हमारे राष्ट्रीय प्रेम, भक्ति, वात्सल्य तथा प्रेम-भाव को अभिव्यक्ति दी है। उदाहरण—

नहीं दान है नहीं दक्षिणा, खाली हाथ चली आई।
पूजा की भी विधि न जानती, फिर भी नाथ चली आई।
पूजा और पुजापा प्रभुवर, इसी पुजारिन को समझो।
दान-दक्षिणा और निछावर, इसी भिखारिन को समझो।

इनकी सहजप्रवाही रचना बड़ा प्रभाव डालने वाली है—

सिंहासन हिल उठे राजवंशों ने भृकुटी तानी थी।
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी।
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सबने पहिचानी थी।
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी।
चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।

महादेवी वर्मा—उच्च और संस्कृत परिवार में श्रीमती महादेवी वर्मा स्वतः उच्च प्रतिभा को ले कर जन्मी हैं। इनके पिता बाबू गोविन्द प्रसाद भागलपुर में कालेज के प्रधानाचार्य थे और नाना व्रजभाषा में कविता करते थे। माता भी भक्त और काव्य से प्रेम रखनेवाली विदुषी थीं अतः काव्य के संस्कार भी इनके भीतर बचपन से ही पड़े थे। इनका जन्म सन् १९०७ में फर्रुखाबाद में हुआ था। महादेवी जी का विवाह बचपन में हो गया था और उसके बाद इन्होंने संस्कृत में एम्० ए० की परीक्षा पास की। तदनन्तर महिला विद्यापीठ प्रयाग की प्रधानाचार्या हो गईं; तब से उसी पद पर हैं। पहले महादेवी जी व्रजभाषा में रचना करती थीं, परन्तु मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं से प्रभावित हो कर ये खड़ी बोली में रचना करने लगीं। इनकी रचनायें

जब से प्रकाशित हुईं, तभी से उनमें एक विलक्षण कलात्मक दक्षता के दर्शन हुए। क्या गद्य और क्या पद्य महादेवी जी की एक एक पंक्ति, एक एक शब्द स्मरणीय रहता है। इनके लिखे काव्य-ग्रन्थों के नाम हैं—नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत दीपशिखा ; गद्य ग्रन्थ हैं—अतीत के चल चित्र, शृंखला की कड़ियाँ और स्मृति की रेखायें।

महादेवी जी के काव्य में प्रधान भावना विरह की है। और इस दृष्टि से महादेवी जी मीरा की परंपरा में आती हैं। नारी के विषाद-पूर्ण जीवन के प्रति आपकी सहज करुणा उमड़ी है और गद्य लेखों में कहीं कहीं समाज के प्रति रोष का भी भाव है; परन्तु काव्य ग्रन्थों में महादेवी जी मधुर साधिका हैं। रहस्यभावना की आप सर्वश्रेष्ठ आधुनिक कवि हैं। महादेवी जी की रहस्यभावना वेदना-पूर्ण है जिस पर कुछ-कुछ बौद्ध दुःखवाद की छाया देखी जा सकती है।

महादेवी जी ने प्रबंध काव्य नहीं लिखे। मीराँ की भाँति ये गीतिकार हैं और गीतिकार के रूप में महादेवी उन्हीं के समान श्रेष्ठ हैं। अनुभूति की विवृति के साथ-साथ गीतों में रूप-योजना इनके काव्य को कलात्मक चित्रावली से ओत-प्रोत कर देती है। शुभ्रवसना, सरस्वती की स्वरूप, वाणी के वैभव से संपन्न महादेवीजी के गीतों में चित्रों की इंद्रधनुषी रंगीनी है। परन्तु इतना और कहना चाहिये कि यह रंगीनी चटकीली नहीं शुभ्र और सूक्ष्म छायात्मक है। चित्रावली धुँधली है, फिर भी रेखायें स्पष्ट हैं रंग हलके हैं, पर छायायें कलापूर्ण हैं।

अनुभूति से परिचालित कल्पना महादेवी जी के काव्य में रमणीयता का साक्षात् रूप धर कर सदैव नव्यता को ग्रहण किये है। इसी नव्य कल्पना की तूलिका से वे सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्यात्मक संकेतों को अंकित करने में समर्थ हुई हैं। महादेवीजी की रचना में आधुनिक युग की भड़भड़ या आन्दोलन नहीं, संघर्ष नहीं। इन सबसे बचा कर अपनी एक-रस कविता को इतना सरस बना देना कोई हँसी खेल नहीं। महादेवी जी की रचना में समर्पण की भावना है; प्रकृति के कण-कण से समानुभूति की भावना है ; पीड़ा से एकाकार होने की भावना हैं। अतः इन सब को उसमें पा कर हम तो यही कह सकते हैं कि यह व्यापक मानवतावाद की संवेदना से संपन्न कविता है जिसका स्थूल आलंबन शाश्वत है, केवल सामयिक नहीं। जो रागिनी अपने समय में कुछ लोगों को बेसुरी लग रही थी, वह कलात्मक उपलब्धि के व्यापक इतिहास में अपनी सूक्ष्म बारीकियों को मुखर कर सकेगी और उसका स्थान अत्यंत ऊँचा

होगा, इसमें संदेह नहीं। उनकी कृतियों का कला-प्रेमियों के बीच अद्वितीय सम्मान है।

उत्तर छायावाद-युग

(१६३५ से १६४० तक)

छायावादी की ये प्रवृत्तियाँ १६२५–३५ तक घनीभूत हो चुकी थीं। छायावादी अस्पष्टता से बच कर कुछ कवि एक स्वछन्द मस्ती को ले कर काव्य के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। इस पर विशेष रूप से प्रभाव उमर खैयाम का था; फिर भी ये छायावादी धारा के अति स्वच्छन्द कवि थे। इनकी रचनाओं में एक अद्भुत मादकता और मस्ती दिखलायी देती है। इन कवियों में प्रधानतया उल्लेखनीय हैं—हरिवंशराय 'बच्चन', 'भगवती चरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, गुरुभक्तसिंह, आदि।

डा० हरिवंशराय 'बच्चन'—(जन्म १६०७ ई०)—हिन्दी काव्य में 'हालावादी' प्रवृत्ति को ले कर कविता लिखने वाले बचन जी हैं। इनकी रचना पर उमर खैयाम का प्रभाव स्पष्ट है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में आप अध्यापक रहे और अब केन्द्रीय सरकार के वैदेशिक विभाग में कार्य कर रहे हैं। जिस प्रकार पूर्व छायावादी काव्य पर भारतीय दर्शन की रहस्य भावना व्यक्त होती है, उसी प्रकार इस परंपरा के काव्य पर एक मस्ती के जीवन को अपनाने वाले दर्शन का संदेश मिलता है। 'बच्चन' के 'मधुशाला' 'मधुबाला' आदि काव्यों का नवयुवकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और विशेष रूप से वह प्रभाव इनके पढ़ने के ढंग से और भी बढ़ गया। इनकी रचनाओं में इनके काव्य के विरोध का उत्तर भी उसी भाव में मिलता है अतः यह हालावाद की एक लहर इस वर्ग की प्रवृत्ति बन गई थी। बच्चन की रचनाओं में भाषा का प्रयोग मुहावरा-युक्त है। उसमें उर्दू काव्य की सी रवानी है। इन्होंने लघु मात्रिक छन्दों के बड़े ही सुन्दर प्रयोग किये हैं। इसी परंपरा में आज 'रंग' जी भी अपनी रचनायें कर रहे हैं। इनके ग्रंथ निशा-निमंत्रण, एकांत संगीत भी हैं जो अत्यंत लोकप्रिय हुए। 'आकुल अन्तर' 'मिलन यामिनी' तथा 'सतरंगिनी' में वह मस्ती का भाव नहीं। इनमें विषाद और निराशा का स्वर ध्वनित हुआ है। बच्चन जी ने इस समय की क्लिष्ट एवं दुरूहता-पूर्ण कविता की अपेक्षा एक सरल सुगम तथा लोकप्रिय शैली प्रदान की जिसमें मुहावरेदार भाषा की छटा थी। 'बच्चन' की चेतना एवं परिस्थिति से प्रभावित रचना में 'बंगाल का काल', 'सूत की माला' आदि भी हैं।

भगवतीचरण वर्मा—(जन्म १९०३ ई०)—भगवतीचरण वर्मा का जन्म शफीपुर जिला उन्नाव में हुआ था। प्रयाग में शिक्षा प्राप्त कर आप कलकत्ते में 'विचार' पत्र निकालते रहे। फिर बंबई, लखनऊ, दिल्ली अनेक स्थानों में रहे। आजकल आकाशवाणी लखनऊ के हिन्दी परामर्शदाता हैं। वर्मा जी में हालावादी स्वच्छन्दतावाद तथा प्रगतिवाद दोनों की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। प्रमुखतया आप छायावादी उत्तरकालीन परंपरा के कवि हैं। आपकी रचना में एक विलक्षण गति रहती है जो हालावादी मस्ती की द्योतक है। वर्माजी के पढ़ने में कविता और भी विशेष रूप से सजीव हो उठती है। आपकी कुछ व्यंग्यात्मक रचनायें भी बड़ी सुन्दर और सामायिक महत्त्व की हैं। विचारों को भावों में डुबो कर रखने की कला आपकी सराहनीय है। वर्मा जी एक प्रसिद्ध उपन्यासकार भी हैं। मधुकण, प्रेम संगीत में आपकी कवितायें एक कल्पनालोक की मधुरिमा और मस्ती लिये हैं। इनमें ये प्रेमी स्वच्छन्दतावादी कवि के रूप में प्रकट हुए हैं। परन्तु बाद की रचनायें प्रगतिवादी यथार्थता का रुख लिये है; जैसा 'मानव' संग्रह की रचनाओं में प्रकट है। वर्मा जी, मस्ती, उल्लास और यौवन के कवि के रूप में आते हैं। इधर बाद वाली रचनायें अधिक विचार-प्रधान हैं।

रामकुमार वर्मा—आधुनिक हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार डा० रामकुमार वर्मा भावुक छायावादी कवि हैं। वर्माजी का जन्म १५ नवम्बर १९०५ को सागर में हुआ था। आपने हिन्दी में एम० ए० (प्रयाग विश्वविद्यालय से) तथा पी-एच० डी० (नागपुर) से करने के बाद प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यापन कार्य किया। वर्माजी भावुक और कल्पनाशील कवि हैं। इनके द्वारा रचित कविताग्रंथ हैं—अंजलि, रूपराशि, चित्ररेखा, चन्द्रकिरण, वीर हमीर. चित्तौड़ की चिता, अभिशाप, निशीथ और हिमहास। आपकी 'चित्ररेखा' पर देव पुरस्कार भी मिला था। काव्य में जिज्ञासा की प्रधानता है, जो इनकी रचनाओं को रहस्यवादी धारा की ओर प्रवृत्त करती है। इनके रूपक और उत्प्रेक्षायें बड़े ही सरस और स्वाभाविक हैं, साथ ही इनकी पंक्तियाँ अनुभूति को स्पर्श करने वाली हैं। प्रकृति के माध्यम से प्रेमानुभूति का चित्रण करने में भी वर्मा जी विशेष रूप से सफल हैं। भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से इनकी कविता मधुर और सरस है।

उदयशंकर भट्ट—भट्टजी की रचनायें बड़ी ही प्रख्यात हैं, विशेष रूप से नाटक तो प्रसिद्ध हैं ही। भट्टजी का जन्म सन् १८९७ ई० में कर्णवास जिला बुलन्दशहर में हुआ था। आपकी मातृभाषा गुजराती है, पर आपने

शास्त्री, काव्यतीर्थ, बी० ए० पास करके हिन्दी में लिखना आरंभ किया। सनातन धर्म कालेज लाहौर में आप हिन्दी के अध्यापक भी रहे। आजकल अकाशवाणी में हिन्दी रचनाओं के उत्पादक हैं। भट्टजी ने छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी सभी शैलियों में रचनायें की हैं। भट्टजी के वर्णन बड़े ही सजीव, विशद और मनोग्राही होते हैं। सूक्ष्म रंगों को उभारने की विशेषता इनकी लेखनी में है। इनके रचे कुछ ग्रंथ हैं—तक्षशिला, राका, मानसी, विसर्जन। भट्टजी विविध शैलियों के कवि हैं। इनकी रचनाओं में सांस्कृतिक चित्रण भी है। साथ ही उत्साह, आशा और कर्मठता का संदेश देनेवाली उदात्त विशेषता भी। इनकी लेखनी आज भी गतिमान है और प्रौढ़तर होती जा रही है। मानववादी विचारधारा के ये प्रेरक हैं।

रामधारीसिंह 'दिनकर'—राष्ट्रीय जागरण और सांस्कृतिक उत्थान के कवि श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' आज के सबसे ओजस्वी कवि हैं। दिनकर जी सिमरिया जिला मुंगेर (बिहार) के निवासी हैं। इनका जन्म सन् १६०६ ई० में हुआ था। ये हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, बँगला और उर्दू का भी अच्छा ज्ञान रखते हैं। दक्षिण की भी भाषायें सीखने का ये प्रयत्न कर रहे हैं। पटना विश्वविद्यालय से बी० ए० आनर्स करने के बाद इन्होंने कुछ समय तक मधुबनी में सब रजिस्ट्रार के पद पर काम किया फिर शिक्षा विभाग में आये। आजकल ये भारतीय संसद् के मनोनीत सदस्य हैं। इन्होंने हाल में कई बार विश्व के कलाकारों और कवियों के सम्मेलनों में भारत का प्रतिनिधित्व किया है।

दिनकरजी ओजस्वी लेखक हैं और विगत १५ वर्षों से काव्य-रचना कर रहे हैं। बिहार के ये प्रख्यात प्रतिभाशाली कवि और लेखक हैं तथा आधुनिक हिन्दी साहित्य के महत्त्वपूर्ण कवि। इनकी गणना आधुनिक युग के श्रेष्ठ कवियों में है। दिनकर जी में विलक्षण वर्णनात्मक प्रतिभा है। इन्होंने काव्य-रचना छायावादी शैली से प्रारंभ की थी; परन्तु वह उत्तर छायावादी शैली है जिसमें दुरूहता और अस्पष्टता नहीं। दिनकर जी को भारतीय संस्कृति से बड़ा प्रेम है और उसका इन्होंने गहरा अध्ययन किया है। "संस्कृति के चार अध्याय" इस क्षेत्र में इनका अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। भारतीय संस्कृति के विकास और उसे बनाने वाली अन्तर्धाराओं का परिचय देनेवाली इससे अच्छी और कोई पुस्तक नहीं। 'दिनकर' जी का काव्य भी भारतीय सांस्कृतिक महत्त्व के आवाहनों से ओत-प्रोत है। प्राचीन भारत के गौरव का गान और उसे फिर से स्थापित करने की भावना इनमें कूट-कूट कर

भरी है। 'हिमालय' और 'गंगा' से संबंधित दिनकर की रचनायें बड़ी सुन्दर हैं।

'दिनकर' की ओजपूर्ण रचनाओं में क्रांति का आवाहन है अतः इन्हें छायावाद युग के अन्त का कवि कहना चाहिए। ये यथार्थ में क्रान्तियुग के कवि हैं। विहारी और महादेवी वर्मा के समान 'दिनकर' की रचनाओं में शब्द का चमत्कारपूर्ण प्रयोग नहीं है, परन्तु ओजपूर्ण प्रवाह, तथा भाव की अविरल धारा प्रवाहित करने में 'दिनकर' जी बेजोड़ हैं। इनकी गंभीर ओजस्विनी वाणी में उदात्त चेतना के संदेश हैं।

दिनकर जी सच्ची भावना के कवि हैं। युग की चेतना तथा जीवन-दर्शन-संबंधी सिद्धान्तों का संघर्ष भी इन्होंने कुरुक्षेत्र जैसे ग्रंथों में प्रस्तुत किया है। परन्तु ये स्वयं किसी (वाद) के आग्रही नहीं हैं। इनकी लेखनी में एक नवीन उत्साह और संदेश अब भी विद्यमान है। ये क्रान्ति और निर्माण के कवि हैं। दिनकर की रचनायें हैं—रेणुका, हुंकार, रसवंती, द्वन्द्वगीत, सामधेनी, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, बापू, इतिहास के आँसू, धूपछाँह, नीम के पत्ते, दिल्ली, नील कुसुम आदि। 'दिनकर' जी से अभी राष्ट्र-भाषा के साहित्य को बहुत आशा है।

नरेन्द्र शर्मा—नरेन्द्रशर्मा का जन्म सन् १९१३ में जहाँगीरपुर (बुलन्द शहर) में हुआ था। इन्होंने एम० ए० तक शिक्षा पायी। नरेन्द्र जी ने काव्यक्षेत्र में एक भावुक एवं कल्पनाशील कवि के रूप में प्रवेश किया। इनकी प्रारंभिक रचनाओं में प्रेम और विरह की घायल अनुभूतियों एवं करुणापूर्ण स्मृतियों की अभिव्यक्ति है। जो उत्तर छायावादी काव्य की स्वच्छन्दतावादी धारा की प्रवृत्ति है, परन्तु बाद की रचनाओं में प्रगतिवादी विचारधारा का पोषण है। नरेन्द्र भावनाओं की सच्ची अभिव्यक्ति देने वाले कवि हैं। छिपाने वाले या घुमा फिरा कर कहने वाले कवि नहीं। अपने अन्तस् की दुर्बलताओं का स्पष्ट प्रकाशन साहस का काम है। नरेन्द्र जी की रचनायें हैं—प्रभातफेरी, प्रवासी के गीत, मिट्टी और फूल, पलाशवन, आदि। प्रेम-भाव की दुर्बलता के चित्रणों के साथ कहीं-कहीं इनकी रचनायें क्रांति की चिनगारी उगलने वाली हैं। इनके प्रकृति के चित्रण बड़े सुन्दर हैं।

रामेश्वरप्रसाद शुक्ल 'अञ्चल'—अंचलजी के पिता माधुरी के सुप्रसिद्ध संपादक पंडित मातादीन शुक्ल थे। अंचलजी का जन्म १९१५ में कृष्णपुर जिला के फतेहपुर में हुआ था। इनकी शिक्षा लखनऊ और नागपुर विश्वविद्यालयों में हुई। इस समय जबलपुर के कालेज में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। अंचलजी बड़े भावुक कवि हैं। ये एक प्रगतिशील उपन्यास-

कार भी हैं। इनकी मुख्य काव्य-कृतियाँ हैं—मधूलिका, अपराजिता, किरण-वेला, तारे, वे बहुतेरे, करील, लाल चूनर, वर्षान्त के बादल। अंचल स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की सीमा पर हैं। वासनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति इनकी कला का एक विशेष गुण है। इनकी रचना में एक वासनात्मक तृष्णा और लालसा की अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु इन्होंने अनेक रचनाओं में क्रान्ति का आवाहन भी किया है। ये क्रान्ति युग के संधिकालीन कवि हैं। इनकी कृति 'वर्षान्त के बादल' में सुन्दर कलात्मक अभिव्यक्ति है। इनके चित्र बड़े ही हृदयग्राही हैं। 'अंचल' जी के शब्द भाव की पूर्ण एवं समर्थ अभिव्यक्ति करने वाले होते हैं। इनके विशेषण बड़े ही विशद, रंगीन तथा हिन्दी का ललित रूप ग्रहण किये हुए होते हैं। इनकी कला का क्रमशः निखार होता जा रहा है। इनकी उदात्त रचनाओं में प्रस्तुत चित्र बड़े ही रमणीय और स्मरणीय हैं।

गोपाल सिंह नेपाली—(१९०३) बेतिया (चम्पारन), बिहार के रहने वाले 'नेपाली' स्वच्छन्दतावाद के मधुर कवि हैं। ये अंग्रेजी, नेपाली और हिन्दी का ज्ञान रखते हैं और आजकल बम्बई में फिल्म में चले गये हैं। नेपाली जी की रचना एक विशेष मधुरिमा और प्रवाह से संपन्न होती है। इनका मुख्य विषय है प्रेम और प्रकृति-चित्रण। इनकी रचनायें हैं—पंछी, उमंग, रागिनी, रिमझिम, कल्पना, नीलिमा, पंचमी आदि। कल्पना की नव्यता के साथ मधुर भावना की अनुभूति का सरस स्पर्श इनकी कविता में प्रायः सर्वत्र है। इनकी रचनायें अधिक लम्बी नहीं होती हैं।

ऊपर जिन कवियों का विवरण दिया गया है वे उत्तर छायावाद और क्रान्ति युग के सन्धि-कालीन कवि हैं। इसीलिये इनमें स्वच्छन्दतावादी और प्रगतिवादी दोनों ही प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। इन्हीं में से कुछ आगे चल कर क्रान्ति-युग में प्रगतिशील कवियों के रूप में विकसित हुए। जिन कवियों ने प्रगतिशील प्रवृत्ति या प्रगतिवादी विचारधारा को अपनाया वे हैं निराला, पंत, नवीन, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर, उदयशंकर, नरेन्द्र और अंचल। अतः छायावाद युग के बाद आने वाली प्रगतिवादी प्रवृत्ति या क्रान्ति-भावना के काव्य के अन्तर्गत ये कवि भी आते हैं—इनके अतिरिक्त क्रान्ति युग के कवियों में प्रमुखतया उल्लेखनीय नाम शिवमंगल सिंह 'सुमन' का है।

शिवमंगलसिंह 'सुमन'—सुमन जी उन्नाव ज़िले के निवासी हैं। इन्होंने काशी विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त की। इन्होंने ग्वालियर और इन्दौर में अध्यापन का कार्य किया है। सुमन जी क्रान्ति-युग के ओजस्वी

गायक हैं। इनकी रचनाओं में जागरण और कर्मण्यता का आवाहन है। इनकी दो-तीन रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।

प्रगतिवादी धारा के कवियों में अन्य प्रसिद्ध नाम हैं केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, नागार्जुन, शमशेर बहादुर सिंह, प्रभाकर माचवे, भवानीप्रसाद मिश्र, आदि, जो इस युग के उदीयमान कवि हैं। स्वाधीनता के बाद इन कवियों की प्रवृत्तियों में भी मोड़ दिखलायी देता है।

छायावाद युग के अन्य कवि

नूतन परम्परा और नवीन चेतना को लेकर लिखने वाले इन कवियों के अतिरिक्त पुरानी परम्परा के भी कुछ महत्त्वपूर्ण कवि छायावाद युग के अन्तर्गत आते हैं, जिनमें पूर्व-परम्परा के संस्कार होते हुए भी नवीनता देखी जा सकती है। इन कवियों में प्रमुख हैं पंडित बदरीनाथ भट्ट, मुकुटधर शर्मा, सियारामशरण गुप्त, गोविन्द दास, राय कृष्णदास, गुरुभक्त सिंह, श्रीनारायण चतुर्वेदी, जगदम्बा प्रसाद 'हितैषी', गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', भगवतीप्रसाद वाजपेयी, मोहनलाल महतो, इलाचन्द्र जोशी, जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', सोहनलाल द्विवेदी, हरिकृष्ण प्रेमी, पद्मकान्त मालवीय, आरसीप्रसाद सिंह, आनंदकुमार आदि। इन सब की प्रवृत्तियाँ यद्यपि अलग अलग हैं फिर भी ये छायावादी काव्यधारा से प्रभावित हैं। इनमें से दो एक का परिचय दिया जाता है।

सियारामशरण गुप्त—बाबू सियारामशरण गुप्त का जन्म सन् १८९५ ई० में हुआ था। ये बाबू मैथिलीशरण जी के अनुज हैं। ये सुन्दर कवि और सफल नाटककार भी हैं। सियारामशरण जी की रचनाओं की भाषा शुद्ध, सरल और परिमार्जित होती है। इन्होंने अन्योक्ति रूप में भी कुछ सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। इनकी रचनाएँ भावपूर्ण एवं विचार-प्रेरक होती हैं। इनके द्वारा रचे हुए ग्रंथों के नाम ये हैं—दूर्वादल, मौर्यविजय, आत्मोत्सर्ग, अनाथ, विषाद, आर्द्रा, पाथेय, मृण्मयी, बापू (कविताएँ); गोद, नारी (उपन्यास), अंतिम आकांक्षा, मानुषी (कहानियाँ); पुण्य पर्व (नाटक)।

गुरुभक्त सिंह—गुरुभक्तसिंह का जन्म सन् १८९३ में जमानिया जिला गाजीपुर में हुआ था। इन्होंने बी० ए०, एल-एल० बी० तक शिक्षा पाई। इस समय यह आजमगढ़ जिला बोर्ड के एक्जीक्यूटिव अधिकारी हैं। भक्तजी की रचनाएँ चलती हुई सरल तथा सरस भाषा में होती हैं। इनका वर्णन रोचक एवं प्रवाहपूर्ण है। इन्होंने कई प्रबंध काव्यों की रचना की है। इनकी रचनाओं के नाम ये हैं—सरस सुमन, कुसुम कुंज, वंशी ध्वनि, नूरजहाँ, वनश्री,

विक्रमादित्य आदि। इन्होंने अपने काव्य में चलती हुई भाषा का प्रयोग किया है परन्तु कथा-प्रसंग में तथा मुक्तक रूप में आये प्रकृति के वर्णन इनके अत्यंत सुन्दर हैं।

अनूप शर्मा—अनूप शर्मा व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में ही लिखने वाले ओजपूर्ण कवि हैं। अनूप जी का जन्म सन् १६०० ईसवी में नवीनगर जिला सीतापुर में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० बदरीप्रसाद त्रिपाठी था। इन्होंने एम० ए०, एल० टी० तक शिक्षा प्राप्त की और यह सीतामऊ और धामपुर में स्कूलों के प्रधानाचार्य रहे। आजकल लखनऊ आकाशवाणी के पंचायतघर में कार्य करते हैं। शर्मा जी की रचनाएँ बड़ी ओजपूर्ण होती हैं। छंदों का गतिपूर्ण प्रवाह और शब्दों का भावानुकूल संयोजन इनकी रचनाओं की विशेषता है। इनकी विशेष प्रवृत्ति वीर-काव्य की है। परन्तु इनके शृंगारिक वर्णन भी बड़े सुन्दर हैं। इन्होंने दो-तीन महाकाव्य लिखे हैं। अभी गांधी जी पर प्रबंध काव्य लिखा है। शर्मा जी में आशुकवित्व की विशेषता लक्षित होती है। इनकी रचनायें हैं—सिद्धार्थ, शर्वाणी, कुसुमांजलि, सुनाल, आदि।

सोहनलाल द्विवेदी—पं० सोहनलाल द्विवेदी आधुनिक युग के प्रमुख गांधीवादी कवि हैं। इनका जन्म सन् १६०५ में बिन्दकी जिला फतेहपुर में हुआ था। द्विवेदी जी बड़े भावुक और राष्ट्रीय विचारधारा के कवि हैं। इनकी रचनाओं में से कुछ अन्दोलन के दिनों में प्रसिद्ध थीं जैसे—खादी गीत, युगावतार बापू। इनके रचे हुए ग्रंथों में प्रमुख हैं—भैरवी, युगारम्भ, वासन्ती, बालभारती, बाँसुरी, मोदक आदि। इनकी रचनाओं का शुद्ध प्रवाह यह सिद्ध करता है कि जैसे वे अनायास ही निर्मित हुई हैं। रचनाओं के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

खादी के धागे धागे में अपनेपन का अभिमान भरा।
भारत का इसमें मान भरा, अन्यायी का अपमान भरा।
खादी के रेशे रेशे में अपने भाई का प्यार भरा।
माँ बहनों का सत्कार भरा बच्चों का मधुर दुलार भरा॥
(खादी गीत)

चल पड़े जिधर को डग, मग में बढ़ चले कोटि पग उसी ओर,
पड़ गई जिधर भी एक दृष्टि, गड़ गए कोटि दृग उसी ओर।
जिसके सिर पर निज धरा हाथ, उसके सिर रक्षक कोटि हाथ,
जिस पर निज मस्तक झुका दिया, झुक गए उसी पर कोटि माथ।

हे कोटि चरण, हे कोटि बाहु, हे कोटि रूप, हे कोटि नाम,
तुम एक मूर्ति, प्रतिमूर्ति कोटि, हे कोटि मूर्ति, तुमको प्रणाम!
(युगावतार बापू)

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद

आधुनिक कविता में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद निश्चित रूप से काव्य के वादों के रूप में स्वीकार नहीं किये जा सकते। आजकल की कविता की प्रमुखधारा छायावादी ही है, जिसमें कवि संकेतात्मक रूप में सशक्त शब्दावली में लक्षणा और प्रतीक के माध्यम से अपने मनोभाव व्यक्त करना चाहता है। इसी छायावादी काव्य के प्रारंभिक प्रयोगों में कुछ दुरूहता, अस्पष्टता और जीवन के संघर्षों से दूर पलायनवादी स्वर अधिक मुखरित हो उठे जिसकी प्रतिक्रिया में संघर्ष और यथार्थ जीवन के चित्रण करने की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। जिन कवियों ने संघर्ष क्रान्ति और यथार्थ चित्रण का यह नया मार्ग अपनाया उनमें से अधिकांश पहले छायावादी कवि रह चुके थे। अतः यह यथार्थ चित्रण की विशेषता प्रगतिशील कविता के लक्षण के रूप में अपनायी गई; क्योंकि इसका जीवन की समस्याओं और संघर्षों से सीधा संबंध था। यह नितान्त स्वाभाविक भी था। जब हमारा घर जल रहा है, तब एकान्त-चिन्तन या पूजा करने का ध्यान अनुचित और असामयिक लगता है। जब १९४० में द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद भी भारतीय स्वाधीनता के प्राप्त होने के कोई वैधानिक लक्षण न दिखलायी दिये, तब भारतीय चेतना क्षुब्ध हो उठी। उसके भीतर का क्षोभ क्रांति के लिए छटपटा उठा। कवियों के कंठों से 'बज रहा बिगुल सज रहे लोग मिटने मनचले जवान चलो', 'अब मत देर लगाओ धधकी बलिदानों की ज्वाला' आदि के ललकारते स्वर फूटे और एक सघन विद्रोह की भावना अन्तस् में प्रज्वलित हुई, जो गांधी जी के 'करो या मरो' तथा 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' आदि के नारों से भभक उठी और देशव्यापी ज्वाला में परिणत हो गई। फिर भी यह क्रांति का समय सन् ४० से सन ४७ तक चलता रहा। इस प्रकार की पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय प्रगतिशील कवितायें लिखी गईं जिनमें ललकार, बलिदान, और क्रांति के आवाहन ध्वनित हुए थे। उत्तरछायावादी कवि नरेन्द्र, दिनकर, अंचल, नवीन, सुमन, कंटक आदि की अनेक रचनायें इन क्रांतिकारों के स्वरों से पूर्ण हैं।

प्रगति और क्रांति युग की इस भावना ने आगे चल कर कुछ बौद्धिक रूप धारण किया। सन् १९३६ ई० में प्रगतिशील लेखक-संघ की स्थापना हुई

थी जिसके रंगमंच से अनेक उपदेशात्मक एवं सिद्धान्तवादी बातें कवियों के लिए कही गईं जिसका प्रभाव अच्छा भी पड़ा और बुरा भी। 'प्रगतिवाद' के रूप में कुछ रचनाओं में 'साम्यवाद' और 'मार्क्सवाद' का बौद्धिक निरूपण प्रारंभ हुआ। परन्तु यह निश्चय है कि इन रचनाओं में कोई काव्य का सृजन नहीं हो पाया। समाजवाद आगे चल कर भारतीय जनता की चेतना और संस्कारों में उतरा क्योंकि भारतीय संस्कृति का मूल साम्य भावना पर ही आधारित है। "शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः" तथा 'घट घट में वह साईं रमता कटुक बचन मत बोल रे' और 'सीय राममय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोरि युग पानी' के संस्कारों वाली भारतीय जनता के लिए, निजी साम्यवाद और समाजवादी दर्शन पहले से ही बौद्ध और भागवत दर्शनों के भीतर मौजूद है। अतः यह 'साम्यवादी' या 'मार्क्सवादी' प्रचार एक आरोप के रूप में ग्रहण किया गया। फिर भी इसके परिणाम से कुछ सुन्दर यथार्थवादी रचनायें भी होने लगीं जिनमें पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं का उद्घाटन और विषमताओं का चित्रण हुआ। इससे आधुनिक काव्य की यथार्थवादी भूमि पुष्ट हुई। गाँव और नगर का भेदभाव मिटा। अमीर और गरीब का भेद दूर करने वाली दृष्टि का विकास हुआ। उस समय की पूँजीशाही और सामंतशाही के प्रति भी विरोध का भाव जागा और राजनीतिक क्रांति के साथ साथ सामाजिक क्रांति की नींव पड़ी। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि इस प्रकार की सामाजिक क्रांति के भाव उत्पन्न करने में कविता की अपेक्षा गद्य साहित्य और विशेषतया कथा साहित्य ने अधिक काम किया जिसके भीतर यथार्थ में हम प्रगतिवादी दृष्टिकोण देख सकते हैं। पर कोई ऐसा समर्थ प्रगतिवादी कवि न हो सका जो अपने समस्त संस्कारों को छोड़ कर इस भावना का समर्थन करता। यह बुद्धि का विषय बना; हृदय की भावना में उस समय उतर न पाया।

'प्रगतिवाद' के नाम पर यथार्थ चित्रण करने के आवेश में कुछ कवियों ने घृणापूर्ण, वासनात्मक और अशोभन चित्रण भी किये जिनमें कुवासना के संस्कार अधिक दिखलायी देते हैं, उदात्त भावना या सामाजिक चेतना के दर्शन नहीं होते। इसी आवेश में कुछ लेखकों ने भारतीय संस्कृति की अनेक मान्यताओं के प्रति विरोध और विद्रोह की भावनाओं को भी प्रश्रय दिया; परन्तु यह अधिकांशतः पक्षपातपूर्ण था अथवा भारतीय संस्कृति के अधूरे ज्ञान के कारण था। भारतीय संस्कृति का यथार्थ रूप बड़ा ही उदार और प्रगतिशील है। वह प्रधानतया समन्वयवादी है अतः उसके विरोध का प्रश्न

ही नहीं उठता। युगीन विकारों को देख कर समूची संस्कृति के प्रति विद्रोह का भाव लाना भ्रम है। अतएव स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद जैसे सांस्कृतिक एवं सामाजिक नवनिर्माण का संदेश ले कर हिन्दी-काव्य-धारा चल रही है।

'प्रगतिवाद' के नाम से आयी प्रवृत्ति प्रतिक्रिया स्वरूप थी और सामयिक थी। प्रगति तो सभी युगों के काव्यों में देखी जा सकती है, अतः आज नई नहीं है। अतः राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के बदल जाने पर, भारतीय जनता का चिरकाल से चला आता स्वर्णिम स्वप्न जब भारतीय स्वाधीनता के रूप में पूरा हो गया, तब छायावादी प्रयोगों ने फिर करवट ली और आज जिसे 'प्रयोगवाद' के नाम से पुकारना चाहते हैं, वह इसी प्रकार के प्रयोग की प्रवृत्ति ले कर चल रहा है।

प्रयोगशीलता भी प्रगतिशीलता के समान स्वाभाविक है। प्रतिभा-संपन्न कवि जब भी भाषा तथा काव्य में प्रचलित प्रतीकों उपमानों अप्रस्तुतों को नवीन चेतना और भावना को अभिव्यक्ति देने में असमर्थ पाते हैं, तब वे सदैव नवीन प्रयोग करते रहते हैं। तुलसी, जायसी, कबीर, बिहारी, पद्माकर आदि ने भी अपने युग के लिए नवीन प्रयोग किये थे। प्रसाद, निराला, पन्त ने इस युग में नवीन प्रयोगों की नींव डाली। अतः प्रयोग की परम्परा का विकास ही आज की प्रयोगशील कविता में देखना चाहिए। इसे नवीन वाद या सिद्धांत के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसके पीछे कोई चिन्तन या भावना की भूमि नहीं। और नाम भी क्या है, प्रयोगवाद, जो इस बात का द्योतक है कि इस समुदाय के लोग ख़ामख़ाह एक वाद के चक्कर में पड़ना चाहते हैं जिससे वाद के रूप में इस समुदाय को एक विशिष्ट मान्यता प्राप्त हो सके। यहाँ पर काव्य के क्षेत्र में आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल का कथन बड़ा तथ्यपूर्ण है कि काव्य के क्षेत्र में वाद उसकी सारसत्ता को ही चर जाता है और कुछ दिनों में लोग कविता न लिख कर 'वाद' ही लिखने लगते हैं। अतः काव्य के क्षेत्र में 'वाद' का आग्रह उचित नहीं, यह संकीर्णता का द्योतक है। काव्य तो व्यापक और गहरी संवेदना की अभिव्यक्ति है, वही अपनी नवीन विशेषतायें ले कर काव्य में प्रकट हुआ करती है।

इतना कहने के बाद यह भी कह देना आवश्यक है कि 'वाद' का विवाद छोड़ते हुए यदि हम देखते हैं तो इस प्रयोगशीलता या प्रयोगवाद के अन्तर्गत अपने को रखने वाले कुछ कवि बड़े ही प्रतिभाशील हैं और उनके काव्य में सचमुच आधुनिक चेतना को व्यक्त करने के लिए नवीन प्रयोग हुए हैं; परन्तु ऐसे ही प्रयोग पहले भी हो चुके हैं, अतः इस वर्ग को ही प्रयोगवादी

या प्रयोगशील कहना ठीक नहीं है। ये प्रयोग छायावादी प्रवृत्ति का ही एक विकास हैं जो आधुनिक हिन्दी काव्य में अनेक वादों और सिद्धान्तों की समन्वित आभा ले कर अवतरित हुआ था। प्रयोगशील कवियों में लगभग समस्त वर्तमान प्रतिभा-संपन्न कवि आते हैं जिनमें सभी 'वाद' के भीतर सम्मिलित होने के आग्रही नहीं हैं। फिर भी उनके सुन्दर और नवीन प्रयोग उनकी रचनाओं में देखे जा सकते हैं। इस परम्परा के कुछ महत्त्वपूर्ण कवियों का परिचय यहाँ पर दे रहे हैं।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'—'अज्ञेय' जी प्रयोग-वाद के प्रवर्तक हैं और अपने प्रयोग-संबंधी विचारों और उस परंपरा की कविताओं को प्रकट करने वाला 'प्रतीक' नामक पत्र निकालते रहे हैं। आपका जन्म ६ मार्च सन् १९११ ई० को कसिया, जिला गोरखपुर में हुआ था। आप डाक्टर हीरानंद शास्त्री के सुपुत्र हैं। आपने बी० एस-सी० किया था तथा संस्कृत की शिक्षा भी प्राप्त की। 'अज्ञेय' जी प्रधानतया 'प्रतीकवादी' हैं। नवीन प्रतीकों में अपने गूढ़ भावों को व्यक्त करने में आप प्रयोगरत हैं। आपकी रचनाओं में कल्पना की संकेतात्मकता और बौद्धिकता अधिक रहती है; भावात्मक प्रवाह एवं अनुभूति की सर्वसुलभ अभिव्यक्ति कम। आप लाक्षणिक कलाकार हैं। व्यंजना, लक्षणा पर आरूढ़ रहती है। प्रारम्भिक रचनायें इनकी सरस और प्रवाहपूर्ण हैं। इनकी कविता में नवीन कल्पना की एक विशिष्ट माधुरी रहती है। सामान्यतः अनर्गल लगने वाले कथन सोचने पर एक निश्चित भाव और विचार के द्योतक होते हैं। इस परंपरा में 'अज्ञेय' जी अद्वितीय हैं। प्रकृति की उड़ती हुई चित्रावली में ये नवीन शैली के चित्रकार के समान चित्र उपस्थित करने में समर्थ हैं। एक उदाहरण है—

शरद की साँझ के पंछी

ऊपर फैला है आकाश, भरा तारों से—
भारमुक्त तिरते जाते हैं
पंछी
डैने बिना हिलाये
जी होता है मैं सहसा गा उठूँ
उमगते
स्वर जो कभी नहीं भीतर से फूटे
कभी नहीं जो मैंने—
कभी किसी ने—गाये।

किन्तु अधूरा है आकाश
हवा के स्वर बंदी हैं
मैं धरती से बँधा हुआ हूँ—
हूँ ही नहीं, प्रतिध्वनि-भर
जब तक
नहीं उमगते तुम स्वर में मेरे प्राणस्वर
तारों में स्थिर मेरे तारे
जब तक नहीं तुम्हारी लंब्राथित परछाहीं
कर जाती आकाश अधूरा
पूरा।
भार मुक्त
ओ मेरी संज्ञा में तिर जाने वाले पंछी
देख रहा हूँ तुम्हें मुग्ध
मैं
यह लो
लाली में से उभर चंपई
उठा दूज का चाँद कँटीली।

इस धारा के अन्य प्रसिद्ध कवि हैं धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, नरेशकुमार मेहता, केदार, नलिनविलोचन, गिरिजाकुमार माथुर शकुन्तला माथुर, अजितकुमार आदि। धर्मवीर भारती, नरेश मेहता और गिरिजाकुमार माथुर प्रयोगों के क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं। भारती की दृष्टि जहाँ अधिक श्रृंगारिक है, वहाँ नरेश मेहता की वैदिक सांस्कृतिक और माथुर की लोक-सांस्कृतिक। प्रतीक सर्जना की दृष्टि से नरेश मेहता में अद्भुत विलक्षणता पाई जाती है और कहा जा सकता है कि कहीं कहीं तो वे नवीनता और प्रयोग के फेर में 'केशवदास' ही बन जाते हैं। धर्मवीर भारती की शब्दावली बड़ी ही मनोरम है और अनुभूति के (विशेषतः प्रेमानुभूति के) चित्रण में सूक्ष्म तरंगों को स्पर्श करने वाली है। गिरिजाकुमार माथुर के प्रयोग कई दिशाओं में काम करते हैं। प्रयोगवादी और प्रतीकवादी होते हुए भी वे लोकानुभूति के पारखी हैं। उनके निजी लोक-जीवन के अनुभव और संस्कार छन्दों और प्रतीकों के नवीन प्रयोगों को सर्वग्राह्य बना देते हैं। माथुर जी की विशेषण-रचना की शक्ति अद्वितीय है। वैसे यह माना जा सकता है कि प्रयोगशील कवियों ने सुन्दर और ललित विशेषणों का एक बहुत बड़ी संख्या में निर्माण किया

है और उनकी यह देन बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु माथुर जी की विशेषणावली तो अत्यंत बृहत् है और इसका बड़ा बहुरंगी और इंद्रधनुषी प्रभाव पड़ता है। 'माथुर' लोक की सांस्कृतिक चेतना के कवि हैं और इस क्षेत्र में उनकी नवीन रचना 'दियाधरी' अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। भारतीय इतिहास की सांस्कृतिक झाँकियाँ प्रस्तुत करने वाली, आशा-विषाद की लोकानुभूति को उकसाती हुई जो दृश्यावली इस रचना में प्रस्तुत की गई है, वह एक साथ ही मार्मिक और भव्य है। ऐसी रचनायें हमारे साहित्य की गौरव हैं।

इनके अतिरिक्त बिना किसी वर्ग से बँधे हुए कुछ प्रबुद्धचेता और भावुक कवि अपनी रचनाओं द्वारा आधुनिक हिन्दी कविता का भंडार भर रहे हैं। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं—रामविलास शर्मा, शंभुनाथ सिंह, बलबीर सिंह 'रंग', नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, रमानाथ अवस्थी, आदि। डा० रामविलास जी जहाँ एक प्रौढ़ विचारक हैं, वहीं उनकी कविता में लोक-जीवन की मनोरम चित्रावली भी रहती है, ये चित्र गतिशील सौन्दर्य और जीवन के हैं। शंभुनाथ सिंह एक सिद्धहस्त कलाकार हैं। 'रंग' जी के छन्दों ने न जाने कितने नवयुवकों में इन्हीं की शैली में कविता लिखने और पढ़ने का जोश भर दिया है। 'नीरज' की मुख्य भावना निराशावादी और विषादात्मक है फिर भी इनकी शब्दावली में एक प्रवाह और प्रभाव है और इनके पढ़ने का ढंग भी सुन्दर है। वीरेन्द्र मिश्र आज के नव्यकल्पनाशील, मार्मिक अनुभूतियों को सजीली चित्रावली और संकेतात्मक शब्दावली में व्यक्त करने की विशेषता रखते हैं। रमानाथ अवस्थी प्रसिद्ध गीतिकार हैं। इनमें से लगभग सभी जैसा सुन्दर लिखते हैं, वैसा ही ललित पढ़ते भी हैं। इन उदीयमान कवियों ने कुछ भारतीय नव-निर्माण के भी चित्र अंकित किये हैं। यदि ये नवनिर्माण के संदेशवाहक बन सकें, तो सचमुच ये नवयुवक कवि अपनी समृद्ध कल्पना, उर्वर प्रतिभा और मधुर ललित शब्दावली से हिन्दी काव्य को समृद्ध कर सकेंगे; ऐसी हमें आशा है। हिन्दी काव्य का भविष्य उज्ज्वल है। इनके अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों में असंख्य कवि अपने क्षेत्रों को अपनी कवित्व-प्रतिभा से आलोकित कर रहे हैं और राष्ट्रभाषा हिन्दी का काव्य-भंडार भर रहे हैं।

हिन्दी-गद्य-साहित्य का विकास

हिन्दी-साहित्य का गद्य-युग

साहित्य में गद्य का प्रयोग भाषा के व्यापक उपयोग का द्योतक है। जब जीवन का बहुमुखी एवं बहुविध कार्य किसी भाषा में होने लगता है, तभी उस भाषा के गद्य का विकास होता है। यह इस बात का भी प्रमाण है कि साहित्य-जीवन से दूर नहीं, वरन् उसके नित्य प्रति के रूप के समीप आ रहा है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में गद्य का प्रयोग आधुनिक युग की विशेषता है। आधुनिक काल हिन्दी साहित्य का गद्य-युग कहलाता है। इसका पहला कारण तो यही है कि इस युग में गद्य का विकास प्रचुर मात्रा में हुआ है। कहा जा सकता है जितने ग्रन्थ गद्य के लिखे गये या लिखे जाते हैं उतने पद्य के नहीं। साथ ही जितने गद्य के लेखक हैं उनकी तुलना में पद्य के लेखक या कवि नहीं। दूसरा कारण यह है कि 'इस युग का साहित्य सर्वसाधारण से संबंध रखता है। वह केवल राजाओं, अमीरों और दरबारियों के मनोरंजन की वस्तु ही नहीं है, अतः यह स्वाभाविक है कि उसे सर्वसाधारण की भाषा में होना चाहिए। सर्वसाधारण की भाषा गद्य ही है अतः यह साहित्य गद्य में अधिक प्रकट हुआ है। तीसरा कारण यह है कि दैनिक जीवन और सामयिक महत्त्व का साहित्य इस युग में अधिक लिखा गया। पूर्ववर्ती युगों में कवि या लेखक शाश्वत अथवा सर्वकालीन महत्त्व के ग्रंथ या लेख लिखता था या रचना करता था; परन्तु आजकल पत्र-पत्रिकाओं के प्रचलन से उनमें अधिकांश सूचनात्मक साहित्य गद्य में रहता है; अतः हम आधुनिक युग में गद्य के अधिक अभ्यस्त हो गये हैं। चौथा कारण यह है कि आज का युग बुद्धिवादी युग है। विज्ञान के विकास ने मनुष्य को तर्कशील बौद्धिक बना रखा है। वह धीरे-धीरे अपनी भावुकता और कल्पनाशीलता खोता जा रहा है। तर्क आदि का साहित्य भी गद्य में ही रहता है। पद्य में तर्क से अधिक कल्पना और अनुभूति को छूने वाले वर्णन रहते हैं। ललित साहित्य के अन्तर्गत भी कविता की अपेक्षा, कथा-कहानियों, जीवनी-साहित्य, निबंध आदि का विकास हुआ है जिनमें लिपिबद्ध हो कर गद्य भी शाश्वत महत्ता की विशेषता अपना चुका है। एक और कारण यह है कि कविता को लिखने, पढ़ने, मनन करने और रस लेने में हमें समय की अपेक्षा होती है। समय के प्रतिबन्ध में कविता का पूर्ण

रसास्वादन नहीं किया जा सकता, अतएव गद्य साहित्य के विविध रूपों का प्रचुर मात्रा में विकास आधुनिक युग की विशेषता है। इसी से यह गद्य युग कहलाता है।

आधुनिक युग के पूर्व हिन्दी-गद्य साहित्य का विकास

उपर्युक्त विश्लेषण से यह न समझना चाहिए कि आधुनिक काल के पहले गद्य लिखा ही न जाता था। गद्य का प्रयोग होता था; पर इतने व्यापक रूप में न होता था। अधिकांश पूर्ववर्ती युगों में 'व्रजभाषा' गद्य देखने को मिलता है। हिन्दी का सबसे प्राचीन गद्य १४०० ई० के आसपास का माना जाता है। गोरख-गोष्ठियों के गद्य को यदि गोरखनाथ का माना जाय, तब तो वह १००० ई० के आसपास ठहरता है; परन्तु यदि वह नाथपंथी साधुओं का गद्य माना जाय तो भी १४०० ई० के पहले का ही है। अतः व्रजभाषा के प्रारंभिक गद्य का स्वरूप यही है। इसका उदाहरण नीचे दिया जाता है—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानंद। आनन्द स्वरूप है सरीर जिन्हको। जिन्हीं के नित्य गावै हैं सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हौं गोरष सो मछन्दरनाथ को दंडवत करत है। हैं कैसे वे मछन्दरनाथ? आत्माज्योति निश्चल है अन्तहकरन जिन्हकौ अरु मूल द्वार तैं छह चक्र जिन्हि नीकी तरह जानैं। अरु जुगकाल कल्प इनि की रचनातत्व जिनि गायो। सुगन्ध कौ समुद्र तिन्ह को मेरी दंडवत। स्वामी तुम्हैं तो सत गुरु अम्है तो सिब सबद एक पूछिबा दया करि कहिबा मनि न करिबा रोस। नीरारंभे चेला कूँण बिधि रहे।"

इस उद्धरण से यह निश्चित है कि यह गद्य व्रजभाषा के ढाँचे में ढला है; परन्तु इसमें पूरबी, राजस्थानी बोलियों की शब्दावली भी मिली है।

इसी प्रकार कुमुटिपा के नाम से मिले हठयोग से संबंध रखने वाले ग्रंथ की भाषा देखिये। इसका लिपिकाल १८४० ई० है फिर भी मूल १४वीं शताब्दी के आस पास का ही होगा —

"अजपा जपन्ती महामुनि इति ब्रह्मचक्र जाप प्रभाव बोलिये। ब्रह्मचक्र ऊपर गुह्यचक्र सीस मंडल स्थाने बसै। इकईस ब्रह्मांड बोलिये। परम सून्य स्थान ऊपर जे न बिनसे न आवै न जाई जोग जोगेन्द्र है समाई। सुनौ देवी पार्वती ईश्वर कथिते महाज्ञान।" इस उदाहरण में संस्कृत का अधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और यह अधिक शास्त्रीय है।

सोलहवीं शताब्दी ई० के प्रारंभ में लिखी गई राधावल्लभीय संप्रदाय

के स्वामी हितहरिवंश को एक पत्री उस समय के ब्रजभाषा गद्य का नमूना प्रस्तुत करती है—

"श्रीमुख पत्री लिखति। श्री सकल गुण संपन्न रसरीति बहावनि चिरंजीव मेरे प्राननि के प्रान बीठलदास जोग लिखति श्री वृन्दावन रजोपसेवी श्री हरिवंश जोरी सुमिरन बंचनौ। जोरी सुमिरन मत रहौ। जोरी जो है सुख बरखत है। तुमकूँ सुख स्वरूप है। तिहारे हस्ताक्षर बारंबार आवत है। सुख अमृत स्वरूप है। बांचत आनंद उमड़ि चलै है। मोरी बुद्धि कौ इतनी शक्ति नहीं कि कहि सकौं।" आदि। यह पत्री हितहरिवंश ने गोंसाईं बिट्ठलदास को लिखी थी। इसका समय १५९५ वि० (१५३८ ई०) है। इसी प्रकार के ब्रजभाषा गद्य के नमूने हमें अन्य चिट्ठी-पत्रियों में मिलते हैं। वल्लभाचार्य के शिष्यों में हरिराम की वार्ता में भी ब्रजभाषा गद्य के नमूने हमें मिलते हैं। ये नमूने १६वीं शताब्दी के मध्य और अंतिम चरण के हैं। ये बोलचाल की ब्रजभाषा गद्य के सुन्दर नमूने हैं। स्वामी हरिराम जी की 'भाव भावना' की पंक्तियाँ हैं—

"सो पुष्टिमार्ग में जितनी क्रिया हैं, सो सब स्वामिनी जी के भावते हैं। ताते मंगल चरण गावैं। प्रथम श्री स्वामिनि जी के चरण कमल को नमस्कार करते हैं। तिनकी उपमा देबें कों मन दसो दिसा दौरयो। परंतु कहूँ पायो नहीं।"

इसी प्रकार का व्यवस्थित ब्रजभाषा गद्य स्वामी विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ का "चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता" में मिलता है जिसका समय १६वीं शताब्दी ईसवी का चतुर्थ चरण है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' का एक नमूना यहाँ दिया जाता है—

"तब श्री आचार्य महाप्रभून ने कह्यो जो सूर आवौ बैठौ। तब सूरदास जी श्री आचार्य जी महाप्रभून के दर्शन करिकै आगे आय बैठे। तब श्री आचार्य महाप्रभून ने कही जो सूर कछु भगवद् यश वर्णन करो। तब सूरदास ने कही जो आज्ञा।"

यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस गद्य पर संस्कृत का प्रभाव नहीं है और 'कि' के स्थान पर 'जो' का प्रयोग है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता" इसके बाद की है अतः उसमें गद्य का रूप कुछ परिवर्तित भी जान पड़ता है। इन वार्ताओं के अतिरिक्त पत्रों, पंचनामों, टीकाओं, भाष्यों आदि का गद्य भी इस युग का मिलता है। टीकाओं और भाष्यों का गद्य संस्कृत के प्रभाव से ओतप्रोत है। जैन कवि बनारसीदास का सन् १६१३ का

एक नमूना इस प्रकार का है।

"सम्यक् दृष्टि कहा ? सो सुनो। संशय, विमोह, विभ्रम तीन भाव जामैं नाहीं सो सम्यग दृष्टी ! संशय विमोह विभ्रम कहा ? ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु है सो सुनो।

ब्रजभाषा के अतिरिक्त ११वीं शताब्दी के बाद का राजस्थानी गद्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। राजस्थानी गद्य के भी दो रूप देखे जा सकते हैं। एक संस्कृत-मिश्रित और दूसरा ठेठ बोलचाल का। सन् १६४६ ई० में लिखी गई "बेलि क्रिसन रुकमणी री टीका" का एक नमूना यहाँ दिया जाता है—

"प्रथम ही परमेश्वर कूँ नमस्कार करै छै। पाछै सरसती कुँ नमस्कार करै छै। पाछै सतगुरू कूँ नमस्कार करै छै। ए तीन्यूँ तत्तसार छै। मंगलरूप माधव छै। तें को गुणानुवाद कीजे। जा उपरांत मंगलाचार कोई नहीं छै।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रजभाषा और राजस्थानी गद्य की परंपरा बराबर चली आती है। अधिकांश यह गद्य टीकाओं और वार्ताओं में मिलता है; परन्तु जीवनियों और कथा-कहानियों के नमूने भी देखे जा सकते हैं।

रीतियुग के प्रारंभ के साथ संस्कृत काव्यशास्त्र तथा हिन्दी काव्यशास्त्र ग्रंथों के अनुवाद, टीका अथवा व्याख्यायें गद्य में देखने को मिलती हैं। यह गद्य संस्कृत शब्दावली से भरपूर ब्रज-भाषा गद्य है। सन् १६६० ई० के आस-पास लिखी हुई चिन्तामणि के द्वारा ब्रज-भाषा रूपान्तरित 'शृङ्गारमञ्जरी' के गद्य का एक नमूना यहाँ पर दिया जाता है—यह ग्रंथ नायिका भेद का है।

"रसमंजरीकार का लक्षण। स्वामिन्येवानुरक्ता स्वीया। याको अर्थ स्वामि ही विसे जो अनुराग राखे सो स्वीया। इहाँ एवकार अप्रयोजक है क्यों अप्रयोजक है यह जो कोऊ कहै तौ एवकार करि स्वामि ही मैं अनुराग यह निर्धारित होत है केवल स्वामी ही में अनुराग कहियै तौ परकीया के हेतु है स्वीया ई परपुरुषानुराग सों परकीया होत है। तौ एवकार कैसे बनै। एवकार जो न दीजै तौ परकीया स्वकीया होईगी यह आशंका कोऊ करै तै परकीया को अनुराग उपपति में होतु है पति मैं नाहीं तातै परकीया स्वीया न ह्वै है।"

यह पंडिताऊ ब्रज-भाषा का नमूना है। इसी प्रकार का ब्रज-भाषा गद्य, रीतिशास्त्र पर लिखने वाले अनेक काव्याचार्यों जैसे कुलपति, श्रीपति, सोमनाथ आदि का भी मिलता है। सूरति मिश्र की बैतालपचीसी का ब्रज-भाषा गद्य में अनुवाद भी इसी युग का है।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों का गद्य इसी प्रकार है। टीकाओं में सतसई और केशवदास की रसिक प्रिया की टीकायें खूब हुईं। १८०० ई०

विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग भय-क्रोध से रहित रहोगे।"

इसी प्रकार सन् १७६१ ई० में ७०० पृष्ठों में किया गया दौलतराय के द्वारा पद्म पुराण का खड़ी बोली में अनुवाद भी यह सिद्ध करता है कि व्रजभाषा गद्य के समान खड़ी बोली गद्य की भी परंपरा थी, उसे ढूँढ निकालने की बात है। इस पद्म पुराण के लेखक हैं दौलतराय। उनके गद्य का नमूना यह है—

"जंबू द्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगधनामा देश अति सुन्दर है जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं इन्द्र के लोक के समान सदा भोगोपभोग करे हैं और भूमि विषै साँठोन के बाड़े शोभायमान हैं, जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।"

यह है १९वीं शताब्दी के पूर्व का हिन्दी गद्य का स्वरूप। इसे देख कर यह प्रमाणित हो जाता है कि खड़ी बोली गद्य की भी परंपरा थी और यह समझना भ्रम है कि फ़ोर्ट विलियम कालेज में ही खड़ी बोली हिन्दी गद्य का निर्माण प्रारंभ हुआ। सन् १८०० ई० के आसपास सरस खड़ी बोली में रानी केतकी की कहानी लिखने वाले इंशाअल्ला खाँ का समय आता है। इन्होंने जिस बोली में अपनी कहानी लिखी वह हिन्दी थी; परन्तु वह ग्रामीण भाषा से परिष्कृत कर दी गई थी अतः उनकी भाषा नागरी हिन्दी का एक नमूना है। उसका उदाहरण यह है—

"एक दिन बैठे बैठे ध्यान में चढ़ी कि कोई ऐसी कहानी कहिए कि जिसमें हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट न मिले तब जा के मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले।" अतः यह कहा जा सकता है कि रानी केतकी की कहानी उन्नीसवीं शताब्दी की नागरी हिन्दी का शुद्ध रूप है जिसका और अधिक परिमार्जन आगे चल कर इसी शताब्दी में भारतेन्दु-युग में हुआ।

लल्लूलाल जी का समय १७६३ से १८२५ तक है। ये गुजराती ब्राह्मण थे और फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष डा० गिलक्राइस्ट ने इन्हें कालेज में हिन्दुस्तानी सिखाने के लिए नियुक्त किया। इन्होंने सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, शकुन्तला नाटक, माधोनल तथा प्रेमसागर ग्रंथ लिखे हैं। इनमें प्रेम सागर की भाषा ये दिल्ली आगरे की खड़ी बोली कहते हैं। लल्लूलाल जी आगरा निवासी थे, इस कारण इसकी भाषा में व्रजभाषा शब्दावली का मिश्रण है। उसे हम खड़ी बोली या नागरी हिन्दी का शुद्ध रूप नहीं कह सकते। इनकी 'प्रेमसागर' की भाँषा का नमूना यहाँ पर दिया जाता है—

"इतनी कथा कह श्री शुकदेव जी ने राजा परीक्षित से कहा—महाराज! ऐसे अनेक-अनेक प्रकार की बातें कर प्रभु रुक्मिणी जी को समझाय सुदामा को मंदिर में लिवाय ले गये। आगे षटरस भोजन करवाय पान खिलाय, हरि ने सुदामा को फेन सी सेज पर ले जाय बैठाया। वह पथ का हारा थका तो था ही, सेज पर जाय सुख पाय सो गया।" लल्लूलाल जी की भाषा में संस्कृत के शब्द अधिक आये हैं और अरबी फ़ारसी के शब्द नहीं। व्रजभाषा के रूप बुलाय, सुखपाय आदि शब्दों में दिखाई देते हैं।

फोर्ट विलियम कालेज के दूसरे हिन्दी के अध्यापक थे सदल मिश्र। इनका समय १६६८ से १८४७ ई० तक है। इन्होंने "नासिकेतोपाख्यान" की रचना की। सदल मिश्र की भाषा लल्लूलाल की भाषा से अधिक साहित्यिक है। यह अधिक मुहावरेदार भी है और व्रजभाषापन भी इसमें कम है फिर भी सदल मिश्र की भाषा भी पंडिताऊ भाषा है। इनकी शैली के दो रूप मिलते हैं। एक तो संस्कृत शब्दावली-प्रधान और दूसरा बोलचाल की शब्दावली प्रधान। दोनों ही प्रकार की शैलियों में सदल मिश्र की भाषा लल्लूलाल जी की भाषा से अधिक प्रौढ़ एवं परिमार्जित है। एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

"जो नर चोरी आदि नाना भाँति के कुकर्म में आप तो दिनरात लगे रहते हैं जिसपर भी औरों को दूखते हैं वो एक अक्षर भी जिससे पढ़ते हैं विसे गुरु के बराबर नहीं मानते हैं, सो तब तक महानरक को देखते हैं कि जब तक यह संसार बना रहता है।"

खड़ी बोली भाषा के प्रसंग में इस प्रकार ऊपर स्वान्तस्सुखाय मुंशी सदासुखलाल जैसे व्यक्तियों का गद्य लिखने का प्रयत्न है। दूसरा प्रयत्न शिक्षा-संस्थाओं आदि के द्वारा हिन्दी गद्य के स्वरूप को प्रकट करने का प्रयत्न है और तीसरा रूप इस समय के हिन्दी गद्य का हमें ईसाइयों के धर्म-प्रचार आदि में देखने को मिलता है। यह ईसाई धर्म प्रचार उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही मिलता है। सन् १८०६ में किये गये एक बाइबिल के हिन्दी अनुवाद की भाषा इस प्रकार है—"यीशु ने कहा—मेरा भोजन यह है कि अपने भेजने वाले की इच्छा पर चलूँ और उसका काम पूरा करूँ। क्या तुम नहीं कहते कि वे कटनी के लिए थक चुके हैं। काटने वाला मजदूरी पाता और अनन्त जीवन के लिए फल बटोरता है कि बोने वाला और काटने वाला दोनों मिल कर आनंद करें।"

इस उदाहरण से पता चलता है कि खड़ी बोली का काफी अच्छा रूप भी प्रचलित था। केवल वाक्य कुछ उलझे हुए जान पड़ते हैं; परन्तु भाषा

शुद्ध खड़ी बोली है। अनेक शुद्ध तत्सम शब्दों का भी इसमें प्रयोग है। आधुनिक युग से पूर्व गद्य के विविध रूप विकसित नहीं हो पाये थे। केवल कामचलाऊ रूप में गद्य था, वह प्रमुखतया व्रजभाषा और खड़ी बोली में ही मिलता था। खड़ी बोली गद्य की उन्नति का श्रीगणेश वास्तव में भारतेन्दु युग से ही हुआ।

गद्य साहित्य की विभिन्न विधायें और उनका विकास

गद्य साहित्य के विविध रूप—

भारतेन्दुयुग में हिन्दी साहित्य विविध रूपों में विकसित हुआ। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि गद्य के इस प्रकार नवीन महत्त्व से विविध विषयों के ग्रंथ गद्य में लिखे जाने लगे। सन् १८३५ ई० में आगरे और कलकत्ते में 'स्कूल बुक सोसायटी' की स्थापना हुई। इसके द्वारा प्रचार के लिए काम में आने वाली पाठ्य पुस्तकें निकाली गईं। ये पुस्तकें इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि से संबंध रखती थीं। इनके लेखक विभिन्न विषयों के विद्वान् हिन्दू ही थे। इनके अतिरिक्त कथायें और मनोरंजक साहित्य भी संकलित किया गया। इन ग्रंथों की भाषा शुद्ध नागरी हिन्दी (खड़ी बोली) है। केवल पंडिताऊपन का कहीं कहीं प्रभाव देखा जा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण से अन्तिम चरण तक हिन्दी गद्य के विकास के क्षेत्र में कार्य करने वाले दो अन्य महापुरुष हुए; ये हैं—राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द'' और राजा लक्ष्मणसिंह। दोनों ही हिन्दी प्रेमी थे और हिन्दी में अनेक ग्रंथों की रचना भी दोनों ही ने की। परन्तु शैली के संबंध में दोनों के विचार भिन्न थे। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द काशी से 'बनारस अखबार' निकलते थे। उस समय हिन्दी खड़ी बोली में जो पंडिताऊ या व्रजभाषा-पन था उसके कारण कुछ लोग इसे गँवारू या मुश्किल ज़बान कह कर विरोध करते थे। इसलिए राजा साहब ने हिन्दी का वह रूप स्वीकार किया जो अरबी-फारसी की शब्दावली से ओतप्रोत था। लिपि देवनागरी ही थी। यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की भाषा उर्दू थी; पर उसे उन्होंने हिन्दी की एक शिष्ट शैली के रूप में ही स्वीकार किया। सितारे-हिन्द आमफहम ज़बान के पक्षपाती थे, क्लिष्ट और पांडित्य-पूर्ण दुरूह भाषा के नहीं। स्वयं 'सितारे हिन्द' की भाषा में दो रूप मिलते हैं—एक में फारसी-अरबी की शब्दावली अधिक है और दूसरी में कम। 'सितारे हिन्द' की प्रथम प्रकार की भाषा का नमूना है—"यहाँ जो

नया पाठशाला कई साल से जनाब किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं की मदद से बनता है उसका हाल कई दफा ज़ाहिर हो चुका है।"
दूसरी शैली का नमूना यह है—

'निदान यह बंगाले का मैदान नदियों से सिंचा हुआ गंगा के दोनों तरफ हिमालय और सिन्ध के बीच हरिद्वार तक चला गया है और गंगा-यमुना के बीच जो देश पड़ा है उसे अन्तरवेद और पुराना दुआबा भी कहते हैं और यही दो चार सूबे अर्थात् दिल्ली, आगरा, अवध और इलाहाबाद यथार्थ मध्यदेश अर्थात् असली हिन्दुस्तान हैं।" (भूगोल हस्तामलक) इस प्रकार तथ्य यही जान पड़ता है कि सितारे हिन्द ने विषयानुकूल उर्दू या हिन्दी शैली का प्रयोग किया है। कोर्ट की भाषा होने के कारण सितारे हिन्द उसका पक्ष करते थे; परन्तु अपने ग्रंथों जैसे योगवाशिष्ठ या उपनिषदसार में उन्होंने शुद्ध नागरी हिन्दी का प्रयोग किया है जैसे—

"पुरुषों के यौवन रूपी शरद ऋतु में शोभा के उज्ज्वल गुण सुगन्धादिक सो वृद्धा रूपी हेमन्त में नष्ट होते हैं। चित्त की स्वाधीनता और आस्था भी अति दूर चली जाती है जैसे हिम ऋतु में कमलों की।"

यहाँ पर हम एक बात देखते हैं जो कि राजा लक्ष्मण सिंह और 'सितारे हिन्द' दोनों ही की रचनाओं में मिलती है, वह है साहित्यिकता। इस युग में आ कर हिन्दी गद्य केवल भाव-प्रकाशन का एक टूटा फूटा माध्यम ही नहीं था, जैसा कि हम १८वीं शताब्दी या १९वीं शताब्दी के प्राथमिक चरण में देखते हैं; वरन उसमें शैली का भी विकास होने लगा था। यह शैली का अति सुन्दर रूप हमें भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की गद्य-रचनाओं में देखने को मिलता है। राजा लक्ष्मणसिंह कुछ संस्कृत-गर्भित भाषा के पक्षपाती थे जो मत सितारे-हिन्द के विचारों के विपरीत पड़ता था। हिन्दी और उर्दू को दो अलग-अलग बोली कहते थे और हिन्दी के प्रचार के पक्ष में थे। राजा साहेब 'प्रजा हितैषी' के संपादक थे और इन्होंने कालिदास के शकुंतला मेघदूत और रघुवंश का हिन्दी अनुवाद किया। 'शकुंतला' के अनुवाद में इनकी शैली का रूप देखिये—

"शकुन्तला—उसी दिन मेरा पाला हुआ दीर्घापांग नामक मृगछौना आ गया, तुमने प्यार से कहा—आ छौने पहले तू ही पी ले। उसने तुम्हें विदेशी जान तुम्हारे हाथ से जल न पिया। फिर उसी पत्ते से मैंने पिलाया तो पी लिया। तब तुमने हँस कर कहा था कि सब कोई अपने ही सहवासी को पत्याता है, तुम दोनों एक ही वन के वासी हो।"

वास्तव में भाषा की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं। यह भेद संबंधी विवाद काफी दिनों चला; परन्तु यह तथ्य भाषाविदों ने स्वीकार कर लिया है और उसे सिद्ध भी कर दिया है, ये दोनों एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं। १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में कुछ अन्य धार्मिक प्रचारकों ने हिन्दी भाषा और विशेष रूप से उसके गद्य के विकास में विशेष कार्य किया। ब्रह्म-समाजी नवीनचंद राय ने पंजाब में, राजा राममोहनराय ने बंगाल में तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-८३) ने समस्त उत्तरी भारत में धार्मिक उपदेशों और सामाजिक सुधार की बातों को समझाने के लिए हिन्दी का खूब प्रचार किया। इस प्रकार भारतेन्दु के समय जो गद्य की विशिष्ट शैली के दर्शन होते हैं, उसका कारण यह समस्त पूर्ववर्ती कार्य है।

भारतेन्दु युग में तथा उसके आगे हिन्दी गद्य की अनेक विधाओं का सुष्ठु विकास हुआ। ये विधायें हैं—(१) निबंध (२) नाटक (३) कहानी (४) उपन्यास (५) शब्द चित्र और रिपोर्ताज आदि। इनमें से हम यहाँ आधुनिक काल में प्रत्येक के विकास का इतिहास संक्षेप में दे रहे हैं।

उपयोगी गद्य साहित्य

भारतेन्दु युग अर्थात् १८५० से १९०० ई० के बीच में ललित साहित्य ही नहीं उपयोगी साहित्य भी गद्य में मिलता है। कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के नाम यहाँ पर दिये जाते हैं—

यात्रा-संबंधी भौगोलिक और सामाजिक साहित्य—आर्य देश पनता (१८५७) देशोपकारी पुस्तक (१८८२), देशोन्नति (१८९६), स्त्री सुदशा (१८८३), मेरी चतुर्दिक् यात्रा (१८८५), रामेश्वर यात्रा (१८९२), आश्चर्य वृत्तान्त (१८९३) भारत भ्रमण (१९०३), चीनादर्पण (१९०३), लंदन यात्रा (१८८५), विलायत की चिट्ठी (१८९२), दुनिया की सैर (१९०१), पश्चिमोत्तर तथा अवध का भूगोल (१८८७) भूगोल हस्तामलक (१८७७), जगत दर्शन (१८९९), वृहत रत्नसमुच्चय (१९०७)

व्याकरण-कोष—हिन्दी लघु व्याकरण (१८७१), हिन्दी व्याकरण (सितारे हिन्द १८८६) भाषा शब्द निरूपण (१८९२) नानार्थ नव संग्रहावली (१८७४), हिन्दी कोष (१८७१), कोष रत्नाकर (१८७६), देव कोश (१८७३), भाषा कोष (१८९८), हिन्दी इंगलिश डिक्शनरी (बेट्स १८७५), हिन्दुई डिक्शनरी (जान गिलक्राइस्ट १७८५-७), हिन्दुस्तानी डिक्शनरी (लंडन, १८५६)।

कला—(ललित) गीतावली (१८७८), संगीत सप्तार्णव तरंग (१८८२) संगीतसार (१८८३), गायन सार (ब्रजभाषा १८८५), रागरत्नाकर (१८८५), संगीतादित्य (१८९०), वंशीराग माला (१८८६), सितार चंद्रिका (१८९३), संगीत पंचरत्न (१८९५), मृदंग और तालवादन पद्धति (१९०३), उत्तम वक्तृता देना सीखने की विधि (१८८७), बलदेव चित्ररत्नाकर (१८९८), आदि।

कला—(उपयोगी) खेतीबारी (१८८६), विश्व विलास (१८९७), मसिदर्पण (१८९०), रत्नपरीक्षा (१८८८), सुनारी (१९०७), बाण विद्या (१९०१), पाकराज या मोहनथाल (१९०३), सर्पमंत्र भंडार, गजशास्त्र (१९०६), शालिहोत्र (अश्व चिकित्सा) पर तो विशाल भंडार रीतियुग से ही प्राप्त होता है। महाताश कौतुक पचासा (१८७२), चतुरंग चातुरी (१८८४), वैद्यकरत्न (१८८२), चिकित्साधातु स्वर (१८८५), निदान (१८७७), नाड़ी प्रकाश (१८९२), निघुंट रत्नाकर (१८९२), आदि। आयुर्वेद पर भी पूर्व युगों में लिखित हस्तलिखित ग्रंथों का एक विशाल भंडार पुराने पुस्तकालयों में मिलता है।

विज्ञान—रगड़ बिजली बल (१८७१), पदार्थदर्शन (१८७३), पदार्थ विज्ञान विटप (१८७५), बीजगणित (१८७४) क्षेत्रमिति प्रकाश (१८७५), गति-विद्या (१८८५), चलराशि शक्ति (१८८६), समीकरण मीमांसा (१८८६) राशि कलन (१८८६), गुरुसारिणी (१८८१), कालबोध (१८९५) आश्चर्य चंद्रिका (१८७९), जीवजंतु (१८९५), उद्भिज विद्या (१९०५)

शास्त्र—राजनीति (१८६९), राजनीति संग्रह (१८७२) अर्थशास्त्र (१९०६) अर्थशास्त्र प्रवेशिका (१९०७), न्याय बोधिनी (१८८२) तर्कशास्त्र (१९०६) मनोविज्ञान (१९०४), पाठशालाओं का प्रबंध (१८८३), आदि।

इनके अतिरिक्त दर्शन, धर्म और नीति आदि पर तो ग्रंथों की पुरानी परंपरा है और उनकी एक लंबी सूची है। यहाँ पर इन ग्रंथों के देने का तात्पर्य यह है कि गद्य के माध्यम से न केवल ललित साहित्य का वरन् वैज्ञानिक, शास्त्रीय और उपयोगी साहित्य का विकास भी भारतेन्दु-युग में प्रारंभ हो गया। मुद्रणयंत्र के उपयोग और पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा इस प्रकार के उपयोगी साहित्य के विकास का श्रीगणेश भारतेन्दुयुग में हुआ और १९०० ई० के पूर्व ही अनेक ग्रंथ लिखे गये। हिन्दी-गद्य-साहित्य का अनुपम रत्न गौरीशंकर हीराचंद ओझा की 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' १८९४ में प्रकाशित हुई। १९०० ई० के बाद तो इस प्रकार के साहित्य का बृहद् विकास हुआ और तब से ले कर पचास वर्षों के भीतर तो एक विशाल भंडार हिन्दी के भीतर इस प्रकार के कला, शास्त्र, दर्शन आदि विषयों से संबंधित साहित्य का है। अतः यह न

सोचना चाहिए कि हिन्दी साहित्य का भंडार क्षीण है। यह कहना हमारी अनभिज्ञता और उपेक्षा का द्योतक है।

हिन्दी गद्य साहित्य के विविध रूपों का विकास

हिन्दी निबंध और आधुनिक युग में गद्य-शैली का विकास

भारतेन्दु युग—हिंदी साहित्य के आधुनिक युग के पूर्व यद्यपि यत्र तत्र बिखरे रूप में हिन्दी गद्य के दर्शन होते हैं परन्तु हिन्दी गद्य का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से ही माना जाना चाहिये। इसके पहले न तो गद्य का कोई सुघर सुनिश्चित रूप ही मिलता है और न महत्त्वपूर्ण रचनाओं की परम्परा ही, साथ ही इसके पूर्व गद्य की आवश्यकता और महत्ता भी पूर्ण सिद्ध नहीं हो पायी थी। भारतेन्दु युग में अनेक कारणों से हिन्दी गद्य अपने विविध रूपों में प्रस्फुटित हुआ। इनमें से पहला कारण पत्र-पत्रिकाओं का प्रारम्भ और प्रवर्त्तन है। पत्र-पत्रिकाओं के विचार से विषयों का प्रतिपादन गद्य के माध्यम से हुआ। गद्य के प्रादुर्भाव का कारण पत्र-पत्रिकाएँ होते हुए भी उसके उत्कर्ष में सहायक प्रमुख कारण विदेशी—विशेष रूप से अंग्रेजी—गद्य-साहित्य का सम्पर्क रहा। अंग्रेजी में नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि का सुन्दर साहित्य गद्य में प्राप्त था और जो बराबर संवर्द्धित हो रहा था। अतएव उसके सम्पर्क में आने से हिन्दी गद्य-लेखकों में भी एक नवीन प्रोत्साहन का उदय हुआ। गद्य के प्रति लेखक का यह उत्साह और पाठक की यह अभिरुचि इसके पहले देखने को नहीं मिलती, इसीलिये हिन्दी गद्य का प्रारम्भ वास्तव में भारतेन्दु युग में ही मानना चाहिए।

भारतेन्दु युगीन गद्य हमें विविध रूपों में देखने को मिलता है। उसका रूप हमें नाटक, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना, जीवन-चरित्र, यात्रा, समसामयिक समस्याओं पर लिखे गये लेखों के रूप में मिलता है। नाटकों में गद्य काव्य के सबसे अधिक समीप रहता है। और यही दशा हमें भारतेन्दु युगीन नाटक में प्राप्त गद्य की भी देखने को मिलती है। भारतेन्दु के पहले भी राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवादित नाटकों में गद्य की कवित्व-पूर्ण शैली के दर्शन होते हैं। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि गद्य की दृष्टि से वर्तमान और भारतेन्दु युग के नाटकों में बड़ा अन्तर है। और सामान्य रूप से भारतेन्दु युग की गद्य-शैली की प्रमुख छाप नाटकों में ही विद्यमान मिलती है। कथा साहित्य के रूप में भारतेन्दु-युगीन गद्य विशेष महत्त्व नहीं

रखता। क्योंकि प्रथम तो इनके समय में कथा साहित्य का अधिक विकास ही नहीं हुआ और द्वितीय इनके पहले भी रानी केतकी की कहानी, प्रेमसागर, नासिकेतोपाख्यान आदि अपनी अपनी विशिष्ट शैलियों में गद्य का रूप सामने रख रहे थे और प्रायः लोगों के सामने समस्या यह थी कि इन विभिन्न शैलियों में हिन्दी गद्य के विकास के लिए किस शैली को अपनाया जाय।

यात्रा, जीवन-चरित्र, आलोचना, इतिहास आदि में प्राप्त गद्य में शैली की विशेषता उतनी देखने को नहीं मिलती जितनी वर्ण्य विषय की। अतः गद्य के विकास के क्षेत्र में ऐसी रचनाओं का बहुत महत्त्व-पूर्ण योग नहीं रहा। इन विषयों को ले कर लिखने वाले प्रायः किसी पत्र-पत्रिका के सम्पादक ही रहे, जिनका कि इनके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान वन गया था।

वास्तव में भारतेन्दु-युगीन गद्य अपने अत्यन्त मनोहारी रूप में निबंधों में देखने को मिलता है। जहाँ तक निबन्धों की रोचकता और काव्य-गुण सम्पन्नता का प्रश्न है वहाँ तक यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युगीन निबन्ध साहित्य अति उत्तम है। कहा गया है कि गद्य कवियों की कसौटी है, यह सत्य है, और इसी प्रकार यह भी सत्य है कि निबन्ध गद्य-लेखकों की कसौटी है। एक अच्छे निबन्ध-लेखक की गद्य-शैली में कुछ विलक्षण और विशिष्ट गुण रहते हैं। भारतेन्दु युग के निबन्ध-लेखकों में ऐसे गुण स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं।

भारतेन्दु युग के प्रमुख निबन्ध-लेखक जिनको कि हम इस युग के प्रमुख गद्यकार भी कह सकते हैं भारतेन्दु के अतिरिक्त, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, ठाकुर जगमोहन सिंह, और बालमुकुन्द गुप्त हैं। इनकी ही रचनाओं में उस युग के गद्य का सजीव रूप निखरा है। स्वयं भारतेन्दु ने यद्यपि निबन्धकार के रूप में वैसा कार्य नहीं किया है फिर भी उन्होंने गद्य का एक रूप स्थिर किया। पद्य के लिये व्रज-भाषा को स्वीकार करते हुए भी गद्य के लिए उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी को ही उपयुक्त समझा। भारतेन्दु के पहिले हिन्दी गद्य की तीनों शैलियाँ प्रमुखतया प्रचलित दिखाई देती हैं। पहली व्रजभाषापन या पंडिताऊपन लिये हुए, जिसका प्रयोग प्रेमसागर और नासिकेतोपाख्यान में मिलता है; दूसरी संस्कृत-गर्भित खड़ी बोली, जिसका प्रयोग राजा लक्ष्मणसिंह ने किया है और तीसरी अरबी फारसी शब्दों से युक्त खड़ी बोली की शैली जिसका प्रयोग राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने

किया है। भारतेन्दु ने एक बिलकुल ही नवीन गद्य-शैली की नींव डाली। उन्होंने एक परिमार्जित सर्वग्राह्य और चलती हुई भाषा को गद्य के लिए अपनाया जिसे ले कर उनके समकालीन गद्य-लेखकों ने उत्कृष्ट गद्य की सृष्टि की। स्वयं भारतेन्दु जी ने इतिहास, भूगोल, शास्त्र, विज्ञान, वेदान्त, आदि विषयों पर काफी लिखा है परन्तु सुंदर निबन्ध-रचना का परिष्कृत और स्वच्छ रूप बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों में देखने को मिलता है। भट्ट जी की भाषा का शरीर शिष्ट और प्रचलित भाषा का रूप था; परन्तु उन्होंने अपनी भाषा से विदेशी भाषा के शब्दों का बहिष्कार नहीं किया वरन् अरबी फारसी और अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों का तो प्रायः वे प्रयोग कर बैठते थे। उनकी भाषा, उनकी निजी किन्तु नागरिक हिन्दी थी। भट्ट जी की भाषा में मुहावरों का बहुत सुन्दर प्रयोग देखने को मिलता है। कहीं-कहीं तो उनकी लड़ी सी गुँथी दिखाई देती है। भट्ट जी के गद्य में उनका व्यक्तित्त्व झाँकता हुआ मिलता है। भारतेन्दु-युगीन गद्य के निर्माण में उनका बहुत बड़ा हाथ है। प्रायः जितने भी प्रकार की निबन्ध की कोटियाँ हो सकती हैं वे सभी भट्ट जी की रचनाओं में मिल जाती हैं। विचारात्मक, वर्णनात्मक, कथात्मक, सभी प्रकार के निबंध अपने भेद-प्रभेदों के साथ उनकी लेखनी से प्रवाहित हुए हैं।

गद्य के क्षेत्र में भट्ट जी के पूरक उनके सम-सामयिक सहयोगी पं० प्रतापनारायण मिश्र हैं जिन्होंने साधारण से साधारण विषय पर बड़े ही सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। उनके गद्य में एक विचित्र प्रकार का विनोद और चुहलबाजी देखने को मिलती है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है वहाँ उनकी अपेक्षा भट्ट जी की भाषा अधिक नागरिक है क्योंकि इनकी रचनाओं में बैसवाड़ी अवधी के शब्दों और गाँव की कहावतों का भी खूब प्रयोग हुआ है। उनका हँसमुख और विनोदी स्वभाव उनकी रचनाओं में स्पष्ट झाँकता हुआ दिखलाई देता है। इनकी भाषा यद्यपि सदैव व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध नहीं है फिर भी उसमें एक विलक्षण रोचकता देखने को मिलती है और साथ ही साथ उनकी तर्क-पद्धति भी बड़ी ही विदग्ध और प्रभाव-शाली है। ये सभी बातें मिल कर उनके गद्य को रोचक और उनके वाक्यों को स्मरणीय बना देती हैं। उनकी समर्थ और मुहावरेदार भाषा का प्रमाण उनके एक अवतरण से भली भाँति मिल जायगा। बात नामक निबन्ध में वे लिखते हैं:—

"डाकखाने अथवा तार घर के सहारे से बात की बात में चाहे जहाँ की जो बात हो जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती

है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है, हमारे तुम्हारे भी सभी काम बात पर निर्भर हैं। बात ही हाथी पाइये। बात ही हाँथी पाँव। बात ही से पराये अपने और अपने पराये हो जाते हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि भट्ट जी और मिश्र जी की निबंध-शैली में एकता है। इनका गद्य मनोरंजक और रोचक विशेष है, परन्तु 'प्रेमघन' जी का गद्य विषय-विवेचन की दृष्टि से अधिक परिपक्व है। इनके गद्य में वाक्यदीर्घता और अलंकारिता के दर्शन होते हैं। साधारण विषय को अत्यंत बढ़ा चढ़ा कर लिखना ही इनका स्वभाव है। प्रायः 'प्रेमघन' के वाक्यों में पद्य की सी एक प्रकार की गति पायी जाती है जो गद्य में पद्य की प्रवृत्ति की सूचक है और उसे कुछ अस्वाभाविक सा बना देती है। उदाहरणार्थ इनका एक वाक्य देखिये—

"दिव्य देवी श्री महारानी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्यन्त बड़े बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल अचल 'कोर्ट' का पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी कैसा खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेल पेल और कभी उस पर सुख की कलोल है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'प्रेमघन' जी का गद्य कृत्रिमता को अपनाये है। भट्ट जी और मिश्र जी की शैली रोचक और चलताऊ अवश्य है पर उसमें कृत्रिमता नहीं।

इस प्रसंग में प्रसिद्ध नाटक और उपन्यासकार श्रीनिवासदास की गद्य-शैली का उल्लेख करना भी आवश्यक है। यद्यपि इनके नाटकों और उपन्यासों की शैलियों में अन्तर है, परन्तु वह अन्तर विषय-परिवर्तन का अन्तर है, मूलभूत अन्तर नहीं। इन्होंने अपनी रचनाओं में फारसी के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया है, फिर भी हम कह सकते हैं कि इनकी भाषा संयत, सुबोध और परिपक्व है। कुछ प्रांतीय उच्चारण का प्रभाव इनके वर्ण-विन्यास पर अवश्य देखने को मिलता है। इनकी भाषा में न तो अधिक विनोदपूर्णता ही है और न अधिक कृत्रिम अलंकारिता ही।

भारतेन्दुयुगीन गद्य की साहित्यिक शैली का रूप हमें ठाकुर जगमोहन सिंह की रचनाओं में देखने को मिलता है। संस्कृत और अंग्रेजी की विद्वत्ता की छाप इनकी रचनाओं में स्पष्ट झलकती है। इनकी भाषा प्रायः गद्यकाव्य-मयी है फिर भी उसमें प्रेमघन जी की सी अस्वाभाविक उलझन और कृत्रिम अलंकारिता नहीं। इनमें एक निजी छाप की विलक्षणता है जो इनके व्यक्तित्व

को प्रतिबिंबित करती है। इनकी शैली में माधुर्य और कांति का एक साथ समावेश है। प्रायः इनके प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन बड़े ही मनोहारी हैं। उदाहरणार्थ एक नदी तट का वर्णन देखिये।

"जहाँ की निर्झरिणी, जिनके तीर नीर से भरे, मदकल कूजित विहंगों से शोभित है; जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती है और जिनके किनारे के श्याम जंबू के निकुंज फलभार से नमित हैं, शब्दायमान हो कर झरती हैं। जहाँ राल्लकी वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़ रगड़ कर खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर सब बन के शीतल समीर को सुरभित करता है। मंजु बंजुल की लता और नील निचुल के निकुंज, जिनके पत्ते ऐसे सघन जो सूर्य किरणों को भी नहीं निकलने देते, इसी नदी के तट पर शोभित हैं।"

इनके वर्णनों में संस्कृत के कवियों बाण आदि के वर्णन की शैली का प्रभाव सा दिखायी देता है। फिर भी यह शैली अपना निजी महत्त्व रखती है।

अन्त में भारतेन्दु-युग के एक अन्य किन्तु अन्यतम प्रमुख गद्यकार का उल्लेख करना आवश्यक है जिसने हिन्दी-गद्य-निर्माण में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। वे हैं प्रसिद्ध शिवशंभु का चिट्ठा लिखने वाले बालमुकुन्द गुप्त। गुप्त जी की शैली व्यावहारिक चलती हुई, रोचक यथा भाषा टकसाली और मुहावरेदार थी। मुहावरे के सुन्दर, उपयुक्त और स्वाभाविक प्रयोग हमें बालमुकुन्द जी की गद्य-रचना में मिलते हैं। इनके छोटे-छोटे, सरल, संयत-वाक्यों में भावों का नैसर्गिक प्रकाशन होता है। व्याकरण की दृष्टि से भी इनकी भाषा शुद्ध है। इनकी भाव-व्यंजना में दृढ़ता और शक्ति तथा शैली में विनोद और ओज है। वास्तव में इनकी भाषा प्रौढ़ता की द्योतक है।

इस प्रकार यहाँ उल्लिखित गद्यकारों ने भारतेन्दुयुगीन गद्य के निर्माण में सहयोग दे कर उस प्रारंभ की अवस्था में भी उसे रोचकता और प्रौढ़ता प्रदान की। विषय की उपयोगिता और गंभीरता न होने पर भी समस्त रचना को पढ़ लेने का आकर्षण और चाव उत्पन्न करने वाले भारतेन्दु युग के गद्य की विशेषताओं का धीरे-धीरे आगे विकसित गद्य में ह्रास सा होता गया। जैसे ही जैसे विषय की प्रौढ़ता और गंभीरता हमारे गद्य साहित्य में आती गई, वैसे ही शैली की रोचकता और व्यक्तित्व की सक्रिय छाप का गद्य में अभाव सा होता गया और यह हम आज तक के गद्य को देख कर भी कह सकते हैं। शैली की रोचकता की दृष्टि से गद्य का विकास भारतेन्दु युग के

उपरान्त नहीं हो पाया। अतएव इस युग के गद्य का अपना निजी महत्त्व है।

द्विवेदी-युगीन निबंध साहित्य

द्विवेदी युग में अर्थात् सन् १९०० के बाद निबन्ध साहित्य का बड़ा व्यापक विस्तार हुआ। परन्तु भारतेन्दु-युगीन निबंधों की सभी विशेषताओं का विकास नहीं हो पाया। भारतेन्दु-युगीन निबंधकारों में निबंध की असली आत्मा विद्यमान मिलती है। अधिकांश निबंध आत्मानुभव की अभिव्यक्ति के रूप में हैं। उसमें वस्तु या वर्ण्य विषय के प्रति लेखक का अपना निजी दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है। इस विशेषता के कारण हम देखते हैं कि निबंधकार का व्यक्तित्व निबंधों के भीतर झाँकता हुआ दिखलाई देता है। इस युग के निबंधों में एक विशेष रोचकता है। लेखकों ने जो ज्ञान हमें प्रदान किया है, वह सदैव तटस्थ और सूचनात्मक ज्ञान नहीं है, वरन् उसे अपने रंग में डुबो कर अपने ऊपर पड़े प्रभावों का विश्लेषण करके प्रकट किया है। यह विशेषता द्विवेदी-युग में सर्वत्र नहीं मिलती है। इस युग में निबंधकारों की एक विशाल संख्या है तथा इन निबंधों में निबंध के सभी रूपों का विकास भी हुआ है। पर अधिकांश निबंध सूचनात्मक और तटस्थ ज्ञान देनेवाली विशेषता से युक्त हो गये हैं। भारतेन्दु के निबंधों की जो अधिकांश विशेषता है, वह इस युग के निबंधों में न्यूनांश हो गई है। फिर भी इस युग में निबंध साहित्य का महत्त्व-पूर्ण विकास हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं।

द्विवेदी युग के निबंध-लेखकों में उल्लेखनीय नाम हैं—आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, माधवप्रसाद मिश्र, मिश्रबंधु, सरदार पूर्ण-सिंह, गोपालराम गहमरी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बदरीनाथ भट्ट, कृष्णबिहारी मिश्र, बाबू श्यामसुन्दर दास, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, रामदास गौड़, गौरी-शंकर हीराचन्द ओझा, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, रूपनारायण पांडेय, मन्नन द्विवेदी, बदरीनाथ भट्ट, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, माधवराव सप्रे, हरि-औध, वेंकटेशनारायण तिवारी, रामचन्द्र शुक्ल, काशीप्रसाद जायसवाल, डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल आदि।

द्विवेदी युग में जिन विषयों पर अधिक लिखा गया वे हैं—भाषा और साहित्य, विज्ञान और आविष्कार, इतिहास और पुरातत्त्व, भूगोल और यात्रा-भ्रमण, जीवन-चरित, धर्म और अध्यात्म, उपयोगी कलायें आदि। इस युग के निबंध साहित्य के भीतर हम विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक और

कथात्मक सभी प्रकार के निबंध पाते हैं। स्वयं द्विवेदीजी इस बात का ध्यान रखते थे कि उनकी 'सरस्वती' पत्रिका में सभी प्रकार के विविध विषयों पर लेख निकल सकें।

द्विवेदीयुगीन निबन्धों की विशेषतायें ये हैं। पहली विशेषता तो यह है कि इस युग में जीवन के विविध पक्षों को ले कर लिखा गया और विषय-विस्तार खूब मिलता है। दूसरी विशेषता यह है कि इस युग के निबन्ध सूचनात्मक और ज्ञानवर्द्धक अधिक हैं; भारतेन्दुयुगीन निबन्धों के समान भावात्मक और कल्पनात्मक ही नहीं। विचारात्मक निबन्ध भी इस युग में लिखे गये; परन्तु वर्तमान युग के समान गंभीर आलोचना का स्वरूप कम है। शुक्ल जी के निबन्धों से ही उनका प्रारम्भ समझना चाहिए।

तीसरी विशेषता यह है कि इस युग के लेखकों का उद्देश्य मनोरंजन और चमत्कार-प्रदर्शन ही नहीं, वरन् ज्ञानवर्द्धन और रुचि-परिष्कार भी है। चौथी विशेषता यह है कि इस युग के निबन्ध भाषा की दृष्टि से अधिक शुद्ध और परिष्कृत है।

द्विवेदीयुगीन निबन्धों में उपयोगितावाद और उपदेशवाद की एकतानता भी बहुत अधिक देखने को मिलती है।

वर्तमान निबन्ध साहित्य

वर्तमान निबन्ध साहित्य विचार-प्रधान है। जिस प्रकार भारतेन्दु-युग के निबन्धों में एक मस्ती और भावात्मक विशेषता पाई जाती है, तथा द्विवेदी-युगीन निबन्धों में एक सूचनात्मक ज्ञानवर्द्धक तथा उपदेशात्मकता का पुट है, वर्तमान निबन्ध आलोचनात्मक हैं। प्रमुखतया साहित्यिक एवं सांस्कृतिक समालोचना इन निबन्धों में देखी जाती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य रूपों के निबन्ध नहीं मिलते या ऐसे निबन्धों का लिखना बन्द हो गया है, परन्तु अधिकतर जिस प्रकार के निबन्ध निकलते हैं वे विचारात्मक और समालोचनात्मक होते हैं। वर्तमान युग के प्रमुख निबन्ध-लेखकों के नाम ये हैं—राय कृष्णदास, माखनलाल चतुर्वेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, महाराज रघुवीर सिंह, सियारामशरण गुप्त, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, ललिताप्रसाद सुकुल, विश्वनाथ मिश्र, शिवपूजन सहाय, जैनेन्द्रकुमार, सद्गुरुशरण अवस्थी, गुलाबराय, डा० भगवानदास, राहुल सांकृत्यायन, वियोगी हरि, निराला, श्रीराम शर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी, महादेवी वर्मा, रामवृक्ष शर्मा, बेनीपुरी, डा० धीरेन्द्र वर्मा, रामविलास शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, अज्ञेय, डा० नगेन्द्र,

डा० देवराज, परशुराम चतुर्वेदी, विनयमोहन शर्मा, विद्यानिवास मिश्र, प्रभाकर माचवे, इलाचन्द्र जोशी, नामवर सिंह, रघुवंश, धर्मवीर भारती, दुर्गा शंकर मिश्र, गंगाप्रसाद पांडेय आदि।

यहाँ पर १६०० ई० के बाद के कुछ प्रमुख निबंधकारों का शैली-गत परिचय दिया जाता है।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी—निबंधकार के रूप में द्विवेदी जी कई रूपों में हमारे सामने आते हैं। उन्होंने वर्णनात्मक और विचारात्मक निबंध भी लिखे हैं और व्यंग्यात्मक और भावात्मक भी। अनेक निबंधों में इनकी ललित प्रांजल शैली का रूप मिलता है। जहाँ पर मौज में आ जाते है वहाँ पर उनके वर्णन बड़े मनोरम होते हैं साथ ही जहाँ वे रोष में होते है वहाँ पर उनकी चुटिकियाँ भी बड़ी पैनी होती हैं—एक उदाहरण यही है—"कविता-कामिनी के कमनीय नगर में कालिदास का मेघदूत एक ऐसे भव्य भवन के सदृश है, जिसमें पद्य रूपी अनमोल रत्न जड़े हुए हैं—ऐसे रत्न जिनका मोल ताजमहल में लगे हुए रत्नों से भी कहीं अधिक है।"

"इस म्युनिसिपैल्टी के चेयरमैन श्रीमान् बूचाशाह हैं। बाप दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप इसलिए हुए कि अपनी कारगुज़ारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जाँय और खुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें।"

अध्यापक पूर्णसिंह—अध्यापक पूर्णसिंह सही अर्थ में निबंधकार थे। इनके निबंधों में एक विशिष्ट ओज और भावुकता पायी जाती है। अनेक विवरण देकर, जब ये किसी विषय का निरूपण करते हैं, तब इनकी वक्तृत्व-पूर्ण शैली से पाठक का हृदय द्रवीभूत हो उठता है। आवेश, कवित्व, दृष्टान्त और उदात्त भाव सभी बातें मिल कर इनके निबंधों को प्रभावपूर्ण बनाते हैं। एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—"तारा गणों को देखते देखते भारत वर्ष अब समुद्र में गिरा कि गिरा। एक कदम और, और धड़ाम से नीचे। कारण केवल इसका यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूँ, पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ, योग-सिद्धि द्वारा सूर्य और ताराओं के गूढ़ भेदों को जान सकता हूँ। समुद्रों की लहरों पर बेखटके सो सकता हूँ।"

पद्मसिंह शर्मा—शैली की दृष्टि से पद्मसिंह शर्मा के निबंध बड़े रोचक हैं। ये गुरुकुल काँगड़ी में अध्यापक रहे। अनेक पत्रों का भी इन्होंने संपादन

किया। बिहारी सतसई की व्याख्या से इनकी विशेष प्रसिद्धि हुई। निबंधों का संग्रह 'पद्म पराग' है। शर्मा जी की शैली में एक विचित्रता और सजीवता है जिसे प्रेमचन्द के शब्दों में 'चुलबुलापन और शोखी' कहना चाहिए। वर्ण्य-विषय की मर्मज्ञता के साथ उसकी लाजवाब व्याख्या उसमें हास्य-व्यंग्य का तीखापन और रोचकता का चुटीलापन भर देना इनकी विशेषता है।

उदाहरण—

"साहित्य के नवीन मंदिरों का निर्माण तो हो ही रहा है, होता ही रहेगा और होना ही चाहिये; पर साहित्य के प्राचीन प्रासादों, जो जहाँ-तहाँ ध्वस्त विध्वस्त दशा में दबे पड़े हैं, का उद्धार इससे भी बड़े महत्त्व का काम है। उन खँडहरों में बड़े बड़े अमूल्य रत्न और कीमती खजाने मिट्टी में मिले हैं, उन्हें भी ढूँढ़ कर बाहर निकालना चाहिए।"

रामचन्द्र शुक्ल—पंडित रामचन्द्र शुक्ल आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ निबंध-लेखक हैं। इनके निबंधों में एक साथ भाव, विचार, कल्पना और शैली का सुन्दर सामंजस्य है। इनके निबंधों ने निबंध के स्वरूप को ही बदल दिया है। पहले जहाँ निबंध किसी विषय का रोचक प्रतिपादन माना जाता था, उसकी प्रमुख चमत्कृति उसकी शैली में रहती थी, वहाँ पर शुक्ल जी ने निबंध को नवीन अनुभवों और आत्मज्ञान का केन्द्र बना दिया। इनके निबंध एक साथ शास्त्र भी हैं, रचना भी हैं और आलोचना भी। इतना होते हुए भी वे निबंध हैं। निबंध अब एक शिथिल रचना मात्र न रह कर व्यवस्थित भाव-विचाराभिव्यंजना बन गया है। शुक्ल जी के निबंध में नूतन तथ्यों और रहस्यों का उद्घाटन है, हास्य भी है, व्यंग्य भी है, कवित्व भी है और विचार-प्रवाह भी। इस प्रकार शुक्ल जी का इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान और कार्य है। इनकी शैली विषय के अनुसार, अलंकार एवं हास्य-व्यंग्यपूर्ण हो जाती है तथा गंभीर विचारों के प्रकाशन में गंभीर। गंभीर विचारों के बीच भी हास्य-व्यंग्य के छींटे नीरसता से इनकी शैली को बचाते रहते हैं। एक उदाहरण—

"जो केवल प्रफुल्ल प्रसून प्रसार के सौरभ-संचार, मकरंद-लोलुप मधुप गुंजार, कोकिल कूजित निकुंज और शीतल सुख-स्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं वे विषयी या भोग-लिप्सु हैं, इसी प्रकार जो केवल मुक्ता-भास हिमविन्दु मंडित, मरकताभ-शाद्वल जाल, अत्यन्त विशाल गिरि शिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गंभीर गर्त से उठी हुई सीकर नीहारिका के बीच विविध वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही हृदय के लिए कुछ पाते हैं वे तमाशबीन हैं; भावुक या सहृदय नहीं।"

श्यामसुन्दर दास—बाबू श्यामसुन्दर दास की निबंध शैली बड़ी ही प्रौढ़ और विचारात्मक है। इनमें विशृंखलता नहीं। इनके निबंधों में प्रायः प्रौढ़ एवं प्रामाणिक सामग्री मिलती है। साहित्य के क्षेत्र में इन्होंने बड़ा काम किया। इनके हास्य व्यंग्यात्मक या भावात्मक निबंध नहीं के बराबर है। आलोचनात्मक या ऐतिहासिक निबंध ही इनके अधिक हैं। इनके निबंध वास्तव में अनुभूति नहीं, अध्ययन हैं। उदाहरण—

"भारतीय साहित्य की दूसरी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गयी है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है, अतः केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियंत्रण स्वीकार किया गया है।"

ऊपर प्रधान निबंधकारों का ही संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इनके अतिरिक्त द्विवेदी युग के ज़ोरदार निबंधकार माधव मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विजयानंद दुबे (कौशिक जी), मिश्रबंधु, बदरीनाथ भट्ट, कृष्णबिहारी मिश्र, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, गोविन्दनारायण मिश्र आदि भी हैं।

आधुनिक या वर्तमान युग में भी महत्त्वपूर्ण निबंध-लेखकों और शैलीकारों की एक लंबी सूची है जिन्होंने विविध विषयों पर अपने अनुभव और ज्ञान व्यक्त करने वाले निबंध लिखे हैं। उनमें से चार-पाँच अधिक प्रख्यात एवं प्रभावशाली निबंध-लेखकों का शैलीगत परिचय यहाँ दिया जाता है।

माखनलाल चतुर्वेदी—माखनलाल जी भावुक शैली के निबंधकार हैं। इन्होंने भावात्मक गद्य लिखने की पद्धति प्रवर्तित की जो आगे चल कर 'गद्यकाव्य' के रूप में प्रचलित हुई और चतुरसेन शास्त्री, वियोगी हरि, राय कृष्णदास, डा० रघुवीर सिंह, दिनेशनंदिनी, जनार्दनराय नागर आदि इस शैली के लेखक हुए। इनके छोटे-छोटे आलंकारिक मर्मस्पर्शी वाक्य इनकी शैली को एक विशेष आकर्षण प्रदान करते हैं। इन्होंने 'शब्दचित्र' भी लिखे हैं। इनका गद्य छन्द को छोड़ कर अनेक विशेषताओं में काव्य के समकक्ष पहुँचता है। इनका शब्द-चयन भी बड़ा मार्मिक होता है। इनकी शैली में व्याख्याता की भी विशेषतायें पाई जाती हैं। जान पड़ता है कि हमारे हृदय के ऊपर पड़े हुए प्रभावों को ही ये निकाल निकाल कर कह रहे हैं। 'गांधी जी' के संबंध में लिखे गये एक निबंध की पंक्तियाँ उदाहरणार्थ यहाँ दी जाती हैं—

"एक वाणी है जो झोपड़ियों की कराह को राजमहलों में ले जा कर

टकराती है और राजमहलों के अपमानों को झोपड़ियों के सेवा-पथ में मिले प्रभु के प्रसाद की तरह ग्रहण करती है।

एक वाणी है, जो गलियों में, कूचों में, झोपड़ियों में, महलों में, पहाड़ों में, गुफाओं में, भीड़ों में, एकान्तों में, विजयों में, विजयपथ की पराजयों में, "चले चलो" का स्वर लिये, बराबर सुनाई पड़ती चली आ रही है।"

गुलाबराय—गुलाबराय जी की शैली प्रधानतया विचारात्मक है। इनके निबन्धों की शैली संयत और शिष्ट है, कहीं कहीं सांकेतिक व्यंग्य है। इनके निबंधों में लगभग एक ही प्रकार की शैली सर्वत्र पाई जाती है। इनकी शैली को व्याख्यात्मक कहना चाहिए। स्पष्टता, सरलता, और स्वच्छता इनकी भाषा में मिलती है। गंभीर विषयों का विवेचन करते हुए भी गुलाबराय जी कभी दुरूह नहीं होते। उदाहरण—

"सौन्दर्य बाह्य रूप में ही निर्मित नहीं है वरन् उसका आन्तरिक पक्ष भी है। उसकी पूर्णता तभी आती है जब आकृति गुणों की परिचायक हो। सौन्दर्य का आन्तरिक पक्ष ही शिव है। वास्तव में सत्य, शिव और सुन्दर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में एक दूसरे के अथवा अनेकता में एकता के रूप हैं। सौन्दर्य भाव-क्षेत्र का सामंजस्य है।"

वियोगी हरि—वियोगी हरि आध्यात्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं। इनकी शैली में भावात्मक विशेषतायें मिलती हैं। एक सरस माधुरी इनके निबंधों में देखने को मिलती है। इनके भावात्मक निबन्धों का एक संग्रह 'अन्तर्नाद' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इनकी सन्तसुलभ दृष्टि एवं भक्तिभावना सर्वत्र इनकी शैली को भी प्रभावित किये है। उदाहरण—

"किसानों और मज़दूरों की टूटी फूटी झोंपड़ियों में ही प्यारा गोपाल वंशी बजाता मिलेगा। वहाँ जाओ और उसकी मोहिनी छवि निरखो। जेठ वैसाख की कड़ी धूप में मजदूर के पसीने की टपकती हुई बूँदों में उस प्यारे राम को देखो। दीन-दुर्बलों की निराशा-भरी आँखों में उस प्यारे कृष्ण को देखो। किसी धूल-भरे हीरे की कनी में उस सिरजनहार को देखो। जाओ पद-दलित अछूत की छाया में उस लीलाबिहारी को देखो।"

निराला—निबन्ध के क्षेत्र में भी निराला जी का निराला व्यक्तित्व है। इनके निबंधों के संग्रह 'प्रबंध पद्म' और 'प्रबन्ध प्रतिभा' प्रकाशित हुए हैं। कुछ निबन्ध तो बोलचाल की सरल भाषा में हैं, परन्तु गंभीर साहित्यिक निबंध संस्कृत शब्दावली से पूर्ण शैली में हैं। वैसे निराला जी के निबन्ध सर्वत्र रोचक हैं। उनमें हास्य और व्यंग भी विद्यमान रहता है और कहीं-कहीं वे वक्ता

के रूप में भी सामने आते हैं। अपने गद्य में निराला जी जीवन के अधिक निकट हैं और स्पष्ट और तीव्र बातें कहते हैं। इनका कला का विश्लेषण इनकी गहरी भावुकता और विद्वत्ता का द्योतक है। कहीं-कहीं ये उर्दू शैली का भी व्यवहार कर बैठते हैं। परन्तु जब ये मौज में आते हैं तब बड़ा ओजपूर्ण और प्रभावपूर्ण लिखते हैं। अधिकांश जब ये गंभीर विश्लेषण में पड़ जाते हैं, तब लम्बे उलझे हुए संकेतपूर्ण शब्दावली में जो लिखते हैं, वह सर्व-सुगम नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है इनकी शैली में विविधता है। उदारहण—

"आकाश की नील नीलम ताराओं से ढँकी छत, शुभ्र चन्द्र और सूर्य का शीतोष्ण शुचितर रश्मिपात, नीचे विश्व का विस्तृत रंगमंच, रंगीन सहस्रों दृश्य, शैलशिखरों, समुद्र-रश्मियों, अरण्य शीर्षों पर छायालोक, पात करते हुए प्रतिपल बदलते हुए दिन और रात, धूप और छाँह, पक्ष और ऋतुओं उठते गिरते हुए बहुरंग पर्दे, क्षण-क्षण विश्व पर अपार ऐन्द्रजालिक शक्ति, परियों सी पंख खोल कर कलियों में खिलती, केशर परागों से मुक्त प्रकाश में उड़ती, रँगे कपड़े बदलती, दिशाओं के आयत दृगों में हँसती, झरनों में गाती, पुनः अज्ञात तम में अन्तर्धान हो कर तादात्म्य प्राप्त करती हुई हास्य और रोदन, वियोग और मिलन, मौन तथा वीक्षण के नवरसाश्रित मधुर और भीषण कलरवोद्गारों के जीवजन्तु स्वाभाविक अभिनय करते हुए ईश्वरीय यथार्थ नाटक है—एक ही सर की सरस सृष्टि सरस्वती।" इतने बड़े काव्य में केवल 'है' ही एक क्रिया है। परन्तु सर्वत्र इस शैली का प्रयोग नहीं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी—संस्कृत साहित्य के व्यापक अध्ययन और सांस्कृतिक व्याख्या की प्रतिभा और विशेषता ले कर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी गद्य के क्षेत्र में अवतरित हुए हैं। इनकी गद्य-शैली, बड़ी सरस। सजीव और सोदाहरण है। व्यक्तिगत अनुभवों और अध्ययन तथा जीवन के निरीक्षण का सूक्ष्म एवं मनोरंजक विश्लेषण इनकी गद्यशैली का प्राण है। इनके निबंधों में छोटे-छोटे चमत्कारपूर्ण कथन और मर्मस्पर्शिनी उक्तियाँ, उनको स्मरणीय बना देती हैं। प्रायः ये अपने दृष्टिकोण, विचारधारा या सिद्धान्त का प्रतिपादन घटना या कथा-कहानी से करते हैं। द्विवेदी जी ने साहित्य को आध्यात्मिक साधना और जीवन से मिला कर स्पष्ट किया है। निबंधों में इनका भावुक और मानवतावादी दृष्टिकोण प्रकट हुआ है। इनकी शैली तार्किक नहीं, वरन् सजीव, सरस और मनोरंजक है। इनके निबंधों में एक भावात्मक प्रवाह प्रायः देखा जाता है। गांधी जी के निधन पर इनकी

पंक्तियाँ हैं—

"इतिहास ने इतनी क्षीण काया में इतना बड़ा प्राण नहीं देखा था; मनुष्यता ने इतना बड़ा विजयोल्लास कभी अनुभव नहीं किया था। वह हँसता हुआ आया, रुलाता हुआ चला गया। तपस्या का शुभ्र हिमालय गल गया, सारा संसार उस शीतल वारि-धारा से आर्द्र है। संसार के इस कोने से उस कोने तक एक ही मर्मभेदी आवाज आ रही है—वह चला गया; गांधी चला गया।"

रघुवीरसिंह—महाराज कुमार डा० रघुवीरसिंह ने निबंध अधिक नहीं लिखे। इतिहास के आप विद्वान हैं; परन्तु कुछ ही निबंधों के द्वारा आप की ख्याति श्रेष्ठ निबंधकारों में हो गई। आपकी 'शेष स्मृतियाँ' पुस्तक ही आपकी ख्याति का बड़ा कारण है। रघुवीरसिंह, भावुक कल्पना एवं कविगत सरसता से लिखने वाले निबंधकार हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इनके भाव स्वतः वाणी का रूप धारण कर प्रकट हो गये हैं। परन्तु इनकी शैली स्मरणात्मक है, उसमें विविधता का अभाव है; परन्तु अनुभूति की सच्चाई का उसमें पूरा प्रकाशन है। यह शैली लेखक की विषयगत पूर्ण तन्मयता की प्रतीक है। उदाहरण—

"आओ नाथ! बहुत दिन से उस दिन को देख रहे हैं। पुनः कब वृन्दावन वाली मुरली की सुमधुर ध्वनि कानों में पड़ेगी? फिर कब आपकी गीता का संदेश हमें कर्त्तव्य की दिशा की ओर बढ़ायेगा? हम आशा लगाये हैं कि तुम पुनः आओगे, पुनः हमें गीता का संदेश सुनाओगे, पुनः जीवन संग्राम में विजय पाने का सन्मार्ग दिखाओगे।"

शांतिप्रिय द्विवेदी—शांतिप्रिय द्विवेदी में जन्मजात निबंध-लेखन की प्रतिभा है। जिस शिष्ट, परिमार्जित और मृदुल शैली का व्यवहार इन्होंने अपने निबंधों में किया है, वह उनके सहज संस्कारों की द्योतक है। इनके निबंधों के साहित्यिक सौन्दर्य का निजी अनुभूति के रूप में उद्घाटन है। युग की साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना के प्रति द्विवेदी जी सहज संवेदनशील हैं। इनकी काव्यालोचना और व्यक्तित्व-विश्लेषण में सहृदयता के साथ-साथ गुणों की यथार्थ पकड़ विद्यमान रहती है। इनके छोटे छोटे मर्मस्पर्शी वाक्य बड़े ही रमणीय और स्मरणीय हैं। इनकी सहृदय भावुकता और आलोचनात्मक प्रतिभा के एक साथ दर्शन वहाँ होते हैं जहाँ ये कवियों या काव्यों अथवा युग की विशेषताओं का तुलनात्मक विश्लेषण करते हैं। साहित्यिकी, सामयिकी, युग और साहित्य, पथ चिह्न आदि संग्रहों के निबन्धों में उक्त विशेषताएँ देखी जाती हैं। इनके निबंधों की शैली सरल,

सरस और रमणीय है। उदाहरण—

"अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रसाद दृष्टान्त और अन्योक्ति की ओर हैं; पन्त उपमा और तद्रूपता की ओर, निराला सांग रूपक की ओर, महादेवी अभेद रूपकता की ओर। अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रसाद और निराला सामाजिक दार्शनिक हैं, पन्त और महादेवी आन्तरिक प्रेक्षक। पन्त अपने प्राकृतिक सौन्दर्य में लोकोत्तर हैं, महादेवी अपनी आध्यात्मिक बेदना में। सामाजिक धरातल के कारण प्रसाद और निराला में विविध रस हैं, व्यक्तिगत धरातल के कारण पन्त और महादेवी में स्वरस है।" (सामयिकी)

रामवृक्ष शर्मा 'बेनीपुरी'—'बेनीपुरी' जी ने अनेक ग्रंथ लिखे हैं। इनकी शैली भी अपनी निजी है। वह अधिकांश प्रतीकात्मक है। बेनीपुरी जी के निबन्धों में नवीनता का आडम्बर अधिक जान पड़ता है। यद्यपि इनके निबंधों में विषय का प्रतिपादन मानवतावादी दृष्टिकोण को ले कर हुआ है। इसके साथ-साथ ही इनके निबंधों में सामाजिक व्यंग्य की मात्रा भी मौजूद है। परन्तु प्रमुखतया ये प्रयोगवादी या प्रतीकवादी शैली का प्रयोग करते हैं। इनके निबन्ध संस्मरणात्मक गद्य शैली में हैं। उनमें एक कहानी की सी रोचकता है। कहीं-कहीं तो यह कहना कठिन हो जाता है कि रचना को निबंध कहा जाय, या स्केच और शब्दचित्र। इनके शब्दचित्रों में गद्यकाव्य की विशेषतायें आ जाती हैं। इन्होंने गंभीर भावों को चामत्कारिक ढंग से व्यक्त किया है। उदाहरण—

"मानव ने महान् और सुन्दर भगवान बनाये हैं इसमें मानव की महान् और सुन्दर शक्तियों का पता चलता है। जब मानव आँधी, अंधकार या प्रकाश की अभ्यर्थना या उपासना करता था, वह अपने प्रति ज्यादा ईमानदार था, वह अधिक सरल था, उसके ज्ञान पर पर्त नहीं पड़ी थी।

जब उसने इनमें देवत्व या ईश्वरत्व की कल्पना की, वह भूलाभुलैया में फँसा।"

यहाँ पर केवल कुछ ही आधुनिक निबंध-लेखकों का शैलीगत परिचय दिया गया है परन्तु इन्हीं शैलियों पर अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की छाप के साथ लिखने वाले अनेक लेखक हैं, जैसे शिवपूजन सहाय, राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय, बख्शी राधाकृष्णदास, श्रीराम शर्मा, जैनेन्द्र, सियारामशरण गुप्त, भदन्त आनंद कौसल्यायन, बनारसीदास चतुर्वेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, महादेवी वर्मा, संपूर्णानंद, आदि। हिन्दी निबंध का विविध दिशाओं में विकास हो रहा है।

हिन्दी का नाट्य साहित्य

हिन्दी निबंध के समान ही हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास भी आधुनिक युग में ही हुआ है। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में नाट्य-साहित्य के विकास न होने के अनेक कारण रहे। उनमें प्रधान कारण यह था कि मुसलमानी शासकों का नाटक के धर्म-विरुद्ध होने के कारण उपेक्षाभाव था। इसके अतिरिक्त देश में राजनीतिक उथल-पुथल के कारण शांतिमय वातावरण नहीं था जो नाटकों के लिए आवश्यक था। इधर संस्कृत की नाट्य और रंचमंच की परंपरा भी टूट गई थी। अतः हिन्दी या भाषा के रंगमंच के पुनःसंगठन या नवनिर्माण की भी समस्या सामने थी। अतएव इस मध्यकाल में जो कुछ भी नाट्य साहित्य था वह लोक रंग-मंच से संबंधित लोक-नाट्य की ही पद्धति पर कहा जा सकता है। इसी से तत्त्व ग्रहण कर लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह ने रास पद्धति पर 'इन्दर सभा' आदि का अभिनय प्रारंभ किया और आगे चलकर भारतेन्दु युग में हिन्दी रंग-मंच और नाट्य-साहित्य के पुनरुत्थान या विकास का श्रीगणेश हुआ।

लोक-नाट्य के रूप अनेक हैं। इनमें यात्रा, स्वांग, रामलीला, रासलीला आदि के रूप आते हैं। हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्य पर दृष्टिपात करने से हमें इन्हीं रूपों से संबंधित कुछ नाटक भी प्राप्त होते हैं जिनके अन्तर्गत हम आधुनिक युग के पूर्ववर्ती हिन्दी नाट्य साहित्य का रूप देख सकते हैं।

पूर्ववर्त्ती हिन्दी नाटक

पूर्ववर्ती नाटकों में सब से प्रथम सन् १६१० में लिखा 'रामायण महा-नाटक' है। इसमें रामकथा संवादों में वर्णित है। दूसरा कवि हृदयराम कृत 'हनुमन्नाटक' है जो सन् १६२३ में लिखा गया है। यह संस्कृत 'हनुमन्नाटक' से भिन्न है। 'हनुमन्नाटक' नाम केवल इस कारण है कि इसमें अंकों का संगठन संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' के अनुसार है। इसके बाद जैन कवि बनारसीदास द्वारा लिखा हुआ 'समयसार' नाटक है जो सन् १६३६ में लिखा गया। यह कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा लिखित 'समय पाहुड़' का अनुवाद है।

उसके बाद गुरुगोविन्द सिंह द्वारा रचित 'चंडी चरित्र' या 'विचित्र नाटक' महाराज यशवंतसिंह का लिखा हुआ (सन् १६४३ ई० में) 'प्रबोध चन्द्रोदय नाटक', व्यास जी के शिष्य देव द्वारा रचित 'देवमाया प्रपंच नाटक', नेवाज

कवि द्वारा सन् १६७० में लिखा गया 'शकुन्तला' नाटक (जो कालिदास के 'शकुन्तला' नाटक पर आधारित है), अहमदाबाद के रघुराम नागर द्वारा सन् १७०० ई० में लिखा 'सभासार' नाटक, कृष्ण जीवन लछीराम द्वारा सन् १७०० के आस-पास लिखा गया 'करुणाभरण' नामक पद्यबद्ध नाटक, सोमनाथ माथुर द्वारा सन् १७५२ ई० में लिखा 'माधव विनोद' नाटक (जो 'मालती माधव' नाटक का पद्यमय अनुवाद है), हरिराम द्वारा लिखित 'जानकीराम चरित' नाटक, 'सीता स्वयंवर' को ले कर मधुकर कवि द्वारा लिखित 'राम लीला विहार' नाटक, गणेश कवि द्वारा लिखित 'कृष्ण चन्द्रिका' नाटक, रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह द्वारा १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखित 'आनन्द रघुनंदन' नाटक, कन्नौज निवासी सुकवि ईश्वरीप्रसाद लिखित 'रामायण' तथा 'ऊषा-अनिरुद्ध' के कथानक से संबंधित नाटक, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता गिरधरदास द्वारा सन् १८४१ में लिखा 'नहुष' नाटक तथा सुप्रसिद्ध राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का 'शकुन्तला' नाम से अनुवादित नाटक हैं। इनके अतिरिक्त भी छोटे-मोटे नाटक इन्हीं के समान अवश्य लिखे गये होंगे। अधिकांश नाटकों में पद्य का ही व्यवहार हुआ। गद्य का प्रयोग करने वाले नाटकीय विशेषता से सम्पन्न इनमें से विश्वनाथ सिंह और लक्ष्मणसिंह के ही नाटक कहे जा सकते हैं। जैसा कि नाम से विदित होता है कि इन नाटकों का कथानक अधिकांश राम और कृष्ण-चरितों से है। अतः यह प्रमुखतया रामलीला और कृष्णलीला के समान ही माने जाने चाहिए। इसलिए कहा जा सकता है कि काव्य-रचना की विशालता को देखते हुए पूर्ववर्ती तीन शताब्दियों में हिन्दी-नाटक-साहित्य का विस्तार नगण्य है।

भारतेन्दु युग—उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि हिन्दी नाटक का समुचित विकासारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-द्वारा ही हुआ। भारतेन्दु जी हिन्दी साहित्य में नवीन चेतना ले कर आये। उनके द्वारा हिन्दी-गद्य का समुचित प्रवर्तन हुआ और देश-प्रेम की भावना साहित्य में और उसके माध्यम से जनता में जाग्रत हुई। भारतेन्दु जी ने मौलिक नाटक और प्रहसन भी लिखे और अन्य भाषाओं से नाटकों का अनुवाद भी किया। उनकी यह नाटक-रचना सन् १८६७ से ले कर १८८४ तक चलती रही। भारतेन्दु की मौलिक रचनाएँ ये हैं—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, विषस्य विषमौषधम्, अंधेर नगरी, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, प्रेम जोगिनी, चन्द्रावली और सती प्रताप (अपूर्ण)। अनुवादित नाटक ये हैं—विद्या सुन्दर, सत्य हरिश्चन्द्र, भारत

जननी (बँगला से), पाखंड विडम्बन, धनंजय विजय, मुद्राराक्षस, रत्नावली (संस्कृत से), कर्पूर मंजरी (प्राकृत से) तथा दुर्लभ बन्धु (अंग्रेजी से)। सत्य हरिश्चन्द्र और भारत जननी में दूसरे नाटकों की छाया होते हुए भी भारतेन्दु की मौलिकता स्पष्ट देखी जा सकती है।

देश-प्रेम की भावना से प्रेरित हो कर के भारतेन्दु ने इतिहास, पुराण और समकालीन जीवन से अपने कथानक चुने हैं। इस दृष्टि से कथानक और पात्रों का विचार करते हुए उनके नाटकों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—पौराणिक, ऐतिहासिक और काल्पनिक या समकालीन जीवन-संबंधी। पौराणिक नाटकों में सत्य हरिश्चन्द्र नाटक आता है, ऐतिहासिक में मुद्राराक्षस, नीलदेवी, आदि हैं। शेष में सभी का मिश्रण है। इनके भारत जननी, भारत दुर्दशा और विषस्य विषमौषधम् में देश-प्रेम की भावना हिलोरें मार रही है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अंधेर नगरी' नाटक हास्य-व्यंग-प्रधान हैं। इनके अंतर्गत इन्होंने हास्य-व्यंग के साथ ही सुरुचि की रक्षा की है। इनका चन्द्रावली नाटक प्रेमाभक्ति प्रधान नाटक है।

भारतेन्दु के पात्रों में विविधता दिखाई देती है और इनके नाटकों के कथोपकथन भी प्रायः बड़े रोचक और चुटीले हैं। भाषा पात्रानुकूल है। अभिनय की दृष्टि से भी इनके अधिकांश नाटक सफल हैं।

भारतेन्दु युग में भारतेन्दु की भावना से प्रेरित हो कर अन्य लेखकों ने भी नाट्य साहित्य की रचना की जिनमें महत्त्वपूर्ण नाम हैं—प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास, तोताराम, कार्तिकप्रसाद, अमान सिंह, काशीनाथ खत्री, शालिग्राम, दामोदर शास्त्री, गोप आदि। प्रतापनारायण मिश्र ने 'भारत दुर्दशा' रूपक, 'संगीत शाकुन्तल', 'कलि कौतुक', 'गो-संकट', कलि प्रभाव, जुवारी खुवारी, हठी हमीर आदि नाटक लिखे। इनके नाटक बड़े ही विनोदपूर्ण हैं। राधाकृष्ण दास ने दुःखिनी बाला (एकांकी) महाराणी पद्मावती, महाराणा प्रताप और धर्मालाप नामक नाटक लिखे। ये नाटक चरित्र-चित्रण की दृष्टि से बड़े सफल नाटक हैं। इनका नाटक 'महाराणा प्रताप' अनेक बार खेला जा चुका है।

बालकृष्ण भट्ट ने लगभग १५ नाटक लिखे हैं। इनमें सभी प्रकाश में नहीं आये। पद्मावती और शर्मिष्ठा माईकेल मधुसूदन दत्त के बँगला नाटकों के अनुवाद हैं। इनके मौलिक नाटकों में दमयन्ती स्वयंवर, वेणु संहार और जैसा काम वैसा परिणाम बड़े प्रसिद्ध नाटक हैं। इनके अतिरिक्त

कहा जाता है कि भट्ट जी ने मृच्छकटिक, किरातार्जुनीय, पृथु चरित्र, शिशुपाल वध, शिक्षादान, नल दमयन्ती, आचार विडम्बन, नई रोशनी का विष, बृहन्नला आदि नाटक भी लिखे।

राधाचरण गोस्वामी के आठ नाटकों का उल्लेख मिलता है। इनमें प्रसिद्ध हैं—सती चन्द्रावती, अमरसिंह राठौर, श्रीदामा, बूढ़े मुँह मुहाँसे, तन-मन-धन गोसाईं जी के अर्पण, और भंग तरंग। अंतिम तीन प्रहसन हैं। गोस्वाजी के नाटक जोरदार हैं।

श्रीनिवासदास ने प्रहलाद चरित्र, तप्ता संवरण, संयोगिता स्वयंवर और रणधीर प्रेम मोहिनी नाटक लिखे। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध रणधीर प्रेम मोहिनी है। प्रेमघन जी ने भी चार नाटक लिखे हैं। इनके नाम हैं—भारतसौभाग्य, प्रयागरामागमन, वारांगनारहस्य, वृद्ध विलाप। यह सभी साधारण नाटक हैं।

भारतेन्दु-युग में ही केशवराय भट्ट ने सज्जाद सम्बुल तथा शमशाद सौसन उर्दू शब्दावली से भरे नाटक लिखे। पंडित अम्बिकादत्त व्यास ने गो संकट, कलयुग और घी, मन की उमंग, मरहट्ट नाटक, देवपुरुष दृश्य, भारत-सौभाग्य नाटक भी लिखे, जो साधारण महत्त्व के हैं। व्यास जी की भाषा में पंडिताऊपन है। इनके अतिरिक्त भी भारतेन्दु युग में अनेक नाटककारों के छोटे-बड़े नाटक मिलते हैं, जो अधिकांश रूप में अब प्राप्य नहीं हैं। इन नाटकों का क्षेत्रीय महत्त्व समझना चाहिए।

प्रसाद युग—हिन्दी नाटक के लिए भारतेन्दु युग प्रभात काल था। उसकी प्रौढ़ावस्था प्रसाद जी के नाटक-क्षेत्र में प्रवेश करने के साथ प्रारम्भ हुई। प्रसाद जी प्रतिभा-सम्पन्न कवि और नाटककार थे। वे गहरी दार्शनिक पृष्ठभूमि के साथ अद्‌भुत सांस्कृतिक चेतना ले कर हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अवतरित हुए। प्रसाद जी ने भाषा को नवीन शक्ति दी; भावों को नूतन अभिव्यक्ति दी और कला का अभिनव शृङ्गार किया। इसलिए प्रसाद जी के नाटकों का बहुत ही उत्कृष्ट महत्त्व है।

प्रसाद जी के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। इन नाटकों में ऐतिहासिक तथ्यानुसंधान भी है और युगीन भावना और चेतना का समारोप भी—इस कारण से इनके नाटक जहाँ अभिनीत हुए हैं वहाँ गहरा प्रभाव डाल सके हैं, साथ ही वे कवित्वपूर्ण होने के कारण पठनीय प्रबन्ध काव्य की रोचकता भी रखते हैं। प्रसाद जी का नाटक-रचनाकाल सन् १६१० से १६३३ तक चलता है। इस बीच उन्होंने तेरह नाटक लिखे, जिनके नाम हैं—सज्जन

(१६१०-११), कल्याणी परिणय (१६१२), करुणालय (१६१३), प्रायश्चित्त (१६१४), राज्यश्री (१६१५), विशाख (१६२१), अजातशत्रु (१६२२), कामना (१६२३-२४), जनमेजय का नागयज्ञ (१६२६), स्कन्दगुप्त (१६२८), एक घूँट (१६२६), चन्द्रगुप्त (१६३१), ध्रुव स्वामिनी (१६३३)।

इन नाटकों में से अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी में गुप्तकालीन प्राचीन भारत की झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हैं। इतिहास के तथ्यों के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर नवीन परिस्थितियों, घटनाओं और चरित्रों का समावेश प्रसाद जी ने किया है परन्तु वे सब कवि की कल्पना नहीं। प्रसाद जी ने इनमें से अधिकांश का समावेश कुछ ठोस प्रमाणों के आधार पर किया और इस प्रकार इनके नाटक इतिहास के नवनिर्माण की प्रेरणा देते हैं। साथ ही उसका एक मार्ग भी खोलते हैं। दूसरी बात जो इनके ऐतिहासिक नाटकों में पाई जाती है वह उद्बोधन प्रदान करने वाली राष्ट्रीय चेतना है। यह चेतना न केवल अनेक परिस्थिति-जन्य कथोपकथनों से व्यक्त होती है, वरन् इन नाटकों के भीतर आये अनेक गीत भी राष्ट्रीय भावना का ओजस्वी संचार करते हैं। इसके प्रमाण-स्वरूप 'स्कन्दगुप्त' का सामूहिक गान—"हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार" तथा 'चन्द्रगुप्त' में अलका द्वारा गाये हुए गीत की निम्नांकित पंक्तियाँ ही पर्याप्त होंगी—

"हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती।
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।"

इन गीतों में कष्ट-सहिष्णुता, त्याग और देश पर बलिदान होने की भावना भर देने की शक्ति है।

देश-प्रेम की भावना के साथ ही प्रसाद जी के नाटकों में शुभ्र प्रेम-भावना का भी चित्रण है। उनके प्रेमी चरित्रों में त्याग और समर्पण का भाव विद्यमान है। इन चरित्रों के हृदयोद्गार मोहक मधुरिमा से ओतप्रोत हैं। अधिकांश इन प्रेम-सबंधी उक्तियों में प्रसाद जी का कवित्व और कवि-हृदय फूट पड़ा है।

प्रसाद जी के नाटकों में दार्शनिक विचारधारा भी चलती रहती है। जीवन के दो सिद्धांतों का घात-प्रतिघात प्रतिद्वंद्वी चरित्रों के संघर्ष के भीतर छिपा हुआ मिलता है। इनमें जीवन का रहस्य उद्घाटित हुआ है। प्रसाद जी अधिकांश में सद्वृत्तियों की विजय और असत् प्रवृत्तियों की पराजय

दिखलाते हैं, परन्तु नियतिवाद और निराशावाद की भी छाया कहीं कहीं देखने को मिलती है। इनके बहुत से नाटक मृत्यु में समाप्त होने पर भी विषादांत नहीं कहे जा सकते, क्योंकि प्रसाद जी भारतीय दर्शन के संस्कारों से ओत-प्रोत हैं।

प्रसाद जी की भाषा, लम्बे लम्बे कथोपकथन और कवित्वपूर्ण गीतों को ले कर कुछ लोगों ने उनके नाटकों को अभिनय की दृष्टि से अनुपयुक्त ठहराया है परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। प्रसाद जी के लम्बे वाक्यों का प्रवाह और गति उनकी ओजपूर्ण, भावानुकूल मधुर और कठोर शब्दावली तथा चित्रमयता अभिनय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। बहुत ही बड़े जनसमूह में अभिनेता के द्वारा कहे गये छोटे वाक्य उतना प्रभाव नहीं डालते और न बोलचाल का घराऊ कथोपकथन ही, उसे प्रभावित करने के लिए तो ओजपूर्ण भाषण की शैली अधिक काम करती है। अतएव विशेष सामग्री और तैयारी के साथ प्रसाद के नाटक सफलता और प्रभावपूर्वक खेले जा सकते हैं और खेले गये हैं।

भारतेन्दु की तुलना में प्रसाद के नाटक हास्य-विनोद-पूर्ण नहीं हैं। प्रायः उनके नाटकों में इसका अभाव ही है। परन्तु यह अभाव प्रसाद के नाटकों को पढ़ने या देखने वाले को खलता नहीं है क्योंकि उसकी पूर्ति उनका कवित्व कर देता है। यह अवश्य है कि कहीं-कहीं प्रसाद के लम्बे और दुरूह स्वगत कथन अरोचकता की सीमा पर पहुँच जाते हैं और नाटक की कार्य-शीलता में बाधा पहुँचाते हैं।

प्रसाद के नाटकों ने हिन्दी नाट्य साहित्य में गम्भीरता और उदात्तता का समावेश किया है। नाटकों में प्रकट प्रसाद की कल्पना और सूझ सराहनीय है। वे आज भी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं।

प्रसाद युग के अन्य नाटककारों में राय देवीप्रसाद पूर्ण, मैथिलीशरण गुप्त, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, मिश्रबंधु, सत्यनारायण कविरत्न, प्रेमचन्द, बदरीनाथ भट्ट, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, गोविन्दवल्लभ पंत, विश्वम्भर-नाथ शर्मा 'कौशिक', जी० पी० श्रीवास्तव, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, लाला सीताराम, गोपालराम गहमरी, रूपनारायण पांडेय आदि का नाम उल्लेखनीय है। इनमें बहुतों ने तो केवल एकाध नाटक ही लिखा है। परन्तु नाट्य क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण देन बदरीनाथ भट्ट, गोविन्दवल्लभ पंत, जी० पी० श्रीवास्तव आदि की है।

भट्ट जी बड़े विनोदी लेखक थे। इनके नाटकों में हास्य-व्यंग की मात्रा

अधिक मिलती है। इनके नाटकों में 'कुरुवन-दहन', चुंगी की उम्मीदवारी या मेम्बरी की धूम (प्रहसन), चन्द्रगुप्त, तुलसीदास, लबड़धोंधों, विवाह विज्ञापन, बेन चरित और दुर्गावती प्रसिद्ध हैं। इनका नाटक 'मिस अमरीकन' एक प्रहसन है। इनके नाटकों की भाषा चलती हुई भाषा है और अधिकांश में साधारण मनबहलाव की सामग्री रहती है। अनेक नाटकों में इन्होंने युग और इतिहास का ध्यान नहीं रखा। इनका दुर्गावती नाटक ही सबसे सफल कहा जा सकता है जिसमें वीररस का परिपाक है।

गोविन्दवल्लभ पंत प्रतिभाशाली और अध्यवसायी लेखक हैं। पंत जी की ख्याति तब हुई जब इन्होंने कई नाटक लिख लिये। यह कहा जा सकता है कि गोविन्दवल्लभ पंत के नाटकों की प्रेरणा कला का अनुरोध ही है। इनके नाटक पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी प्रकार के हैं। वरमाला पौराणिक नाटक है तो 'राजमुकुट' और 'अंतःपुर का छिद्र' ऐतिहासिक तथा 'अंगूर की बेटी' सामाजिक नाटक हैं।

पंत जी की नाट्य रचनाएँ ये हैं—कंजूस की झोपड़ी (१६२३), वरमाला (१६२५), राजमुकुट (१६३५), अंगूर की बेटी (१६३७), अंतःपुर का छिद्र (१६४०), सिन्दूर बिन्दी और ययाति (१६५१)। पंत जी के नाटक अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अधिकांश नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल नाटक हैं। न केवल आकार में ही वे उपयुक्त हैं वरन् नाटकीय दृश्य-विधान में भी वे सुन्दर हैं। इससे पंत जी की अभिनय-संबंधी सम्पन्नता का परिचय मिलता है। लगभग सभी नाटकों के दृश्य ऐसे हैं जो रंगमंच पर दिखाये जा सकते हैं। 'अंतःपुर का छिद्र' अभिनय की दृष्टि से इनका सर्वश्रेष्ठ नाटक कहा जा सकता है। इसमें कौतूहल और नाटकीय आकस्मिकता का भी काफ़ी अंश है। पंत जी की भाषा भी अभिनय के लिए अत्यंत उपयुक्त है। अपने नाटकों में इन्होंने सरल सुबोध भावुकतापूर्ण और समर्थ भाषा का प्रयोग किया है। इनके संवाद संक्षिप्त और गतिशील हैं।

प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य

प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य विविध रूपों में विकसित हुआ। पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी प्रकार के नाटकों की सृष्टि होने लगी और उनमें युगीन चेतना और विचारधारा का भी प्रभाव परिलक्षित होने लगा। अनेक ऐसे भी लेखक हैं जिन्होंने सभी दिशाओं में अपनी लेखनी का

संचालन किया। वर्तमानकाल में विशेष विकास एकांकी और रेडियो रूपक का हुआ है। इस युग के नाटककारों में प्रमुखतया उल्लेखनीय नाम हैं—हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्द दास, उदयशंकर भट्ट, चतुरसेन शास्त्री, लक्ष्मीनारायण मिश्र रामकुमार वर्मा, किशोरीदास वाजपेयी, द्वारकाप्रसाद मौर्य, धनीराम, उपेन्द्र-नाथ 'अश्क', परिपूर्णानन्द वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, 'भगवतीप्रसाद वाजपेयी', कंचनलता सब्बरवाल, कृष्णदत्त भारद्वाज, गोकुलचंद्र शर्मा, चन्द्रगुप्त विद्या-लंकार, जगदीशचन्द्र माथुर, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', पृथ्वीनाथ शर्मा, रघुवीरशरण 'मित्र', रामवृक्ष बेनीपुरी, लक्ष्मीनारायणलाल, विष्णु प्रभाकर, सत्येन्द्र, शरद, सद्गुरुशरण अवस्थी, सियारामशरण गुप्त, सीताराम चतुर्वेदी, सुदर्शन, अमृतलाल नागर, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि।

हमारे नाट्य साहित्य का बहुमुखी विकास हो रहा है और नयी नयी प्रतिभायें इस क्षेत्र में प्रयोग कर रही हैं, फिर भी कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व भारतेन्दु या प्रसाद-सरीखा नाटक के क्षेत्र में अभी उदित नहीं हुआ, जो इन के लिए आदर्श या प्रेरणा का स्रोत बन सके। फिर भी अनेक नाटककार इस मंडली में ऐसे हैं जिन्होंने उत्कृष्ट नाट्यसाहित्य की सृष्टि की है। यहाँ पर हम उनमें से महत्त्वपूर्ण नाटककारों का परिचय दे रहे हैं।

हरिकृष्ण 'प्रेमी'—नाटक के क्षेत्र में हरिकृष्ण 'प्रेमी' ओजपूर्ण लेखक हैं। इनका व्यक्तित्व भी कलाकार का है। इनकी भावना से इनका 'प्रेमी' नाम सार्थक है। इनके नाटकों की प्रेरणा राष्ट्रीयता और प्रेम है। देश के उत्थान और संगठन के लिए प्रेमी के नाटक हमारे बीच सद्भावनाओं का संचार करने वाले हैं। प्रेमी जी के मुख्य नाटक हैं—स्वर्णविहान, पाताल विजय, रक्षाबंधन, शिवासाधना, प्रतिशोध, आहुति, प्रकाशस्तंभ, स्वप्नभंग, छाया, बन्धन, मित्र, विषपान, उद्धार, शपथ आदि।

जैसा कहा जा चुका है प्रेमी जी की नाटकीय प्रेरणा राष्ट्रीय भावना को ले कर विकसित हुई है। इनके अनेक नाटक ऐतिहासिक आधार पर हैं और मुस्लिम युग से संबंध रखते हैं। इनके नाटकों में उच्च आदर्शों की पुष्टि हुई है। इनके ऐतिहासिक नाटकों में भी कवि-कल्पना का प्रचुर समावेश है और इस दृष्टि से प्रेमी जी प्रसाद और वृन्दावनलाल वर्मा के समान इतिहास के निर्माता नहीं कहे जा सकते। वास्तव में इनके पात्र ऐतिहासिक हैं, पर उनके चरित्र पूर्ण ऐतिहासिक नहीं। उनमें प्रभाव और उद्देश्य की दृष्टि से कल्पना का पुट है। प्रेमी ने इतिहास की आत्मा की रक्षा की है, पर शरीर और व्यक्ति की इनकी निजी उद्भावना है। नाट्य-साहित्य के निर्माण में प्रेमी जी ने

स्वच्छंद कला का प्रयोग किया। स्वगत कथनों का प्रेमी जी ने स्वाभाविक रूप में प्रयोग किया। प्रेमी जी के नाटकों में कार्य-व्यापार सर्वत्र मिलता है। और वातावरण-सम्बन्धी दृश्यावली भी समुचित उपस्थित रहती है। इस प्रकार अभिनय की दृष्टि से भी प्रेमी जी के नाटक सफल हैं। प्रेमी जी की भाषा ओजपूर्ण भावमयी और प्रभावशाली है और वह परिस्थिति तथा पात्र के अनुकूल पूर्णतया नाटकोचित है। प्रेमी जी ने कुछ नाटकों में सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं। साथ ही उनके ऐतिहासिक नाटकों में भी वर्तमान प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ता है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र—वर्तमान युग की नवीन चेतना और समस्याओं को ले कर लिखने वाले प्रसिद्ध नाटककार श्रीलक्ष्मीनारायण मिश्र हैं। इस दृष्टि से यथार्थ जीवन की समस्याओं को नाटक में स्पष्ट चित्रण करने का श्रेय मिश्र जी को ही प्राप्त है। इनकी नाट्य-शिल्पविधि भावुक न होकर बुद्धिवादी है। यद्यपि इन्होंने दो एक ऐतिहासिक नाटक भी लिखे हैं परन्तु उनके अधिकांश नाटक सामाजिक और समस्या-प्रधान हैं। मिश्रजी के द्वारा लिखे गये प्रमुख नाटक ये हैं—समाज के स्तंभ (अनुवाद), संन्यासी, राक्षस का मंदिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग, सिन्दूर की होली, आधी रात, अशोक, गरुड़ध्वज, नारद की वीणा, गुड़िया का घर, वत्सराज, दशाश्वमेध आदि। इन नाटकों की रचना का प्रारम्भ १९३१ ई० से हुआ था।

सामाजिक नाटक लिखने के कारण मिश्रजी के अधिकांश पात्र आधुनिक समाज के पात्र हैं। केवल अशोक, वत्सराज और दशाश्वमेध ऐतिहासिक पात्रों से युक्त हैं। मिश्रजी ने नाटकों में पात्रों की मनस्थिति और द्वंद्व का चित्रण किया है। इस प्रकार से मिश्रजी की नाट्य-शैली पर आधुनिक बुद्धिवादी युग का प्रभाव है। अधिकतर नाटकों में इन्होंने पद्य का प्रयोग नहीं किया। इससे उनमें एक विशेष यथार्थता का वातावरण आ जाता है। परन्तु अभिनय की दृष्टि से सरसता को कम भी करता है। अधिकांश नाटकों में तीन अंकों का समावेश किया गया है। मिश्रजी के नाटकों में कार्य-व्यापार की कहीं-कहीं कमी है फिर भी कुशल अभिनेताओं के द्वारा सुन्दर अभिनय किया जा सकता है। मिश्रजी का स्थान आधुनिक युग की बुद्धिवादी परम्परा में महत्त्वपूर्ण है।

उदयशंकर भट्ट—भट्ट जी आधुनिक युग के गतिशील नाटककार हैं। इन्होंने अपने नाटकों का आधार पुराण, इतिहास और सामाजिक जीवन सभी से ग्रहण किया है और सामाजिक जीवन के सहज और संघर्षमय चित्र भी इनके नाटकों में मिलते हैं। भट्ट जी ने आधुनिक काव्य के विभिन्न प्रयोगों से

प्रभावित हो कर लगभग सभी में अपनी रचनाएँ की। इनके लिखे नाटक ये हैं— विक्रमादित्य (१६३३), दाहर अथवा सिंधु पतन (१६३४), अम्बा (१६३५), सगर-विजय (१६३७), मत्स्यगंधा (१६३७), विश्वामित्र (१६३८), कमला (१६३६), राधा (१६४१), अंतहीन अंत (१६४२), मुक्तिपथ (१६४४), शक विजय (१६४८), कालिदास (१६५०), मेघदूत (१६५०), विक्रमोर्वशी (१६५०)। भट्ट जी के विक्रमादित्य, दाहर, मुक्तिपथ और शकविजय ऐतिहासिक नाटक हैं, जिनमें कथानक भारतवर्ष के प्राचीन युग से लिया गया है। इन ऐतिहासिक नाटकों में धार्मिक संघर्ष का चित्रण भी भट्ट जी ने किया है। भट्ट जी के नाटकीय पात्रों में सभी प्रकार के व्यक्ति हैं। कुछ उदात्त स्वभाव के हैं, कुछ क्रूर, विश्वासघाती, कपटी, छली आदि हैं। नारियाँ भी तीन वर्गों में रखी जा सकती हैं। वीरबालाएँ, शीलवती कुलांगनाएँ और ईर्ष्यालु। इस प्रकार जीवन के विविध रूपों से अपने चरित्रों का चयन किया है। भट्ट जी को नाटक लिखने की प्रेरणा प्रतिभा या जीवन-दर्शन के द्वारा नहीं मिली, जैसी कि हम प्रसाद, प्रेमी और मिश्र जी के नाटकों में देखते हैं। नाट्य-कला की दृष्टि से इनके नाटक शिथिल हैं। इनकी भाषा शैली भी नाटक के लिए बहुत उपयुक्त नहीं है जिनमें स्वगत कथनों का अनावश्यक विस्तार नाटक को नीरस बना देता है। इनके नाटकों में अधिकांश गीतों का समावेश भी निरर्थक है। इनके कथोपकथनों में व्यर्थता का भी दोष है। इसलिए नाट्य-शिल्प की दृष्टि से भट्ट जी के नाटक अधिक सफल नहीं कहे जा सकते हैं यद्यपि यह कहा जा सकता है कि इनके नाटकों में कलात्मक विकास हुआ है। उनमें कार्य-व्यापार की कमी है। दृश्य-विधान भी कहीं-कहीं जटिल और अनुचित हैं और भाषा भी बोझिल और आलंकारिक है। फिर भी नाटकीय साहित्य के सृजन में भट्ट जी का योग महत्त्वपूर्ण है।

सेठ गोविन्द दास—भारत के राष्ट्रीय क्षेत्र में कर्मठ कार्यकर्त्ता और हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर प्रतिष्ठित करने में अथक परिश्रम करने वाले सेठ गोविन्ददास हिन्दी के नाट्य साहित्य के क्षेत्र में भी बहुत अधिक कार्य करने वाले व्यक्ति हैं। इन्होंने काफी संख्या में नाटकों की रचना की है। इनके नाटकों के क्षेत्र भी पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक हैं। पौराणिक क्षेत्रों के नाटकों में भी आधुनिकता भरने का इन्होंने प्रयत्न किया है। सेठ जी ने एकांकी नाटकों की भी रचना की है। इन्होंने सन् १६३५ ई० से नाटक लिखना प्रारम्भ किया। इनके लिखे हुए नाटक ये हैं—हर्ष, प्रकाश, कर्तव्य, सेवापथ, कुलीनता, विकास, शशिगुप्त, दुःख क्यों ?, कर्ण, महत्व किसे ?, बड़ा पापी कौन ?, दलित

कुसुम, पतित सुमन, हिंसा या अहिंसा, सन्तोष कहाँ ?, पाकिस्तान, त्याग या ग्रहण, नवरस, सिद्धान्त स्वातंत्र्य, आदि। सेठ गोविन्द दास ने अपने नाटकों में जिन सामाजिक समस्याओं को लिया है, वे ऊपरी हैं। गहरी और वास्तविक तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओं का विश्लेषण इनकी रचनाओं में कम मिलता है।

सेठ जी के नाटकों के पात्र विभिन्न श्रेणियों के हैं और अधिकांश में विभिन्न स्वरूपों को ले कर प्रकट हुए हैं। क्या पुरुष, क्या नारी, दोनों ही पात्रों में विविधता दिखलाई देती है। इन्होंने अपने नाटकों में अधिकांशतया दैवी चरित्रों को मानव भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। कला की दृष्टि से इनके नाटक सामान्यतया अभिनेय हैं। फिर भी नाटकों के बीच आई हुई कुछ बातें ऐसी हैं जो दृश्य-चित्रण में अस्वाभाविकता और असम्भावना उपस्थित करती हैं। इनके कथोपकथन स्वाभाविक हैं लेकिन साधारण श्रेणी के हैं। छोटे होने के कारण संवादों में ओज और प्रवाह की प्रायः कमी दीखती है। आकस्मिकता और कुतूहल का भी प्रायः अभाव ही है। इनके नाटकों में आये कुछ गीत निश्चित रूप से सुन्दर हैं। कार्य व्यापार की तीव्रता बहुत कम नाटकों में मिलती है। इनके नाटक उपयुक्त आकार के हैं और कुछ नाटक प्रभावोत्पादक हैं। चरित्र-चित्रण में लेखक ने परिश्रम किया है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—व्यक्तित्व और साहित्य दोनों के क्षेत्र में विविधता को ले कर आने वाले श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' हिन्दी नाट्य साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अश्क जी कवि, कहानीकार और उपन्यासकार भी हैं और लगभग सभी क्षेत्रों में इन्होंने अपना एक स्थान बना लिया है। अश्क जी उर्दू के क्षेत्र से हिन्दी में आये। इसलिए इनकी भाषा और शैली बड़ी चलती हुई है। अश्क जी के लिखे हुए नाटक हैं—जय पराजय, स्वर्ग की झलक, कैद और उड़ान, छठा बेटा, आदि मार्ग, अलग अलग रास्ते, पैंतरे आदि। नाटक रचना 'अश्क' जी ने सन् १९३७ से प्रारम्भ की और क्रमशः इनके नाटकों में प्रौढ़ता और प्रभाव के दर्शन होते हैं। इन्होंने 'जय पराजय' को छोड़ कर सभी नाटक सामाजिक लिखे हैं, अतएव समकालीन जीवन की यथार्थता और नवीन चेतनाओं का चित्रण इनके नाटकों में हैं। अश्क जी के दृश्य चित्रण में आकस्मिकता के साथ साथ प्रभाव और गतिशीलता भी है। संक्षिप्त और नपी तुली शब्दावली में किसी पात्र के व्यक्तित्व को उभार देने की कला में अश्क जी बहुत सफल हैं। इस प्रकार नाटकों में आया इनका चरित्र-चित्रण काफ़ी जोरदार है।

अश्क जी के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने अभिनय-

कला का काफी ध्यान रख कर अपने नाटक लिखे हैं और पूर्ववर्ती लेखकों की कमियों और त्रुटियों से बचने का भी प्रयत्न इन्होंने किया है। अभिनय-कला-संबंधी इन्होंने नये प्रयोग भी किये हैं और इस संबंध में सूक्ष्म बारीकियाँ भी प्रकट होती हैं। इनकी भाषा सधी हुई और प्रभावशालिनी है। उसका सबसे बड़ा गुण है चुस्ती। इनके दृश्यों और चरित्रों के चित्रण में जो स्वाभाविक गतिशीलता रहती है वह इन्हें एक सफल नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित करती है। अश्क जी से हिन्दी संसार को बड़ी आशाएँ हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा—श्रीवृन्दावनलाल वर्मा यों तो एक ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हैं, परन्तु नाटक के क्षेत्र में भी आपने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वर्मा जी ने अपने नाटकीय कथानक को इतिहास और समाज से चुना है और स्वाभाविकता एवं विश्वसनीयता का गुण इनके नाटकों में पाया जाता है। इनके लिखे नाटक हैं—राखी की लाज (१९४३), फूलों की बोली (१९४७), बाँस की फाँस (१९४७), काश्मीर का काँटा (१९४८), झाँसी की रानी (१९४८), हंस मयूर (१९४९), पायल (१९४९), मंगल सूत्र (१९४९), खिलौने की खोज (१९५०), पूर्व की ओर (१९५०), बीरबल (१९५०) आदि। इसके अतिरिक्त इन्होंने कई एकांकी भी लिखे हैं।

वर्मा जी के नाटकों में स्वाभाविकता और घटना-वैचित्र्य दोनों का गठ-बंधन हुआ है। इनके सामाजिक नाटकों में नित्यप्रति अनुभव में आने वाली घटनाओं और जीवन का चित्रण है। वर्मा जी ने नाटकों में परिस्थिति का संघर्षमय चित्रण नहीं किया। प्रायः घटना को ही प्रकट किया है। इस दृष्टि से इनके नाटकों में सरलता है, आधुनिक युग की जटिलता नहीं है। वर्मा जी के पात्र विविध प्रकार के हैं, परन्तु अपने नाटकों में उपन्यासों की भाँति यह महान चारित्रिक निर्माण नहीं कर सके। इनके नाटकों में आकस्मिकता और गतिशीलता दोनों ही हैं। इनका दृश्य विधान सरल तथा संवाद संक्षिप्त होने के कारण इनके नाटक अभिनय के लिए उपयुक्त हैं। भाषा भी इनकी पात्रोप-युक्त और चलती हुई है। चरित्र-चित्रण के प्रसंग में बहुत गहरा और सूक्ष्म विश्लेषण नहीं कर सके। ऐसा जान पड़ता है कि इन्होंने सर्वसाधारण के लिए अभिनयोपयोगी नाटकों की रचना की।

आधुनिक युग में नाटक को ले कर अनेक प्रतिभाएँ कार्य कर रही हैं जिनमें पृथ्वीनाथ शर्मा, रामकुमार वर्मा, अमृतलाल नागर, रघुवीर शरण 'मित्र', विष्णु प्रभाकर, जगदीशचन्द्र माथुर प्रमुख हैं।

एकांकी

एकांकी नाटक आधुनिक युग की देन है। यद्यपि संस्कृत के रूपक के दस भेदों में चार एकांकी नाटक हैं फिर भी परिस्थिति और प्रेरणा की दृष्टि से हिन्दी का एकांकी साहित्य पाश्चात्य 'वन ऐक्ट प्ले' (One Act Play) का ऋणी है। जिन आवश्यकताओं ने कथा के स्थान पर कहानी को जन्म दिया है उन्हीं आवश्यकताओं के वशीभूत हो कर एकांकी की उत्पत्ति और विकास आधुनिक युग में हुआ है।

एकांकी में एक ही घटना होती है जो कौतूहल की सृष्टि करती हुई चरम सीमा तक पहुँचती है। एकांकी में अनावश्यक घटना, कथोपकथन, पात्र में से कुछ नहीं आ सकता है। एकांकी की कथावस्तु जटिल नहीं हो सकती है। इसमें स्थल और काल का ऐक्य होना चाहिए। इन विशेषताओं को ले कर आधुनिक हिन्दी साहित्य में विभिन्न प्रकार के एकांकियों का विकास हुआ है। जो कथानक के आधार, भाव और शिल्प-विधि आदि के कारण अनेक वर्गों में रखे जा सकते हैं। आधुनिक युग में एकांकी का प्रारम्भ जयशंकर प्रसाद के 'एक घूँट' से माना जाना चाहिए। उसके बाद बहुत लम्बे समय तक एकांकी में प्रयोग नहीं हुए। उसके बाद प्रयोग की दृष्टि से भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवाँ' महत्त्वपूर्ण है। इसपर कथावस्तु और शैली दोनों ही की दृष्टि से पाश्चात्य प्रभाव है। वर्नर्ड शा और इब्सन के नाटकों का आधार और प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है।

हिन्दी एकांकी क्षेत्र में बहुत बड़ा कार्य **डा० रामकुमार वर्मा** का है। ये हिन्दी एकांकी के जन्मदाता कहे जाते हैं। इन्होंने स्वयं एकांकी लिखे और अन्य लोगों को भी प्रेरित किया। परन्तु, वर्मा जी के एकांकियों पर पाश्चात्य प्रभाव नहीं, वरन् भारतीय आदर्शों की प्रतिष्ठा है। अपने नाटकों में त्याग, दया, करुणा आदि के आदर्शों का चित्रण किया है। वर्मा जी के नाटक ऐतिहासिक एवं सामाजिक दोनों ही प्रकार के हैं। उनके अधिकांश सामाजिक नाटकों के पात्र मध्यवर्गीय हैं। वर्मा जी के नाटक अभिनय की दृष्टि से भी सफल हैं, परन्तु ऐसा लगता है कि जैसे उनमें साहित्यिकता और काल्पनिकता का विशेष पुट है और जीवन की यथार्थ अनुभूति और संघर्ष का चित्रण तथा समस्याओं की पकड़ कम। वर्मा जी का एकांकी साहित्य विस्तृत है। पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा, सप्तकिरण, रूप रंग आदि इनके नाटकों के संग्रह हैं।

उदयशंकर भट्ट भी एकांकी क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करनेवाले व्यक्तियों में से हैं। भट्ट जी का विचार ऐसा जान पड़ता है कि नाटक में सामाजिक उद्देश्य अवश्य होना चाहिए। इन्होंने अपने नाटकों में उच्च और मध्य वर्ग की विडम्बनाओं का चित्रण किया है। इनके एकांकी संग्रहों में अंधकार और प्रकाश, जीवन और संघर्ष, पर्दे के पीछे, समस्या का अंत, स्त्री का हृदय प्रमुख है।

हरिकृष्ण प्रेमी ने अपने एकांकियों में अधिकांश मध्यकालीन चित्र प्रस्तुत किये हैं। मध्यकालीन शौर्य, स्वाभिमान तथा आन पर मर मिटने का त्याग इनके नाटकों के विषय हैं। इनके एकांकी-संग्रहों में मंदिर और बादलों के पार, प्रकाश में आये हैं।

सेठ गोविन्ददास ने काफी संख्या में एकांकी भी लिखे हैं। इनके नाटकों में गांधीवादी विचार-धारा पाई जाती है। सामाजिक नाटकों में इन्होंने स्थूल रूप प्रस्तुत किया है और उसके सुलझाव की सतर्कता भी उनमें विद्यमान है, लेकिन अनुभूति की तीव्रता और मानसिक उलझन तथा द्वंद्व का चित्रण ये नहीं कर पाये। इनके एकांकी संग्रह हैं—पंचभूत, सप्तरश्मि, चतुष्पथ, अष्टदल, नवरस, एकादशी, स्पर्धा आदि।

उपेन्द्रनाथ अश्क जी की देन एकांकी के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने मध्यवर्गीय जीवन के चित्रों को बड़ी सजीवता के साथ प्रस्तुत किया है। पात्रों के चरित्रों में एक विशेष निखार प्रकट होता है। पारिवारिक जीवन की समस्याओं और मानसिक उलझनों का गहराई में पहुँच कर विश्लेषण किया है। ये बड़े होनहार एकांकीकार हैं। अश्क जी के एकांकी-संग्रहों में प्रमुख हैं—देवताओं की छाया में, तूफान से पहले, चरवाहे, पर्दा गिराओ पर्दा उठाओ आदि।

जीवन का—विशेषरूप से पौराणिक जीवन का—सजीव चित्रण करने वाले चतुरसेन शास्त्री के एकांकी भी बड़े रोचक हैं। इनके पौराणिक चित्रणों में भी एक विशेष दृष्टि के दर्शन होते हैं। इनके लिखे संग्रह हैं—अष्टमंगल, गांडीव दाह, क्षमा, जुआ, राधाकृष्ण, सत्यव्रत हरिश्चन्द्र, स्त्रियों का ओज, सीता राम आदि।

इनके अतिरिक्त अन्य एकांकीकारों में सद्गुरुशरण अवस्थी, गणेश-प्रसाद द्विवेदी और बेचन शर्मा उग्र ने भी उल्लेखनीय कार्य किया है। रंगमंच और रेडियो पर प्रयोग की दृष्टि से जगदीशचन्द्र माथुर और विष्णु प्रभाकर ने अपने नाटकों में नवीन सामाजिक रूप को प्रस्तुत किया है। लक्ष्मीनारायण

मिश्र, भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा के अनेक एकांकी नाटक अपना महत्त्व रखते हैं। इनके अतिरिक्त एकांकी नाटक के क्षेत्र में नवीन लेखकों में से उल्लेखनीय प्रयास धर्मवीर भारती, प्रेमनारायण टंडन, बालमुकुन्द मिश्र, रघुवीर शरण मित्र, राजाराम शास्त्री, विनोद रस्तोगी, विश्वम्भर मानव, हरिनारायण मणिवाल आदि का भी है।

रेडियो रूपक

आज के एकांकी नाटक रेडियो के प्रचलन के बाद अपना एक विशेष रूप ले रहे हैं, जो है रेडियो रूपकों का। इसमें दृश्यों के स्थान पर हमारी कल्पना को सजग करने वाले ध्वनि प्रभाव हैं। लगभग समस्त भारत के आकाशवाणी के केन्द्रों में शिल्पविधि का विकास चल रहा है। इनमें से कुछ तो सफल हैं और कुछ प्रयोगशील।

रेडियो रूपक के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य जगदीशचन्द्र माथुर, उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, अमृतलाल नागर, लक्ष्मीनारायण गुप्त आदि के हैं।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य का विकास

कथा-साहित्य के अंतर्गत उपन्यास का आधुनिक युग में विशेष महत्त्व-पूर्ण स्थान है। उपन्यास अपने वर्तमान रूप में गद्य-साहित्य का आधुनिक रूप कहा जाना चाहिए। यद्यपि प्राचीन संस्कृत साहित्य में उसके विविध रूप मिलते हैं जिनमें कथा और आख्यायिका प्रधान रूप हैं, फिर भी आधुनिक उपन्यास का स्वरूप-संगठन और विकास कुछ दूसरे रूप में हुआ है। प्राचीन कथा-साहित्य के अंतर्गत बृहत् कथा, पंचतंत्र, जातक कथाएँ, कथा सरित् सागर, दशकुमार चरित, कादम्बरी, हर्ष चरित, हितोपदेश, वैताल पचीसी, सिंहासन बत्तीसी, बृहत् कथा मंजरी, भोज प्रबंध आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

१६वीं शताब्दी तक कथा-साहित्य में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ। कथा-साहित्य का फिर विकास आधुनिक युग में हिन्दी गद्य साहित्य की प्रतिष्ठा के साथ प्रारम्भ होता है। सन् १८०० के आस-पास या १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कुछ कथा-सम्बन्धी साहित्य लिखा गया जिसमें इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी', लल्लूलाल जी की 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'माधोनल' और 'प्रेम सागर', सदल मिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान', मुंशी सदासुखलाल का 'सुख सागर', दाऊजी कृत 'नल प्रसंग' आदि प्रमुख हैं।

१९वीं शताब्दी के मध्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रवेश हुआ और इन्हीं के समय से हिन्दी उपन्यास का श्रीगणेश समझना चाहिए। भारतेन्दु ने स्वयं तो कथा-साहित्य के क्षेत्र में अधिक काम नहीं किया परन्तु अपने सहयोगियों को प्रेरणा दी। भारतेन्दु युग के उपन्यासकारों में लाला श्रीनिवास-दास, ठाकुर जगमोहन सिंह, पं० बालकृष्ण भट्ट, गौरीदत्त, कार्तिकप्रसाद, प्रतापनारायण मिश्र, गदाधर सिंह, रामकृष्ण वर्मा, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्ण दास, हरिऔध, उदितनारायण लाल, बदरीनाथ आदि प्रसिद्ध हैं।

लाला श्रीनिवासदास का प्रसिद्ध उपन्यास 'परीक्षा गुरु' जो कि १९वीं शताब्दी के अंतिम चरण में लिखा गया, नवीन ढंग का सब से प्रथम उपन्यास है। इसकी भाषा बोलचाल की है और इसका कथानक सुगठित एवं सरल है। यह एक सामाजिक उपन्यास है।

इस समय का दूसरा मौलिक उपन्यास **ठाकुर जगमोहनसिंह** का 'श्यामा स्वप्न' है जो कि चार यामों में बँटा है। यह एक काव्यमय उपन्यास है। इसका विषय प्रेम है। भावुकतापूर्ण कल्पना से यह ओत-प्रोत है। प्रकृति के सुंदर वर्णन हैं, परन्तु भाषा कवित्वपूर्ण है। यह स्वप्निल धरातल पर ही विचरण करने वाला उपन्यास है।

पं० बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' १८७७ में प्रकाशित हुआ था। इनका दूसरा उपन्यास 'सौ अजान एक सुजान' है। यह उपन्यास उपदेशात्मक अधिक है, यद्यपि भाषा-शैली में भट्ट जी का व्यक्तित्व झलकता है। 'नूतन ब्रह्मचारी' में एक युवक के नैतिक प्रभाव से एक डाकू के सुधर जाने की कथा है। कला की दृष्टि से ये रचनाएँ अनेकों अस्वाभाविकताओं से भरी हुई हैं।

सन् १८९० में **राधाकृष्ण दास** का 'निस्सहाय हिन्दू' प्रकाशित हुआ। यह एक विषादांत रचना है जिसका विषय है गोहत्या-निवारण। परन्तु इसका कथा-सूत्र अत्यंत दुर्बल है। इनकी भाषा अवश्य स्वच्छ और पात्रों के अनुसार है, तथा वर्णन-शैली स्वाभाविक है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' सन् १८९९ में लिखा गया। यह ठेठ भाषा के प्रयोग से युक्त है। यह एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक उपन्यास है। यद्यपि कला की दृष्टि से कुछ त्रुटियाँ अवश्य हैं। उपाध्याय जी का दूसरा उपन्यास 'अधखिला फूल' है।

अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तांत' सन् १८९३ में लिखा गया। यह संस्कृत कथा-साहित्य के ढंग पर है। यह विलक्षण दृश्यों से पूर्ण

है। कहीं-कहीं इसमें हास्य-विनोद का पुट है, किन्तु शैली आलंकारिक है। कहीं कहीं दृश्यों के सजीव वर्णन हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य साधारण महत्त्व के उपन्यास भी लिखे गये जिनमें उल्लेखनीय हैं, लज्जाराम शर्मा के 'धूर्त रसिकलाल' 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' और 'आदर्श दम्पति' आदि। कार्तिकप्रसाद खत्री के 'दीनानाथ', 'दलित कुसुम', 'रोशनआरा' आदि अनुवाद हैं। इनके अतिरिक्त प्रतापनारायण मिश्र, रामकृष्ण मिश्र, रामकृष्ण वर्मा, उदितनारायण और बदरीनाथ ने भी अनेक उपन्यासों का अनुवाद किया।

हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन **बाबू देवकीनन्दन खत्री** के आने पर हुआ। इनका प्रसिद्ध उपन्यास चन्द्रकांता सन् १८८७ में प्रथम बार प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास तिलिस्मी और अय्यारी उपन्यासों की परंपरा का श्रीगणेश करने वाला है। खत्री जी के इस प्रकार के तीन उपन्यास हैं—चन्द्रकांता (चार भाग) चन्द्रकांता संतति (२४ भाग) और भूतनाथ (२१ भाग)। चन्द्रकांता संतति ने उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में ऐसी धूम मचाई कि अनेक व्यक्तियों ने इसे पढ़ने के लिए हिन्दी भाषा सीखी। यह उपन्यास न जाने कितनी कथाओं का अद्भुत संगठन करता है और अनेक आकस्मिक घटनाओं से भरपूर है। कौतुक की मात्रा इस उपन्यास में अत्यधिक है। खत्री जी के विचारानुसार इस उपन्यास के पढ़ने से कोई जल्दी धोखे में न पड़ेगा। देवकीनंदन खत्री ने तिलिस्मी उपन्यासों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के भी उपन्यास लिखे; जो ये हैं—शैतान, नरेन्द्रमोहिनी, कुसुम कुमारी, वीरेन्द्र वीर, काल की कोठरी आदि। देवकीनन्दन के पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री भी इस परम्परा के महत्त्वपूर्ण लेखक हैं। इस प्रकार के उपन्यासों की भाषा बड़ी चलती हुई है और पात्र धूर्तता और अय्यारी से भरे हुए हैं।

इसी समय में वैचित्र्यपूर्ण घटना के प्रति लेखकों का ऐसा आकर्षण बढ़ा कि तिलिस्मी और अय्यारी के अतिरिक्त जासूसी उपन्यास भी लिखे गये। जासूसी उपन्यास के लेखकों में **गोपालराम गहमरी** अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने बँगला के दो उपन्यासों का अनुवाद भी किया है और जासूस नामक पत्र भी निकाला। इनके प्रसिद्ध उपन्यास—भानुमती, घटना घटाटोप, खूनी कौन है ? जमुना का खून, जासूस की भूल, जासूस की चोरी, अंधे की आँख, जालसाजी, दो बहिन आदि प्रसिद्ध हैं। जासूसी उपन्यासों के अतिरिक्त सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं। इन्होंने इस प्रकार पचीस-तीस उपन्यास लिखे होंगे।

भी उर्दू उपन्यास का हिन्दी रूपान्तर है।

प्रेमचन्द हिन्दी उपन्यास के सर्वश्रेष्ठ कृती हैं। इनके गोदान के पूर्ववर्ती उपन्यासों पर गांधीवादी विचारधारा का बहुत अधिक प्रभाव है और ये आदर्शवादी हैं परन्तु इनका अंतिम और सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' पूर्णतया यथार्थवादी धरातल पर खड़ा हुआ है। 'गोदान' संसार के उपन्यास-साहित्य में अपना स्थान रखता है। इनके कथासाहित्य की प्रगति को आदर्शोन्मुख यथार्थ कहना चाहिए। प्रेमचन्द के उपन्यासों में समकालीन जीवन की यथार्थ स्थिति का मार्मिक विश्लेषण हुआ है। भारतीय और विशेषरूप से हिन्दू समाज की समस्याओं, उलझनों, झूठी मर्यादाओं और पाखंडों को उन्होंने खोल कर रख दिया है, साथ ही साथ उनसे बचने का उपाय भी बताया है। इनका सामाजिक सुधार का दृष्टिकोण इतना तीव्र है कि ये कहीं-कहीं उपदेशक के रूप में भी आ गये हैं। समाज-सुधारक तो ये अधिकांश उपन्यासों में है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में विभिन्न घटनाओं का संगठन अपने स्वाभाविक ढंग पर रहता है। ऐसा जान पड़ता है कि हम वास्तविक जीवन के बीच विचरण कर रहे हैं। इनके पात्र अधिकांश मध्यम और निम्न वर्गों के हैं और वे इस तरह चित्रित किये गये हैं कि हमारे परिचित से लगते हैं। इनके पात्रों में प्रायः सभी वर्गों के प्रतिनिधि हैं। प्रेमचन्द के कुछ पात्र ऐसे हैं जो साहित्य में प्रसिद्ध हो गये हैं और ऐसा जान पड़ता है कि वे कोई ऐतिहासिक व्यक्ति हैं या हमारे समाज के देखे-सुने व्यक्ति हैं। इस प्रकार चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द को काफी सफलता मिली है।

प्रेमचन्द के कथोपकथन और वर्णन बड़े ही स्वाभाविक हैं। इन दोनों के कारण ही इनके उपन्यासों का पाठक पर यथार्थ घटना का सा ही प्रभाव पड़ता है। प्रेमचन्द सोद्देश्य लेखक हैं और अपने उद्देश्य में इनको काफी सफलता मिली है। अपने युग को इन्होंने एक विशेष चेतना प्रदान की। नगर-निवासियों को ग्रामीण जनता और जीवन के प्रति संवेदनशील बनाया और इस प्रकार दोनों के बीच की गहरी खाई को पाटने में प्रेमचन्द जी का महत्त्वपूर्ण हाथ है। साधारण जीवन और यथार्थ की धरती में से प्रेमचन्द जी ने अपने पात्र चुने और वे हमारे अपने सगे व्यक्ति बन गये।

प्रेमचन्द की शैली, इनके उपन्यासों के लक्ष्य-पूर्ण होते हुए भी गम्भीर और उदात्त नहीं है, वरन् स्वाभाविक रोचक और प्रभावशील है। हास्य-विनोद का पुट उसमें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। प्रेमचन्द की भाषा हिन्दी का आदर्श रूप हो कर आई जो एक साथ सर्वजन-सुलभ और प्रभावकारी है।

हिन्दी साहित्य प्रेमचन्द जी का अत्यन्त ऋणी है और उनका भारतीय एवं विश्व साहित्य में स्थान है। वे हिन्दी के गौरव हैं।

प्रेमचन्द का युग उपन्यास-साहित्य में आदर्शोन्मुख यथार्थ का था इसलिए अधिकांश लेखकों ने यथार्थ का चित्रण करते हुए आदर्श की ओर संकेत किया है। **जयशंकर प्रसाद** जो कि एक उत्कृष्ट कोटि के कवि एवं नाटककार हैं, उपन्यास-क्षेत्र में भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन्होंने तीन उपन्यास लिखे हैं—कंकाल, तितली, इरावती। कंकाल यथार्थवादी उपन्यास है और विकृत समाज का वर्णन करता है। कंकाल का कथानक बहुत सुसंगठित नहीं, फिर भी घटनाएँ सुश्रृंखलित हैं। इसके पात्र अपना निजी व्यक्तित्व नहीं प्रकट कर पाते। घटनाओं का भी प्रचुर मात्रा में समावेश है। इसी कारण चरित्र-चित्रण अधिक स्पष्ट नहीं हो सका। उपन्यास में वर्तमान-कालीन समस्याओं को चित्रित किया गया है।

तितली के चित्रण कंकाल की अपेक्षा अधिक आकर्षक हैं। इसमें भी घटना और पात्र काफी संख्या में है। परन्तु, घटनाओं का प्रवाह सरल और स्वाभाविक है, भाषा सुबोध है और कथोपकथन में कहीं-कहीं भावुकता का समावेश है। प्रसाद जी ने अपने उपन्यासों में कहीं कहीं अनावश्यक विवरण दे रखे हैं इस कारण इनके उपन्यासों में अनावश्यक विस्तार है।

इनका तीसरा उपन्यास इरावती है, जो अधूरा है। इसकी घटनाओं का समय ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी है। देशकाल के अनुसार इसमें बातें रखी गई हैं। जितना है, वह कथा-वस्तु संगठित है और कथोपकथन सुन्दर एवं स्वाभाविक है।

इसी समय के कथाकार **पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'** जी का आदर्श कथा साहित्य में प्रेमचन्द से साम्य रखता है। कौशिक जी के तीन उपन्यास हैं—माँ, भिखारिणी और संघर्ष। इनमें भी यथार्थ की पृष्ठभूमि में समाज-सुधार के संकेत हैं। 'कौशिक' जी के उपन्यासों में पारिवारिक जीवन के सुन्दर एवं सफल चित्रण हैं। घटनाओं की बहुलता पर 'कौशिक' जी विश्वास नहीं करते। इनका विशेष बल वार्तालाप पर रहता है। इनके वार्तालाप छोटे-छोटे सुरुचिपूर्ण और संयत हैं।

प्रेमचन्द-युग के हास्यपूर्ण उपन्यास-लेखक हैं **जी० पी० श्रीवास्तव।** इन्होंने विचित्र, जोशीली और विकृत घटनाओं के समावेश-द्वारा साधारण कोटि के हास्य-चित्रण का प्रयत्न किया है। यद्यपि इनके अधिकांश उपन्यास हास्य-प्रधान ही हैं, पर शिष्ट और उत्कृष्ट हास्य उनमें नहीं। इनका हास्य कुछ

भड़कीली किस्म का है। उपन्यासों के नाम हैं—लतखोरीलाल, उलट फेर, दुमदार आदमी, भय्या अकिल बहादुर, मार-मारकर हकीम, मर्दानी औरत, विलायती उल्लू, साहब बहादुर आदि। इन उपन्यासों में पात्रों के चरित्रों की विचित्र घटनाओं या विकृत वेशभूषा अथवा मानसिक विकृतियों के वर्णन द्वारा सस्ते हास्य का सम्पादन किया गया है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री का उपन्यास-लेखन काल काफी विस्तृत है। इन्होंने सन् १९२५ के आस-पास से लिखना प्रारम्भ किया था। इनके कई उपन्यास बड़े प्रसिद्ध हैं, जैसे वैशाली की नगर वधू और सोमनाथ। शास्त्री जी के उपन्यासों में कथा-संगठन, दृश्य-चित्रण और चरित्र-चित्रण सभी सुन्दर हैं। इन्होंने अनेक उपन्यास लिखे हैं जिनमें मुख्य हैं—हृदय की परख, हृदय की प्यास, आलमगीर, दो किनारे, नरमेध, पूर्णाहुति, बहते आँसू, वैशाली की नगर वधू, वयं रक्षामः, सोमनाथ। उपन्यास के क्षेत्र में इनकी कला का उत्तरोत्तर विकास हुआ है और ये आज भी गतिमान लेखक हैं।

बिहार के प्रसिद्ध कथा-साहित्यकार और कवि **राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह** कई उपन्यासों के लेखक हैं। राजा साहब की कृतियों में आदर्श एवं यथार्थ का विलक्षण समावेश है। इनके उपन्यासों में समाज को सचेत करने वाले तथ्य हैं। घटना-बाहुल्य के होते हुए भी मनस्थितियों का उनमें कहीं-कहीं सुन्दर चित्रण है। इनके उपन्यासों में निजी अनुभव की मार्मिकता प्रकट होती है। इनके उपन्यासों के नाम हैं—राम-रहीम, पुरुष और नारी, टूटा तारा, नारी क्या एक पहेली?, पूर्व और पश्चिम, सूरदास, संस्कार, देव और दानव, हवेली और झोपड़ी आदि। राजा साहब सरस और जोरदार लेखक हैं।

सुप्रसिद्ध कहानी-कार **पं० बदरीनाथ भट्ट 'सुदर्शन'** ने उपन्यास भी लिखे हैं। कुछ उपन्यास इन्होंने बँगला से अनुवाद किये और कुछ उर्दू में भी लिखे हैं। ये पहले उर्दू के लेखक थे और सन् १९१७-१८ में प्रेमचन्द के साथ हिन्दी-क्षेत्र में आये। इनकी भाषा बड़ी सजीव और चुटकीली होती है। प्रेमचन्द के समान ही इन्होंने यथार्थ के साथ आदर्श का संकेत किया है। इनके तीन उपन्यास मिलते हैं—देहाती देवता, भागवंती, और प्रेम पुजारिन।

आधुनिक हिन्दी के उत्कृष्ट महाकवि **पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'** ने उपन्यास के क्षेत्र में विशेष सफलता प्राप्त की है। इन्होंने सात उपन्यास लिखे हैं—अप्सरा, अलका, कुल्लीभाट, चोटी की पकड़, निरुपमा, बिल्लेसुर बकरिहा, प्रभावती। निराला जी के उपन्यासों में क्षेत्रीय ग्राम-जीवन के चरित्रों का सजीव चित्रण है। कुछ उपन्यास तो शब्द चित्र या स्केच जैसे

लगते हैं ? उपन्यासों में निराला जी ने चरित्र-चित्रण पर ही विशेष ध्यान केंद्रित किया है परन्तु इसमें वे बड़े सफल हैं। उपन्यासों में इनकी गद्यशैली बड़ी व्यंग्य और विनोद-पूर्ण है। कथोपकथन बड़े सजीव और स्वाभाविक हैं और दृश्य-चित्रण भी मार्मिक और यथार्थ। अपनी कविताओं में चाहे कितने दुरूह हों पर उपन्यासों में उनका मनोविनोदी-व्यक्तित्व झलकता दिखाई देता है।

विभिन्न सांस्कृतिक एवं धर्मों के स्तरों से अपना कथानक चुनने वाले **राहुल सांकृत्यायन** का उपन्यास-साहित्य बड़ा विस्तृत है। इन्हें प्रधानतया सांस्कृतिक और ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में ही लेना चाहिए। इन्होंने स्वयं अनेक धर्मों में दीक्षित हो कर उनका अनुभव प्राप्त किया है। राहुल जी का असली नाम केदारनाथ पांडेय था। इनका जन्म सन् १८९६ में हुआ था। घर में उर्दू फारसी पढ़ने के बाद बहुत दिनों तक हिमालय प्रदेश में घूमते रहे। फिर काशी में आ कर संस्कृत का अध्ययन किया और रामानुजी सम्प्रदाय में दीक्षित हो कर रामउदार दास के नाम से विख्यात हुए। उसके बाद इन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया, तब ये त्रिपिटकाचार्य महापंडित राहुल सांकृत्यायन हुए। सन् १९२१ के सत्याग्रह में ये जेल भी गये। राहुल जी ने अब तक लगभग ४० ग्रंथों की रचना की है। इनके कुछ ग्रंथ यात्रा और दर्शन से संबंध रखते हैं, परन्तु सबसे अधिक इन्होंने उपन्यास क्षेत्र में काम किया। इनकी प्रमुख कृतियाँ है—अनाथ, जय यौधेय, जादू का मुल्क, जीने के लिए, जो दास थे, दाखुन्दा, सिंह सेनापति, मधुर स्वप्न, विस्मृति के गर्भ में, सूदखोर की मौत, सतमी के बच्चे, शैतान की आँख, भागो नहीं दुनियाँ को बदलो, सोने की ढाल आदि।

राहुल जी ने अपने कथानकों में सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अनुसंधान भी किये हैं। उनके उपन्यासों के कथानक बड़े रोचक एवं मनोरम होते हैं। इनके वर्णन भी बहुत ही सुन्दर और रमणीय हैं जिनके भीतर चरित्र-चित्रण स्वाभाविक रीति से निखरता चला आता है। राहुल जी परम्परा के विरोधी हैं। इस कारण इन्होंने अनेक प्राचीन मान्यताओं के विपरीत बातें कही हैं और उन्हें प्रमाणित करने के लिए तथ्य ढूँढ़ निकालने की अद्भुत सूक्ष्म दिखलाई है। राहुल जी के उपन्यास-साहित्य का विशिष्ट महत्त्व है।

ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करने वाले श्री **वृन्दावनलाल वर्मा** हैं। वर्मा जी में ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की कुछ जन्मजात प्रतिभा है। ये झाँसी जिला के मऊरानीपुर ग्राम में सन् १८९०

में उत्पन्न हुए थे। इनके पितामह दीवान आनन्दराम सन् १८५८ में रानी लक्ष्मी-बाई की ओर से युद्ध करते हुए मारे गये थे। शिक्षा समाप्त करने के बाद वर्मा जी झाँसी में ही वकालत करने लगे थे। बचपन से ही इन्हें लिखने की बड़ी उत्कट इच्छा थी जो कि इनके पिता के निर्देशन से अध्ययन में लगती रही। फिर भी सोलह सत्रह वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने कई नाटक लिखे। सन् १९१० से इनकी कहानियाँ सरस्वती में छपने लगीं। तभी महात्मा बुद्ध का जीवन-चरित्र भी लिखा था। वर्मा जी अध्ययनशील, संगीत-प्रेमी और शिकार के शौकीन हैं। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के कथानक का संकलन इन्होंने अध्ययन-द्वारा ही नहीं किया वरन् वास्तविक घटनास्थलों पर जा कर और वृत्त-संग्रह करके तैय्यार किया है। इसलिए ये यात्रा-प्रेमी भी हैं। वर्मा जी ने कहानियाँ और नाटक भी लिखे हैं परन्तु सबसे अधिक उन्होंने उपन्यास के क्षेत्र में काम किया।

वर्मा जी ने सन् १९२७ से उपन्यास लिखना शुरू किया है और तब से अब तक लगभग दो दर्जन उपन्यास लिखे हैं जिनमें से प्रकाशित के नाम ये हैं—गढ़ कुंडार, संगम, लगन, प्रत्यागत, कुंडली चक्र, विराटा की पद्मिनी, कभी न कभी, मुसाहिबजू, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, सत्रह सौ उन्तीस, अचल मेरा कोई, टूटे काँटे, मृगनयनी, सोना, अहिल्याबाई, अमर बेल, महादजी सिंधिया, राणा साँगा, भुवन विक्रम, प्रेम की भेंट आदि।

वृन्दावनलाल वर्मा को अतीत की घटनाओं से विशेष मोह है। इसका कारण यह है कि इन्होंने इतिहास का अध्ययन भी किया है और ऐतिहासिक सत्यता का अनुभव भी। अनेक स्थानीय ऐतिहासिक वृत्तों का संचय कर इन्होंने अपनी कल्पना से उन्हें सुन्दर उपन्यासों के रूप में विकसित किया है। वर्मा जी के अधिकांश उपन्यास बुन्देलखण्ड के इतिहास से सम्बन्ध रखते हैं जहाँ के वे स्वयं निवासी हैं। अतएव इन उपन्यासों के अन्तर्गत स्थानीय परिस्थिति, प्राकृतिक दृश्यों तथा संस्कृति और समाज के उनके चित्रण पूर्ण यथार्थता लिये हुए हैं। इनके ऐतिहासिक उपन्यासों की प्रेरणा उदात्त राष्ट्रीय भावना से विकसित हुई है जिससे इन्होंने स्थानीय इतिहासों के महत्त्वपूर्ण चरित्रों का उद्घाटन करके इतिहासकारों को भारतीय इतिहास के नवीन निर्माण का संकेत किया है। न केवल दृश्य-चित्रण में ही वर्मा जी सफल हैं, वरन् इनके चरित्र-चित्रण भी यथार्थ, रोचक और ज़ोरदार हैं। उसमें मानव-जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन इन्होंने किया है। इस प्रकार वर्मा जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासकार ठहरते हैं।

गांधीवादी विचार-धारा से प्रभावित और राष्ट्रीय नैतिकता का सन्देश देने वाले **पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी** जी की उपन्यास साहित्य में महत्त्वपूर्ण देन है। वाजपेयी जी कविता, कहानी और नाटक सभी साहित्यिक क्षेत्रों में कार्य करने वाले व्यक्ति हैं। इनके द्वारा लिखे हुए प्रमुख उपन्यास ये हैं :— गुप्त धन, दो बहनें, धरती की साँस, निमन्त्रण, उतार चढ़ाव, खाली बोतल, चलते चलते, प्रेम पथ, पतिता की साधना, मनुष्य और देवता, यथार्थ से आगे, विराग, पतवार, भूदान। वाजपेयी जी अपने उपन्यासों में सामाजिक नैतिकता ले कर चलने वाले व्यक्ति हैं। कथानक-संगठन इनका बहुत जटिल न हो कर सरल और सुसंगठित होता है, क्योंकि पात्रों में भी अधिकांश सरल और निश्चित भावना के व्यक्तित्व मिलते हैं, फिर भी उनमें चरित्र की विशेषता देखने को मिलती है। इनके पात्र अधिकांशतः किसी आदर्श से प्रेरित रहते हैं और इस दृष्टि से इन्हें प्रेमचन्द के ही वर्ग के उपन्यासकर मानना चाहिए।

आधुनिक युग में उपन्यास की धारा ने कई प्रवृत्तिगत मोड़ ले लिये हैं। जिनके अनुसार हम मनोवैज्ञानिक, गांधीवादी, नव संस्कृतिवादी, प्रगतिवादी आदि वर्ग कर सकते हैं। और इन सभी प्रवृत्तियों के अन्तर्गत उपन्यास साहित्य का बड़ा व्यापक विकास हो रहा है। अनेक नये लेखक उपन्यास के क्षेत्र में अपनी होनहारता को प्रमाणित करते हुए जान पड़ते हैं। इनमें से विशेष उल्लेखनीय नाम अनूपलाल मंडल, अज्ञेय, अमृतराय, अमृतलाल नागर, ओंकार शरद, इन्द्र विद्यावाचस्पति, इलाचन्द्र जोशी, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, ऊषा देवी मित्रा, ऋषभचरण जैन, कंचनलता सब्बरवाल, बलदेवप्रसाद मिश्र, गुरुदत्त, गोविन्दवल्लभ पन्त, देवराज, देवीप्रसाद धवन 'विकल', नागार्जुन, धर्मवीर भारती, पहाड़ी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, उग्र, भगवतीचरण वर्मा, यज्ञदत्त शर्मा, यशपाल, रघुवीरशरण मित्र, रांगेय राघव, रामचन्द्र तिवारी, रामवृक्ष बेनीपुरी, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', लक्ष्मीनारायण लाल, विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त, सर्वदानन्द वर्मा, श्रीराम शर्मा, हंसराज रहबर, जैनेंद्र आदि हैं। इनमें से कुछ लोग उपन्यास शिल्प सम्बन्धी नवीन प्रयोग भी कर रहे हैं। इनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय यहाँ दे रहे हैं।

इलाचन्द्र जोशी आधुनिक हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। ये कवि और कहानीकार भी हैं। इनके उपन्यास लगभग सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट और प्रभावकारी होते हैं। इनके द्वारा लिखे हुए प्रमुख उपन्यास हैं—घृणा-मयी, प्रेत और छाया, निर्वासित, पर्दे की रानी, मुक्तिपथ, लज्जा, सुबह के

भूले, जिप्सी, संन्यासी आदि। इनका संन्यासी उपन्यास बड़ा सुन्दर है। इसमें सुन्दर मनोविश्लेषण और मानसिक स्थिति का चित्रण हुआ है। यह मानव-जीवन सम्बन्धी अनेक ग्रंथियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

स्वच्छंतावादी, मधुमस्ती के गायक और प्रगतिशील कवि **भगवती-चरण वर्मा** प्रसिद्ध उपन्यासकार भी हैं। वास्तव में इनका रूप कवि, कहानीकार उपन्यासकार तीनों में ही सफल हुआ है। वर्मा जी के उपन्यासों में जीवन का एक जिज्ञासापूर्ण यथार्थवादी विश्लेषण हुआ है। उनके दृश्य-चित्रण और चरित्र बड़े सजीव हैं। ये सामाजिक उपन्यासों के लिखने में सफल हैं। इनके लिखे हुए उपन्यास पतन, चित्रलेखा, आखिरी दाँव, तीन वर्ष, टेढ़े मेढ़े रास्ते आदि हैं। चित्रलेखा में नैतिक दृष्टिकोण की जिज्ञासा चित्रित हुई है। परन्तु जिस युग का यह कथानक है उसकी वास्तविक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भलीभाँति प्रकट नहीं हो सकी। फिर भी आंतरिक उलझन और समस्या के यथार्थ रूप के चित्रण में लेखक सफल हुआ है। वर्मा जी का 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' उपन्यास भी बड़ा प्रभावकारी है।

प्रसिद्ध नाटककार **गोविन्दवल्लभ पन्त** ने उपन्यास के क्षेत्र में भी काफी रचनाएँ की हैं। इनके उपन्यासों में कथानक की स्वाभाविकता का आकर्षण है। इनके लिखे उपन्यासों के नाम ये हैं—मदारी, प्रतिभा, जुलिया, नूरजहाँ, अमिताभ, चक्रकांत, प्रगति के राह पर, मुक्ति के बंधन, नौजवान, यामिनी, अनुरागिनी, जलसमाज, तारिका आदि।

जैनेन्द्र कुमार हिन्दी के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक दार्शनिक उपन्यासकार हैं। इनके लिए जीवन के गम्भीर और आंतरिक पहलू का उद्घाटन ही साहित्य का लक्ष्य बन बैठा है। यद्यपि ये जैन धर्म और गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित हैं फिर भी धार्मिक और राजनैतिक स्थितियों का प्रयोग इन्होंने साहित्य-सृजन के लिए किया है। उपन्यास के क्षेत्र में मानसिक विश्लेपण का इन्होंने मार्ग खोल दिया है। इनके चित्रणों में भावुकतापूर्ण तर्क का समावेश रहता है। किसी पात्र के विशिष्ट चरित्र को उस सीमा तक ले जाने की ये क्षमता रखते हैं जहाँ तक वह असम्भव न हो जाय। इसलिए उनके चारित्रिक विश्लेषणों में हमें ऐसा लगता है कि जैसे यह हमें उस क्षेत्र का नवीन ज्ञान दे रहे हों। इनके उपन्यासों में कौतूहल घटनात्मक नहीं होता, वरन् आंतरिक व्यापार के उद्घाटन की जिज्ञासा के रूप में आता है। इस क्षेत्र में जैनेन्द्र जी का कार्य अद्वितीय है। सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण में भी ये इसी प्रकार अज्ञात क्षेत्रों का उद्घाटन करते हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेपणों में ये कहीं-कही

अधिक जटिल भी हो जाते हैं।

जैनेन्द्र जी के अधिकांश आदर्श चरित्र प्रायः विलक्षण की सीमा तक पहुँच जाते हैं। इन्होंने अपने उपन्यासों में नारी-समस्या को भी प्रमुख स्थान दिया है। पुरुष के लिए नारी एक समस्या है। नारी के इस मायामय स्वरूप का अनेक स्थलों पर इन्होंने परिचय दिया है। जटिल होते हुए भी इनके उपन्यास अद्भुत रोचकता रखते हैं। इनकी भाषा-शैली संक्षिप्त, सरल, संकेतात्मक और समर्थ है। इनके प्रमुख उपन्यास हैं—कल्याणी, त्यागपत्र, परख, सुखदा, सुनीता, व्यतीत, विवर्त आदि।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने भी बहुत अधिक संख्या में उपन्यास लिखे हैं। इनके उपन्यासों में समाज के यथार्थ चित्र रहते हैं। इन्होंने अपने कुछ उपन्यासों में जीवन के ऐसे पक्ष को लिया है जो यथार्थ होते हुए भी उपेक्षित रहा है। इनके कई उपन्यास सुन्दर हैं। चरित्र-चित्रण भी अच्छा रहता है। इनके लिखे उपन्यास ये हैं—पाप की ओर, विदा, विकास, विजय, विसर्जन, सन् ४२ आदि।

उपेन्द्रनाथ अश्क का नाम नाटक-क्षेत्र की भाँति उपन्यास-क्षेत्र में भी प्रसिद्ध है। चरित्र-चित्रण का चटकीलापन पात्रगत विशेषताओं की रेखाओं का स्पष्ट उभार, संयत पृष्ठभूमि और चुस्त प्रभावपूर्ण वार्तालाप अश्क जी की कला की विशेषताएँ हैं। अश्क जी के कई उपन्यास निकल चुके हैं और इनकी कला अधिक से अधिकतर प्रौढ़ होती जाती है। इनके लिखे उपन्यास ये हैं—गर्म राख, रंगसाज, सितारों का खेल, बड़ी बड़ी आँखें, गिरती दीवारें, चेतन आदि।

अञ्चल जी के उपन्यासों में सामाजिक नव-निर्माण के चित्र हैं। स्वाभाविक अनुभूतियों की पृष्ठभूमि के साथ इन्होंने युग की चेतना को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

उपन्यास के क्षेत्र में विशिष्ट नाम अज्ञेयजी का है। **सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'** की विशेष ख्याति उनके उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' से हुई है। 'शेखर : एक जीवनी' एक क्रान्तिकारी उपन्यास है। इस उपन्यास का विषय जन्म से ले कर मृत्यु तक विस्तृत है। उपन्यास के क्षेत्र में यह एक नया प्रयोग है जो प्रयोगवादी अज्ञेय के लिए सहज है। अनेक लोगों के विचार से यह एक अहंवादी उपन्यास है। परन्तु वास्तव में यह उपन्यास आत्मकथा है। इसमें जीवन के सम्बन्ध में विशिष्ट दृष्टिकोणों का चित्रण हुआ है। अज्ञेय जी का दूसरा उपन्यास है 'नदी के द्वीप'। यह भी इनकी

महत्त्वपूर्ण कृति है। अज्ञेय जी एक प्रतिभा-संपन्न लेखक हैं। इनपर आधुनिक युग के बुद्धिवाद और प्रतीकवाद का प्रभाव है।

हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में अपनी रचनाओं-द्वारा नवयुग की चेतना का प्रभाव डालने वाले तथा क्षीण परंपराओं और रूढ़ियों का खंडन करने वाले **यशपाल जी** इस क्षेत्र में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। यशपाल जी के उपन्यास अधिकांश सामाजिक भूमि पर हैं। एकाध में इन्होंने ऐतिहासिकता का आभास दिया है। यशपाल जी जीवन की नैसर्गिक एवं सहज भावनाओं के अप्रतिहत विकास के पक्ष में हैं। इनका दृष्टिकोण साम्यवादी है। इनकी कुछ रचनाओं में इनके इस दृष्टिकोण का प्रचारवादी रूप भी झलक जाता है। फिर भी यशपाल जी प्रमुखतया संयत कलाकार हैं। दृश्यावली का औचित्य, वार्तालाप की स्वाभाविकता, चरित्र-चित्रण की स्वाभाविक तथा उद्देश्य की व्यंजना सब मिल कर इनके उपन्यासों को बड़ा ही प्रभावशाली रूप प्रदान करते हैं। नित्य प्रति के अनुभूत जीवन की मर्मस्पर्शिता इनके चित्रणों में बराबर रहती है जो कि इनके उपन्यास को एक नव्यता और ताज़गी प्रदान करती है। राजनीतिक और सामाजिक संघर्ष के जीवन का भी इन्होंने चित्रण किया है। ये युग की चेतना का चित्रण ही नहीं, वरन् उसका मार्ग-प्रदर्शन कला-द्वारा करने के पक्षपाती हैं। यशपाल जी के लिखे हुए उपन्यास हैं—दादा कामरेड, देशद्रोही, पार्टी कामरेड, दिव्या, मनुष्य के रूप आदि।

बहुत अधिक लिखने का उत्साह और प्रतिभा ले कर उपन्यास क्षेत्र में आने वाले **रांगेय राघव** हैं। जीवन की भीषण विकृति, समस्या एवं उलझन-ग्रस्त यथार्थता के चित्रण में इनके उपन्यास बड़े सफल हैं। थोड़े ही समय में इन्होंने अनेक उपन्यास लिख कर ख्याति प्राप्त कर ली है। इनके उपन्यासों के कथानक विविध भूमियों से लिये गये हैं जिनका ये सुन्दर उद्घाटन करते हैं। वर्णन और चरित्र-चित्रण भी इनके बड़े यथार्थ और रोचक लगते हैं। इनके उपन्यासों में कुतूहल घटना और चरित्र दोनों ही द्वारा संपादित हुआ है। इनकी भाषा परिस्थिति और पात्र के अनुकूल चलती है। वार्तालाप स्वाभाविक हैं। इनके लिखे उपन्यास हैं—उबाल, काका, घरौंदे, चीवर, देवकी का बेटा, प्रतिदान, पराया, मुर्दों का टीला, भारती का सपूत, यशोधरा जीत गई, रत्ना की बात, लोई का ताना, विषादपथ, सीधा सादा रास्ता, हुज़ूर, आदि।

लखनऊ की नवोदित औपन्यासिक प्रतिभा के रूप में श्री अमृतलाल नागर का नाम हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में उल्लेखनीय है। इन्होंने अभी अधिक उपन्यास नहीं लिखे, परन्तु इनकी सबसे बड़ी विशेषता है, वैयक्तिक

चित्रों द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक रंग। इनकी कृतियों में व्यक्ति की रहन-सहन, चाल-ढाल, बातचीत विशिष्ट होती हुई भी किसी वर्ग या समाज की संस्कृति की प्रतिनिधि बनती जाती है। लखनऊ की नवाबी संस्कृति के नागर जी विशेषज्ञ हैं और उसके चित्रण इनके बड़े ही मनोमोहक हैं। उपन्यास के क्षेत्र को अभी इन्होंने छुआ ही है। इनसे भव्य सांस्कृतिक उपन्यासों की आशा हिन्दी संसार करता है। इनके रचे हुए उपन्यास हैं—पाँचवाँ दस्ता, नवाबी मसनद, सेठ बाँकेमल, महाकाल आदि। इनके कथोपकथनों में एक चुभता और छिटकता हुआ हास्य-व्यंग्य खिलता चला जाता है। ये सुंदर हास्य-लेखक भी हैं।

हिन्दी कथा-साहित्य के क्षेत्र में अनेक नवोदित उपन्यासकार भी प्रयत्नशील हैं। उपन्यास का भंडार विविध प्रवृत्तियों की रचनाओं से भरा जा रहा है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि उनमें भारतीय समाज के नव-निर्माण की प्रेरणा और आदर्शों का रूप विस्मृत न होने पाये। लगता तो यही है कि नयी पीढ़ी के लेखक इस ओर सजग और सचेष्ट हैं।

हिन्दी-कहानी-साहित्य का विकास

हिन्दी-कहानी का वर्तमान रूप आधुनिक युग की देन है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु हिन्दी कहानी की आधुनिक युग के पहले भी परंपरा थी, यह भी एक तथ्य है। आज की कहानी का रूप लिखित है; परन्तु कहानी अपना नाम सार्थक करती है जब वही कही जाये। कहानी का यह कहा जाने वाला रूप युगों से हमारे बीच प्रचलित था और आज भी प्रचलित है। हिन्दी की लिखित कहानी का प्रारंभ कहाँ से माना जाय? प्रश्न यह है। लिखित कहानी का विकास तभी हुआ जब पत्र-पत्रिकायें निकलने लगीं और गद्य साहित्य का लिखित रूप में विकास हुआ। इस दृष्टि से बहुत से लोगों में मतभेद है कि हिन्दी की प्रथम कहानी किसे मानना चाहिए। कुछ लोग हिन्दी की प्रथम कहानी 'सरस्वती' में १६०० ई० में किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा लिखित इंदुमती को मानते हैं। परन्तु कुछ लोगों का मत यह है कि प्रथम कहानी 'रानी केतकी की कहानी' है जिसका नाम भी कहानी है और जो इंशाअल्ला खाँ के द्वारा लिखी हुई 'हिन्दी' की रचना है। यह सामान्यतया ४० पृष्ठों तक जाती है, जब कि उसी आकार प्रकार में लिखी जाने पर 'इंदुमती' और 'ग्यारह वर्ष का समय' बीस और पच्चीस पृष्ठों से कम में न समायेंगी। 'केतकी की कहानी' के आठ पृष्ठ भूमिका के हैं और कम से कम छः सात पृष्ठ गीतों और पद्यों के निकल जाते हैं। इस प्रकार यह कहानी भी यदि आधुनिक ढंग से कही जाय तो

बीस पृष्ठों में आ जायगी। जहाँ तक पुरानेपन का विचार है, प्रेमचन्द की कहानियाँ भी बहुत सी इसी शैली में लिखी गई हैं। अतः हमें यही मानना चाहिए कि यह मौखिक परंपरा की—जो परंपरा बड़ी दीर्घ है—लिखित कहानी है; परन्तु है वह कहानी ही; उपन्यास नहीं है; क्योंकि अनेक और विविध कथानकों का उसमें समावेश नहीं और न परिस्थितियों के ही चित्रण की व्यापकता है। अतः हिन्दी कहानी के लिखित रूप का प्रारंभ 'रानी केतकी की कहानी' से ही मानना चाहिए।

इसी परंपरा में आने वाली कहानियाँ भारतेन्दु युग में १९वीं शताब्दी में लिखी गई और भी हैं। इंशा की कहानी का रचना-काल १८०० ई० के आसपास है। इंशा की मृत्यु १८१८ में हुई थी। इनके और सन् १९०० ई० के बीच जब कि इंदुमती प्रकाशित हुई, कहानी की कोटि में आने वाली रचनायें हैं—राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की लिखी 'राजा भोज का सपना', 'वीरसिंह का वृत्तान्त' और 'आलसियों का कोड़ा' तथा भारतेन्दु कृत 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' आदि। भारतेन्दु युग में अन्य कहानियाँ नहीं मिलतीं।

कहानी तथा गद्य साहित्य के विकास में 'सरस्वती' के प्रकाशन का महत्त्व-पूर्ण योग है। सन् १९१६ तक अर्थात् प्रेमचन्द के कहानी क्षेत्र में आने तक 'सरस्वती' में तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में जिन लोगों की कहानियाँ प्रकाशित होती थीं उनमें से कुछ प्रमुख नाम हैं—किशोरीलाल गोस्वामी, मास्टर भगवान दास, रामचन्द्र शुक्ल, गिरिजादत्त वाजपेयी, वंग महिला, वृन्दावनलाल वर्मा, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जयशंकर प्रसाद, जी० पी० श्रीवास्तव, विश्वम्भरनाथ जिज्जा, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', ज्वाला-दत्त शर्मा, चतुरसेन शास्त्री आदि। ये कहानी-लेखक विभिन्न प्रवृत्तियों के लेखक माने जा सकते हैं। कुछ तो घटना-प्रधान कहानियाँ हैं, कुछ चरित्र-प्रधान, कुछ कल्पना-प्रधान और कुछ रोमांटिक। प्रेमचन्द के कहानी-क्षेत्र में आने पर यथार्थवादी सामाजिक कहानियों की सृष्टि प्रारम्भ हुई। कहानियों में विचित्रता और विशिष्टता के स्थान पर सामान्य और अनुभूत का चित्रण सामने आया। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण यथार्थ का इस प्रकार चित्रण करना है कि उसमें आदर्श का संकेत मिल जाय और चरित्रों को इस प्रकार रखा जाय कि हम उन्हें अपने परिचित और अनुभव से टकराए हुए व्यक्तियों की भाँति पहचान कर कह सकें कि हाँ ऐसे लोग होते हैं।

प्रेमचन्द की कहानियों में ऐसी बात नहीं कि घटना और आकस्मिकता

को स्थान न दिया गया हो, लेकिन उनकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने हमारे भीतर सामान्य चरित्रों और नित्य प्रति के देखे सुने जीवन में रोचकता भर दी। प्रेमचन्द ने इस प्रकार कहानी-कला को सामान्य धरातल पर उतारा जिसके परिणाम स्वरूप एक बहुत बड़ी संख्या कहानीलेखकों की तैयार हो गई। प्रेमचंद के साथ लिखने वाले और प्रेमचंद के दृष्टिकोण से प्रभावित होने वाले वे भी कलाकार हैं जिनके नाम पहले लिये जा चुके हैं, जैसे 'कौशिक', चतुरसेन शास्त्री, ज्वालादत्त शर्मा आदि।

प्रेमचंद के साथ और उनके बाद कहानी के क्षेत्र में पदार्पण करने वाले कहानी लेखकों में प्रमुख हैं—पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, गोविन्द-वल्लभ पंत, सुभद्राकुमारी चौहान, राय कृष्णदास, चंडीप्रसाद 'हृदयेश', सुदर्शन, बेचनशर्मा उग्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, कृष्णकांत मालवीय, वाचस्पति पाठक, निराला, गोपालराम गहमरी आदि।

प्रेमचंद की कहानियाँ कथाशिल्प की दृष्टि से सरल जन-सुलभ हैं। उनमें कोई जटिलता नहीं है और समाज और व्यक्ति का सामान्य चित्रण प्रस्तुत करती हैं। अतएव प्रेमचंद के उपरांत कहानी के क्षेत्र में ऐसे लेखकों का आगमन हुआ कि जिन्होंने कहानी की कला और शिल्प में कुछ विशेष प्रयोग किये। ये प्रयोग चरित्र-चित्रण और अभिव्यंजना तथा उद्देश्य के क्षेत्रों में स्पष्ट देखने को मिलते हैं। चरित्र-चित्रण के प्रसंग में कहानियों के अंतर्गत धीरे-धीरे अधिक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आ गये। जिससे कि किसी चरित्र की मानसिक उलझनपूर्ण स्थिति की व्याख्या की जाने लगी। इस दिशा में जैनेन्द्र अग्रणी हैं।

दूसरे प्रकार के प्रयोग अज्ञेय जी के हैं। इनकी कुछ कहानियों में तो क्रांतिकारी ज्वाला की लपटें प्रकट हुई हैं। ये कहानियाँ सामाजिक और राजनीतिक हैं परन्तु आगे चल कर इनकी भावुकता प्रयोगवादी प्रतीकात्मकता में परिणत हो गई और इस प्रकार कहानी की कला में विकास आया। उद्देश्य को ले कर चलने वाले लेखकों में यशपाल जी का नाम प्रमुख है। इन्होंने अपने कहानी-साहित्य में अधिकांशतया साम्यवादी भावना को प्रश्रय दिया है और इस प्रकार इनमें परम्परा, रूढ़ि और प्राचीन मर्यादाओं का विरोध भी दिखलाई देता है। भावुकता और काल्पनिकता की दृष्टि से एक विशेष स्वच्छंदतावादी स्कूल और है जो प्रसाद स्कूल कहा जा सकता है। इनकी रचनाओं में चरित्र-चित्रण और घटना-वर्णन में एक भावुक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। इस प्रकार हमारे सामने कहानीकारों के पाँच प्रधान स्कूल दिखलाई पड़ते हैं

जिनके द्वारा अपनी अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों का विकास हुआ।

प्रसाद स्कूल—प्रसाद स्कूल के प्रमुख लेखक हैं—राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, राय कृष्णदास, चंडीप्रसाद हृदयेश, विनोदशंकर व्यास, सियाराम शरण गुप्त, उग्र, सुमित्रानन्दन पंत, मोहनलाल महतो वियोगी, वाचस्पति आदि।

प्रेमचन्द स्कूल—प्रेमचन्द स्कूल के प्रमुख लेखक हैं—सुदर्शन, कौशिक, चतुरसेन, ज्वालादत्त शर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, गंगाप्रसाद मिश्र।

जैनेन्द्र स्कूल—जैनेन्द्र स्कूल के प्रमुख लेखक हैं:—इलाचन्द्र जोशी, अंचल, रांगेयराघव, पहाड़ी, लक्ष्मीचंद्र वाजपेयी, व्रजेन्द्रनाथ गौड़ आदि।

अज्ञेय स्कूल—अज्ञेय स्कूल के प्रमुख लेखक हैं—कमलाकांत वर्मा, प्रभाकर माचवे, माखनलाल चतुर्वेदी, रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी, धर्मवीर भारती आदि।

यशपाल स्कूल—यशपाल स्कूल के लेखक हैं—उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जानकीवल्लभ शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय, अमृतराय।

आगे हम प्रमुख कहानीकारों का कहानी संबंधी परिचय देंगे।

जयशंकर प्रसाद—जयशंकर प्रसाद प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। प्रसादजी उत्कृष्ट कोटि के कवि एवं नाटककार तो थे ही, इसके साथ ही साथ सफल कहानीकार भी थे। प्रसाद जी ने सन् १६११ से कहानी, लिखना प्रारम्भ किया और सन् १६३७ तक लिखते रहे। इनके प्रसिद्ध कहानी संग्रह ये हैं—छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्रजाल। इन कहानी संग्रहों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—वर्णनात्मक एवं ऐतिहासिक, भावात्मक और मानव मनोभावों के गहरे विवेचन से परिपूर्ण। प्रसाद जी की सबसे पहली कहानी 'ग्राम' है जो सन् १६११ में इन्दु पत्रिका में प्रकाशित हुई।

कहानी क्षेत्र में प्रसाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी कहानियों में कथानक की स्थूल रेखाएँ स्पष्ट नहीं होतीं। घटनाचक्र धुँधले रूप में प्रकट होता है जिसके वातावरण में पात्र गहरा प्रभाव डालते हैं। प्रसाद की दूसरी विशेषता यह है कि उनकी कहानियाँ हमारे आंतरिक मर्म को छू लेती हैं।

प्रसाद की कहानियों में उनके व्यक्तित्व एवं प्रतिभा की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है। प्रसाद के कवि-हृदय की छाप उनकी कहानियों में दिखाई देती है। प्रसाद सौन्दर्य और प्रेम के कवि हैं इसीलिए उनका यह रूप

कहानियों में भी संकेत रूप में विद्यमान है। उनकी कहानियों में आदर्श और भारतीय दर्शन का सुन्दर पुट रहता है।

प्रसाद जी की कहानियों में कथानक स्वल्प रहता है और उनके वर्णन एवं वार्तालाप अपना विशिष्ट माधुर्य रखते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि जैसे वे किसी चरित्र से प्रेरित हो कर कहानी लिखते हैं। उनकी कहानी सुरुचि और सौष्ठव से युक्त और प्रभावात्मक विशेषता रखती है। प्रसाद की कहानियाँ समाप्त होने पर भी वे हमारे विचार, कल्पना और अनुभूति को गतिमान रखती हैं। भावुकता की दृष्टि से हिन्दी की कहानियों में प्रसाद का स्थान विशिष्ट है।

प्रेमचंद—हिन्दी कहानी-क्षेत्र में सबसे विशाल और प्रभावशाली साहित्य प्रेमचन्द जी का है। इन्होंने अनेक संग्रहों में लगभग चार सौ कहानियाँ लिखी हैं जो अधिकांश मानसरोवर में प्रकाशित हुई हैं। प्रेमचन्द जी का कहानी-रचनाकाल १९०७ से १९३६ तक फैला हुआ है। इन्होंने समकालीन राजनीतिक और पारिवारिक चित्र खींचे हैं। कहानी साहित्य के द्वारा प्रेमचन्द जी ने ग्राम-जीवन के प्रति सहानुभूति जाग्रत की है और मानवता, उदारता, त्याग, उत्सर्ग आदि सद्भावनाओं को प्रेरित कर आडम्बर, पाखंड और कुरीतियों का खंडन किया है।

प्रेमचन्द की कहानियाँ जीवन के विविध विषयों पर हैं। प्रेमचन्द ने कहानियों में चित्रण करने के लिए वही विषय चुने हैं जिनका उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव है। इनके पात्र अधिकांशतया विशिष्ट वैचित्र्यपूर्ण नहीं हैं, वरन् सामान्य जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रेमचन्द जी के चरित्रों और घटनाओं के चुनाव इस प्रकार के हैं कि उनसे सामाजिक और राजनीतिक चेतना जाग्रत होती है। इनकी कहानियाँ बहुत ही लोकप्रिय हैं। उसका कारण यह है कि उनकी भाषा सरल एवं चलती हुई है और व्यंग्य-विनोद पूर्ण हैं। भाषा की मुहावरेदानी और पात्रानुकूल उसका उपयोग, उनकी कहानियों को स्वाभाविक एवं कलापूर्ण बना देता है। इनकी कहानियाँ उदात्त आदर्शों की प्रतिष्ठा करने वाली एवं उद्देश्यपूर्ण हैं।

प्रेमचन्द का व्यक्तित्व उनकी कहानियों में छिपा हुआ है, प्रकट नहीं। अधिकांशतया वे पात्रों के संचालक एवं तटस्थ कलाकार हैं। उनका आदर्शोन्मुख यथार्थवाद लोकमंगल की प्रतिष्ठा करता है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'—कौशिक जी का हिन्दी कहानीकारों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी लगभग तीन सौ कहानियाँ—चित्रशाला,

कला मंदिर, प्रेम प्रतिमा, मणिमाला, कल्लोल, पेरिस की नर्तकी आदि कहानी-संग्रहों में संगृहीत हैं। कौशिक जी की कहानियों में परिस्थितियों का उल्लेख रहता है जो किसी पात्र या चरित्र को निश्चित कार्य करने के लिए प्रेरित करती हैं। उनमें आकस्मिकता का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अधिकांशतया कौशिक जी की कहानियों में पारिवारिक एवं गार्हस्थ्य जीवन के वास्तविक चित्र मिलते हैं।

प्रेमचन्द के समान उन्होंने कुरीतियों एवं रूढ़ियों का चित्रण किया है, जैसे पर्दा-प्रथा, बालविवाह आदि। कौशिक जी अपनी कहानियों में कथोपकथन को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। उनका विचार है कि हमारा जीवन बातचीत में ही बीतता है अतः स्वाभाविकता लाने के लिए कथोपकथन के द्वारा ही अधिकांश कथानक और चरित्र का उद्घाटन करना चाहिए।

कौशिक जी प्रेमचन्द की परम्परा के कहानीकार हैं।

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'—गुलेरी जी ने यद्यपि तीन ही कहानियाँ लिखी हैं—'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का काँटा' और 'उसने कहा था'—परन्तु उनका स्थान अंतिम कहानी के आधार पर ही सर्वोत्कृष्ट कहानी-लेखकों में है। उनकी यह कहानी हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानी मानी जाती है। गुलेरी जी कथानक की दृष्टि से यथार्थवादी हैं, परन्तु चरित्र की दृष्टि से आदर्श और यथार्थ के सुन्दर समन्वयवादी। उनके कथानक के विकास में संयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके कथानक में विविधता और व्यापकता रहती है।

गुलेरी जी की कला उनके समर्थ कथोपकथन में दिखलाई देती है, जो सजीव और रोचक हैं तथा चरित्रों को सप्राण बनाते हैं। हास्य और विनोद की मात्रा भी इनमें काफी है। गुलेरी जी के वर्णन बड़े रोचक हैं। उनके चरित्र न केवल बाहरी विशेषताओं को प्रकट करते हैं, वरन् स्वाभाविक रीति से आंतरिक अनुभूतियों और मनस्थिति का विश्लेषण भी प्रस्तुत करते हैं।

चतुरसेन शास्त्री—आचार्य चतुरसेन सन् १९१५ से कहानी लिख रहे हैं। इनके द्वारा लिखित कहानियाँ एक बड़ी संख्या में हैं। अब तक इनके लगभग बीस संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी कहानियाँ अधिकांशतः संक्षिप्त होती हैं। उनका आरम्भ बड़ा रोचक होता है और कहानी में कौतूहल की मात्रा अंत तक बनी रहती है। कहानियों के शीर्षक भी कौतुक-पूर्ण और आकर्षक होते हैं। शास्त्री जी के वर्णन सरस और ओजपूर्ण हैं। यों तो इनकी भाषा चलती हुई होती है परन्तु प्रसङ्गानुकूल उसमें अन्य भाषाओं के शब्द भी रहते हैं। उनकी कहानियाँ कुछ तो सामाजिक सुधार को ले कर

लिखी गई हैं परन्तु कुछ प्रकृतवादी हैं। शास्त्री जी एक समर्थ कहानी-लेखक हैं।

सुदर्शन—सुदर्शन का कहानी-रचना-काल १६२० से प्रारम्भ होता है। प्रेमचन्द के समान ये उर्दू क्षेत्र से हिन्दी क्षेत्र में आये। सुदर्शन भी एक लोकप्रिय कहानीकार हैं। उनकी कहानियों के प्रमुख संग्रह ये हैं—सुप्रभात, सुदर्शन सुधा, पुष्पलता, पनघट, परिवर्तन, तीर्थयात्रा, सुदर्शन सुमन, फूलवती, प्रमोद, नगीने, चार कहानियाँ, खटपट लाल, अँगूठी का मुकदमा आदि। सुदर्शन की कहानियाँ अधिकतर सामाजिक हैं। इनके वर्णन विशद और प्रभावकारी हैं। इनकी कुछ कहानियों में आर्यसमाजी सुधारक दृष्टि स्पष्ट होती है। सुदर्शन की कहानियों का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। कहीं कहीं इनकी कहानियों में मध्य योरप, चीन, यूनान आदि से प्लाट लिये गये हैं। इनके कथोपकथन स्वाभाविक हैं और कहीं कहीं चरित्रों के आत्म-विश्लेषण भी हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा—प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार एवं नाटककार वृन्दावनलाल वर्मा कहानी साहित्य में प्रेमचन्द के वर्ग के लेखक हैं। इन्होंने बहुत पहले कहानी लिखना प्रारम्भ किया था। इनके दो कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं—शरणागत और कलाकार का दंड। पात्रों के अनुकूल वातावरण का चित्रण इनका बड़ा सुन्दर होता है। इनकी भाषा सरल स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण है। कहीं कहीं क्षेत्रीय संस्कृति के भी चित्र इनकी कहानियों में आये हैं।

चंडीप्रसाद 'हृदयेश'—कहानी क्षेत्र में 'हृदयेश' जी का विशिष्ट स्थान है। इनकी भाषा शैली अतिशय आलंकारिक होती है। इनकी कहानियाँ कल्पना-प्रधान हैं और इनके पात्र जीवन से नहीं वरन् काल्पनिक क्षेत्र से लिये गये हैं। इनकी कुछ कहानियाँ रूपकात्मक हैं। इनमें निराकार वृत्तियों को पात्र के रूप में कल्पित किया गया है। इनका प्रसिद्ध कहानी-संग्रह है 'नन्दन-निकुञ्ज' है।

राजा राधिकारमणप्रसादसिंह—शैलीकार के रूप में राजा-राधिकारमणप्रसादसिंह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी शैली पर बँगला कहानियों का प्रभाव लक्षित होता है और उनमें नाटकीय तत्त्वों का प्रचुर मात्रा में समावेश है। उनकी कहानियों में वाद-प्रवादों का विवेचन भी पाया जाता जाता है। सामयिक समाज का वर्णन भी उसमें है। यह अलंकृत शैली के मौजी कलाकार हैं। इनके कहानी-संग्रह—कुसुमाञ्जलि, गांधी टोपी, तरंग, पूरब

और पच्छिम आदि हैं।

राय कृष्णदास—भावुक कहानीकार हैं। ये प्रसाद की परम्परा के हैं। इनकी कहानियों में गद्य काव्य की विशेषताएँ लक्षित होती हैं। राय कृष्णदास का कहानी-क्षेत्र विषय की दृष्टि से काफी व्यापक है। प्रधानतया इनको इतिहास और पुरातत्त्व से प्रेरणा मिली है। मानसिक स्थिति का विश्लेषण और प्राकृतिक दृश्यावली का चित्रण इनकी कहानियों में विशेष रोचक है। इनकी भाषा शैली में एक विशेष प्रकार की प्रांजलता और मृदुता मिलती है। इनके कहानी-संग्रह—आँखों की थाह, अनाख्या और सुधांशु हैं।

जैनेन्द्र कुमार—आधुनिक कथा साहित्य में जैनेन्द्र का अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण स्थान है। इनकी कहानियों के संग्रह सात भागों में प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें विभिन्न विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली कहानियाँ है। इनकी कहानियाँ अधिकांशतया मनोविश्लेषण से सम्बन्ध रखती हैं जिससे उनमें कथानक के घटनात्मक विस्तार की आवश्यकता नहीं रहती है। इनकी कहानियों में एक बौद्धिक रोचकता विद्यमान रहती है। कहीं कहीं ऐसा जान पड़ता है कि इनकी कहानियाँ किसी तथ्य का निरूपण करना चाहती हैं।

जैनेन्द्र जी ने अपनी कहानियों में मनःस्थिति की सूक्ष्म से सूक्ष्म तरंगों का चित्रण किया है। इनकी कहानियाँ सामान्य पाठक के लिए विशेष आकर्षण नही रखतीं। अधिकांशतया ये हमारे विश्वासों पर आघात करते चलते हैं। उनके पात्रों में विलक्षणता पाई जाती है। उनके कथोपकथन छोटे सरल एवं चुभते हुए होते हैं। जैनेन्द्र जी भौतिकता के अंतर्गत अलौकिकता का चित्रण करना चाहते हैं। इनकी शैली संयत होती हुई भी स्वच्छंद है। मानव-जीवन को इन्होंने एक विशेष गहराई से देखा है और जीवन-दर्शन के ये एक प्रबुद्ध कलाकार हैं।

अज्ञेय—मौलिकता प्रदर्शित करने वाले लेखकों में अज्ञेय अग्रगण्य हैं। इनकी कहानियाँ बौद्धिकता प्रधान होते हुए भी काव्यात्मक हैं। ये मनो-वैज्ञानिक परम्परा के उन कहानीकारों में हैं, जिनके पात्र प्रतीक हैं। अज्ञेय जी को जीवन की छोटी से छोटी घटना भी प्रेरणा दे सकती है। इनकी कहानी के लिए घटनाओं का विस्तृत ढाँचा आवश्यक नहीं है।

अज्ञेय जी कहानियों में सामाजिक चेतना को प्रकट करना चाहते हैं। उनकी कला संयत और संकेतात्मक है। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र की अनेक स्थितियों को इन्होंने तीव्र रूप में प्रकट किया है। विषय और शैली की दृष्टि से ये उत्कृष्ट कलाकार हैं परन्तु इनकी कहानियाँ साधारण व्यक्तियों के बीच

लोकप्रिय नहीं हो सकती हैं। उनके लिए एक पृष्ठ-भूमि चाहिए। उनके कहानी-संग्रह हैं—अमर वल्लरी, कोठरी की बात, जय दोल, परम्परा, शरणार्थी, विपथगा आदि। आधुनिक कहानी क्षेत्र में इनका विशिष्ट स्थान है।

यशपाल—यशपाल अत्यंत प्रसिद्ध कहानी-लेखक हैं। इनकी अधिकांश कहानियों में सामाजिक आलोचना मिलती है। ये कला को विचार का साधन मानते हैं और इस दृष्टि से इनका दृष्टिकोण मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित है। स्वाभाविक स्वच्छंद एवं बंधनहीन जीवन-क्रम इनका लक्ष्य है। कला और जीवन दोनों के क्षेत्र में ये स्वाभाविकता के पक्षपाती हैं। इनकी कहानियों में जीवन की विविधरूपता मिलती है। ऐसा जान पड़ता है कि यशपाल जी जीवन को एक विशेष रोचकता के साथ देखते हैं। इनकी कल्पना अनुभव का अनुगमन करती है। यशपाल जी की कहानी-कला अत्यंत स्वाभाविक है। वर्ण्य विषय के साथ वह इतनी घुल मिल गई है कि ऐसा जान पड़ता है जैसे वह स्वतः अभिव्यक्त है। इनकी कहानियाँ ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों से संबंधित हैं। परन्तु ये ऐतिहासिक यथार्थ के पक्षपाती नहीं। इनकी कुछ कहानियों में युगीन मान्यताओं के प्रति विद्रोह का भाव भी चित्रित हुआ है। यशपाल जी की कहानियाँ बड़ी रोचक हैं। अपने शुद्ध कहानीकार के रूप में यशपाल जी प्रभावशाली एवं उत्कृष्ट हैं। इनके कहानी-संग्रह हैं—पिंजरे की उड़ान, अभिशप्त, उत्तराधिकारी, चित्र का शीर्षक, तर्क का तूफान, धर्म युद्ध, तुमने क्यों कहा था कि मैं सुन्दर हूँ, भस्मावृत चिनगारी, वो दुनियाँ, ज्ञान दान, फूलो का कुरता आदि।

उपेन्द्रनाथ अश्क—अश्क जी प्रेमचन्द और यशपाल के बीच के कलाकार हैं। इनकी अधिकांश कहानियों में इनका व्यक्तिगत अनुभव प्रकट हुआ है। उनमें विवशताओं और मजबूरियों की कथा है। इनके शीर्षक आकर्षक ध्वनिपूर्ण और कहीं कहीं प्रतीकात्मक हैं। अश्क जी यथार्थवादी कलाकार हैं। पीड़ित के प्रति इनकी समवेदना उमड़ी पड़ती है। इनका चरित्र-चित्रण स्वाभाविक और जोरदार है। इनकी कहानियों में नाटकीय तत्त्व देखने को मिलते हैं। अश्क जी के कथोपकथन चुस्त और रोचक हैं। अश्क जी वर्तमान के कलाकार हैं। इनका दृष्टिकोण प्रगतिशील है। और अपनी बात को सीधे और प्रभावशाली ढंग से कहना जानते हैं। स्वाभाविकता और प्रभाव इनकी कहानी की विशेषताएँ हैं।

अमृतलाल नागर—आज के नवोदित कहानीकारों में नागर जी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनकी कहानियों में सांस्कृतिक चित्रण की विशेषता है

इनकी कुछ कहानियों में लखनऊ की नवाबी संस्कृति के सुन्दर चित्रण हैं। संस्कृति के भग्नावशेष परिवारों और व्यक्तियों का जीता-जागता चित्रण करने की नागर जी में बड़ी क्षमता है। निकट अतीत का ज्ञान इनका बड़ा प्रौढ़ है। इनकी कहानियों में भारतीय संस्कृति का संवेदनात्मक भाव व्यंजित हुआ है। रोचक वृत्तों की विशेषता इनके कथानक को बड़ा सजीव बनाती है। हिन्दी कहानी साहित्य को इनसे बड़ी आशाएँ हैं।

इनके अतिरिक्त कहानी के क्षेत्र में बहुत से लेखक महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। इनमें से उल्लेखनीय हैं—अंचल, अमृतराय, इलाचन्द्र जोशी, ऊषादेवी मित्रा, ओंकार शरद, कमला देवी चौधरी, गंगाप्रसाद मिश्र, जयनाथ नलिन, जानकीवल्लभ शास्त्री, देवीप्रसाद धवन, प्रभाकर माचवे, पहाड़ी, बेचन शर्मा उग्र, विजयेन्द्रनाथ गौड़, भगवतशरण उपाध्याय, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, मोहन सिंह सेंगर, यमुनादत्त वैष्णव, रघुवीरशरण मित्र, रांगेय राघव, रामवृक्ष बेनीपुरी, वाचस्पति पाठक, विनोदशंकर व्यास, विष्णु प्रभाकर, सत्यवती मल्लिक, होमवती देवी, श्रीराम शर्मा आदि।

हिन्दी आलोचना साहित्य

हिन्दी आलोचना का आधुनिक रूप वर्तमानकाल में ही विकसित हुआ है लेकिन आधुनिक युग के पूर्व भी हिन्दी आलोचना के कुछ रूप प्रचलित थे जिनका संबंध संस्कृत-काव्यालोचना से था। संस्कृत-काव्यालोचना विशेष प्रकार से काव्य सिद्धांत के निरूपण में व्यक्त हुई है। कवि-शिक्षा और काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के अतिरिक्त भाष्य, टीका, वार्तिक, फक्किका, वृत्ति आदि अन्य रूप हैं। प्रधानतया इसी प्रकार के आलोचना के रूप हमें हिन्दी साहित्य में भी मिलते हैं।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल और भक्तिकाल में आलोचनात्मक साहित्य अधिक नहीं मिलता है। अधिकांशतः रचनात्मक साहित्य की ही सृष्टि हुई। आलोचनात्मक साहित्य का प्रारम्भ रीतियुग से ही माना जा सकता है। रीतियुग में हिन्दी आलोचना के प्रधानतः दो रूप देखने को मिलते हैं। एक तो लक्षण ग्रंथों में—जिनमें काव्यशास्त्र का निरूपण किया गया है—सैद्धांतिक आलोचना मिलती है और दूसरे प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथों और लक्षणों की व्याख्या करने वाले ग्रन्थों में टीका, वचनिका तिलक आदि रूपों में व्याख्यात्मक आलोचना। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रीतिकालीन अनेक लक्षण ग्रन्थ

जैसे—कवि प्रिया, कविकुल कल्पतरु, काव्य सरोज, काव्य निर्णय आदि सैद्धांतिक आलोचना के ही रूप हैं। दूसरे प्रकार के रूपों में रामचरितमानस और बिहारी सतसई की टीकाएँ तथा कुलपति, श्रीपति, चिंतामणि, और सोमनाथ के द्वारा लिखी गई वचनिका, वार्ता, तिलक आदि हैं। इस प्रकार, यद्यपि उपर्युक्त कोटि का साहित्य बहुत बड़ी संख्या में है फिर भी समीक्षा के वास्तविक रूप का विकास उनमें नहीं देखा जाता। रीतिकालीन समीक्षा अधिकांश शास्त्रीय कोटि की है। जिसमें विभिन्न काव्य-सिद्धांतों के आधार पर किसी कृति या सामान्य काव्य के संबंध में अपने विचारों को प्रकट किया गया है।

पूर्ववर्ती युगों में कहीं-कहीं हमें सूक्ति के रूप में भी समीक्षात्मक कथन मिलते हैं। जैसे—'तुलसी गंग दुऔ भए सुकविन के सरदार, इनके काव्यन में मिलै भाषा विविध प्रकार' तथा भक्तमाल में सूरदास आदि कवियों के संबंध में कहे हुए छप्पय—

उक्ति चोज अनुप्रास बरन अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुकधारी॥
प्रतिबिम्बित दिवि दृष्टि हृदय हरिलीला भासी।
जनम करम गुन रूप सरस रसना जु प्रकासी॥
बिमल बुद्धि गुन और की जो वह गुन स्रवननि धरै।
श्री सूर कबित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै॥

आदि। इसी प्रकार की उक्तियाँ सेनापति, देव, ठाकुर आदि की भी सामान्य काव्य के सम्बन्ध में मिलती हैं।

भारतेन्दु युग में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशित होने के साथ आलोचना (समीक्षा) का सूत्रपात हुआ। परन्तु यह आलोचना अधिकांश वैयक्तिक रही। भारतेन्दु, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, आदि के अनेक लेखों में आलोचना का रूप देखा जा सकता है। इन लेखों में किसी कवि या कृति पर विचार प्रकट करने के पहले अधिकांशतया जिन सिद्धांतों पर आलोचना करनी होती उसका भी संकेत कर दिया जाता था। इस दृष्टि से पं० बालकृष्ण भट्ट का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने प्रदीप के आलोचनात्मक लेखों में इस प्रकार की शैली अपनाई है। परन्तु इस प्रकार का भी प्रयास बहुत ही सीमित और कम है क्योंकि भारतेन्दु युग में प्रमुख साहित्यिक चेतना या तो हिन्दी को प्रतिष्ठित करने में या व्रजभाषा या खड़ी बोली के विवाद में लगी रही।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक क्षेत्र में आने पर साहित्यिक अध्ययन और विवेचन सम्बन्धी लेखों के लिखने के लिए विशेष प्रेरणा प्राप्त

हुई। द्विवेदी जी ने अपने लेखों में कविता के स्वरूप और काव्यांगों पर भी प्रकाश डाला और स्वयं अनेक कवियों के गुण-दोषों का विवेचन तथा परिचयात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया जिससे प्रेरित हो कर आलोचनात्मक साहित्य का सूत्रपात हुआ। इस प्रकार का कार्य बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही शुरू हो गया था। सन् १९०७ और १९०९ की सरस्वती में क्रमशः कवि और कविता, कविता क्या है ? लेख निकले थे। इनमें से प्रथम द्विवेदीजी का और दूसरा पं० रामचन्द्र शुक्ल का लेख था। यह मानना पड़ेगा कि गम्भीर आलोचना का सूत्रपात पं० रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक क्षेत्र में आने के साथ ही हुआ। फिर भी द्विवेदी युग में आलोचना का विकास हो गया था, यह मानना पड़ेगा।

द्विवेदी युग के प्रमुख आलोचकों के नाम हैं—मिश्रबंधु, अम्बिकादत्त व्यास, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, किशोरीलाल गोस्वामी, कृष्णबिहारी मिश्र, बदरीनाथ भट्ट, मुकुटधर पांडेय, कामताप्रसाद गुरु, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या आदि। इन लेखकों के द्वारा ऐतिहासिक, शास्त्रीय, सैद्धांतिक और तुलनात्मक समीक्षा-पद्धतियों का प्रायः प्रयोग हुआ है। इस युग के कुछ आलोचकों की आलोचना-पद्धति का परिचय यहाँ दिया जाता है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने अपने अनेक ग्रंथों और लेखों में अपने जो विचार काव्य के स्वरूप, उद्देश्य, भाषा-शैली, अलंकार रस आदि पर व्यक्त किये हैं वे सैद्धांतिक आलोचना के भीतर रखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक संस्कृत और हिन्दी कवियों का परिचय भी दिया है जो ऐतिहासिक आलोचना का रूप है। कुछ कवियों की रचनाओं के गुण-दोष भी द्विवेदी जी ने प्रकट किये हैं। यह शास्त्रीय आलोचना के अंतर्गत रखा जा सकता है। फिर भी यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने निश्चित रूप से अपनी कोई आलोचना शैली स्थिर नहीं की थी और यथावसर जैसी आवश्यकता हुई वैसी ही समीक्षा लिखते थे। उनका प्रधान उद्देश्य सत् साहित्य के अध्ययन और सृजन की प्रेरणा देना था। जिसमें वे पूर्ण सफल रहे।

मिश्रबंधु—आलोचना और हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन के कार्य में मिश्रबन्धुओं का काम अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने अपने 'मिश्रबंधु-विनोद' में चार भागों के अंतर्गत पाँच हजार के लगभग हिन्दी कवियों का परिचयात्मक उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त 'हिन्दी नवरत्न' में हिन्दी के

श्रेष्ठ नौ कवियों की उपलब्ध जीवनी और कविता की विवेचना इन्होंने प्रस्तुत की है। कवि की व्यक्तिगत कृतियों की आलोचना-संबंधी परम्परा डालने वाले लोगों में मिश्रबंधुओं का नाम सर्वप्रथम है। उनकी आलोचनाओं में शास्त्रीय आग्रह भी है और तुलनात्मक मूल्यांकन भी। हाँ यह अधिक विस्तार से नहीं है। इनकी भाषा, भाव, अलंकार और प्रभाव से संबंधित, काव्यालोचना संबंधी टिप्पणियाँ अपने अन्तर्गत वर्तमान समीक्षा का बीजांकुर प्रस्तुत करती हैं। इसलिए साहित्य के इतिहास और समालोचना के क्षेत्र में मिश्रबंधुओं का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

कृष्णविहारी मिश्र—कृष्णविहारी जी ने मिश्र-बन्धुओं द्वारा डाली परम्परा का विस्तृत विकास किया। इनकी विशेष ख्याति लाला भगवानदीन और इनमें चलने वाले 'देव बिहारी' सम्बन्धी विवाद के साथ हुई। इन्होंने 'देव और बिहारी' ग्रंथ में दोनों कवियों की तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत की है। देव को अधिक उत्कृष्ट प्रतिष्ठित करते हुए भी इनका दृष्टिकोण अधिक पक्षपात-पूर्ण नहीं कहा जा सकता है। जब कि यह बात सही है कि इस विवाद के साथ आलोचना-क्षेत्र में काफी कटुता आ गई थी। मतिराम-ग्रंथावली के सम्पादन में भी इनकी अनुसंधान और शास्त्रीय आलोचना संबंधी योग्यता पूर्णतया स्पष्ट हुई है। इस युग के आलोचकों में इनका स्थान उत्कृष्ट है।

पद्मसिंह शर्मा—पद्मसिंह शर्मा प्रमुखतया प्रभाववादी व्याख्यात्मक आलोचना ले कर इस क्षेत्र में आये। इनकी उक्तियाँ यद्यपि कहीं-कहीं हास्यास्पद लगती हैं, फिर भी इनसे इनकी काव्य-संबंधी वैयक्तिक अनुभूति का पता चलता है। इन्होंने अधिक विशद और मार्मिक आलोचना का सूत्रपात किया। अनेक स्थलों पर इन्होंने संस्कृत कवियों से तुलना भी की है और व्याख्या के साथ सामान्य काव्यादर्श संबंधी इनकी उक्तियाँ भी बड़ी मार्मिक हैं। शर्मा जी ने अनेक दृष्टियों से बिहारी की सतसई की व्याख्या की है और उन्हें एक सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

द्विवेदी युग में उठे साहित्यिक विवादों से काव्य और उसकी आलोचना संबंधी स्फूर्तिमय जाग्रति पैदा हुई और आगे चल कर आलोचना का मार्ग प्रशस्त हुआ। हिन्दी आलोचना और अनुसंधान के क्षेत्र में बहुत बड़ी प्रगति काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हुई है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने जहाँ हिन्दी प्रचार का कार्य किया है वहाँ काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी के सब प्रकार के साहित्य को समृद्ध किया है। नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के हिन्दी विभाग के संगठनकर्त्ता के रूप में

बाबू श्यामसुन्दरदास की बड़ी महत्त्वपूर्ण सेवाएँ हैं। उच्च आलोचना को प्रेरणा देने तथा उसको पृष्ठभूमि तैयार करने में इनकी सेवाएँ अद्वितीय हैं।

बाबू श्यामसुन्दर दास— बाबू श्यामसुन्दरदास का आलोचक स्वरूप उनके भाषा, साहित्य और साहित्य के इतिहास-सम्बन्धी ग्रंथों में प्रकट होता है। बाबू साहब की बारह मौलिक रचनाएँ, अट्ठाइस सम्पादित ग्रंथ और इकतीस संकलित ग्रन्थ हैं। इनका सबसे बड़ा महत्त्व उच्च शिक्षा के लिए उपयोगी पुस्तकों के निर्माण करने में है। उसी प्रसङ्ग में इनका आलोचक और इतिहासकार का रूप स्पष्ट होता है। इन्होंने भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए 'भाषा-रहस्य' तथा काव्यशास्त्र के अनुशीलन के लिए 'साहित्यालोचन' और साहित्य के इतिहास के क्षेत्र में 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक ग्रंथ लिखे। इनका 'साहित्यालोचन' शास्त्रीय आलोचना से सम्बन्धित ग्रंथ है। यद्यपि इसकी सामग्री हडसन और वर्सफोल्ड के आधार पर है फिर भी इस विषय पर प्रामाणिक एवं उपादेय सामग्री इसमें प्रस्तुत है जो कि आलोचना का आधार बनने की विशेषता रखती है। हिन्दी के गद्य और पद्य लेखकों की आलोचना भी इन्होंने प्रस्तुत की। यद्यपि बाबू श्यामसुन्दर दास का प्रयास नितांत मौलिक नहीं माना जा सकता फिर भी आलोचना को प्रेरणा देने और पृष्ठभूमि तैयार करने की दृष्टि से उसका महत्त्व है। इन्होंने स्पष्ट, शुद्ध और परिमार्जित भाषा में हिन्दी आलोचना शैली को पुष्ट किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—आधुनिक हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में शुक्ल जी का स्थान अद्वितीय है। शुक्ल जी इस क्षेत्र में एक मौलिक विचारक और सहृदय के रूप में आये। शुक्ल जी की आलोचना के द्वारा आधुनिक हिन्दी आलोचना को नवीन दिशाएँ प्राप्त हुईं। इनकी आलोचनाएँ तीन रूपों में देखी जा सकती हैं—

प्रथम—व्यक्तिगत, कवि या कृति की आलोचना के रूप में।

द्वितीय—सैद्धांतिक आलोचना के रूप में।

तृतीय—ऐतिहासिक आलोचना के रूप में।

प्रथम में इन्होंने विशेष रूप से तुलसी, जायसी, सूर के कृतित्व का मार्मिक समीक्षण किया है। इनकी इन समीक्षाओं से न केवल इन्हें वरन् अन्य कवियों के काव्य के समझने की दृष्टि प्राप्त होती है। दूसरे प्रकार की आलोचना में इन्होंने संस्कृत या पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों की आलोचना की है। इस प्रकार की आलोचना में इन्होंने कुछ सिद्धान्तों का खंडन और कुछ का विकास किया है। तृतीय प्रकार की आलोचना में इन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

और परम्पराओं का विश्लेषण किया है। इन तीनों क्षेत्रों में ही शुक्ल जी का कार्य मौलिक है और इनके गम्भीर चिन्तन तथा आलोचनात्मक प्रतिभा को स्पष्ट करता है। शुक्ल जी प्रधानतः रसवादी हैं। रस सिद्धान्त को प्रधानतया मानते हुए भी उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में व्याख्यात्मक समीक्षा को अपनाया है जिससे किसी विशिष्ट सिद्धान्त के आग्रह के बिना ही कवि की भाव-धारा को परखा जा सके। अतएव इस क्षेत्र में भी उनकी देन महत्त्वपूर्ण है। शुक्ल जी सहृदय आलोचक हैं और उनकी काव्य की पकड़ मार्मिक है। ऐसा आलोचक जिस कवि पर रीझ जाय वह धन्य है। शुक्ल जी की भाषा और शैली भी इनकी गम्भीर समीक्षा-पद्धति के अनुरूप है। इनकी रचनात्मक प्रतिभा इनके सहृदय व्यक्तित्व को प्रकट करती है। शुक्ल जी न केवल हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में वरन् भारतीय और विश्व की आलोचना के अंतर्गत प्रमुख सिद्ध होंगे।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—बनारस और लखनऊ विश्वविद्यालयों में कार्य करने वाले स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल हिन्दी के आलोचना क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनकी आलोचना में श्यामसुन्दर दास और रामचन्द्र शुक्ल दोनों की कतिपय विशेषताओं का समन्वय हुआ है। डा० बड़थ्वाल ने संत-काव्य-धारा के महत्त्व को अपने अध्ययनों में प्रकट किया है जिसकी ओर इसके पहले लोगों का ध्यान नहीं गया था अपने लेखों और पुस्तकों में न केवल नवीन सामग्री प्रस्तुत की है वरन् नवीन दृष्टिकोण भी दिया है। डा० बड़थ्वाल का अध्ययन बहुत विस्तृत था और समीक्षा तर्क-पूर्ण और प्रामाणिक होती थी। इनकी समीक्षा-शैली स्पष्ट सप्रमाण और कहीं व्यंग्यपूर्ण है। चुभते हुए वाक्यों में मर्म का उद्घाटन करना इनकी समीक्षा शैली का प्रधान गुण है। हिन्दी साहित्य के निर्माण में डा० बड़थ्वाल ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा—डा० धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा के विशेषज्ञ हैं। इन्होंने ब्रजभाषा का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है। प्रयाग विश्वविद्यालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, हिन्दुस्तानी एकेडमी, भारतीय हिन्दी परिषद् आदि अनेक संस्थाओं से इनका संबंध है, जिनमें ये मार्ग-प्रदर्शन करते रहते हैं। वर्मा जी एक साहित्यिक चिन्तक हैं, इन्होंने सरल और व्यवस्थित शैली में वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति का प्रवर्तन किया है। हिन्दी भाषा और साहित्य की सामयिक समस्याओं के प्रति भी ये सदैव सजग रहते हैं। हिन्दी भाषा की बोलियों का इन्हें प्रामाणिक ज्ञान है। इनकी देख-रेख में अनेक आलोच-

नात्मक और अनुसंधानात्मक प्रबंध लिखे गये। तथ्यों का निरीक्षण और प्रवृत्तियों का विश्लेषण वर्मा जी की वैज्ञानिक समीक्षा की प्रमुख विशेषताएँ हैं। अपने सिद्धांतों को तथ्यों से प्रमाणित कर देना इनकी प्रवृत्ति है। वैज्ञानिक समीक्षा के प्रवर्तन में इनका स्थान महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में द्विवेदी जी व्यापक संस्कृत ज्ञान का भंडार ले कर आये हैं। द्विवेदी जी ने प्रमुखतया समीक्षा में सांस्कृतिक और मानववादी दृष्टिकोण का समावेश किया है। यह काव्य का मर्म मानवता को ही मानते हैं। इनकी आलोचनाओं में लोक-चेतना और संस्कृत की धाराओं का प्रभाव देखा जा सकता है। द्विवेदी जी ने सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनों ही प्रकार की आलोचना प्रस्तुत की है। साहित्यिक धाराओं में उक्ति-वैचित्र्य नहीं वरन् सांस्कृतिक चेतना के इतिहास को देखना द्विवेदी जी की आलोचनात्मक दृष्टि की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। द्विवेदी जी की शैली भावुकतापूर्ण उदात्त और सरस है, व्यंग्य, विनोद और रोचकता का उसमें पर्याप्त मात्रा में समावेश है। इनकी समीक्षाओं में संस्कृत साहित्य के तथा भारतीय संस्कृति के ज्ञान की आभा प्रतिबिम्बित है। सांस्कृतिक समीक्षा की नवीन पद्धतियों को आप से नवीन प्रेरणा मिल रही है।

डॉ० दीनदयालु गुप्त—डॉ० दीनदयालु गुप्त समन्वयवादी आलोचक हैं। इन्होंने यद्यपि आलोचना से संबंध रखने वाली बहुत सी पुस्तकें नहीं लिखीं, परन्तु अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' के द्वारा समाजशास्त्रीय आलोचना का एक निजी स्वरूप प्रस्तुत किया है। इनकी आलोचना में किसी कवि की कृतियों को उसकी निजी मान्यताओं और युगीन चेतना की पृष्ठभूमि में देखने का आग्रह है और इस दृष्टि से 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' में इन्होंने सूर और अष्टछाप के कवियों की रचनाओं का सैद्धांतिक आधार स्पष्ट किया है। यह गवेषणा इस बात की द्योतक है कि किसी भी युग का महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृती, अपनी साधना में ठोस और प्रामाणिक सिद्धांत भूमि को ग्रहण करके चलता है। आलोचना के क्षेत्र में डॉ० गुप्त-आदर्शवादी हैं और किसी भी रचना का मूल्य वे इसी रूप में आँकने के पक्षपाती हैं कि उसमें कहाँ तक उदात्त भावना और सामाजिक चेतना को प्रेरित करने की शक्ति है। इनकी शैली सरल है और दृष्टिकोण सामाजिक एवं आध्यात्मिक है। गुप्त जी की देखरेख में भी आलोचना और अनुसंधान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है और हो रहा है।

आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल—सुकुल जी हिन्दी के निर्भीक और तेजस्वी आलोचक हैं। साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ से ही ये अहिन्दीभाषी क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं और वहाँ हिन्दी साहित्य के प्रति चेतना उत्पन्न करने का श्रेय इनको प्राप्त है। आलोचना के क्षेत्र में सुकुल जी का दृष्टिकोण प्रमुखतया सामाजिक है। फिर भी वे किसी कृति की महत्ता, उसकी साहित्यिक या काव्यात्मक उपलब्धि के भीतर मानते हैं। इनका बँगला, अंग्रेजी और संस्कृत का भी व्यापक अध्ययन है। इस कारण इनका समीक्षात्मक दृष्टिकोण बड़ा व्यापक और उदात्त है। बिना किसी व्यापक साधना या उच्च प्रतिभा के ये नवीन वादों और प्रवृत्तियों के प्रवर्त्तन के पक्ष में नहीं। इनकी दृष्टि से साहित्य गहरी और व्यापक साधना का परिणाम है और नवीन प्रयोगों के प्रवर्तन का अधिकार साधकों या उच्च प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों को ही है। इनकी भाषा और शैली बड़ी जोरदार और प्रभावपूर्ण होती है। इनका विश्लेषण और निरूपण प्रामाणिक और विश्वसनीय होता है। इनकी देखरेख में भी महत्त्वपूर्ण समीक्षा और अनुसन्धान कार्य चल रहा है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी प्रतिभा-सम्पन्न समीक्षकों में से हैं। आलोचना संबंधी सात चेष्टाओं को ये मानते हैं। जो ये हैं—कवि की अंतर्वृत्तियों का अध्ययन, कलात्मक सौष्ठव का अध्ययन, टेकनीक (शैली) का अध्ययन, समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन, कवि की जीवनी और रचना पर उनके प्रभाव का अध्ययन, कवि के दार्शनिक, सामाजिक राजनीतिक विचारों का अध्ययन, और काव्य के जीवन सबंधी सामंजस्य और सन्देश का अध्ययन। इस प्रकार वाजपेयी जी का दृष्टिकोण एक अंश तक समन्वयवादी है। ये नैतिकता और स्थूल उपयोगिता के आग्रही नहीं हैं। ये कलाकारों को बदलती धारणाओं को भी उदारता से देखने के पक्ष में हैं। इनकी समीक्षा व्याख्यात्मक और विवेचनात्मक है। अधिकांश यह तुलना और विश्लेषण से नवीन मान्यताओं को निकालने की सूक्ष्म विशेषता का परिचय देते हैं। इनकी भाषा और शैली चुभती हुई और प्रभावोत्पादक है। इनके छोटे छोटे वाक्य प्रायः स्मरणीय हैं। वाजपेयी जी आलोचकों और साहित्यकारों को प्रेरणा देने की विशेषता रखते हैं।

डॉ० नगेन्द्र—नगेन्द्र जी का दृष्टिकोण भी बहुत कुछ समन्वयवादी है। इन्होंने इधर भारतीय साहित्य शास्त्र का भी अध्ययन किया है और उधर पाश्चात्य साहित्य शास्त्र का। इन्होंने अपने निबंधों और भूमिकाओं में अपने

आलोचक रूप को स्पष्ट किया है। ये काव्य को शब्द, अर्थ, अलंकार, रस, वक्रोक्ति आदि समन्वित के रूप में ग्रहण करते हैं। आलोचना के क्षेत्र में आप नवीन स्थापनाओं का स्वागत तो करते हैं, परन्तु उनको उपलब्ध कसौटी पर कसने का भी आग्रह रखते हैं। इन्होंने अनेक संस्कृत काव्य-सिद्धांतों का, पाश्चात्य सिद्धांतों के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी किया है। कहीं-कहीं इन्होंने प्राचीन सिद्धांतों की नवीन ढंग से व्याख्या भी प्रस्तुत की है। इनकी भाषा-शैली शुद्ध और परिमार्जित तथा संस्कृत शब्दावली से युक्त है। ये एक उदीयमान और गतिशील आलोचक हैं।

ऊपर समीक्षा के क्षेत्र में कुछ अधिक कार्यशील एवं प्रेरक आलोचकों का परिचय दिया गया है। परन्तु, इनके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे आलोचक हैं जो अधिकांशतः समकक्ष महत्त्व वाले हैं; जिनका इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य है। इनमें से प्रमुख हैं—डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० मुंशीराम शर्मा, डॉ० इन्द्रनाथ मदान, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, विनय मोहन शर्मा, डॉ० विश्वनाथ प्रसाद, डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, परशुराम चतुर्वेदी, चन्द्रबली पांडेय, गुलाबराय, रामकृष्ण शुक्ल, कन्हैयालाल सहल, डॉ० रामविलास शर्मा आदि। इनके अतिरिक्त भी अनेक महत्त्वपूर्ण समालोचक इस क्षेत्र में कार्य कर रहे । यह कहा जा सकता है कि शुक्ल जी के समय से हिन्दी समालोचना में महत्त्वपूर्ण प्रगति हो रही है और हिन्दी समालोचना-साहित्य का भंडार काफी समृद्ध होता जा रहा है। साथ ही यह भी आशा है कि अन्य उदीयमान समालोचक नई चेतनाओं को आत्मसात् करके साहित्यिक सर्जना को समुचित प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान करेंगे।